युग प्रमुख चारित्रशिरोमणि सन्मार्गदिवाकर पूज्य आचार्यश्री विमलसागरजी महाराज की हीरक जयन्ती प्रकाशन माला

भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत

पार्श्वाभ्युदयम्

[योगिराट् पण्डिताचार्यकृत संस्कृत व्याख्या युतम्]

हिन्दी अनुवादक एवं सम्पादक

डॉ० रमेशचन्द्र जैन, जैनदर्शनाचार्य

एम. ए., पी-एच. डी., डी. लिट्

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, वर्द्धमान कालेज, बिजनौर

अर्थ सहयोग

श्री अशर्फीलाल अशोककुमार जैन सर्राफ, इन्दौर

प्रकाशक

भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्

दो शब्द

आचार्य जिनसेन ने संस्कृत के महाकवि कालिदास द्वारा रचित काव्य मेघदूत के श्लोकों के प्रत्येक चरण की और कहीं-कहीं दो चरणों की समस्यापूर्ति के फलस्वरूप ३६४ श्लोकों में 'पार्श्वाभ्युदय' की रचना की है। पार्श्वाभ्युदय संस्कृत साहित्य की एक उत्कृष्ट रचना है। इसमें जैनधर्म के तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ की तपस्या के काल में अनेक पूर्व भवों के वैरी कमठ के जीव शम्बरासुर के द्वारा किये गये उपसर्ग को आधार बनाकर कथा का प्रारम्भ किया गया है। यद्यपि इसमें जैनधर्म या जैनदर्शन के किसी विशिष्ट सिद्धान्त का प्रतिपादन दृष्टिगोचर नहीं होता है तथापि संस्कृत साहित्य की दृष्टि से यह एक महत्त्वपूर्ण रचना है।

मेघदूत शृंगाररस प्रधान काव्य है। यतः पार्श्वाभ्युदय मेघदूत के श्लोकों को आधार बना कर लिखा गया एक समस्यापूर्त्यात्मक काव्य ग्रन्थ है अतः उसमें मेघदूत की तरह ही शृंगाररस के दोनों पक्षों (संयोग और वियोग शृंगार) का होना स्वाभाविक है। इससे एक बात ज्ञात होती है कि जहाँ जैनाचार्य वीर रस या शान्तरस विषयक रचना कर सकते हैं वहाँ वे शृंगाररस विषयक रचना करने में भी पूर्ण समर्थ हैं, फिर भी किसी तीर्थंकर की कथा में—

'ज्ञाता स्वादो विवृत जघनां को विहातुं समर्थः।'

जैसे कथन पाठक के मन पर क्या प्रभाव डालेंगे, यह कहना कठिन है।

श्री डॉ० रमेशचन्द्र जैन संस्कृत साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् हैं। वे जैनदर्शन, बौद्धदर्शन आदि विषयों के भी अच्छे ज्ञाता हैं। वे अनेक पुस्तकों के सफल लेखक, सम्पादक तथा अनुवादक भी हैं। उन्होंने श्री योगिराट् पण्डिताचार्य की संस्कृत टीका सहित पार्श्वाभ्युदय का सम्पादन तथा उसके श्लोकों का अर्थ और संक्षिप्त व्याख्या लिखी है। इससे संस्कृतज्ञ विद्वानों को लाभ तो मिलेगा ही, साथ ही साधारण जन भी पार्श्वाभ्युदय काव्य के काव्यत्व का आनन्द ले सकेंगे। उनके द्वारा लिखित प्रस्तावना भी उपयोगी एवं पठनीय है।

प्रसन्नता की बात यह है कि ऐसी उत्कृष्ट कृति का प्रकाशन हो रहा है। इस कृति के सम्पादक और सार्थ व्याख्या लेखक तथा प्रकाशक बधाई के पात्र हैं।

वाराणसी
१५ अगस्त, १९९१

उदयचन्द्र जैन

प्रस्तावना

सन्देश काव्यों में पार्श्वाभ्युदय का स्थान

सन्देश काव्यों की परम्परा और पार्श्वाभ्युदय

सन्देश या दूतकाव्य लिखने की परम्परा बहुत प्राचीन है। उपलब्ध सन्देश काव्यों में कालिदास का मेघदूत सबसे प्राचीन माना जाता है। उसी के आधार पर बाद में अनेक कवियों ने सन्देश काव्यों का प्रणयन किया। ८वीं-९वीं शताब्दी ईसवी के आचार्य जिनसेन ने अमोघवर्ष के शासनकाल में पार्श्वाभ्युदय नामक काव्य की रचना की। यह काव्य ३६४ मन्दाक्रान्ता वृत्तों में मेघदूत के श्लोकों के चरणों की समस्या पूर्ति के लिए लिखा गया है। विक्रम का नेमिदूत (ई० १३ वीं शती का अन्तिम चरण), मेरुतुंग का जैनमेघदूत (सन् १३४६-१४१४ ई०), चरित्रसुन्दर गणिका शीलदूत (१५वीं शती), वादिचन्द्रसूरि का पवनदूत (१७वीं शती), विनयविजय गणिका इन्दुदूत (१८वीं शती), मेघविजय का मेघदूत समस्या लेख (१८वीं शती) एवं अज्ञात नाम वाले कवि का चेतो दूत जैन परम्परा के प्रमुख दूत काव्य हैं। संस्कृत साहित्य में अब तक ५१ दूत काव्यों की रचना मानी गई है। इनमें बारहवीं शताब्दी के धोयी कवि का पवनदूत, तेरहवीं शताब्दी के वेदान्तदेशिक का हंससन्देश, पन्द्रहवीं शताब्दी के रूप गोस्वामी का हंसदूत और सत्रहवीं शताब्दी के कृष्णानन्द सार्वभौम का पदाङ्कदूत अधिक प्रसिद्ध हैं। इनमें से भी बहुत से काव्य तो मेघदूत के श्लोकों अथवा उसके चरणों की समस्यापूर्ति के रूप में लिखे गए हैं तथा अन्य बहुत से काव्यों का प्रणयन स्वतन्त्र रूप में हुआ है, फिर भी इन पर कालिदास का गहन प्रभाव लक्षित होता है। जिनसेन का पार्श्वाभ्युदय इस परम्परा की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है।

पार्श्वाभ्युदय में समस्या पूर्ति के काव्य कौशल द्वारा समस्त मेघदूत को ग्रथित कर लिया गया है। यद्यपि दोनों काव्यों का कथा भाग सर्वथा भिन्न है, तथापि मेघदूत की पंक्तियाँ पार्श्वाभ्युदय में बड़े ही सुन्दर और स्वाभाविक ढंग से बैठ गई हैं। समस्या पूर्ति की कला कवि पर अनेक नियन्त्रण लगा देती है, तथापि जिनसेन ने अपनी रचना को ऐसी कुशलता और चतुराई से सँभाला है कि पार्श्वाभ्युदय के पाठक को कहीं भी यह सन्देह नहीं हो पाता कि उसमें अन्य विषय व भिन्न प्रसङ्गात्मक एक पृथक् काव्य का समावेश है। इस प्रकार पार्श्वाभ्युदय जिनसेन के संस्कृत भाषा पर अधिकार तथा काव्यकौशल का एक सुन्दर

प्रमाण है। उन्होंने जो कालिदास के काव्य की प्रशंसा की है, उससे तो उनका व्यक्तित्व और भी ऊँचा उठ जाता है। महान् कवि ही अपनी कविता में दूसरे कवि की प्रशंसा कर सकता है।[1] इस काव्य के सम्बन्ध में प्रो० के० बी० पाठक का मत है कि पार्श्वाभ्युदय संस्कृत साहित्य की एक अद्भुत रचना है। वह अपने युग की साहित्यिक रुचि की उपज और आदर्श है। भारतीय कवियों में सर्वोच्च स्थान सर्वसम्मति से कालिदास को मिला है, तथापि मेघदूत के कर्ता की अपेक्षा जिनसेन अधिक प्रतिभाशाली कवि माने जाने योग्य है[2]।

पार्श्वाभ्युदय की कथावस्तु

जम्बूद्वीप के दक्षिण भरत क्षेत्र में सुरम्य नामक देश में पोदनपुर नगर था। वहाँ राजा अरविन्द राज्य करता था। उस नगर में विश्वभूति ब्राह्मण के दो पुत्र कमठ और मरुभूति रहते थे। ये दोनों राजा के मन्त्री थे। एक बार जब मरुभूति बाहर राजा के कार्य से गया हुआ था तब कमठ ने उसकी स्त्री वसुन्धरा को बलात् अपनी पत्नी बना लिया। राजा को जब यह ज्ञात हुआ तो उसने कमठ को अपने राज्य से निष्कासित कर दिया। कमठ सिन्धु नदी के किनारे तपस्या करने लगा। बड़े भाई के निष्कासन से दुःखी छोटा भाई मरुभूति तलाश करते-करते भाई के पास पहुँचा। उसे आया देखकर कमठ को बहुत क्रोध आया। उसने नमस्कार करते हुए मरुभूति पर पाषाण शिला गिरा दी। इस प्रकार कई जन्मों तक उन दोनों का आपस में वैर चलता रहा। अन्त में मरुभूति का जीव वाराणसी के काश्यप गोत्री राजा विश्वसेन की रानी ब्राह्मी के गर्भ में पार्श्वनाथ के रूप में आया। देवों ने उसके यथासमय गर्भ, जन्म आदि महोत्सव किए। अन्त में वैराग्य के कारण उन्होंने समस्त परिग्रहों का त्याग कर दीक्षा ले ली। एक बार जब वे तपश्चरण में तल्लीन थे तो आकाशमार्ग से जाते हुए कमठ के जीव शम्बरासुर का विमान रुक गया। उसने विभंगावधि से सब वृत्तान्त जाना तो अपने वैरी को देखकर उसकी क्रोधाग्नि बढ़ गई। क्रोधवश उसने महागर्जना की और महावृष्टि करना शुरू कर दी। इस पर जब पार्श्वनाथ अपने धैर्य से विचलित नहीं हुए तो वह उन्हें युद्ध करने की प्रेरणा देते हुए कहने लगा कि युद्ध में तुम मेरे हाथ मृत्यु प्राप्त कर अलकानगरी को प्राप्त करोगे वहाँ पर स्त्री आदि भोग सम्पदायें सुलभ होंगी। अलका नगरी आदि के वैभव का

---

१. उत्तरपुराण (प्रस्ताविक), पृ० ११ (ज्ञानपीठ प्रकाशन)

२. जर्नल बाम्बे ब्रांच, रॉयल एशियाटिक सोसायटी, संख्या ४९, व्हा० १८, (१८९२) तथा पाठक द्वारा सम्पादित मेघदूत द्वि०, सं० पूना, १९१६ भूमिका, पृ० २३ आदि

वर्णन कर वह उन्हें स्वर्ग प्राप्ति के लिए लालायित करने की चेष्टा करता है। इस प्रकार अनेक उपसर्गों के बीच जब भगवान् धैर्य से च्युत नहीं होते हैं तो वह उनको मारने के लिए एक पहाड़ उठाता है। इसी समय धरणेन्द्र और पद्मावती भगवान् की पूजा के लिए आते हैं। धरणेन्द्र भगवान् को घेरकर अपने फणों के ऊपर उठा लेते हैं और पद्मावती वज्रमय छत्र तानकर खड़ी हो जाती है। इसी समय भगवान् को कैवल्यज्ञान हो जाता है। आकाश में सुरदुन्दुभि बजती है, दिशायें निर्मल हो जाती हैं। यह सब देखकर शम्बरासुर भागने लगता है; किन्तु धरणेन्द्र उसे अभय देकर रोकते हैं और उसके पूर्वजन्मों की याद दिलाते हैं। शम्बर अपने कृत्यों पर पश्चाताप करता है और तीर्थंकर का गुणगान करता है।

इस काव्य में शम्बर को यक्ष के रूप में चित्रित किया गया है। युद्ध में मृत्यु को प्राप्त पार्श्वनाथ की शम्बरासुर मेघ के रूप में कल्पना करता है। भगवान् पार्श्वनाथ को यह परामर्श देता है कि युद्ध में मृत्यु प्राप्त कर मेघ रूप धारण कर वे अलकानगरी जाँय और अपने पूर्वजन्म की पत्नी वसुन्धरा जो कि इस समय किन्नरी हुई है, से जाकर मिलें तथा उसकी वियोगाग्नि को शान्त करें।

पार्श्वाभ्युदय में रामगिरि से अलका तक मेघ के जाने के मार्ग का वर्णन किया गया है। रामगिरि से चलकर मेघमाल नामक क्षेत्र पर आएगा।[3] इसके बाद उत्तर की ओर चलकर उसे आम्रकूट पर्वत मिलेगा[4]। यहाँ से आगे चलकर विन्ध्याचल के चरणों में फैली हुई नर्मदा का दर्शन होगा[5]। अनन्तर पर्वतों-पर्वतों पर होते हुए मेघ का दशार्णदेश में प्रवेश होगा[6]। दशार्ण देश में पहुँचने पर वह विदिशा नगरी में जायगा। विदिशा से क्रमशः नीच पर्वत, उज्जयिनी, देवगिरि, दशपुर, कुरुक्षेत्र, कनखल, क्रौञ्चद्वार तथा कैलाश पर्वत जायगा[7]।

---

३. सद्यः सीरोत्कषणसुरभिक्षेत्रमारुह्यमालम्। पार्श्वाभ्युदय १।६३

४. त्वामासारप्रशमितवनोपप्लवं साधु मूर्ध्ना ... / वक्षत्यध्वश्रमपरिगतं सानुमानाम्रकूटः। पार्श्वा० १।६६

५. रेवां द्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णाम्। पार्श्वा० १।७५

६. कालक्षेपं ककुभसुरभौ पर्वते पर्वते ते। पार्श्वा० १।८६
त्वय्यासन्ने परिणतफलश्यामजम्बूवनान्ताः। संपत्स्यन्ते कतिपयदिनस्थायिहंसा दशार्णाः॥ पार्श्वा० १।९१, ९२

७. नीचैराख्यं गिरिमधिवसेः॥ पार्श्वा० १।९७
सौधोत्सङ्गप्रणयविमुखो मा स्म भूरुज्जयिन्याः॥ पार्श्वा० १।१०३
देवपूर्वं गिरिम्। पार्श्वा० २।३०
पात्रीकुर्वन्दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानाम्॥ पार्श्वा० २।४४

कैलाश पर्वत के अंक में अलकानगरी बसी हुई है। इस अलकानगरी का वर्णन कवि ने मुक्त कंठ से किया है। मार्ग का उपर्युक्त क्रम मेघदूत के अनुसार ही है। हो सकता है कि जिनसेन कोई अन्य मार्ग चुनते, किन्तु उन्हें मेघदूत के श्लोकों के सारे चरणों को अपने काव्य में समाहित करना था अतः मार्ग का यही क्रम उन्होंने चुना।

अनुशीलन—पार्श्वाभ्युदय विश्व के समस्त काव्यों में अप्रतिम है। आध्यात्मिक शक्ति के सामने संसार की सारी भौतिक शक्तियाँ तुच्छ हैं, वे उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती हैं, यह दर्शाना यहाँ कवि का अभिप्रेत है। पार्श्व के प्रति दग्धवैर शम्बरासुर सोचता है—चूंकि मेघ का दर्शन होने पर सुखी व्यक्ति का भी चित्त अन्य प्रकार की प्रवृत्ति वाला हो जाता है, अतः तिरस्कार करता हुआ मैं गर्जनाओं से मनोहर ध्वनि युक्त, विद्युत के उद्योत से भी समान शरीर वाले मेघों से इसके चित्त में क्षोभ उत्पन्न करूँगा। अनन्तर प्रकम्पित धैर्य वाले इसे विचित्र उपाय से मार डालूँगा[८]।' ऐसा सोचकर उसने उपद्रव प्रारम्भ कर दिया। जिनसेन उसकी मूढ़ता का परिहास करते हुए कहते हैं—

क्वाऽयं योगी भुवनमहितो दुर्विलङ्घ्यस्वशक्तिः,
क्वाऽसौ क्षुद्रः कमठदनुजः क्वेभराजः क्व दंशः।
क्वाऽऽसद्ध्यानं चिरपरिचितध्येयमाकालिकोऽसौ,
धूमज्योतिः सलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः॥ पार्श्वा० १।१७

अर्थात् जिसकी आत्म शक्ति का उल्लंघन करना कठिन है ऐसा यह योगी कहाँ और अधम कमठ का जीव दैत्य कहाँ? कहाँ तो गजराज और कहाँ वन-मक्खी, जिसका ध्येय चिरपरिचित है और पूर्णरूप से जिसका ध्यान शोभन है

ब्रह्मावर्तं जनपदमथच्छायया गाहमानः।
क्षेत्रं क्षत्रप्रधनपिशुनं कौरवं तद्भजेथाः॥ पार्श्वा० २।४५, ४६
तस्माद्गच्छेरनुकनखलं शैलराजावतीर्णाम्। जह्नोः कन्यां सगरतनयस्वर्गसोपान-पंक्तिम्। २।५१, ५२
हंसद्वारं भृगुपतियशोवर्त्म यत्क्रौञ्चरन्ध्रम्॥ मेघदूत १।६०, पार्श्वा० २।६९
तस्योत्सङ्गे प्रणयिन इव स्रस्तगङ्गादुकूलां।
न त्वं दृष्ट्वा न पुनरलकां ज्ञास्यसे कामचारिन्॥ पार्श्वा० २।८१,८२

८. मेघैस्तावत्स्तनितमुखरैर्विद्युदुद्योतहासैः,
चित्तक्षोभान्द्विरदसदृशैरस्य कुर्वे निकुर्वन्।
पश्चाच्चैनं प्रचलितधृतिं हीं हनिष्यामि चित्रं,
मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेतः॥—पार्श्वा १।११

ऐसा वह योगी कहाँ और धुआँ, अग्नि, जल तथा वायु का समुदाय यह मेघ असामयिक (शीघ्र नष्ट हो जाने वाला) कहाँ ?

वायु में धुयें के रूप में सूक्ष्मातिसूक्ष्म रजकण छाए रहते हैं। मरुत् के संघर्ष से ये कण विद्युत् से परिगृहीत हो जाते हैं। तब वाष्प रूप में अन्तरिक्ष में व्याप्त जल को वे अपने ऊपर आकृष्ट कर लेते हैं। इस प्रकार मेघ बनकर जल-वृष्टि के योग्य हो जाते हैं[९]। वास्तविक रूप में ऐसा मेघ सन्देशादि के कार्य को सम्पन्न करने में समर्थ नहीं है। किन्तु कालिदास यक्ष को कामुक के रूप में चित्रित करते हैं और कामुक व्यक्ति अपनी उत्कण्ठा के कारण चेतन अचेतन के विवेक में दीन हो जाते हैं अतः यक्ष उसी अचेतन मेघ से याचना करने लगता है। जिनसेन ने आत्मिक शक्ति के सामने मेघरूप अचेतन पदार्थ की तुच्छता को पूरी तरह स्वीकार किया है अतः पार्श्वनाथ उसकी शक्ति को किसी भी रूप में स्वीकार नहीं करते। भौतिक शक्ति का आश्रय लेकर दूसरे को पराभूत करने की चेष्टा करने वाले को जिनसेन क्षुद्र कहने से नहीं चूकते। कालिदास अचेतन प्रकृति को भी मनोभावों के सम्पर्क से चेतन बनाने का कौशल व्यक्त करते हैं, जिनसेन आत्मिक शक्ति के सामने जड़ प्रकृति की तुच्छता के यथार्थ को स्वीकार करने में जरा भी नहीं हिचकते। शम्बर के माध्यम से मेघ के रूपों तथा उसके प्रतिफलों को जिनसेन ने अत्यधिक विस्तार से कहलाया है किन्तु ये सारे रूप, ये सारे फल पार्श्व को निस्सार दिखाई देते हैं। इस प्रकार पार्श्व का याचक रूप नहीं, समर्थ रूप सामने आता है। अचेतन को चेतन मानने का भाव बन्धन का भाव है और इसी मिथ्यापरिणति के कारण जीव इस संसारचक्र में भ्रमण कर रहा है। अचेतन को अचेतन और चेतन को चेतन मानने का विवेक जिसके अन्दर जाग्रत होता है, वह रत्नत्रय मार्ग के द्वारा मोक्ष के सम्मुख पहुँचता है। इस प्रकार की साधना का पथिक अनुपमेय है, दुर्जेय है, इस बात का विचार न कर दुष्ट पुरुष बुद्धि की जड़ता से उससे माया युद्ध की याचना करता है[१०]। ऐसा व्यक्ति यदि देव भी है तो भी पशु के तुल्य है, जिसे जिनसेन ने 'गुरुसुरपशु' कहा है[११]।

संसार में लोग वस्तुओं और घटनाओं को अपने अपने अभिप्राय और सामर्थ्य के अनुसार देखते हैं। शंबरासुर पार्श्व के तप के अभिप्राय को समझ

---

९. वासुदेव शरण अग्रवाल, मेघदूत एक दृष्टि, पृ० ६

१०. मायायुद्धं मुनिपमुपमाक्षीणको दुर्जयोऽयं,
इत्यौत्सुक्यात्परिगणयन् गुह्यकस्तं ययाचे ॥ पार्श्वा० १।११

११. वही १।१८

नहीं पाया। अतः उन्हीं से पूछ बैठता है—मन को अपनी अन्तरात्मा में रखकर वह (ध्यानी रूप में प्रसिद्ध) आप कहिए। क्या आप कर्मों के नष्ट हो जाने पर सिद्धावस्था को प्राप्त आत्मद्रव्य में मन को लगा रहे हैं अथवा (आपके) कण्ठ में आलिंगन की इच्छा रखने वाली दूरवर्ती प्रिया में मन लगा रहे हैं[12] ? प्रायः शम्बरासुर यही सोचता है कि मुनि पार्श्व सुन्दर-सुन्दर स्त्रियाँ पाने के लिए तपस्या कर रहे हैं। अतः वह बार बार उन्हें दिव्य स्त्रियों की प्राप्ति का प्रलोभन देता है[13]। अप्सराओं के लोभ से तलवार के द्वारा मृत्यु प्राप्त करना[14] भी वह एक बड़े सौभाग्य की बात मानता है। इस प्रकार वक्तव्य को सुनकर भी पार्श्वयोगी चुप ही रहते हैं, ध्यान से किञ्चिन्मात्र भी च्युत नहीं होते हैं। उस समय उनकी धीरता देखकर यक्ष को भी आश्चर्य होता है लेकिन उसके अहं को यह स्वीकार करने में भी कठिनाई होती है और प्रत्युत्तर न देने के कारण पार्श्व को स्त्रीमन्य मानता है[15]। यक्ष को कुछ देर पुनः भ्रम होता है कि चूंकि पार्श्व के कान उसके द्वारा कहे गए विशद अभिप्राय वाले समीचीन भाषण को नहीं सुनते हैं, अतः वे निष्ठुर वायुओं से दूषित हैं, स्त्रियों का गान इस प्रकार के कानों की अचूक औषधि है, अतः स्त्रियों का गान सुनने से प्रसन्न हुआ योगी अवश्य ही उसका प्रत्युत्तर देगा[16]। इस प्रकार स्त्रीप्रलोभन के अनेक प्रसंगों से पार्श्वाभ्युदय भरा पड़ा है, किन्तु अन्त में हमें ज्ञात होता है कि तीर्थंकर पार्श्व को ये प्रलोभन लुभा नहीं सके और प्रलोभन देने वाले वैरी को उनके समक्ष झुकना पड़ा, उनकी शरण[17] लेनी पड़ी। इससे यह अभिप्राय द्योतित होता है

१२. ध्यायन्नेवं मुनिपमभणीन्निष्ठुरालापशौण्डो,
भो भो भिक्षो भणतु स भवान् स्वान्तमन्तर्निरुन्धन् ।
क्षीणक्लेशे शिवपुषि मतिं किं निधत्तेऽज्झितस्वे,
कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे ॥ पार्श्वा० १।१२

१३. पार्श्वाभ्युदय १।२७, २९, ४।२५, २४

१४. याचे देवं मधुसिहृतिभिः प्राप्य मृत्युं निकारात् ।
मुक्तो वीरश्रियमनुभव स्वर्गलोकेऽप्सरोभिः ॥ पार्श्वा० १।२६

१५. पार्श्वा० १।३२, ४।१३

१६. मन्ये श्रोत्रं परुषपवनैर्दूषितं ते मदुक्तां,
व्यक्ताकूतां समरविषयां सत्कथां नो शृणोति ।
तस्यारुग्ण्यप्रहरणमिदं भेषजं विद्धि गेयं,
श्रोष्यत्यस्मात्परमवहितं सौम्य ! सीमन्तिनीनाम् ॥ पार्श्वा० ४।१९

१७. पार्श्वा० ४।६०

कि जिनसेन वासनाजन्य प्रेम के पक्षपाती नहीं हैं। वासनाजन्य क्षणभंगुर प्रेम का फल दुःख और क्लेश के अतिरिक्त और कुछ नहीं। कामवासनाओं को जलाए बिना आत्मतत्त्व की उपलब्धि नहीं हो सकती। बिना तपस्या के आत्म-स्नेह परिनिष्ठित नहीं हो सकता यही पार्श्वाभ्युदय का अमर सन्देश है। अन्य जैन सन्देश काव्यों में भी प्रायः यह सन्देश दिया गया है। इस प्रकार शृंगार के वातावरण में शान्त रस की अवतारणा हुई है। इसी की ओर लक्ष्य कर स्वर्गीय डॉ० नेमिचन्द्रशास्त्री ने कहा था—शृंगार के वातावरण में चलने वाली काव्य परम्परा को अपनी प्रतिभा से शान्त रस की ओर मोड़ देना कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। त्याग में विश्वास रखने वाले जैन मुनियों ने श्रमण संस्कृति के उच्च तत्त्वों का विश्लेषण पार्श्वनाथ और नेमिनाथ जैसे महापुरुषों के जीवनचरितों में अंकित किया है। जैन सन्देश काव्यों में साहित्यिक सौन्दर्य के साथ दार्शनिक सिद्धान्त भी उपलब्ध होते हैं। विषय के अनुसार मन और शील को दूत नियुक्त करना और शीतलता तथा शान्ति का वातावरण उत्पन्न कर देना सर्वथा नवीन प्रयोग है। संयम, सदाचार एवं परमार्थतत्त्व का निरूपण काव्य की भाषा और शैली में ये काव्य सहृदयजन के आस्वाद्य बन गए हैं[१८]।

यद्यपि पार्श्वाभ्युदय में जैनधर्म के किसी सिद्धान्त का विधिपरूप से प्रतिपादन नहीं किया गया है तथापि मेघदूत के अनेक प्रसङ्गों को आचार्य जिनसेन ने जैनमत के अनुकूल ढालने का प्रयास किया है। उदाहरणतः मेघदूत में उज्जयिनी के महाकाल मन्दिर का वर्णन है तथा उसके अन्दर पशुपति शिव का अधिष्ठान बतलाया है। पार्श्वाभ्युदय में महाकाल वन में कलकल नामक जिनालय[१९] का वर्णन किया गया है। पशुपति शब्द का अर्थ यहाँ पशु आदि प्राणियों के रक्षक भगवान् जिनेन्द्र अर्थ व्यञ्जित होता है।[२०] जैन ग्रन्थों में हिमवन् आदि पर्वतों से गङ्गा आदि नदियों का निर्गम बतलाया गया है। पार्श्वाभ्युदय में भारतवर्ष की गङ्गा आदि नदियों को उन नदियों की प्रतिनिधि कहा गया है। प्रतिनिधि होने के कारण उनमें स्नान करने में कोई दोष नहीं है, क्योंकि तीर्थ के प्रतिनिधि भी पापों को नष्ट करने वाले कहे जाते हैं। मेघदूत में गङ्गा को जह्नु कन्या तथा सगर पुत्रों को जाने के लिए स्वर्ग की सीढ़ियों के रूप में चित्रित किया गया है। जैन परम्परा इन पौराणिक कहानियों का समर्थन नहीं करती है अतः

---

१८. डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान, पृ० ४७१-४७२

१९. पार्श्वाभ्युदय २।८

२०. पार्श्वाभ्युदय २।१५

कवि ने उसे इस रूप में वर्णित किया है कि वह लौकिक रूढ़ि के अनुसार जह्नु की कन्या के रूप में प्रसिद्ध तथा सगरपुत्रों को जाने के लिए स्वर्ग की सीढ़ियों के तुल्य है। लौकिक श्रुति के रूप में स्वीकार करने पर आर्षपरम्परा से उसका कोई विरोध नहीं है। मेघदूत में गङ्गा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि गङ्गा ने पार्वती के मुख में स्थित भ्रूभङ्ग को मानों फेनों से हँसकर तरङ्ग रूप हाथों को चन्द्रमा के ऊपर लगाकर शिव के केशों को पकड़ लिया।[२१] जैन परम्परा मानती है कि हिमवत् पर्वत के प्रपात पर गङ्गाकूट है वहाँ भगवान् आदिनाथ की जटाजूट युक्त प्रतिमा है उसी के समीप गङ्गा बहती है। इसी परम्परा का पोषण करते हुए जिनसेन ने कहा है—जिस श्वेतवर्ण वाली गङ्गा (हिमवान् पर्वत के पद्म सरोवर से निकली हुई) महानदी ने तरङ्ग रूप हाथों को चन्द्रमा के ऊपर लगाते हुए श्वेतवर्ण फेनों से भौंहो की टेढ़ी रचना से युक्त स्त्रियों पर मानों हँसकर अथवा गौरवर्ण स्त्रियों के भ्रूभङ्ग पर मानों हँसकर हिमवान् पर्वत के शृङ्गशिखर रूप कमलकर्णिका पर स्थित प्रतिबिम्बात्मक अथवा मुख स्वरूप प्रपात पर गङ्गाकूट की निवासिनी देवी के त्रैलोक्याधिपति अर्हन्त भगवान् आदिदेव के केशों को पकड़ लिया (अर्थात् जिसने भगवान् आदिनाथ की प्रतिमा के ऊपरी भागों में स्थित जटाजूटों को पकड़ लिया) उसी इस नदी को मानों अर्थात् इस नदी को उस गङ्गा महानदी के समान आदर दो।[२२] मेघदूत में चर्मण्वती नदी को गौओं के मारने से उत्पन्न तथा पृथ्वी में प्रवाह रूप से परिणत रन्तिदेव की कीर्ति कहा है।[२३] पार्श्वाभ्युदय में इन्हीं विशेषणों के साथ इसे रन्तिदेव की अकीर्तिस्वरूप कहा गया है।[२४] मेघदूत में किन्नरियों द्वारा त्रिपुरविजय के गीत गाने का उल्लेख है। पार्श्वाभ्युदय में त्रिपुर विजय से तात्पर्य औदारिक, तैजस और कार्मण तीनों शरीरों के विजय का गीत है।[२५] मेघदूत में गौरी शब्द का प्रयोग पार्वती के लिए किया गया है, पार्श्वा-

---

२१. गौरीवक्त्रभ्रुकुटिरचनां या विहस्येव फेनैः,
शम्भोः केशग्रहणमकरोदिन्दुलग्नोर्मिहस्ता ॥ मेघदूत २।५३

२२. तामेनैनां कलय सरितं त्वं प्रपाते हिमाद्रेः,
गङ्गादेव्याः प्रतिमिभिगतस्यादिदेवस्य भर्तुः।
गौरीवक्त्रभ्रुकुटिरचनां या विहस्येव फेनैः,
शम्भोः केशग्रहणमकरोदिन्दुलग्नोर्मिहस्ता ॥ २।५३ ॥

२३. कालिदास : मेघदूत १।४५

२४. पार्श्वा० २।२६

२५. मेघदूत १।५६, पार्श्वाभ्युदय २।६७

भ्युदय में यह गौरी स्त्री अथवा ईशान दिशा के स्वामी की पत्नी के अर्थ में व्यञ्जित हुआ है।[२६] मेघदूत में मेघ से कहा गया है कि वह शिवजी के हाथ का सहारा देने पर चलने वाली पार्वती के पैदल चलने पर अपने भीतर जल प्रवाह को रोककर अपने शरीर की सीढ़ियों के रूप में परिणत कर दे। पार्श्वा-भ्युदय में गौरी के स्थान पर देव भक्ति के कारण पूजा करने की इच्छुक जैन मन्दिर को जाती हुई इन्द्राणी के लिए अपने शरीर को सीढ़ी के रूप में परिवर्तित करने की मेघ से प्रार्थना की गई है।[२७]

जिनसेन का जिन भक्ति में अटूट विश्वास है। नागराज धरणेन्द्र तीर्थंकर पार्श्वनाथ की स्तुति करते हुए कहते हैं—हे भगवन्! आपके विषय में थोड़ी भी भक्ति विपुल पुण्यको उत्पन्न करती है।[२८] पूर्वजन्म में कमठ के जीवधारी तापस के द्वारा जलाए जाने पर हम दोनों नाग और नागिनी देवयोनि को प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार थोड़ी भी भक्ति अधिक फल को देती है। हम लोगों का और भी अधिक कल्याण हो ऐसी जिसकी भक्ति के प्रभाव से मुझे पत्नी के साथ यह कठिनाई से प्राप्त करने योग्य (दुर्लभ) नागेन्द्र पद प्राप्त हुआ और जिसके माहात्म्य से भक्ति के अनुकूल आचरण करने के लिए मैं विहार छोड़कर रत्नत्रय धारी भगवान् ऋषभदेव के मन्दिर के शिखर से युक्त उस कैलाश पर्वत से लौटा हूँ।[२९] वह (धरणेन्द्र के पद को प्रदान करने वाली) भक्ति, आपकी सेवा करती हुई मेरे कल्याण के लिए हो। हे देव! उत्तम सम्पदा को देती हुई यह आपके चरणों की भक्ति इस जन्म में और परलोक में भी मेरे लिए सब प्रकार से सुखदायी हो।[३०] इसी प्रकार पश्चात्तापयुक्त हृदय वाला शम्बरासुर भगवान् के प्रति अपने हार्दिक उद्गार व्यक्त करता है—हे भगवन्! राशीभूत अथवा विनश्वर मेघ शब्द नहीं करके भी जैसे चातकों को जल देता है, उसी प्रकार प्रार्थना किए जाने पर मौन को धारण किए हुए भी आप हम लोगों को अभीष्ट

---

२६. मेघदूत १।६०, पार्श्वाभ्युदय २।७५

२७. मेघदूत १।६०, पार्श्वाभ्युदय २।७६

२८. श्रेयस्सूते भवति भगवन्भक्तिरल्पाप्यनल्पम् ।। पार्श्वा० ४।५४

२९. सैषा सेवां त्वयि विदधतः श्रेयसे मे दुरापं,
यन्माहात्म्यात्त्वमधिगतं कान्तयाऽसा मयेदम् ।
यस्माच्चैनं तदनुचरणेनाऽहमुज्झन्विहारं,
तस्मादद्रेस्त्रिनयनवृषोत्खातकूटान्निवृत्तः ।। पार्श्वा० ४।५५

३०. तन्मे देव श्रियमुपरिमां तन्वतीयं त्वदङ्घ्र्यो-
र्भक्तिर्भूयान्निखिलसुखदा जन्मनीहाऽप्यमुत्र । पार्श्वा० ४।५६

कल्याण प्रदान करते हो। यदि भव्यजीवों के एकमात्र मित्र आपसे भक्त इष्ट फल निश्चित रूप से प्राप्त करता ही है तो अच्छा है अर्थात् यदि आप मौन होकर भी कुछ देते हैं और भक्त इष्ट फल प्राप्त करता ही है तो आपका मौन श्रेयस्कर है। कल्पवृक्ष क्या संसार के लिए शब्दों से (उत्तरों से) फलते हैं? याचकों के अभीष्ट प्रयोजन का सम्पादन करना ही सज्जनों का उत्तर होता है।[31] हे प्राणिमात्र के प्रति दयाभाव रखने वाले! विनम्र होकर मैं तुमसे आज दीनता सहित याचना करता हूँ। सौहार्द से अथवा पाप से भयभीत या दुःखाकुल होने से अथवा मेरे प्रति अनुकम्पा भाव रखकर अशरण, निर्दय, अत्यन्त प्रौढ माया युक्त, दुष्टाभिलाषी (एवं) पश्चाताप के कारण चरणों में गिरे हुए मुझे पापरहित करो।[32] हे मुनि मित्र पार्श्व जिनेन्द्र! मेरे भगवान् के चरण कमलों के प्रसाद से मूढता के कारण न्याय का उल्लङ्घन किए हुए मेरे जो वाणी से अनेक प्रकार की चेष्टा की भक्ति से चरणों में झुके हुए मुझ कमठासुर की वह चेष्टा मिथ्या हो निन्दितात्मा मेरे पापकर्म भी मिथ्या हों। इस प्रकार क्षणभर भी मेरा आत्मस्वभावरूप ज्ञानसे वियोग न हो।[33]

उपर्युक्त विवरण से भक्ति के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं—

(१) थोड़ी सी भी जिनभक्ति बहुत पुण्य उत्पन्न करती है।

(२) भक्ति उत्तम सम्पदा को देने वाली और कल्याणकारी होती है। वह इस लोक और परलोक में सुखदायक होती है।

---

३१. श्रेयोऽस्मभ्यं समभिलषितं वारिवाहो यथा त्वं,
निःशब्दोऽपि प्रदिशसि जलं याचितश्चातकेभ्यः ॥
प्रत्युत्कीर्णो यदि च भगवन्भव्यलोकैकमित्रात्,
त्वत्तः श्रेयः फलमभिमतं प्राप्नुयादेव भक्तः।
प्रत्युक्तैः किं फलति जगते कल्पवृक्षः फलानि?
प्रत्युक्तं हि प्रणयिषु सतामीप्सितार्थक्रियैव ॥ पार्श्वा० ४।६०-६१

३२. अत्राणं मामपघृणमतिप्रौढमायं दुरीहं,
पश्चात्तापाच्चरणपतितं सर्वसत्त्वानुकम्प।
पापापेतं कुरु सकरुणं त्वाऽद्य याचे विनम्रः,
सौहार्दाद्वा विधुर इति वा मय्यनुक्रोशबुद्ध्या ॥ पार्श्वा० ४।६३

३३. यत्तन्मौढ्यात्बहुविलसितं,न्यायमुल्लङ्घ्य वाचां,
तन्मे मिथ्या भवतु च मुने दुष्कृतं निन्दितस्वम्।
भक्त्या पादौ जिन विनमतः पार्श्व मे तत्प्रसादात्,
मा भूदेवं क्षणमपि सखे विद्युता विप्रयोगः ॥ पार्श्वा० ४।६५

(३) भक्ति का फल स्वतः प्राप्त होती है।

(४) भक्ति जीवों को पापरहित करती है।

(५) भगवान् से प्रार्थना करते समय व्यक्ति यह भावना करता है कि क्षण भर के लिए भी उसका आत्मस्वरूप ज्ञान से वियोग न हो।

पार्श्वाभ्युदय में दो प्रकार के तपों का चित्रण प्राप्त होता है—(१) सांसारिक आकांक्षा की पूर्ति के लिए किया गया तप। (२) कर्म के क्षय के लिए किया गया तप। इन दो तपों में से जैनधर्म में दूसरे प्रकार के तप को स्वीकार किया गया है। क्योंकि पहले तप का प्रयोजन संसार है और दूसरे तप का प्रयोजन मोक्ष है। आचार्य समन्तभद्र ने कहा है—

अपत्यवित्तोत्तरलोकतृष्णया,
तपस्विनः केचन कर्म कुर्वते।
भवान् पुनः जन्म जरा जिहासया,
त्रयीं प्रवृत्तिं समधीरनारुणत् ॥

हे भगवन्! कितने ही लोग सम्मान प्राप्त करने के लिए, कितने ही धन प्राप्त करने के लिए तथा कितने ही मरणोत्तरकाल में प्राप्त होने वाले स्वर्गादि की तृष्णा से तपश्चरण करते हैं, परन्तु आप जन्म और जरा की बाधा का परित्याग करने की इच्छा से इष्टानिष्ट पदार्थों में मध्यस्थ हो मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को रोकते हैं। पार्श्वाभ्युदय में इस प्रकार के तप का आचरण करने वाले भगवान् पार्श्व हैं, जिनके सामने कठिनाई के पहाड़ उपस्थित होते हैं, फिर भी जो जरा भी विचलित नहीं होते हैं। फलतः शम्बरासुर को विफल प्रयास वाला होना पड़ता है।[३४] इसके विपरीत कमठ कपट मन से[३५] तपस्या करता है। अपने भाई की पत्नी हरवरिकातुल्य वसुन्धरा से अलग हुआ वह शुष्क वैराग्य के कारण, जिसके पत्थरों के तल भाग ऊँचे नीचे थे, जिसके प्रदेश दावाग्नि से दग्ध थे, जहाँ वृक्ष शुष्क होने के कारण उपभोग के योग्य नहीं थे, अनेक प्रकार के काँटों से वेष्टित होने के कारण जो गमन करने योग्य नहीं था ऐसे पर्वत के शिखर पर गर्मी के दिन बिताता है।[३६] इतना सब करने के बाद

---

३४. एवंप्रायां निकृतिमसुरः स्त्रीमयीमाशु कुर्वन्,
व्यर्थोद्योगः समजनि मुनौ प्रत्युताऽऽप्तस दुःखम् ॥ ४।४५

३५. वही १।१३

३६. यस्मिन् ग्रावा स्थपुटिततलो दावदग्धाः प्रदेशाः,
शुष्का वृक्षा विविधवृतयो नोपभोग्या गम्याः।
यः स्म ग्रैष्मान् नयति दिवसञ्छुष्कवैराग्यहेतोः,
तस्मिन्नद्रौ कतिचिदबलाविप्रयुक्तः स कामी ॥ पार्श्वा० १।५

भी उसका अपने भाई के प्रति बैर शान्त नहीं होता है और वह भगवान् पार्श्वनाथ पर तरह-तरह के उपसर्ग करता है अतः कमठ के जन्म में किया गया तप उसकी आत्मभाप्ति में कुछ भी सहायक नहीं होता है।

भारतवर्ष के साहित्य की एक प्रमुख विशेषता कर्म तथा उसके फल में विश्वास है। प्रत्येक पुरुष को अपने कर्म का शुभाशुभ फल भोगना ही पड़ता है।[३७] यहाँ के समस्त शास्त्र बन्धन से मुक्त होने का उपाय बतलाते हैं। पार्श्व पर किया गया शम्बरासुर का उपसर्ग उनके पूर्वकृत कर्मों का फल था, जिसे तीर्थंकर होने पर भी उन्हें भोगना अनिवार्य था। उनकी साधना बन्धन से मुक्त होने का उपाय थी। पार्श्वाभ्युदय का मेघ सांसारिक बाह्य आकर्षण का प्रतीक है। इस आकर्षण से सभी सांसारिक प्राणी आकर्षित होते हैं। शम्बरासुर चाहता है कि बाह्य आकर्षणों में पड़कर पार्श्व अपनी तपः साधना को भूल जाँय अतः मेघ के माध्यम से सांसारिक आकर्षणों, सृष्टि की उमंगों, तरङ्गों, कोमल संवेदनाओं और अभिलाषाओं को सामने रखता है। उज्जयिनी और अलका की बड़ी-बड़ी अट्टालिकाओं, उद्यानों, वीथिकाओं, पण्यस्थलों, मनोहर अङ्गनाओं, रास्ते के उद्दाम प्राकृतिक दृश्यों और लुभावनी वस्तुओं के ललित वर्णनों के बीच पार्श्व के हृदय में शान्ति और निरासक्ति की एक अपूर्व आह्लादमयी धारा है। आत्मा में निरन्तर जागरण का कार्य चल रहा है और इस जागरण का फल यह होता है कि उसकी शक्ति से अनुपम दिव्य सुखों में लीन धरणेन्द्र जैसे देवों के आसन भी कंपायमान हो जाते हैं, शत्रु को पलायमान होना पड़ता है, उसे अपनी भूल मानकर हृदय से क्षमा याचना करनी पड़ती है। इस प्रकार एक अपूर्व विजय की प्राप्ति होती है। अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग शत्रुओं का अब नाश हो गया है। जो कुछ भोगना था वह भोग लिया अब कुछ भोगना बाकी नहीं रहा, संसार के सारे आकर्षणों का अन्त आ गया और आत्मा में अपूर्व सुख की धारा बह रही है। संसार के प्राणी ऐसी महान् आत्मा के गुणानुवाद अथवा नाम मात्र लेने से भवोच्छेदन की आशा बाँध रहे हैं। भक्ति के रस का संचार हो रहा है। इस प्रकार पार्श्वाभ्युदय के बाह्य रूप की अपेक्षा उसका आन्तरिक रूप करोड़ों गुना अधिक महत्त्व रखता है।

शम्बरासुर और पार्श्व का संघर्ष इन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियज्ञान के बीच का संघर्ष है। शास्त्रकारों ने कहा है कि इन्द्रिय के द्वारा जो जानकारी प्राप्त होती है वह तुच्छ है, अतीन्द्रिय ज्ञान से जो जानकारी प्राप्त होती है वह विपुल है, पूर्ण है। एक में असमग्रता है, दूसरे में समग्रता है। असमग्र को सब कुछ

---

३७. स्वयंकृतं कर्मयदात्मनापुरा फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।

मानने वाला संसार की ऊपरी चाकचिक्य में ही रमण करता है, उसे चाहिए बाह्य प्रकृति का मनोरम वातावरण, काम का उद्दाम वेग और उसकी पूर्ति का साधन सुन्दर ललनायें और पुरुष। दूसरी ओर समग्रता की आराधना करने वाला इन वस्तुओं को वैराग्यशील भिक्षु की निगाहों से देखता है, उसकी दृष्टि में ये सब वस्तुयें और मनोभावनायें बाह्य हैं, शारीरिक हैं, मूर्तिमान हैं, क्षण भंगुर हैं, इन सबके बीच में जो अमूर्तिक आत्मा विद्यमान है वह उसकी खोज करता है। काम, क्रोध, मद आदि के आवेश से उस आत्मतत्व की उपलब्धि नहीं हो सकती है। कहा भी है—

मदेन मानेन मनोभवेन क्रोधेन लोभेन ससम्मदेन।
पराजितानां प्रसभं सुराणां वृथैव साम्राज्यरुजापरेषाम् ॥

शम्बरासुर काम, क्रोध और मद से युक्त है, उसकी दृष्टि सरागी है अतः इन्द्रिय प्रत्यक्ष से उसे जो कुछ दीख रहा है वही उसके लिए लोभनीय और अलोभनीय है। जो लोभनीय है वह वस्तु उसके लिए राग का कारण है और जो अलोभनीय है वह वस्तु उसके लिए द्वेष का कारण है। राग और द्वेष ये दोनों संसार छोड़ने के लिए विसर्जित करने पड़ते हैं, वीतरागी बनना पड़ता है, निश्छल समाधि की ओर बढ़ना पड़ता है। पार्श्व इसी वीतरागता और निश्छल समाधि की ओर बढ़ रहे हैं अतः इन्द्रियों के माध्यम से जो कुछ देखा जा सकता है, अनुभव किया जा सकता है उसकी तरफ उनका लक्ष्य नहीं है, क्योंकि इन्द्रियों की विषयों में प्रवृत्ति राग और द्वेष की जनक है। वीतरागता के पथ के पथिक को इष्ट वस्तु के प्रति न राग है और न अनिष्ट वस्तु के प्रति द्वेष है। जहाँ राग और द्वेष है वहाँ संसार है। संसार छोड़ने के लिए आत्मतत्त्व का सहारा लेना पड़ेगा और अतीन्द्रिय ज्ञान की उपलब्धि करनी होगी। अतीन्द्रिय ज्ञान जिसके पास है वही सच्चा योगी है। शिशुपाल वध में माघ ने नारद को 'अतीन्द्रियज्ञान निधि' कहा है।[३८] कालिदास ने पूर्व मेघ के ५५वें श्लोक में कहा है कि शिव के चरणों में भक्ति रखने वाले करणविगम के अनन्तर शिव के गणों का स्थिर पद प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। इस करणविगम शब्द का प्रयोग पार्श्वाभ्युदय में भी हुआ है। वहाँ कहा गया है कि अर्हन्त भगवान् के चरण चिह्नों को देखने पर जिनके पाप नष्ट हो गए हैं ऐसे भक्ति का सेवन करने वाले

---

३८. निवर्त्य सोऽनुव्रजतः कृतानतीनतीन्द्रियज्ञाननिधिर्नभःसदः।
समासदत्सादितदैत्यसम्पदः पदं महेन्द्रालयचारुचक्रिणः ॥
शिशुपालवध १।११

करणविगम के अनन्तर सिद्ध क्षेत्र की स्थापना करते हैं।[३९] उपर्युक्त करणविगम शब्द का अर्थ प्रायः सभी टीकाकारों ने शरीर त्याग किया है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसकी नई व्याख्या की है। उनके अनुसार करणविगम का सीधा सादा अर्थ है—इन्द्रियों को उलटी दिशा में मोड़ना, अर्थात् इन्द्रियों को बाहरी विषयों की ओर से मोड़कर अन्तर्मुखी करना।[४०] पार्श्वाभ्युदय में पार्श्व भी करणविगम की इस प्रक्रिया में लगे हुए हैं।

पार्श्वाभ्युदय में प्रकृति

पार्श्वाभ्युदय मानों एक दृष्टि से प्रकृति काव्य ही है। इसमें प्रकृति के ही एक रूप मेघ को दूत बनाया गया है और उसका जो मार्ग बतलाया गया है, वह भी मतः स्वाभाविक रूप से प्राकृतिक प्रदेशों में होकर जाता है, अतः इसमें स्वतः प्रकृति चित्रण को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। मेघमार्ग में पड़ने वाले स्थलों की यथातथ्य प्राकृतिक दशाओं का वर्णन किया गया है, जिससे कवि का ऐसा प्रकृति सम्बन्धी सूक्ष्म निरीक्षण प्रकट होता है कि उसने स्वयं आकर इन स्थलों एवं उनकी प्राकृतिक दशाओं को ध्यान से देखा है। भूताचल पर्वत का तल भाग पत्थरों से ऊँचा-नीचा था। उसके प्रदेश दावाग्नि से दग्ध हैं, वहाँ वृक्ष शुष्क होने के कारण उपभोग के योग्य नहीं हैं।[४१] मालक्षेत्र[४२] कृषि प्रधान है। आम्रकूट पर्वत के ऊँचे शिखर पर विद्याधारियाँ बैठा करती हैं। उसके शिखर सुन्दर तथा सिद्धों के द्वारा सेवन करने योग्य हैं। वहाँ फूली हुई लताओं और गुल्मों की वृद्धि के योग्य स्थान हैं। उसका समीपवर्ती भाग पके हुए आमों से ढका हुआ है।[४३] आम्रकूट पर्वत पर जब मेघ बैठता है तो भोली भाली विद्याधारियों को इस बात का सन्देह हो जाता है कि क्या कुण्डली मारे हुए सर्प पर्वत पर बैठा है अथवा पर्वत पर नीलकमल से बनाया गया शेखर सुशोभित हो रहा है।[४४] नर्मदा का जल जंगली हाथियों की सूँड़ों के प्रहारों से निरन्तर मंदित,

---

३९. यस्मिन्दृष्टे करणविगमादूर्ध्वमुद्धूतपापाः,
सिद्धक्षेत्रं विदधति पदं भक्तिभाजस्तमेनम् ।
दृष्ट्वा पुलस्त्वमपि भवताद्धि पुनर्दूरतोऽमुं,
कल्पिष्यन्ते स्थिरगणपदप्राप्तये श्रद्दधानाः ॥ पार्श्वा० २।६६

४०. कालिदास की लालित्य योजना, पृ० १०७

४१. जिनसेन : पार्श्वाभ्युदय १।५

४२. वही १।६३

४३. वही १।६९

४४. वही १।७०

जामुन के कुञ्जों से उपरुद्ध वेग वाला, ऊपर से गिरते हुए झरने के जल के तुल्य, जन्तुरहित होने से मुनिगणों के द्वारा प्रार्थनीय, स्वादु, सुगन्धित और शीतल है।[४४] दशार्ण जनपद के अग्रभाग में विकसित केतकी के फूलों से पीले प्राचीर से युक्त बगीचों सहित, कलुषित जल से भरे हुए, शालिधान्य के उत्पत्ति क्षेत्रों से युक्त तथा रमणीय उद्यानों वाले हैं।[४६] विदिशा नगरी में मनोहर धूप के धुएँ से जिनका शरीर सुगन्धित है ऐसी वेश्याएँ सुरतक्रीड़ा में रत रहती हैं।[४७] वहाँ स्वच्छ और सुगन्धित बावड़ियाँ हैं।[४८] नीच नामक पर्वत पर सिद्ध स्त्रियाँ रति क्रीड़ा करती हैं। प्रौढ़ पुष्पों वाले कदम्ब खिले हुए हैं तथा नागरिकों के लताओं से निर्मित वेश्याकार मण्डप हैं।[४९] उसकी रमणीय अधित्यका में शिखर से गिरते हुए झरनों की शोभा बहुत सुन्दर लगती है।[५०] उज्जयिनी की पौराङ्गनाओं के कटाक्षपातों से युक्त लोचनों से यदि मेघ रमण नहीं करता तो उसे नेत्रवान् होने का फल नहीं मिलेगा।[५१] निर्विन्ध्यानदी के किनारे बैठे हुए पक्षी उसकी करधनी के समान लग रहे हैं, वह अपने नाभि के सदृश भँवरों को दिखला रही है। वह पत्थरों पर गिरने के कारण मनोहरता के साथ बहती है।[५२] सिन्धु नदी वेणी के समान थोड़ा जलवाली तथा किनारे पर उगे हुए वृक्षों के पत्तों के गिरने से पीले वर्णवाली है। वह कामिनी के समान परित्यक्त वस्त्र वाली होकर हंसों की आवाजों से मानों मेघ को बुला रही है।[५३] अवन्ति देश में बूढ़े लोग उदयन की कथाओं के जानकार हैं।[५४] उज्जयिनी नगरी लक्ष्मी की निवासभूमि तथा धनियों की एकमात्र जननी है।[५५] महाकाल वन के मध्य कलकल नामक जिनालय है।[५६] महाकालवन में श्वेतवस्त्रधारी साधकसमूह हु ं फुंकार रूप

---

४५. जिनसेन : पार्श्वाभ्युदय १।७८
४६. वही १।८९
४७. वही १।९४
४८. वही १।९५
४९. वही १।९८-९९
५०. वही १।१०१
५१. वही १।१०४
५२. पार्श्वाभ्युदय १।१०५
५३. वही १।१०७
५४. वही १।१०९
५५. वही १।११०, ११५, ११६, ११७
५६. वही २।९

बीजाक्षर मन्त्र का उच्चारण करता हुआ शूल लेकर भ्रमण कर रहा है।[५७] देवगिरि पर्वत पर गूलर के वृक्ष हैं।[५८] वहाँ स्कन्ददेव का निवास है।[५९] देवगिरि से जाकर गिरने वाले झरनों के कारण चर्मण्वती नदी का जल मलीन हो जाता है। वहाँ पर गायों का आलभन होने के कारण वह रतिदेव की अकीर्ति के तुल्य है।[६०] हिमालय पर्वत पर सरल (चीड़ के) वृक्ष हैं।[६१] उसके शिखरों का अग्रभाग हिमसमूह से ढका हुआ है। इससे उसकी शोभा कवच से ढके हुए शरीर के समान होती है।[६२] वहाँ पर अष्टापद हैं जो मेघ को लाँघने की चेष्टा कर सकते हैं, उन्हें मेघ घने ओलों की वर्षा कर तितर बितर कर देगा। क्योंकि निष्फल आरम्भ करने वाले कौन हैं जो तिरस्कार के पात्र न होते हों।[६३] हिमालय के तट के समीप में ही क्रौञ्चपर्वत का छिद्र है जो कि (चक्रवर्ती के) दण्ड से खोले गये विजयार्धपर्वत के गुहाद्वार के समान है। क्रौञ्च पर्वत के गुहाद्वार से मेघ कैलाशपर्वत की ओर जायगा। कैलाशपर्वत स्वच्छ स्फटिक के समान कान्ति से युक्त, चारों ओर बहने वाले जल प्रवाह सहित तथा कुन्द के समान शुभ्र कान्ति वाला है।[६४] कैलाशपर्वत की गोद में अलका बसी हुई है।[६५] पार्श्वाभ्युदय में पद पद पर प्रकृति के विभिन्न रूप प्राप्त होते हैं, जिनमें से मुख्य रूप निम्नलिखित हैं—

१. विशुद्ध आलम्बन रूप—यह वह रूप है, जिसमें स्वतन्त्र रूप से प्रकृति को ही भावमयी दृष्टि का मुख्य आलम्बन बनाया गया है और साथ ही उसका अनालङ्कारिक वर्णन करते हुए उस पर किसी प्रकार का आरोप नहीं किया गया है। जैसे—जंगली हाथियों की सूँड़ों के प्रताड़न से जो मथित है, जामुन के कुञ्जों से जिसका वेग अवरुद्ध है तथा पत्थरों पर गिरते हुए झरने के जल के कारण प्रकट रूप से जन्तु रहित होने से जो मुनिजनों के द्वारा प्रार्थनीय है। हे मेघ! उस नर्मदा के स्वादयुक्त, सुगन्धित और शीतल जल को तुम लेकर जाना—

५७. पार्श्वाभ्युदय २।७
५८. वही २।३०
५९. वही २।३१
६०. वही २।३६
६१. वही २।६०
६२. वही २।६१
६३. वही २।६३-६४
६४. वही २।६७
६५. वही २।७३

तस्मादद्रेः सुरभि शिखरं प्रार्थनीयं मुनीनां,
निर्जन्तुत्वादुपलनिपतन्निर्झराम्भः प्रकाशम् ।
तस्याः कूलं वनकरिकराघट्टनैरप्यसक्तं,
जम्बूकुञ्जप्रतिहतरयं तोयमादाय गच्छेः ॥ पार्श्वा० १।७८

देशान्तर में गमन करने वालों की स्त्रियाँ अर्धविकसित किञ्जल्कों से हरे और कृष्णलोहित वर्ण से युक्त स्थलकदम्ब पुष्प को देखकर मेघ की समीपता का अनुमान करती हैं अतः स्वयं प्रत्यक्ष से निश्चित कार्यरूप हेतु से कारण का अनुमान होता है, इस प्रकार का मत अधिक उपयुक्त है, मैं ऐसा मानता हूँ—

कार्याल्लिङ्गात् स्वयमधिगतात् कारणस्याऽनुमानं,
कर्तुं येषां यदियमभिमा युक्तरूपेति मन्ये ।
त्वत्सान्निध्यं यदनुमिमते योषितः प्रोषितानां,
नीपं दृष्ट्वा हरितकपिशं केसरैरर्धरूढैः ॥ पार्श्वा० १।८१

हे मेघ ! जहाँ वन में उत्पन्न शिलीन्ध्रपुष्पों को और जलप्राय प्रदेश में तुम्हारे जल बिन्दु गिरने में जिनमें कलियाँ पहले पहले प्रकट हुई हैं ऐसी भूकदली को देखकर ये पर्वतीय मनुष्य तुम्हारे आगमन की जानकारी में समर्थ होते हैं। उस विन्ध्यपर्वत के मध्य में स्थित वनभूमि को तुम्हें जाना चाहिए—

मध्येविन्ध्यं वनभुवमिमां यत्र दृष्ट्वा शिलीन्ध्रान्,
अभ्यारूढाननुवनममी पर्वतीयाः मनुष्याः ।
त्वामायातं कलयितुमलं त्वत्पयोबिन्दुपातैः
आविर्भूतप्रथममुकुलाः कन्दलीश्चानुकच्छम् ॥ पार्श्वा० १।८२

२. **आलंकारिक आलम्बन रूप**—यह वह रूप है, जिसमें प्रकृति को आलम्बन तो बनाया गया है, किन्तु उसका वर्णन आलंकारिक रूप में करते हुए उसे अन्य किसी अप्रस्तुत रूप में भी देखा गया है। पार्श्वाभ्युदय में प्रकृतिचित्रण का यह रूप अधिकता से मिलता है और इस रूप में यहाँ प्रकृति का चित्रण बहुत ही सजीव एवं सरस रूप में किया गया है। तैल से आर्द्रीकृत केशबन्ध के समान वर्णवाला मेघ जब आम्रकूट पर्वत के शिखर पर चढ़ता है तो आम्रकूट पर्वत क्या अपने शरीर को मण्डलाकार परिणमित करने वाला काला सर्प इस पर्वत के मध्य में बैठा है अथवा यह पर्वत का नीलकमल से बनाया गया शेखर है ? इस प्रकार की आशंका को भोली भाली विद्याधरियों के सामने उत्पन्न करता है—

कृष्णाहिः किं वलयिततनुर्मध्यमस्याधिशेते,
किं वा नीलोत्पलविरचितं शेखरं भूभृतः स्यात् ।
इत्याशङ्कां जनयति पुरा मुग्धविद्याधरीणां,
त्वय्यारूढे शिखरमचलः स्निग्धवेणीसवर्णे ॥ पार्श्वा० १।७०

इन्द्रनीलमणि की रमणीय लक्ष्मी का हरण करने वाला मेघ आम्रकूट पर्वत के निकुंज में क्षणभर बैठकर स्वर्ग छोड़कर पृथ्वी में आये हुए सूक्ष्म आकाशखंड के समान लगता हुआ ऐसी अवस्था को प्राप्त कर लेगा कि देव युगल भी उसे देखने की इच्छा करेंगे—

अध्यासीनः क्षणमिव भवानस्य शैलस्य कुञ्जं,
लक्ष्मीं रम्यां मुहुरपहरन्निन्द्रनीलोपलस्य।
क्षेमोन्मुक्तो भुवमिव गतः श्लक्ष्णनिर्मोकखण्डो,
नूनं यास्यत्यमरमिथुनप्रेक्षणीयामवस्थाम्॥ पार्श्वा० १।७१

निर्विन्ध्या नदी को पार कर मेघ के मार्ग में वेणी के समान थोड़ा जल वाली, तीर में उगे हुए वृक्षों से गिरने वाले सूखे हुए पत्तों से पीले वर्ण वाली सिंधु नामक नदी अविनीत, शिथिल अथवा परित्यक्त वस्त्र वाली कामिनी के समान हंसों की पंक्तियों की गम्भीर आवाजों से मानों मेघ को बुलाती हुई दिखाई देगी—

हंसश्रेणीकलविरुतिभिस्त्वामिवोपाह्वयन्ती,
धृष्टा मार्गे शिथिलवसनेवाङ्गना दृश्यते ते।
वेणीभूतप्रतनुसलिला तामतीतस्य सिन्धुः,
पाण्डुच्छायातटरुहतरुभ्रंशिभिर्जीर्णपर्णैः॥ पार्श्वा० १।१०७

उद्दीपनरूप—यह वह रूप है जिसमें प्रकृति का भावों के उद्दीपक रूप में चित्रित किया गया है। पार्श्वाभ्युदय में मेघ को वियोगियों की प्रेम भावनाओं का उद्दीपक बनाया है। जो कोई उसे देखता है उसका मन कुछ और ही हो जाता है। कालिदास ने कहा है कि मेघ के दर्शन से सुखी व्यक्ति का भी मन जब कुछ और ही हो जाता है तो फिर दूरवर्ती (वियोगी) व्यक्ति की तो बात ही क्या है?[६६] वायुमार्ग से उड़ता हुआ मेघ पथिक और उनकी वनिताओं के लिए उद्दीपक है। शम्बरासुर मेघ से कहता है—तुम्हारे गमन के समय आकाश मार्ग में दिव्ययान पर देवाङ्गनाओं द्वारा आलिङ्गित, सुन्दर माणिक्यों के आभूषणों की किरणों से द्योतित अङ्ग वाले, स्वर्गभूमि पर जाते हुए तुम्हें भूमिप्रदेश पर स्थित पथिकों की स्त्रियाँ नए मेघ की आशंका से उत्पन्न प्रियागमन के विश्वास से आनन्दित होती हुई अवश्य देखेंगी।[६७] प्रकृति के विभिन्न रूपों में प्रियतमा

---

६६. मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्तिचेतः
कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे (मेघ १।३)

६७. दिव्ये याने त्रिदिववनितालिङ्गितं व्योममार्गे,
सन्माणिक्याभरणकिरणद्योतिताङ्गं तवानीम्।
गां गच्छन्तं नवजलधराशङ्कयाऽधः स्थितास्त्वां,
प्रेक्षिष्यन्ते पथिकवनिताः प्रत्ययादात्तसत्त्वः॥ पार्श्वा० १।३०

के विभिन्न अङ्गों एवं व्यापारों का दर्शन करने में भी प्रकृति उद्दीपन का कार्य करती है—

> योगिन् ! योगिप्रणिहितमनाः किन्तरां ध्येयशून्यं,
> ध्यायस्येवं स्मर ननु प्रियाऽध्यक्षवेद्यं मतं नः ।
> श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षिते दृष्टिपातं,
> वक्त्रच्छायां शशिनि, शिखिनां बर्हभारेषु केशान् ॥ पार्श्वा० ४।२९
> पश्यामुष्मिन्नवकिसलये पाणिशोभां नखानां,
> छायामस्मिन् कुरवकवने संप्रसूने स्मितानाम् ।
> लीलामुद्यत्कुसुमितलतामञ्जरीष्वस्मदीया-
> मुत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान् ॥ पार्श्वा० ४।३०

अर्थात् हे योगी ! ध्यान की एकाग्रता से चित्त को वश में करने वाले, इस प्रकार कौन सी ध्येयशून्य वस्तु का ध्यान कर रहे हो ? हे योगी ! हम दोनों के द्वारा बहुत आदर को प्राप्त प्रत्यक्ष से जानने योग्य (सुन्दर स्त्री के) शरीर को प्रियङ्गुलताओं में, दृष्टिपातको डरी हुई मृगियों के नेत्रव्यापार में, मुख की कांति को चन्द्रमा में, केशों को मयूरों के पंखों में मन से याद करो, ध्याओ। हमारे (द्वारा जानने योग्य) हाथ की शोभा को इस नये पल्लव में, नखों की कान्ति इस पुष्पित नये कुरबक के वन में, मुस्कुराहट की शोभा उगते हुए फूलों से युक्त लतामञ्जरियों में, भौंरों के विलास को नदी की पतली तरङ्गों में देखो, (इस प्रकार) मैं तर्कना कर रहा हूँ ।

संवेदनशील या मानवीय भावनाओं से युक्त रूप में—इस वर्ग में ऐसे वर्णन आते हैं, जिनमें जड़ प्रकृति को भी संवेदनशील प्रदर्शित किया जाता है। इस प्रकार के वर्णन में प्रकृति मानव के सुख-दुःख से सुख-दुःख युक्त होती है या भावनामय मानव के समान व्यापार करती है। प्रियादर्शन के अवसर पर प्रेमी द्वारा की गई चेष्टाओं को देखकर वनदेवियाँ आँसू गिराती हैं—

> तां तां चेष्टां रहसि निहितां मन्मथेनाऽस्मदङ्गे,
> त्वत्सम्पर्कस्थिरपरिचयावाप्तये भाव्यमानाम् ।
> पश्यन्तीनां न खलु बहुशो न स्थलीदेवतानां,
> मुक्तास्थूलास्तरुकिसलयेष्वश्रुलेशाः पतन्ति ॥ पार्श्वा० ४।३८

अर्थात् काम के द्वारा हमारे शरीर में एकान्त में प्रस्थापित, तुम्हारे सम्पर्क से स्थिर परिचय की प्राप्ति के लिए प्रकट की गई उस उस (समस्त) चेष्टा को देखती हुई वनदेवियों की मोतियों के समान स्थूल आँसुओं की बूँदें वृक्षों के पल्लवों में कई बार नहीं गिरती हैं, ऐसा नहीं है ।

पार्श्वाभ्युदय में शृंगार

पार्श्वाभ्युदय में संयोग और वियोग दोनों प्रकार का शृङ्गार मिलता है।

मेघ के मार्ग में सर्वप्रथम संयोग शृङ्गार के दर्शन तब होते हैं जब भौंहों के विलास से अनभिज्ञ कृषक स्त्रियाँ मेघ को देख रही हैं—

जीमूतत्वं यदनुगत: क्षेत्रिणां दृष्टिपातै: ।
त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविलासानभिज्ञै: ।। पार्श्वा० १।६१

विद्युत्समूह के सम्बन्धी, देदीप्यमान इन्द्र धनुष की शोभा के समान शोभा युक्त, प्रकट होती हुई गम्भीर गर्जना से मनोहर, तैल से आर्द्रीकृत अञ्जन के समान कृष्ण वर्ण की प्रभा वाले मेघ को गाँव की स्त्रियाँ भी आदरपूर्वक देखती हैं; क्योंकि मेघ ने वर्षा की है अत: जनपदवधुओं की उसके साथ प्रीति हो गई—

विद्युन्मालाकृतपरिकरो भास्वदिन्द्रायुधश्री-
व्यक्तमन्द्रस्तनितसुभग: स्निग्धनीलाञ्जनाभ: ।
शीघ्रं यायाः कृतकजलदत्वरयोर्बिन्दुपात,
प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनै: पीयमान: ।। पार्श्वा० १।६२

मेघ को प्राणयात्रा के निमित्त वेत्रवती नदी के चञ्चल तरङ्ग युक्त जल के रूप में उसके भ्रूभङ्गयुक्त मुख का पान करने का उपदेश दिया जाता है—

पातव्यं ते रसिक सुरसं प्राणयात्रानिमित्तं,
तस्यां [illegible]शफरोद्धर्तनरागपङ्कम् ।
रोष: प्रान्ते विहगकलभैर्बद्धडिण्डीरपिण्डं,
सभ्रूभङ्गं मुखमिव पयो वेत्रवत्याश्चलोर्मि ।। पार्श्वा० १।९६

मेघ को उस नीच पर्वत के सेवन का उपदेश दिया जाता है जिसकी अचिरप्रकासित स्त्रियों की रतिक्रीड़ा के समय उत्पन्न मालादि के गन्धों से सुगन्धित है।[६८] वह पर्वत वेश्याओं से रतिक्रीडा में विमर्दित पुष्प आदि की सुगन्धि को प्रकट करने वाले (पुष्प आदि) उपहारों से युक्त लताओं से निर्मित वेश्माकार मण्डपों (लता गृहों) से नागरिकों के भोगों की अधिकता को कहता है।[६९] मैथुन सेवन के समय जिन पर मालायें गिर गयी हैं तथा जिनके मध्य भाग फूलों की शय्या से व्याप्त हैं ऐसे शिलागृह (नागरिकों के) उत्कट यौवन को प्रकट करते हैं।[७०]

६८. सिद्धस्त्रीणां रतिपरिमलैर्वासिताधित्यकान्तं ।। पार्श्वा० १।९८

६९. भोगोद्रेकं कथयति लतावेश्मकै: सोपहारै:
य: पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारिभिर्नागराणाम् ।। पार्श्वा० १।९९

७०. कामोत्सङ्गं परिमृजति या पुष्पशय्याचितान्ती: ।
स्रस्तस्रग्भिर्निधुवनविधौ कीर्णता दम्पतीनां
उद्दामानि प्रथयति शिलावेश्मभिर्यौवनानि ।। पार्श्वा० १।१००

मेघ को लालच दिया जा रहा है कि वह उज्जयिनी में पौराङ्गनाओं के चंचल कटाक्षों का आनन्द ले—

जेर्वर्णैः कुसुमधनुषो दुर्निवारैरमोघैः,
मर्माविद्भिर्दृढपरिचितभ्रूधनुर्यष्टिमुक्तैः ।
विद्युद्दामस्फुरितचकितैर्यत्र पौराङ्गनानां,
लोलापाङ्गैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितः स्याः ॥ पार्श्वा० १।१०४

कवि ने मेघ को सलाह दी है कि अक्षरों के (उच्चारण के) बिना भी व्यक्त के समान मेघ के विषय में जो उत्कण्ठा को व्यक्त कर रही है, कुछ कुछ लज्जा से जो अपने शरीर को वक्र बनाकर जो आप्त के आगमन को प्रकट कर रही है ऐसी निर्विन्ध्या नदी के पास जाकर वह उसके रस (शृंगार अथवा जल) को ग्रहण करने में अन्तरङ्ग बने, क्योंकि स्त्रियों की प्रणयी जनों में शृङ्गार-चेष्टा ही प्रथम प्रणय वाक्य हो जाता है।[71]

सिन्धु नदी का एक ऐसी नायिका के रूप में वर्णन किया गया है जो वेणी के समान थोड़ा जल वाली तथा तीर में उगे हुए वृक्षों से गिरने वाले सूखे पत्तों से पीले वर्ण वाली है। धृष्टा वह परित्यक्त वस्त्र वाली कामिनी के समान हंसों की पंक्तियों की गम्भीर आवाजों से मानों मेघ रूप नायक को बुला रही है।[72]

उज्जयिनी में तरङ्गों के मध्य भ्रमण करने से ठण्डा, जलकणों के समूह को बहा ले जाने वाला, उद्यान को कँपाने वाला, मद से युक्त भ्रमरों की मधुर गुंजार को प्रकट करता हुआ रमण की प्रार्थना में खुशामद करने वाले प्रियतम के समान शरीर को अनुकूल लगने वाला शिप्रा नदी का वायु स्त्रियों की रतिक्रीड़ा के परिश्रम को दूर करता है—

कल्लोलान्तर्वलनशिशिरः शीकरासारवाही,
धूनोद्यानो मदमधुलिहां व्यञ्जयन् सिञ्जितानि ।
यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूलः,
शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः ॥ १।११२ ॥

---

७१. त्वय्यौत्सुक्यं स्फुटमिव विनाऽप्यक्षरैर्व्यञ्जयन्त्याः,
किञ्चिल्लज्जावलितमिव सन्दर्शिताप्तागमायाः ।
निर्विन्ध्यायाः पथि भव रसाभ्यन्तरः सन्निपत्य
स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु ॥ पार्श्वा० १।१०६

७२. हंसश्रेणीकलविरुतिभिस्त्वामिवोपाह्वयन्ती,
धृष्टा मार्गे शिथिलवसनेवाङ्गना दृश्यते ते ।
वेणीभूतप्रतनुसलिला तामतीतस्य सिन्धुः
पाण्डुच्छायातटरुहतरुभ्रंशिभिर्जीर्णपर्णैः ॥ पार्श्वा० १।१०७

मेघ सुन्दर स्त्रियों के चरणों के लाक्षाराग से चिह्नित विशालापुरी के धनियों के भवनों में ठहरकर मार्ग की थकान को दूर कर सकता है।[७३] कलकल जिनालय में वेश्यायें मेघ से नखक्षतों को सुख देने वाले वर्षा के प्रथम बिन्दुओं को पाती हैं।[७४] बाद में उसकी गर्जना से डरकर स्तनों को कँपाती हुई वे उसके ऊपर भ्रमरों की पंक्तियों के समान दीर्घ कटाक्षों को छोड़ती हैं।[७५] महाकाल वन के कलकल जिनालय में मेघ की सन्ध्याकालीन क्रियाओं को करने के बाद नगरी में रात्रिकालीन सम्भोग के लिए प्रियतम के निवास स्थान को जाने वाली स्त्रियों की शृङ्गार लीलाओं को देखते हुए आगे के मार्ग में गमन करने की[७६] सलाह दी गई है।

मेघ जब आकाशमार्ग को आच्छादित कर देगा और सड़क पर अत्यन्त अन्धकार हो जायगा उस समय पुरुष को पाने के लिए उत्कण्ठित मदन विवशा स्त्रियाँ सम्भोग क्रीड़ा के लिए सङ्केत स्थान पर जाने में समर्थ नहीं हो पायेंगी। अतः मेघ से कहा गया है कि हे मेघ ! एक तो तुम ऊँचे स्वर से गरजना नहीं और दूसरे बिजली से उन स्त्रियों को मार्ग दिखा देना।[७७] यदि मेघ गरजने को ही उत्सुक है तो उसे चाहिए कि स्त्रियों के नूपुरों की ध्वनि के समान हृदयहारी, उन स्त्रियों की रतिक्रीड़ा के समय उच्चारित अमक्षरी ध्वनि विशेष के समान मनोहर मन्द-मन्द गर्जना करे। धाराप्रवाह जल वृष्टि और गर्जना से शब्दशील नहीं बने; क्योंकि वे स्त्रियाँ डरपोक होती हैं।

---

७३. हर्म्येष्वस्याः कुसुमसुरभिष्वध्वखिन्नान्तरात्मा ।
नीत्वा खेदं ललितवनितापादरागाङ्कितेषु ॥ पार्श्वा० १।११८

७४. वही २।११

७५. वही २।१२

७६. पार्श्वा० २।१७

७७. गर्जद्युच्चैर्भवसि पिहितव्योममार्गे रमण्यो,
गाढोत्कण्ठा मदनविवशाः पुंसु सङ्केतगोष्ठीम् ।
एकाकिन्यः कथमिव रतौ गन्तुमीशा निशीथे,
रुद्धालोके नरपतिपथे सूचिभेद्यैस्तमोभिः ॥ पार्श्वा० २।१८
तस्मान्नोच्चैर्ध्वनिषु च भवाऽऽडम्बरं संहराशु,
प्रत्यूहानां करणमसतामावृतं नोन्नतानां ।
कर्तव्या ते सुजन विधुरे प्रत्युतोपक्रियाऽऽसां,
सौदामन्या कनकनिकषस्निग्धया दर्शयोर्वीम् ॥ पार्श्वा० २।१९

श्रीकाहेतोर्यदि च भवतो गर्जनोत्सुकत्वं,
मन्दं मन्दं स्तनय वनिता नूपुरारावहृद्यम् ।
तासामन्तर्भणितसुभगं सम्भृतासारधारः,
तोयोत्सर्गस्तनितमुखरो मा च भूर्विक्लवास्ताः ॥ पार्श्वा० २।२०

जब मेघ बीच में आ जायगा तो सूर्य दिखाई नहीं देगा। जब तक प्रकाश दिखाई नहीं देता है, तब तक दुःख विनाश नहीं होता है। सूर्योदय के समय खण्डिता नायिका के आँसुओं का शमन उनके प्रेमी करेंगे, अतः मेघ ! सूर्य के मार्ग को शीघ्र छोड़ दे—

रुद्धे भानौ नयनविषयं नोपयाति त्वयाऽसौ,
भावी मङ्क्षूदयनिरसनं मा स्म भूत्त्वन्निमित्तम् ।
तस्मिन्काले नयनसलिलं योषितां खण्डितानां,
शान्तिं नेयं प्रणयिभिरतो वर्त्म भानोस्त्यजाशु ॥ पार्श्वा० २।२३

मेघ के बीच में आ जाने पर सूर्य का उसकी प्रिय कमलिनी से परिचय रुक जायगा। अतः कमलिनी के कमल रूप मुख से हिम रूप आँसू हटाने के लिए सूर्य मेघ से किरण रूप हाथ के रोके जाने पर अधिक ईर्ष्या वाला होगा, अतः मेघ सूर्य और कमलिनी के बीच बाधा न बने; क्योंकि मित्र का कर्त्तव्य है कि वह दूसरे की विपत्ति में दुःखी हो—

अन्यच्चान्यव्यसनविधुरेणाऽऽर्यमित्रेण भाव्यं
तस्मा भानोः प्रियकमलिनी संस्तवं त्वं निरुन्ध्याः ।
प्रालेयास्रं कमलवदनात्सोऽपि हर्तुं नलिन्याः
प्रत्यावृत्तस्त्वयि कररुधि स्यादनल्पाभ्यसूयः ॥ पार्श्वा० २।२४

आगे जाकर मेघ गम्भीरा नदी के रस (प्रेम, जल) का पान करेगा[७८]। गम्भीरा नदी के प्रेम को वह किसी भी प्रकार नहीं ठुकरा सकता।[७९] ध्वनि करते हुए पक्षिसमूह के रूप में तेज से स्फुरण करती हुई करधनी की मधुर ध्वनि सुनकर तथा ऊँचे रेतीले तटरूप कटिभाग से युक्त गम्भीरा नदी को देखकर मेघ को पता चलेगा कि (नदी रूप नायिका के) मैथुन सेवन का उद्रेक क्या है ? कवि को डर है कि तट रूप नितम्ब को छोड़ने वाले, बेंत की शाखा तक पहुँचे हुए और हाथ से कुछ पकड़े गए के समान नीले जल रूप वस्त्र को हटाकर विपुल अनुराग से युक्त काम की अवस्था को इस प्रकार प्रकट करती हुई, फूली हुई विस्तृत लताओं से जिसका पर्यन्त भाग ढका हुआ है ऐसी गम्भीरा

७८. पार्श्वा० २।२५
७९. वही २।२६

नदी का अवलम्बन लेकर विषय सुख का अनुभव करने के लिए अपने शरीर को बड़ा बनाने वाले मेघ का प्रस्थान जिस किसी प्रकार होगा; क्योंकि रस का अनुभव किया हुआ कौन पुरुष खुले हुए जघन वाली स्त्री का त्याग करने में समर्थ है—

शास्त्युच्चैः पुलिनजघनादुच्चरत्पक्षिमाला,
मास्वत्काञ्चीमधुररणितात् कामसेवाप्रकर्षम् ।
तस्याः किञ्चित्करधृतमिव प्राप्तवानीरशाखं,
हृत्वा नीलं सलिलवसनं मुक्तरोधोनितम्बम् ।। पार्श्वा० २।२७
तामुत्फुल्लप्रततलतिकागूढपर्यन्तदेशां,
कामावस्थामिति बहुरसां दर्शयन्तीं नियच्छ ।
प्रस्थानं ते कथमपि सखे लम्बमानस्य भावि,
ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः ।। पार्श्वा० २।२८

दशपुर की ओर जाने पर मेघ वहाँ की वधुओं के काम को जीतने वाले बाणों के समान दीर्घ नेत्रों का पात्र बनेगा, किन्तु अधिक समय न होने के कारण वह शीघ्र ही वहाँ से चल देगा।[८०] कैलाश पर्वत पर पहुँचने पर देवाङ्गनायें मेघ को अवश्य ही फुहारा बना डालेंगी।[८१] हो सकता है कि नीचे तालाब के जल से भरे हुए चमड़े के पात्र के समान मेघ को इधर उधर खींचती हुई देवाङ्गनायें क्रीड़ा करें। जिसे घाम लग रहा है ऐसे मेघ का यदि उन देवाङ्गनाओं से यदि छुटकारा न हो तो क्रीड़ा में आसक्त होने वाली उनको मेघ कानों को कठोर लगने वाली गर्जनाओं से डरा दे।[८२] इस प्रकार पार्श्वाभ्युदय में अनेक ऐसे प्रसङ्ग हैं, जिनमें संयोग शृंगार की झलक मिलती है।

पार्श्वाभ्युदय में वियोग की व्यंजना मार्मिक ढंग से की गई है। मेघ की स्त्री अपने प्रियतम के वियोग में निम्नलिखित कार्यों में से किसी एक कार्य में रत होगी; क्योंकि प्रियतम के वियोग में स्त्रियों के कालयापन के प्रायः ये उपाय[८३] हैं—

१. देवपूजा में लगना।

२. शास्त्रोक्त व्रतों का सेवन करना।

३. प्रियतम की प्रतिकृति बनाना।

---

८०. पार्श्वा० २।४४

८१. पार्श्वा० २।७७

८२. वही २।७८

८३. वही ३।३६-४१

४. मैना को प्रियतम का स्मरण दिलाना।

५. वीणा को गोद में रख करुणरस प्रधान गीत को बनाते हुए प्रिय के नाम से युक्त गीत को ऊँचे स्वर से गाना अथवा गाने की इच्छा करना।

६. देहली पर रखे हुए फूलों से पति के आने के अवशिष्ट दिनों आदि की गणना करना।

७. स्वप्न में मन के सङ्कल्प से प्रियतम के साथ सम्भोग करना।

८. सखियों द्वारा भय पूर्वक विश्वास को प्राप्त होना।

मेघ से इस प्रकार की[८४] वियोगिनी प्रियतमा के देखने की प्रार्थना की गई है—

१. फैले हुए अङ्ग युक्त।
२. फूलों की शय्या पर स्थित होने पर भी सुख रहित।
३. भूमि पर शयन करने वाली।
४. कामदेव की शारीरी अवस्था को धारण की हुई।
५. मन की वेदना से क्षीण।
६. विरह की शय्या पर एक करवट से लेटने वाली।
७. चन्द्रमा की एक कला से अवशिष्ट मूर्ति के सदृश।
८. विरहजनित देह के दाह को दूर करने के लिए वक्षःस्थल में स्थापित हार को धारण करती हुई।
९. गर्म आँसुओं को गिराती हुई।
१०. गर्म साँस छोड़ती हुई।
११. तैलादि से रहित स्नान के कारण कठोर स्पर्श वाले बालों को पुनः पुनः दूर करती हुई।
१२. वियोग के दुःख से दुःखी।
१३. स्वप्न में प्राणनाथ के समागम को पाने के लिए निद्रा को चाहती हुई।
१४. प्रिय के द्वारा पहले बाँधी गई शिखा की निन्दा करती हुई।
१५. वेणी को बिना कटे हुए नाखूनों से युक्त हाथ से गालों पर से बार बार हटाती हुई।
१६. चन्द्रमा की किरणों की ओर से नेत्रों को हटाती हुई।
१७. नेत्रों को बरौनियों से ढकती हुई।
१८. मेघों से ढके हुए दिन में स्थल कमलिनी के समान न विकसित और न अविकसित।

---

८४. पार्श्वा० ३।४२-५३

१९. आहार का त्याग की हुई।

२०. अलङ्कार त्यागी।

२१. आँसुओं से गीले किए हुए पाण्डु वर्ण के गालों से युक्त।

२२. अत्यधिक दुःख से शय्या की गोद में अनेक बार शरीर को धारण करती हुई।

२३. अत्यधिक दुःख के कारण शय्या के पार्श्व भाग में मछली के समान लोटती हुई।

२४. जिसमें कँपकँपी उत्पन्न हुई है ऐसी श्वांस से विवश कामपाश के समान आचरण करती हुई।

इस प्रकार की अवस्था वाली नायिका को देखकर कवि को विश्वास है कि मेघ अवश्य ही नूतन जल रूप आँसू बहायेगा[८५]; क्योंकि कोमल हृदय वाले सब लोग आर्द्र अन्तरात्मा वाले होते हैं।

प्रियतम के वियोग में नायिकाओं के नेत्र की निम्नलिखित दशायें होती हैं—

१. अलकों से कटाक्ष प्रसार रुक जाता है।

२. नेत्र स्निग्ध अंजन से शून्य हो जाते हैं तथा मद्य का निराकरण करने के कारण भ्रूविलास को भूल जाते हैं।[८६]

पार्श्वाभ्युदय के कर्ता आचार्य जिनसेन—जैसा कि कहा जा चुका है पार्श्वाभ्युदय धवल ग्रन्थ के कर्ता पंचस्तूपान्वयी स्वामी वीरसेन के पट्टशिष्य सेनसंघी आचार्य जिनसेन स्वामी की अमर रचना है। आचार्य जिनसेन के माता-पिता, जन्मस्थान आदि की कोई प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। जयधवला टीका की प्रशस्ति के अनुसार कर्णच्छेदन से भी पहले उन्होंने वीरसेन स्वामी के संघ में रहना प्रारम्भ कर दिया था। आसन्न भव्यता, मोक्षलक्ष्मी की समुत्सुकता और ज्ञानलक्ष्मी के वरण हेतु इन्होंने बाल्यावस्था से ही ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर लिया था। उनका शारीरिक आकार अधिक सुन्दर नहीं था और न वे अधिक चतुर थे। श्री, शम और विनय उनके नैसर्गिक गुण थे, जिसके कारण विद्वज्जन भी उनकी आराधना करते थे, क्योंकि गुणों के द्वारा कौन व्यक्ति आराधना को प्राप्त नहीं होता है। वे यद्यपि शरीर से कृश थे, किन्तु तपोगुण से कृश नहीं थे। शरीर से दुर्बल व्यक्ति दुर्बल नहीं होता है, जो व्यक्ति गुणों

---

८५. पार्श्वा० ३।५३

८६. पार्श्वा० ३।५६

से दुर्बल है वही वास्तव में दुर्बल है। ज्ञान की आराधना में उनका समय निरन्तर व्यतीत होता था अतः तत्त्वदर्शी उन्हें ज्ञानमय पिण्ड कहा करते थे।[८७]

जिनसेन का समय—आचार्य जिनसेन ने अपने पार्श्वाभ्युदय के निम्नलिखित श्लोक में सम्राट् अमोघवर्ष का स्मरण किया है—

इति विरचितमेतत्काव्यमावेष्ट्य मेघं,
बहुगुणमपदोषं कालिदासस्य काव्यम्।
मलिनितपरकाव्यं तिष्ठतादाशशाङ्कं,
भुवनमवतुदेवस्सर्वदामोघवर्षः ॥ पार्श्वा ४।७०

अमोघवर्ष का समय ८१४ ई० से ८७८ ई० तक का माना जाता है।[८८] अमोघवर्ष पराक्रमी राष्ट्रकूट राजा थे और जिनसेन के उपदेश से जैनधर्म में दीक्षित हो गये थे। ८५१ ई० में अरब सौदागर सुलेमान भारत आया था और उसने दीर्घायु बल्हरा (बल्लभराय) नाम से अमोघवर्ष का वर्णन किया है और लिखा है कि उस समय संसार भर में जो सर्वमहान् चार सम्राट् थे वे भारत का बल्लभराय (अमोघवर्ष), चीन का सम्राट्, बगदाद का खलीफा और रूम (कुस्तुन्तुनिया) का सम्राट् थे। अलइद्रिसि, मसूदी, इब्नहौकल आदि अरब सौदागरों ने

८७. तस्य शिष्योऽभवच्छ्रीमाञ्जिनसेनः समिद्धधीः।
अविद्धावपि यत्कर्णौ विद्धौ ज्ञानशलाकया ॥ २७ ॥
यस्मिन्नासन्नभव्यत्वान्मुक्तिलक्ष्मीः समुत्सुका।
स्वयं वरीतुकामेव श्रौतीं मालामयूयुजत् ॥ २८ ॥
येनानुचरितं बाल्याद्ब्रह्मव्रतमखण्डितम्।
स्वयंवरविधानेन चित्रमूढा सरस्वती ॥ २९ ॥
यो नातिसुन्दराकारो न चातिचतुरो मुनिः।
तथाऽप्यनन्यशरणा यं सरस्वत्युपाचरत् ॥ ३० ॥
धीः शमो विनयश्चेति यस्य नैसर्गिका गुणाः।
सूरीनाराधयन्ति स्म, गुणैराराध्यते न कः ॥ ३१ ॥
यः कृशोऽपि शरीरेण न कृशोऽभूत्तपोगुणैः।
न कृशत्वं हि शारीरं गुणैरेव कृशः कृशः ॥ ३२ ॥
योनाऽग्रहीत्कपिलिकानाऽप्यचिन्तयदञ्जसा
तथाऽप्यध्यात्म विद्याब्धेः परं पारमशिश्रियत् ॥ ३३ ॥
ज्ञानाराधनया यस्य गतः कालो निरन्तरम्।
ततो ज्ञानमयं पिण्डं यमाहुस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ३४ ॥

८८. डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. २९१

अमोघवर्ष के प्रताप और वैभव तथा साम्राज्य की शक्ति एवं समृद्धि की भरपूर प्रशंसा की है। उसका शासन भी सुचारु रूप से व्यवस्थित था। इसके अतिरिक्त यह नरेश विद्वानों और गुणियों का प्रेमी, स्वयं भी भारी विद्वान् और कवि था। संस्कृत, प्राकृत, कन्नड़ एवं तमिल के विविधविषयक साहित्य के सृजन में उसने भारी प्रोत्साहन दिया था, उसकी राजसभा विद्वानों से भरी रहती थी।[८९] कुछ इतिहासज्ञों के अनुसार आचार्य जिनसेन की मृत्यु ८४३ ई० में हो गयी थी। उस समय राजा अमोघवर्ष सिंहासनारूढ़ था। अन्त में उसे संसार से विरक्ति हो गयी और ८७८ ई० में उसने राज्य का परित्याग कर मुनि दीक्षा ले ली।[९०]

हरिवंशपुराण के रचयिता आचार्य जिनसेन ने पार्श्वाभ्युदय के रचयिता जिनसेन की स्तुति निम्नलिखित[९१] शब्दों में की है—

जिनसेन स्वामी ने पार्श्वाभ्युदय की रचना की है—श्री पार्श्वनाथ भगवान् के गुणों की स्तुति बनाई है, वही उनकी कीर्ति का वर्णन कर रही है। इन जिनसेन के वर्धमान पुराण रूपी उदित होते हुए सूर्य की उक्ति रूपी रश्मियाँ विद्वत्पुरुषों के अन्तःकरणरूपी स्फटिक भूमि में प्रकाशमान हो रही हैं।

डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री के अनुसार उपर्युक्त सन्दर्भ में प्रयुक्त अवभासते'[९२], संकीर्तयति, प्रस्फुरन्ति जैसे वर्तमान कालिक क्रियापद हरिवंशपुराण के रचयिता जिनसेन का इनको समकालीन सिद्ध करते हैं। हरिवंशपुराण की रचना शक सं० ७०५ (ई० ७८३) में पूर्ण हुई है। अतः जिनसेन स्वामी का समय ई० सन् की आठवीं शती है। जयधवला टीका की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि इसकी समाप्ति जिनसेन ने शक संवत् ७५९ फाल्गुन शुक्ला दशमी के पूर्वाह्न में की थी। इस टीका को वीरसेन स्वामी ने पूरा किया था, पर वे चालीस हजार श्लोक प्रमाण ही लिख सके थे। अपने गुरु के इस अपूर्ण कार्य को जिनसेन ने पूर्ण किया था। जिनसेन ने आदि पुराण का प्रारम्भ अपनी वृद्धावस्था में किया होगा, इसी कारण वे इसके ४२ पर्व ही लिख सके। अतः जयधवला टीका के

---

८९. डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ० ३०१

९०. M. G. Kothari, पार्श्वाभ्युदय—Introduction पृ० २३

९१. याऽमिताभ्युदये पार्श्वे जिनेन्द्रगुणसंस्तुतिः। स्वामिनोजिनसेनस्य कीर्तिं संकीर्तयत्यसौ ।।४०
वर्धमानपुराणोद्यदादित्योक्तिगभस्तयः प्रस्फुरन्ति गिरीशान्तः स्फुटस्फटिक भित्तिषु ।।४१

९२. हरिवंशपुराण १।१९

अनन्तर आदिपुराण की रचना मानने से जिनसेन का अस्तित्व ई० सन् की नवम शती के उत्तरार्ध तक माना जा सकता है।[१३]

जिनसेन की रचनायें—जिनसेन बहुश्रुत विद्वान् थे। इनकी चार रचनाओं (१) पार्श्वाभ्युदय (२) जयधवला टीका (३) आदिपुराण (४) वर्धमान चरित की जानकारी प्राप्त होती है। इनमें से वर्धमान चरित की प्रति सम्प्रति अनुपलब्ध है। अन्य तीन रचनाओं का परिचय निम्नलिखित है—

(१) **पार्श्वाभ्युदय**—कालिदास के मेघदूत के श्लोकों के एक चरण अथवा दो चरणों को लेकर शेष अपनी ओर से जोड़कर तीर्थंकर पार्श्वनाथ भगवान् और उनके पूर्वजन्म के शत्रु कमठ के जीव शम्बरासुर के द्वारा किये गये उपसर्ग को आधार बनाकर प्रस्तुत काव्य की रचना की गई है। इस प्रकार यह एक समस्यापूर्त्यात्मक काव्य है। इस काव्य की रचना की प्रेरणा आचार्य जिनसेन को श्री वीरसेन मुनि के शिष्य विनयसेन नामक मुनिराज से प्राप्त हुई थी। जैसा कि निम्नलिखित श्लोक से स्पष्ट है—

श्रीवीरसेनमुनिपादपयोजभृङ्गः
श्रीमानभूद्विनयसेनमुनिर्गरीयान्।
तच्चोदितेन जिनसेनमुनीश्वरेण,
काव्यं व्यधायि परिवेष्टितमेघदूतम्॥ पार्श्वा० ४।७१

इस काव्य में चार सर्ग हैं जिनमें क्रमशः ११८, ११८, ५७ और ७१ श्लोक हैं।

(२) **जयधवला टीका**—आचार्य वीरसेन कषायपाहुड के प्रथम स्कन्ध की चार विभक्तियों पर जयधवला नामक बीस हजार श्लोक प्रमाण टीका लिखने के बाद स्वर्गवासी हो गए अतः उनके शिष्य जिनसेन ने शेषभाग पर चालीस हजार श्लोक प्रमाण टीका लिखी। यह टीका जिनसेन ने राष्ट्रकूट राजधानी के निकट ही वाटनगर (वाटग्रामपुर) में, जो कि पंचस्तूपान्वयी स्वामी वीरसेन का ज्ञान-केन्द्र था, पूर्ण हुई। शक संवत् ७५९ में लिखी हुई जयधवला टीका में स्वामी वीरसेन, जिनसेन तथा राजा अमोघवर्ष का नाम निर्देश किया गया है—

इति वीरसेनीया टीका सूत्रार्थदर्शिनी
वाटग्रामपुरे श्रीमद्गुर्जरार्यानुपालिते॥
फाल्गुनिमासि पूर्वाह्णे दशम्यां शुक्लपक्षके
प्रवर्धमानपूजायां नन्दीश्वरमहोत्सवे॥
अमोघवर्षराजेन्द्र प्राज्य राज्य गुणोदया।
निष्ठितप्रचयं यायादाकल्पान्तमनल्पिका॥

---

१३. डॉ० नेमिचन्द्रशास्त्री : आदिपुराण में प्रतिपादित भारत पृ० ३१

षष्ठिरेव सहस्राणि ग्रन्थानां परिमाणतः ।
श्लोकेनानुष्टुभेनात्र निर्दिष्टान्यनु पूर्वशः ॥
विभक्तिः प्रथम स्कन्धो द्वितीयः संक्रमोदयः ।
उपयोगश्च शेषास्तु तृतीयस्कन्ध इष्यते ॥
एकान्नषष्ठि समधिक सप्त शताब्देषु शकनरेन्द्रस्य ।
समतीतेषु समाप्ता जयधवला प्राभृतव्याख्या ॥
गाथासूत्राणि सूत्राणि चूर्णिसूत्र तु वार्तिकम् ॥
टीका वीरसेनीयाऽशेषा पद्धतिपञ्जिका ॥
श्रीवीरसेनप्रभुभाषितार्थघटना निर्लोठितान्यागम ।
न्याया श्रीजिनसेनसन्मुनिवरैरादेशितार्थस्थितिः ॥
टीका जयचिन्हृतोरुधवला सूत्रार्थसंद्योतिनी ।
स्थेयादारविचन्द्रमुज्ज्वलतमा श्रीपालसंपादिता ॥

जयधवला पृ० ५१९

जयधवला टीका संस्कृत मिश्रित प्राकृतभाषा में लिखी गई है। इसका सम्पादन मुनि श्रीपाल ने किया था।

आदिपुराण—आदिपुराण महापुराण का एक अंग है। महापुराण में ४७ पर्व हैं। इनमें से ४२ पर्व और तेतालीसवें पर्व के तीन श्लोक जिनसेन द्वारा रचे गए हैं। शेष पर्वों के श्लोक जिनसेन के शिष्य आचार्य गुणभद्र ने रचे हैं। आदिपुराण में महाकाव्य के लक्षण पूरी तरह घटित होते हैं। इसके साथ ही साथ यह एक पुराण भी है। अतः श्री मो० गौ० कोठारी इसे पुराण और महाकाव्य दोनों कहते हैं। आदिपुराण के काव्यत्व की प्रशंसा में उन्होंने लिखा[१४] है—

Adipurana is a store of Apophthemns. It can be said that Adipuran is a Purana as well as Mahakavya, for almost all the characteristics of Mahakavya are found in it. It is full of sentiments and figures of speech. The language and the ideas conveyed by the Language of Adipurana are very pleasant. The flow of the Language is very smooth like that of water having no hindrance. The wonderful imaginative capacity is inherent in the author of the work."

अर्थात् "आदिपुराण सूक्तियों का भण्डार है। आदिपुराण तथा महाकाव्य दोनों हैं, क्योंकि इसमें महाकाव्य के भी लक्षण पाए जाते हैं। यह कल्पनाओं

---

१४. पार्श्वाभ्युदय-भूमिका पृ० ३२

और अलङ्कारों से परिपूर्ण है। आदि पुराण के द्वारा जो भाषा और जो विचार व्यक्त किए गए हैं वे बड़े सुहावने हैं। भाषा का प्रवाह अप्रतिहद्ध जलप्रवाह की भाँति बहुत शान्त अथवा ओजस्वी है। कृति के लेखन में आश्चर्यजनक कल्पना-शक्ति स्वाभाविक है।" आदिपुराण की कथावस्तु के प्रधाननायक तीर्थंकर ऋषभदेव और उनके पुत्र भरत हैं।

प्रायः विद्वान् यह मानते हैं कि आदिपुराण और पार्श्वाभ्युदय में पार्श्वाभ्युदय आचार्य की प्रथम रचना और आदिपुराण अन्तिम रचना है; किन्तु श्री जो० गौ० कोठारी आदिपुराण को कवि की प्रथम, जयधवला को द्वितीय और पार्श्वाभ्युदय को तृतीय रचना मानते हैं। उन्होंने पार्श्वाभ्युदय की भूमिका में वीरसेन से लेकर हरिवंशपुराणकार जिनसेन तक की रचनाओं की कालक्रमानुसार निम्नलिखित सूची दी है[९५]—

(१)	धवल ग्रन्थ की	पूर्णता का	काल	शक सं०	६०३ (६८१ ई०)
(२)	आदिपुराण	,,	,,	,,	६१० (६८८ ई०)
(३)	जयधवला	,,	,,	,,	६२४ (७०२ ई०)
(४)	पार्श्वाभ्युदय	,,	,,	,,	६२६ (७०४ ई०)
(५)	उत्तर पुराण	,,	,,	,,	६५७ (७३५ ई०)
(६)	महापुराण (पुष्पदंत कृत)	,,	,,	,,	६८० (७५८ ई०)
(७)	हरिवंशपुराण	,,	,,	,,	७०५ (७८३ ई०)

उपर्युक्त मन्तव्य की पुष्टि में उन्होंने अपने तर्क पार्श्वाभ्युदय की भूमिका में दिए हैं, जो दृष्टव्य हैं। जिनसेन ने पार्श्वाभ्युदय और महापुराण की रचना मान्यखेट में की। जिनसेन का चित्रकूट से भी सम्बन्ध रहा है, क्योंकि इसी चित्रकूट में एलाचार्य निवास करते थे, जिनके पास जाकर वीरसेनस्वामी ने सिद्धान्त ग्रन्थों का अध्ययन किया था। चित्रकूट की पहचान लोगों ने चित्तौड़ से की है।

जिनसेन के शिष्य गुणभद्र—जिनसेन के पट्टशिष्य आचार्य गुणभद्र थे, जिनका अमोघवर्ष तथा उसका पुत्र कृष्ण द्वितीय दोनों ही सम्मान करते थे। इन्हें अमोघवर्ष ने अपने पुत्र का शिक्षक नियुक्त किया था। इन्होंने गुरु द्वारा प्रारम्भ किए गए महापुराण को संक्षेप में पूरा किया। इनके द्वारा लिखा गया भाग उत्तरपुराण कहलाता है। इसके अतिरिक्त आत्मानुशासन, जिनदत्तचरित आदि ग्रन्थ भी उन्होंने रचे।[९६] उत्तरपुराण की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि अमोघ-

९५. पार्श्वाभ्युदय भूमिका पृ० २१

९६. डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, भारतीय इतिहास : एक दृष्टि द्वि० सं० पृ० ३०२

वर्ष जिनसेन की चरणवन्दना से अपने आपको [illegible] माना है [illegible] वीरसेन जिनसेन के गुरु थे—

> अभवदिवहिमाद्रेर्देवसिन्धुप्रवाहो
> ध्वनिरिवसकलज्ञात्सर्वशास्त्रैकमूर्तिः ।
> उदयगिरितटाद्वा भास्करो भासमानो
> मुनिरनुजिनसेनो वीरसेनादमुष्मात् ॥
> यस्य प्रांशुनखांशुजालविसरद्धारान्तराविर्भव
> त्पादाम्भोजरजः पिशङ्गमुकुट प्रत्यग्ररत्नद्युतिः
> संस्मर्ता स्वममोघवर्षनृपतिः पूतोऽहमद्येत्यलं
> स श्रीमान् जिनसेन पूज्यभगवत्पादो जगन्मङ्गलम् ॥
> (उ० पु० प्रशस्ति ८-९)

अर्थात् जिस प्रकार हिमवान् पर्वत से गंगानदी का प्रवाह प्रकट होता है अथवा सर्वज्ञदेव से समस्त शास्त्रों की मूर्तिस्वरूप दिव्यध्वनि प्रकट होती है अथवा उदयाचल के तट से देदीप्यमान सूर्य प्रकट होता है, उसी प्रकार उन वीरसेन स्वामी से जिनसेन मुनि प्रकट हुए। श्री जिनसेन स्वामी के देदीप्यमान नखों के किरण समूह धारा के समान फैलते थे और उसके बीच उनके चरण कमल के समान जान पड़ते थे। उनके चरण कमलों की रज से जब राजा अमोघवर्ष के मुकुट में लगे हुए नवीन रत्नों की कान्ति पीली पड़ जाती थी, तब वह अपने आपको ऐसा स्मरण करता था कि मैं आज अत्यन्त पवित्र हुआ हूँ। उन पूजनीय भगवान् जिनसेनाचार्य के चरण संसार के लिए मंगल रूप हों।

जिनसेन की काव्य और कवि विषयक मान्यता—कवि के भाव अथवा कार्य को काव्य कहते हैं।[९७] कवि के काव्य में निम्नलिखित गुण होने चाहिए[९८]—

(१) वह प्रतीतार्थ (सर्वसम्मत अर्थ सहित) हो।
(२) ग्राम दोष से रहित हो।
(३) अलंकारों से युक्त हो।
(४) रस और अलंकारों से सङ्कीर्ण (अस्पष्ट) न हो।

कवि ने बतलाया है कि कितने ही विद्वान् अर्थ की सुन्दरता को वाणी का अलङ्कार कहते हैं और कितने ही पदों की सुन्दरता को, किन्तु कवि के अनुसार

---

९७. कवेर्भावोऽथवा कर्म काव्यं तज्ज्ञैर्निरुच्यते ॥ आदि—१।९४
९८. आदिपुराण १।९४

अर्थ और पद दोनों की सुन्दरता ही वाणी का अलंकार है।[99] कवि भारवि भी शब्द और अर्थ दोनों को महत्व देना सत्कवि के लिए आवश्यक मानते हैं।[100] जिनसेन का कहना है कि जो काव्य अलङ्कार सहित, रसयुक्त, सौष्ठ युक्त तथा मौलिक (अनुच्छिष्ट) होता है वह सरस्वती देवी के मुख के समान शोभायमान होता है।[101] काव्य में निम्नलिखित दोष नहीं होना चाहिए—

(१) अस्पृष्ट बन्ध—रीति की रमणीयता न होना।

(२) पदों का विन्यास ठीक न होना।

(३) रसमयता से रहित होना।

उपर्युक्त दोषों से युक्त काव्य जिनसेन की मान्यतानुसार काव्य नहीं, अपितु कानों को दुःख देने वाली ग्रामीण भाषा है।[102] जो प्राचीन इतिहास से सम्बन्ध रखने वाला हो, जिसमें महापुरुषों का चरित्र अङ्कित हो तथा जो धर्म, और काम के फल को दिखाने वाला हो, उसे महाकाव्य कहते हैं। किसी एक प्रकीर्णक विषय को लेकर कुछ श्लोकों की रचना तो कवि कर सकते हैं, किन्तु पूर्वापर का सम्बन्ध दिखलाते हुए काव्य की रचना करना कठिन है।[103]

जो अनेक अर्थों को सूचित करने वाले पदविन्यास से सहित, मनोहर रीतियों से युक्त एवं स्पष्ट अर्थ से उद्भासित प्रबन्धकाव्यों की रचना करते हैं, वे महाकवि कहलाते हैं।[104] सच्चे कवि को कविता करने में दरिद्रता नहीं करना चाहिए। इस संसार में शब्दों की राशि अपरिमेय है, वर्णनीय विषय अपनी इच्छा के आधीन है, रस स्पष्ट हैं और उत्तमोत्तम छन्द सुलभ हैं तब कविता करने में दरिद्रता क्या है?[105] विशाल शब्द मार्ग में भ्रमण करता हुआ जो कवि अर्थरूपी सघन वनों में घूमने से खेदखिन्नता को प्राप्त हुआ है उसे विश्राम के लिए महाकविरूप वृक्षों की छाया का आश्रय लेना चाहिए। प्रज्ञा जिसकी जड़ है, माधुर्य, ओज, प्रसाद आदि गुण जिसकी उन्नत शाखाएं हैं और उत्तम शब्द ही जिसके उज्जवल पत्ते हैं ऐसा यह महाकविरूपी वृक्ष यशरूपी पुष्प-मञ्जरी को धारण करता है। प्रज्ञा ही जिसका किनारा है, प्रसाद आदि गुण

९९. वही १।९५

१००. शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते ॥ किरातार्जुनीयम्

१०१. वही १।९६

१०२. वही १।९६

१०३. आदि. १/९९-१००

१०४. आदि. १/९८

१०५. वही १/१०१

ही जिसमें लहरें हैं, जो गुणरूपी रत्नों से भरा हुआ है, उच्च और मनोहर शब्दों से युक्त है तथा जिसमें गुरु-शिष्य परम्परारूप विशाल प्रवाह चला आ रहा है ऐसा यह महाकवि समुद्र के समान आचरण करता है।[१०६] इस प्रकार कवि ने यहाँ महाकवि को वृक्ष के समान उन्नत और समुद्र के समान गम्भीर बतलाया है।

जिनसेन का पांडित्य—आचार्य जिनसेन धर्मशास्त्र के ज्ञाता होने के साथ-साथ भारतीय दर्शन, राजनीति, कला, तत्कालीन सामाजिक जीवन आदि के अच्छे ज्ञाता थे। उनका आदिपुराण एक आकर ग्रन्थ है जिसमें नौवीं शताब्दी के भारत का भौगोलिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक, आर्थिक और सामाजिक रूप चित्रित करने के साथ-साथ काव्य का चरम रूप उपस्थित किया गया है। आदिपुराण में प्रतिबिम्बित सांस्कृतिक जीवन, क्रीड़ा विनोद, गोष्ठियाँ, उत्सव, व्रत, उपवास, शिक्षा तथा ललितकलायें जिनसेन के सूक्ष्मग्राही दृष्टि को अभिव्यक्त करती हैं। आदिपुराण में की गई भूत चैतन्यवाद, विज्ञानवाद, शून्यवाद, क्षणिकवाद, सांख्यदर्शन, न्यायदर्शन, योगदर्शन, अद्वैतवाद, द्वैतवाद आदि की समीक्षा से विदित होता है कि उन्होंने विभिन्न भारतीय दर्शनों का आलोडन किया था। कर्मसिद्धान्त जैसे सूक्ष्म और कठिन विषय पर उनकी चालीस हजार श्लोक प्रमाण जयधवला की अवशिष्ट टीका उनके तलस्पर्शी ज्ञानको सूचित करती है। इन सब कारणों से लोगों ने उन्हें ज्ञानपिण्ड कहा, उसमें आश्चर्य और अतिरंजना के लिए अवकाश नहीं है। उनकी एक-एक कृति उनके पाण्डित्य का दृष्टान्त निदर्शन है। अपनी विद्वत्तापूर्ण और शिक्षाप्रद कृतियों के द्वारा भारतीय साहित्य और समाज में ही नहीं, विश्व साहित्य और समाज में अग्रगण्य रहेंगे।

पार्श्वाभ्युदय के टीकाकार—पार्श्वाभ्युदय की संस्कृत टीका के टीकाकार योगिराट् पण्डिताचार्य श्रवणबेलगोला के जैनमठ के गुरु थे। उन्होंने पार्श्वाभ्युदय के अन्तर्गत आई हुई मेघदूत की पंक्तियों की व्याख्या करते समय अत्यधिक रूप से मल्लिनाथ का अनुसरण किया है। उन्होंने जैनेन्द्रव्याकरण और नानार्थरत्नमाला को भी बहुधा उद्धृत किया है। नानार्थरत्नमाला की रचना इरुगदण्डनाथ ने की थी, जो कि जैन थे और विजयनगर राज्य के राजा हरिहर द्वितीय (शक सं० १३२१) के आश्रित थे। इस प्रकार योगिराट् पण्डिताचार्य का समय १३२१ के बाद का बैठता है।[१०७] पण्डिताचार्य जी ने उपोद्घात में लिखा

१०६. वही १/१०२-१०४

१०७. पार्श्वाभ्युदय-प्रस्तावना (ले. पन्नालाल बाकलीवाल)

है कि एक बार कवि कालिदास बंकापुर के राजा अमोघवर्ष की सभा में आए और उन्होंने बड़े गर्व के साथ अपना मेघदूत सुनाया। उसी सभा में जिनसेन स्वामी भी अपने सधर्मा विनयसेन मुनि के साथ विद्यमान थे। विनयसेन ने जिनसेन से प्रेरणा की इस कालिदास का गर्व नष्ट करना चाहिए। विनयसेन की प्रेरणा पाकर जिनसेन ने कहा यह रचना प्राचीन है, इसकी स्वतन्त्र रचना नहीं है, किन्तु चोरी की हुई है। कालिदास ने कहा कि यदि यह कृति पुरानी है तो सुनाइये। जिनसेन स्वामी को एक बार सुनने पर कोई श्लोक याद हो जाता था अतः उन्हें कालिदास का मेघदूत याद हो गया। उन्होंने कहा कि यह प्राचीन ग्रन्थ किसी ग्राम में विद्यमान है अतः आठ दिन बाद लाया जायेगा। अमोघवर्ष ने आठ दिन बाद उक्त ग्रन्थ को लाने का आदेश दिया। जिनसेन ने अपने स्थान पर आकर ७ दिन में पार्श्वाभ्युदय की रचना की और आठवें दिन लाकर उसे राजसभा में उपस्थित कर दिया। इस काव्य को सुनकर सभी प्रसन्न हुए और कालिदास का मान भंग हो गया। बाद में जिनसेन स्वामी ने सब बात स्पष्ट कर दी।

पण्डिताचार्य का उपर्युक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अनेक प्रमाणों के आधार पर कालिदास का समय जिनसेन से बहुत पहले का निर्धारित हो चुका है। ऐहोल आदि के शिलालेख तथा अन्य साक्ष्य इस बात की पुष्टि करते हैं। अतः उपर्युक्त कथन विश्वसनीय नहीं है। पण्डिताचार्य जी का यह कथन वास्तव में सही है कि श्री पार्श्वनाथ से बढ़कर कोई साधु, कमठ से बढ़कर कोई खल और पार्श्वाभ्युदय से बढ़कर कोई काव्य नहीं है—

> श्रीपार्श्वात्साधुतः साधुः कमठात्खलतः खलः।
> पार्श्वाभ्युदयतः काव्यं न क्वचिदपीष्यते॥

पार्श्वाभ्युदय की दूसरी संस्कृत टीका कुछ वर्ष पहले जीवराज जैन ग्रन्थ-माला, सोलापुर से प्रकाशित हुई है। इसके लेखक मो. गो. कोठारी हैं, जिन्होंने प्रस्तावना में समय १ अगस्त १९६५ दिया है। योगिराट् पण्डिताचार्य की अपेक्षा यह टीका अधिक विशद् और सुबोध है। इस टीका पर पण्डिताचार्य जी के प्रभाव के साथ-साथ लेखक ने भावों को अभिव्यक्त करने में स्वतन्त्र रूप से अच्छा प्रयास किया है और हर प्रकार से इसे उपयोगी बनाया है।

—रमेशचन्द्र जैन

पार्श्वाभ्युदयकाव्यं सटीकम्

टीकाकारस्य मंगलाचरणादि

श्रियं विदध्याद्विमलां सतां स श्रीपार्श्वनाथो नतसेन्द्रनाथः ।
यद्देहमावेष्ट्य रराज भोगी क्षणप्रभेवासितनीरदाग्रे ॥१॥

जिनसेनमुनीशेन कृतस्य कविवेधसा ।
पार्श्वाभ्युदयकाव्यस्य टीकां वक्ष्ये स्वशक्तितः ॥२॥

नामूलमाश्रयन्नोषन्नापि प्रस्तुतमुत्सृजम् ।
सर्वमन्वयरूपेण विवृणोमि मृदूक्तिभिः ॥३॥

अथ कथावतारः कथ्यते—

इहैव भरतक्षेत्रे सुरम्यविषये पोदनपुरे अरविन्दनृपतिः भुवं पूर्वं पालयति स्म । तदा विश्वभूतिनाम्नो द्विजन्मनोऽनुदर्याश्च तनयौ कमठमरुभूतिसंज्ञकौ तद्भूपतेर्मन्त्रिपदं प्राप्तौ । तयोः क्रमेण वरुणा वसुन्धरा च भार्ये बभूवतुः । तयोः कनीयान् मरुभूतिः कदाचित् वज्रवीर्यरिपुराजविजयाय निजस्वामिनारविन्दभूपनामा[1] जगाम । तदा लब्धावसरो दुराचारो ज्यायान् कमठः स्वभार्यावरुणामुखेन वसुन्धरां भ्रातृपत्नीमङ्गीकारयामास किल । राजा विपक्षविजयाऽनन्तरं स्वपुरागमने तद्वृत्तिं ज्ञात्वा भ्रातृपत्नीमितस्य का वार्तेति मरुभूतिं पृष्ट्वा (श्रुत्वा) तद्वचनानुसारेण पुरप्रवेशात्पूर्वमेव भृत्यमुखेन दुःसहामाज्ञां कारयित्वा अस्मच्चक्षुर्विषयो माभूदिति पुरात्कमठं निर्द्धारयामास[2] । सोऽपि भ्रातरि क्रुद्धो वनं गत्वा तापसवृत्तिं बभार । अथ मरुभूतिरागत्य भ्रातृवार्तामाकर्ण्य पश्चात्तापाद्गत्वा समन्विष्य तत्कोपशमनाय पादयोरानमंस्तेनैव क्रोधान्धेन मस्तकस्थ शिलापातेन मारितः । एवं भवान्तरेष्वपि तेनैव मृतिम् मृत्वा कस्मिंश्चिद्भवे तीर्थंकरनाम लब्ध्वाऽत्रैव काशी विषये वाराणसीनगर्यां विश्वसेन महाराजस्य ब्राह्मीदेव्याश्च सूनुः पञ्चकल्याणाधिपतिः पार्श्वनाथनामा मरुभूतिचरस्तीर्थंकरो बभूव । कमठचरस्तु चिरं संसारे भ्रमित्वा शम्बर नामा ज्योतिरिन्द्रो भूत्वा स्वैरविहारसमये परिनिष्क्रमण कल्याणाऽनन्तरं प्रतिमायोगस्थितं तन्मुनीन्द्रं विलोक्य प्राक्तनविरोधेन घोरोपसर्गं चकारेत्यादि कथा सङ्कृति विस्तरेण तत्पुराणेऽवगन्तव्या । अत्र ज्योतिरिन्द्रस्य शम्बरस्यास्य दैत्येन्द्रत्वं यक्षेन्द्रत्वं वा तस्यालकापुरवासित्वं वर्षमासानुभवनीय स्वभर्तृशापप्रभृति सर्वं च परकाव्यानुसरणमात्रत्वात् काल्पनिकतयोपगम्य अतीतवर्तमानभवयोरभेदभावेन प्रबन्धोऽयं विरचितो बुद्धिमद्भिरवसेयः ॥

अथ भगवान् जिनसेनाचार्यः प्रथमं पादवेष्टितान्युपक्रमन् आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वा कृतेर्मुखम् इति वचनाद्वस्तुनिर्देशेन कथां प्रस्तौति—

---

१. अमा सहेत्यर्थः । २. निरकासयत् ॥

कथावतार

इसी भरतक्षेत्र के पोदनपुर नगर में राजा अरविन्द पृथ्वी का पालन करता था। उसके विश्वभूति नामक ब्राह्मण से उत्पन्न जिनका नाम क्रमश: कमठ और मरुभूति था, मंत्री थे। उन दोनों की क्रमश: वरुणा और वसुन्धरा पत्नी थीं। उनमें से छोटा भाई मरुभूति एकबार वज्रवीर्य नामक शत्रु राजा पर विजय प्राप्त करने के लिए अपने राजा अरविन्द के साथ गया। अवसर पाकर दुराचारी बड़े भाई कमठ ने अपनी पत्नी वरुणा से कहलाकर वसुन्धरा नामक भाई की पत्नी को अङ्गीकार कर लिया। राजा जब शत्रु पर विजय प्राप्त कर स्वदेश आया तो उसे कमठ का दुराचार मालूम हुआ। उसने मरुभूति से भाई की पत्नी को अङ्गीकार करने वाले का क्या दण्ड होता है, पूछकर मरुभूति के नगर में प्रवेश करने से पहले ही सेवक के मुख से दुःसह आज्ञा दिलाकर, हमारी आँखों से ओझल हो जाय, ऐसा कहकर कमठ को नगर से बाहर निकाल दिया। कमठ भी भाई पर क्रुद्ध हो वन में जाकर तापस का आचरण करने लगा। जब मरुभूति आया और उसे भाई का समाचार ज्ञात हुआ तो उसे बड़ा पश्चाताप हुआ। वह उसे खोजकर उसके क्रोध की शान्ति के लिए उसके दोनों चरणों में गिर पड़ा। कमठ ने क्रोधित होकर अपने मस्तक पर स्थित शिला उसके ऊपर गिरा दी, जिससे वह मर गया। इसी प्रकार दूसरे भवों में भी उसी के द्वारा मारा जाकर मरुभूति का जीव वाराणसी नगरी के विश्वसेन महाराज की पत्नी ब्राह्मी देवी के पार्श्वनाथ नामक तीर्थंकर पद का धारी, पञ्चकल्याणाधिपति पुत्र हुआ। कमठ का जीव चिरकाल तक संसार में भ्रमण कर शम्बर नामक ज्योतिषी देव हुआ। एक बार जब पार्श्व दीक्षा कल्याणक के अनन्तर इच्छानुसार विहार करते हुए प्रतिमायोग में स्थित हो गए तो उन मुनीन्द्र को देख कमठ के जीव ने उन पर घोर उपसर्ग किया, इस प्रकार सम्पूर्ण कथा पुराणों से विस्तारपूर्वक जानना चाहिए। यहाँ पर शम्बर नामक ज्योतिषी देव का दैत्येन्द्र अथवा यक्षेन्द्र होना, अलकापुरी में निवास करना, अपने स्वामी के द्वारा एक वर्ष के लिए शाप दिया जाना आदि दूसरे काव्य का अनुसरण मात्र होने से कल्पित हैं। अतीत और वर्तमान जन्म में अभेद की स्थापना करते हुए इस प्रबन्ध की रचना की गई है, ऐसा विद्वानों को जानना चाहिए।

अब भगवान् जिनसेनाचार्य आशीर्वाद, नमस्कार अथवा वस्तुनिर्देश में से वस्तुनिर्देश के द्वारा कथा का प्रारम्भ करते हैं—

श्रीमन्मूर्त्या मरकतमयस्तम्भलक्ष्मीं वहन्त्या,
योगैकाग्र्यस्तिमिततरया तस्थिवांसं निदध्यौ ।
पार्श्वं दैत्यो नभसि विहरन्बद्धवैरेण दग्धः,
कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तः ॥१॥

श्रीमन्मूर्त्येत्यादि । **मरकतमयस्तम्भलक्ष्मीम्**—मरकतस्य विकारो मरकतमयः । 'गारुत्मतं मरकतम्' इत्यमरः । मरकतमयश्चासौ स्तम्भश्च तथोक्तस्तस्य लक्ष्मीं शोभां हरितवर्णकान्तिमित्यर्थः । **वहन्त्या**—वहतीति वहन्ती । 'लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे' इति शतृ प्रत्ययः । 'शप्श्यनोर्नित्यम्' इति नुम् । तथा बिभ्रत्येति भावः । **योगैकाग्र्यस्तिमिततरया**—एकाग्रस्य भावः ऐकाग्र्यमनन्यवृत्तिता । योगस्य ध्यानस्यैकाग्र्यं तथोक्तम् । प्रकृष्टा स्तिमिततरा । 'स्तिमितोऽचञ्चले क्लिन्ने' इति विश्वः । योगैकाग्र्येण स्तिमिततरा तथोक्ता । 'योगः सन्नहनोपायध्यानसङ्गतियुक्तिषु । एकतानोऽनन्यवृत्तिरेकाग्र्यैकायनावपि' इत्युभयत्राप्यमरः । तया ध्यानैकताननता स्थिरतरयेति यावत् । **श्रीमन्मूर्त्या**—पुण्यवतः पुरुषान् श्रयतीति श्रीः लक्ष्मीः श्रीरस्यास्तीति श्रीमती । 'अस्त्यर्थे मतुः' । 'नुगुगू' इति । वज्रवृषभनाराच संहननसमचतुरस्रसंस्थानत्वसाष्टशतमहालक्षणलक्षितत्वादि महिमावतीति भावः । श्रीमती चासौ मूर्तिश्च तथोक्ता । 'स्त्रियां मूर्तिस्तनुस्तनूः' इत्यमरः । मानिस्थ्यैकार्थयोस्त्र्यन्यतीनुः' इति पुंभावः । तया परमौदारिक दिव्यदेहेन । **तस्थिवांसम्**—तस्थाविति तस्थिवान् । 'लिटः क्वसुकानौ' इति क्वसुः । 'उगिदचोवेशादेः' इति नम् । तस्थिवन्तमित्यर्थः । **पार्श्वं**—पार्श्वनामाभिधानं त्रयोविंशतितमं तीर्थंकर परमदेवम् । **नभसि**—आकाशे । 'नभोऽन्तरिक्षम्' इत्यमरः । **विहरन्**—विहरतीति विहरन् । 'शसुरुगिदचः' इति नम् । स्वैरविहारीति भावः । **कान्ताविरहगुरुणा**—कान्ताया वनिताया जातो विरहो विप्रयोगः कान्ताविरहः । 'मयूरव्यंसकादयः' इति समासः । तेन युवति विप्रलम्भेन । गुरुणा महद्भूतेन । 'गुरुस्तु गीष्पतौ श्रेष्ठे गुरौ पितरि दुर्भरे' इति शब्दार्णवः । **बद्धवैरेण**—बध्यते स्म बद्धम् तच्च तद्वैरं चेतिकसः । जैनेन्द्रव्याकरणपरिभाषायां कस इति सञ्ज्ञा कर्मधारयस्य । वैरं विरोधः इत्यमरः । तेन । पुरानुबद्धविद्वेषेण । **दग्धः**—दह्यते स्म दग्धः । 'क्तक्तवतू' इति क्तः । क्रूरहृदय इत्यर्थः । **स्वाधिकारात्**—स्वस्याधिकारः स्वाधिकारः । 'स्वो ज्ञातावात्मनि' इत्यमरः । तस्मात् स्वकीय प्राधान्यात् । **प्रमत्तः**—प्रमाद्यते स्म प्रमत्तः अनवहितः । 'प्रमादोऽनवधानता' इत्यमरः । 'अपायेऽवधौ' इति पञ्चमी । **कश्चिद्दैत्यः**—कोप्यसुरः । 'असाकल्ये तु किञ्चन' इत्यमरः ।

शम्बरनामा देव इति भावः। निदध्यौ—प्रेक्षाञ्चक्रे। 'ध्यै स्मृ' चिन्तायाम्। कर्तरि लिट्। अत्र काव्ये सर्वत्र मन्दाक्रान्तानि वृत्तानि। 'मन्दाक्रान्ता ऋतुमदीदु' इति रत्नमञ्जूषिकायामुक्तत्वात् ॥१॥

अन्वय—कान्ताविरहगुरुणा बद्धवैरेण: दैत्य: स्वाधिकारात् प्रमत्तः नभसि विहरन् कश्चित् दैत्यः मरकतमय स्तम्भलक्ष्मीं वहन्त्या योगैकाग्रयस्तिमिततरया श्रीमन्मूर्त्या तस्थिवांसं पार्श्वं निदध्यौ।

अर्थ—प्रिया के विरह से दुःखी, (पूर्वभव में जिसका विरह हुआ था, वह धर्मपत्नी नहीं, अपितु भाई की पत्नी थी, भार्या के रूप में अङ्गीकृत किए जाने पर उसका उसके साथ राजा की आज्ञा से वियोग हुआ था। राजा के द्वारा दण्डित होने पर उस व्यक्ति ने अपने भाई से वैर बाँधा) पूर्वजन्म में बाँधे हुए वैर से प्रज्ज्वलित कोपाग्नि वाले, अपने ऐश्वर्य या सामर्थ्य (देवसुलभ प्रभाव) के कारण उन्मत्त, आकाश में विहार करते हुए किसी (शम्बर नाम वाले) दैत्य ने मरकतमणि निर्मित स्तम्भ की शोभा (हरितवर्ण की कान्ति) को धारण करने वाले, ध्यान की एकाग्रता के कारण अत्यधिक स्थिर, शोभायमान शरीर से युक्त पार्श्वनाथ भगवान् को स्थित (कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थित) देखा ॥१॥

व्याख्या—किसी एक दैत्य ने जो कि अपने पुराने वैर के कारण कोपाग्नि में जल रहा था (क्योंकि पूर्वजन्म की प्रेमिका से उसका विरह हो गया था) तथा जो वर्तमान देव पर्याय की सामर्थ्य के कारण उन्मत्त था, भगवान् पार्श्व को देखा। भगवान् पार्श्व ध्यान लगाए हुए कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थित थे। उस समय उनकी शोभा मरकतमणिनिर्मित स्तम्भ की शोभा के समान हो रही थी। गहन-समाधि में मस्तिष्क की एकाग्रता के कारण वे अत्यधिक अचंचल थे। वज्रवृषभनाराचसंहनन, समचतुरस्र-संस्थान और १०८ महालक्षणों आदि को धारण करने के कारण उनका शरीर अत्यधिक शोभित हो रहा था ॥१॥

तन्माहात्म्यात्स्थितवति सति स्वे विमाने समानः,
प्रेक्षाञ्चक्रे भ्रुकुटिविषमं लब्धसंज्ञो विभागात्।
ज्यायान्भ्रातुर्वियुतपतिना प्राक्कलत्रेण योऽभू-
च्छापेनास्तंगमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्तुः ॥ २ ॥

तन्माहात्म्यादिति। तन्माहात्म्यात्—महांश्चासावात्मा च महात्मा तस्य भावो माहात्म्यम्। 'पतिराजान्तः' इति भावे ष्यण् 'आत्मनोऽश्वादेः' इति आकारः। तस्य पार्श्वनाथस्य माहात्म्यं तपोबलं तस्मात्। तत्तपोमहिम्न इति भावः। स्वे

स्वकीये । स्वं त्रिष्वात्मीय इत्यमरः । **विमाने**—व्योमयाने 'व्योमयानं विमानोऽस्त्री' इत्यमरः । **स्थितवति सति**—तिष्ठति स्मेति स्थितवान् । 'क्तक्तवतू' इति क्तवतुप्रत्ययः । तस्मिन् । स्तम्भिते इत्यर्थः । अस्तीति सन् 'शतृत्य समरत्योः' इत्यलुक् । तस्मिन् **प्राक्** पूर्वभवे । **वियुतपतिना** वियुतो विमुक्तः पतिर्भर्ता यस्य तथेति बसः । तेन । **भ्रातुः** मरुभूतेः **कलत्रेण** भार्यया वसुन्धरया । 'कलत्रं श्रोणिभार्ययोः' इत्यमरः । **भर्तुः** अरविन्दराजस्य । 'भर्ता धातरि पोष्टरि' इत्यमरः । **वर्षभोग्येण** वर्षं भोग्योवर्षभोग्यः । 'कालाध्वनोः' इति द्वितीया समासः । तेन **शापेन आज्ञया अस्तंगमितमहिमा** अस्तं नाशं 'अस्तमदर्शने' इत्यमरः । गमितः प्रापितो महिमा माहात्म्यं यस्य सोऽस्तंगमितमहिमा । मानेन सह वर्तते इति **समानः** 'वान्यार्थे' इति सहस्य सभावः । साहंकारः । गर्वोऽभिमानोऽहंकारो मानश्चित्तसमुन्नतिः इत्यमरः । **यो ज्यायान्** अग्रजः । 'वर्षीयान्दशमी-ज्यायान्' इत्यमरः । **अभूत्** अजनिष्ट । स दैत्यः विभागात् विभङ्ग विभागात् स्मात् । विचारात् विभंगज्ञानादित्यर्थः । **लब्धसंज्ञः** प्राप्तपूर्वभवस्मरणः सन् । 'लब्धं प्राप्तं वित्तम्' । 'सञ्ज्ञा स्याच्चेतना नाम' इत्युभयत्राप्यमरः । **भ्रुकुटि-विषमं** भ्रुकुट्योः क्रोधोद्भूतभ्रूविकारयोः विषमं कुटिलं यथा भवति तथा । 'भ्रुकुटिर्भ्रुकुटिर्भ्रूकुटिः स्त्रियाम्' इत्यमरः । **प्रेक्षाञ्चक्रे** अद्राक्षीत् । ईक्ष दर्शने इति धातुः । 'दयाय' इत्याम् । कृञो योगे लिट् ॥२॥

अन्वय—तन्माहात्म्यात् स्वे विमाने स्थितवति सति विभागात् लब्धसंज्ञः समानः, प्राक् वियुतपतिना भ्रातुः कलत्रेण यः ज्यायान् (शापः) अभूत् (तेन) वर्षभोग्येण भर्तुः शापेन अस्तङ्गमितमहिमा भ्रुकुटिविषं प्रेक्षाञ्चक्रे ।

अर्थ—भगवान् पार्श्व के माहात्म्य से अपने विमान के स्थित हो जाने पर उसने विचार कर (विभङ्गावधि ज्ञान से) उन्हें पहिचान लिया । पूर्व-जन्म में जिसका पति वियुक्त हो गया था या दूर चला गया था ऐसी भाई मरुभूति की पत्नी (वसुन्धरा) के कारण जिसे बहुत बड़ा बहिर्निष्कासन रूप दण्ड मिला था और अनेक वर्षों में भोगे जाने वाले राजा अरविन्द के बहिर्निष्कासन रूप दण्ड से जिसका गौरव नष्ट हो गया था, ऐसे उस अभिमानी दैत्य ने उन्हें भयजनक दृष्टि से (भौंह चढ़ाकर) देखा ।

व्याख्या—मरुभूति जब युद्ध के लिए गया था तब उसकी पत्नी के साथ उसके भाई ने सहवास किया था । जिसके कारण राजा ने उसे बाहर निकलने का दण्ड दे दिया था । इस दण्ड के कारण दैत्य के जीव का पूर्वजन्म में गौरव नष्ट हो गया था । अतः उस दैत्य ने जब अपने भाई को पार्श्वनाथ के रूप में देखा तो क्रोधजन्य विकार के कारण उस पर भौंहें चढ़ा लीं । पार्श्वनाथ के माहात्म्य से उसका विमान आकाश में रुक गया

था। जिनकी आत्मा महान् होती है, वे महात्मा कहे जाते हैं। महात्मापने के भाव को माहात्म्य कहते हैं।

यो निर्भर्त्सैः परमविषमैर्घाटितो भ्रातरि स्वे,
बद्ध्वा वैरं कपटमनसा हा तपस्वी तपस्याम्।
सिन्धोस्तीरे कलुषहरणे पुण्यपण्येषु लुब्धो,
यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नान पुण्योदकेषु ॥३॥

य इत्यादि। यः यक्षः भविष्यद्देवः कमठः। **परमविषमैः** परमात्यन्तं विषमा-स्सन्तैः। **निर्भर्त्सैः** धिक्कारैः। **घाटितः** पुरान्निष्कासितः। **स्वे** स्वकीये। **भ्रातरि** सहोदरे। **वैरं** विद्वेषम्। **बद्ध्वा** विधाय। **तपस्वी** तापसोभूत्वा। तपोऽस्यास्तीति तपस्वी। 'तपस्सहस्राभ्यां विनीनी' इति विन् 'स्वः स्वमत्वर्थः' इति पदसंज्ञायां भावात् रीत्वो-त्वाभावः। **पुण्यपण्येषु** पुण्यमेव पण्यमापणयोग्यवस्तु येषां तेषु। 'स्याद्धर्ममस्त्रियां पुण्यम्' 'विक्रेयं पणितव्यं च पण्यं क्रय्यादयस्त्रिषु' इत्युभयत्राप्यमरः। **जनक-तनयास्नान पुण्योदकेषु** जनकस्य राज्ञः तनया सीतादेवी तस्याः स्नानमभिषेचनम् तस्य पुण्याणि पुण्यानीव पुण्यानि परमपतिव्रतासंस्पर्शात् पुण्यरूपाणि उदकानि जलानि तथोक्तानि तेषु। अत्रोदक शब्दस्य बहुवचनं कूपसरोदीर्घिकादितीर्थविशेषं सूचयति। **लुब्धः** अभिलाषुकः। स्नानपानाद्युपभोगमिच्छन्नित्यर्थः। 'लुब्धोऽभि-लाषुकः' इत्यमरः। **कलुषहरणे** पापापसरणनिमित्ते। 'कलुषं वृजिनैनोघमंहो दुरितदुष्कृतम्' इत्यमरः। **सिन्धोः** सिन्धुनामनद्याः। **तीरे** कूले। 'कूलं रोधश्च तीरं च' इत्यमरः। **कपटमनसा** कपटेन युक्तं मनस्तथोक्तं तेन 'कपटोऽस्त्री व्याज-दम्भोपधयः' इत्यमरः। तपस्यां 'नमोवरिवस्चित्रङः क्यच्' इति क्यच् स्यः। **तपस्यां** तपश्चरणम्। **चक्रे** विदधे। **हा** हन्त। हा विषादशुगर्त्तिषु' इत्यमरः ॥३॥

अन्वय—यः परमविषमैः निर्भर्त्सैः घाटितः (सः अयं) यक्षः स्वभ्रातरि वैरं बद्ध्वा पुण्यपण्येषु जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु लुब्धः सिन्धोः तीरे कलुषहरणे तपस्वी हा! कपटमनसा तपस्यां चक्रे।

अर्थ—जो अत्यधिक विषम धिक्कारों से अत्यधिक दुःख को प्राप्त हुआ था अथवा बाहर निकाल दिया गया था, ऐसे उस यक्ष ने अपने भाई से वैर बाँधकर लोभयुक्त हो (सकाम भावना से) पुण्यवानों के द्वारा क्रय (ग्रहण) करने योग्य, सीता के स्नान करने से पवित्र जल का इच्छुक होकर सिन्धु नामक नदी के पापों का हरण करने वाले तीर पर खेद की की बात है, कपट मन से तपस्या की।

भावार्थ—राजा द्वारा निकाले जाने पर दुःखी होकर उस यक्ष के जीव ने तपस्या की।

तस्यास्तीरे मुहुरुपलवानूर्ध्वशोषं प्रशुष्यन्-
नुद्बाहुस्सन्परुषमननः पञ्चतापं तपो यः ।
कुर्वन्न स्म स्मरति जडधीस्तापसानां मनोज्ञां,
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु ॥ ४ ॥

तस्या इत्यादि । कमठः **जडधीः** मन्दबुद्धिः । **तस्याः** सिन्धुनद्याः । **तीरे** कूले । **मुहुः** पुनः पुनः । 'मुहुः पुनःपुनः शश्वदभीक्ष्णमसकृत्समाः' इत्यमरः । **उपलवान्** उपलोऽस्यास्तीति उपलवान् 'अस्यास्ति' इति मतुः । 'मादुपधायाश्च' इति वः । 'उगिदचः' इति नुम् । 'न्यक्' इति दीर्घः । दृषदं धरन् । **ऊर्ध्वशोषं प्रशुष्यन्** ऊर्ध्वशोषं प्रशुष्यतीति ऊर्ध्वशोषं प्रशुष्यन् । 'शतृप्रत्ययः ।' 'ऊर्ध्वात्पुषः शुषः' इति णम् । आतपेन सन्तप्यमानमस्तकाद्यवयवः सन् । **उद्बाहुः** उद्गतौ बाहू यस्येति बहुव्रीहिः । उद्धृतभुजः । 'भुजबाहू प्रवेष्टो दोः' इत्यमरः । **परुषमननः** परुषं कठिनं मननं चिन्तनं यस्येति बहुव्रीहिः । 'निष्ठुरं कठिनम्' इत्यमरः । **पञ्चतापं** पञ्चतापाः यस्मिन्निति बहुव्रीहिः । **तपः** तपश्चरणम् । पञ्चाग्निमध्यस्थितिरूपं कायमात्रशोषणमिति यावत् । **कुर्वन्** करोतीति कुर्वन् सः । भवन् । 'शतृप्रत्ययः' । **स्निग्धच्छायातरुषु** स्निग्धाः सान्द्राः छायातरवः नमेरुवृक्षाः येषु तेषु । सुखवसतियोग्येष्वित्यर्थः । 'स्निग्धं तु मसृणे सान्द्रे' 'छायावृक्षो नमेरुः स्यात्' इत्युभयत्र शब्दार्णवः । **रामगिर्याश्रमेषु** रामगिरिनामपर्वतस्थिततापसाश्रमेषु । **तापसानां** तपसि नियुक्तास्तापसास्तेषाम् । **मनोज्ञां** रम्याम् । 'मनोज्ञं मञ्जु मञ्जुलम्' इत्यमरः । **वसतिं** स्थानम् । **न स्मरति स्म** न ध्यायति स्म । 'स्मे च लिट्' इति भूतानद्यतनेऽर्थे लिट् । मनसापि नास्मरदित्यभिप्रायः ॥४॥

अन्वय—सः जडधीः उपलवान् ऊर्ध्वशोषं प्रशुष्यन्, तस्याः तीरे उद्बाहुः सन् पञ्चतापं तपः मुहुः कुर्वन् परुषमननः रामगिर्याश्रमेषु स्निग्धच्छायातरुषु तापसानां मनोज्ञां वसतिं न स्मरति स्म ।

अर्थ—जो जड़ (मन्द) बुद्धि वाला (मूर्ख) पत्थर को लिए हुए, शरीर के ऊपरी भाग में स्थित मस्तक आदि अवयवों को आतप में सन्तापित करता हुआ, उस सिन्धुनदी के किनारे दोनों भुजाओं को ऊपर कर पञ्चाग्नि तप को बार बार करता हुआ, कठोर चिन्तन करता हुआ

---

१. अथ तापसानां मिथ्यातपस्विनां सम्बन्धि पंचाग्निमध्यस्थितिरूपं तपः कुर्वन् मनोज्ञां सकलभोग्यद्रव्यजातभरितत्वेन रमणीयां वसतिं सदनं "वसती रात्रिवेश्मनोः" इत्यमरः ॥ नास्मरदित्यपि भाति ।

घनी छाया वाले (नमेरु) वृक्षों से युक्त रामगिरि पर्वत पर स्थित आश्रमों में तपस्वियों के मनोहर निवास स्थान का स्मरण नहीं करता था।

व्याख्या—वह मूर्ख यक्ष प्रायः हाथ में पत्थर को लेकर दोनों भुजाओं को ऊपर कर मस्तक आदि ऊपरी अङ्गों को सन्तापित करता हुआ पञ्चाग्नि तप करता था। रामगिरि पर्वत के आश्रम में स्थित, घनी छाया वाले वृक्षों से युक्त तपस्वियों के रमणीक निवास स्थान की याद नहीं करता था।

रामगिरि पर्वत प्राचीन काल में तपस्वियों का मनोहर निवास स्थान था। रामगिरि की पहिचान लोगों ने रामटेक से की है, जो कि नागपुर के समीप है। अन्य लोगों के मतानुसार रामगढ़ पहाड़ी मध्यप्रदेश में है। तपः साधना करते हुए कमठ ध्यान में इतना तल्लीन रहता था कि उसे अपने निवास स्थान की याद ही नहीं आती थी। वैदिक परम्परा के अनुसार अन्वाहार्य, पचन, गार्हपत्य, आहवनीय और आवसथ्य ये पाँच अग्नियाँ होती हैं। पञ्चाग्नि तप करने वाला गर्मी की ऋतु में अपने चारों ओर अग्नियाँ जला लेता है और ऊपर से सूर्य के ताप का सेवन करता है।

यस्मिन्ग्रावा स्थपुटिततलो दावदग्धाः प्रदेशाः,
शुष्का वृक्षा विविधवृतयो नोपभोग्या न गम्याः।
यस्माद् ग्रैष्मान्नयति दिवसाञ्शुष्कवैराग्यहेतो-
स्तस्मिन्नद्रौ कतिचिदबलाविप्रयुक्तः स कामी ॥५॥

यस्मिन्नित्यादि। **यस्मिन्** पर्वते। **ग्रावा** उपलः। जात्यैकवचनम्। 'ग्रावाणौ शैलपाषाणौ' इत्यमरः। **स्थपुटिततलः** स्थपुटितं निम्नोन्नतं तलमधः प्रदेशो यस्येति बहुव्रीहिः 'स्थपुटं विषमोन्नतम्' इति धनञ्जयः। 'अधः स्वरूपयोरस्त्री तलं स्यात्' इत्यमरः। **प्रदेशाः** अरण्यदेशाः। **दावदग्धाः** दावाग्निना भस्मिताः। 'दवदावौ वनारण्ये' इत्यभिधानात्। **वृक्षा** स्तरवः। शुष्यन्ति स्म **शुष्काः**। क्तयः "शुष्यचः क्वम्' इति तस्य कः। **विविधवृतयः** विविधास्च ताः वृतयस्चेति बहुव्रीहिः। 'विविधः स्याद्बहुविधम्' इति। 'प्राचीनं प्रान्ततो वृतिः' इति च वचनात् प्रान्तावरणानीत्यर्थः **उपभोग्या न** स्यातुं योग्या न भवन्ति। **गम्याश्च न** विहारयोग्याश्च न भवन्ति। **तस्मिन् अद्रौ** तद्रामगिरौ। यः **अबलाविप्रयुक्तः** स्त्रीवियुक्तः सन्। **शुष्कवैराग्यहेतोः** निष्फलविरक्तिनिमित्तम्। **कतिचित्** कियतः। **ग्रैष्मान्** इमे ग्रैष्मास्तान्। **दिवसान्** वासरान्। 'क्लीबे दिवसवासरौ' इत्यमर। **नयति स्म** यापयति स्म। **स कामी** विषयाभिलाषुकः। **कमठः** सोऽसाविति नवमवृत्ते-नाकाङ्क्षानिवृत्तिः ॥५॥

अन्वय—यस्मिन् ग्रावा स्थपुटिततलः, प्रदेशाः दावदग्धाः, वृक्षाः, शुष्काः न उपभोग्याः विविधवृतयः न गम्याः तस्मिन् अद्रौ यः अबलाविप्रयुक्तः स कामी शुष्कवैराग्यहेतोः कतिचित् ग्रैष्मान् दिवसान् नयति स्म।

अर्थ—जिसमें पत्थर ऊँचे नीचे तल भाग वाले थे, जिसके प्रदेश दावाग्नि से दग्ध थे, जहाँ वृक्ष शुष्क होने के कारण उपभोग के योग्य नहीं थे, अनेक प्रकार के काँटों से वेष्टित होने के कारण गमन करने योग्य नहीं थे उस भूताचल पर्वत पर अपनी भाई की पत्नी स्वैरिकातुल्य वसुन्धरा से अलग हुए उस कामी ने शुष्क वैराग्य के कारण कुछ गर्मियों के दिन बिताये।

व्याख्या—वह भूताचल पर्वत पत्थरों के पड़े रहने के कारण ऊँचा नीचा था। वहाँ गर्मी के कारण वृक्ष सूख गए थे। अतः उनसे फलादि की प्राप्ति नहीं हो सकती थी। उस प्रदेश में अनेक काँटे आदि पड़े हुए थे, अतः वहाँ गमन करना कठिन था। ऐसे स्थान पर कमठ तपस्या करता था, किन्तु उसके वैराग्य का कारण शुष्क था; क्योंकि वह काम और क्रोध से अभिभूत होकर तपस्या कर रहा था। अपने भाई की पत्नी के साथ सहवास करने के कारण वह कामी था और चूँकि राजा अरविन्द ने उसे देश-निकाला दे दिया था, इस कारण वह क्रोधित था। यहाँ वसुन्धरा के लिए अबला शब्द प्रयुक्त करने का कवि का तात्पर्य यह है कि कमठ ने उसके पति की अनुपस्थिति में उसके साथ सहवास किया था और वह उसकी योजना को असफल करने में असमर्थ थी, अतः अबला थी।

यं चान्विष्यन्वनमथ नदीमुत्तरारोहशैला-
नित्युद्भ्रान्तश्चिरमनुशयाद्भ्रातृभक्तः कनीयान्।
शोकाद्देहे कतिचिदवशाद्वत्यनूचानवृत्त्या,
नीत्वा मासान्कनकवलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः॥८॥

यं चेत्यादि। अथ अनन्तरे। 'मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकात्स्न्र्येष्वथो अथ' इत्यमरः। भ्रातृभक्तः ज्येष्ठभ्रातृवत्सलः। कनीयान् मरुभूतिः। 'कनीयांस्तु युवाल्पयोः' इत्यमरः। देहे शरीरे। अवशात् अनधीनात्। अपरिमितादित्यर्थः। शोकात् दुःखात्। कनकवलय भ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः। कनकस्य वलय इति तत्पुरुषः। 'कटकं वलयोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः तस्य। भ्रंशः पातः। 'भ्रंशो भ्रंशो यथोचितात्' इत्यमरः। तेन रिक्तो विकलः प्रकोष्ठः कूर्पराधः प्रदेशो यस्य स तथोक्तः सन्। 'कक्षान्तरं प्रकोष्ठः स्यात्। प्रकोष्ठः कूर्परः' इति शाश्वतः। 'स्यात्कफो-

णिस्तु कूर्पर: । अस्योपरि प्रगण्ड: स्यात्प्रकोष्ठस्तस्य चाप्यध:' इत्यमरश्च । अत्रो-पलक्षणभूतेन वलयभ्रंशेन दु:खाधिक्यं चिरागश्च व्यज्यते । अत्यनूचानवृत्त्या अत्यन्तविनीतवर्तनेन । 'अनूचानो विनीते स्यात्साङ्ग वेदविचक्षणे' इति विश्व: । 'वृत्तिर्वर्तनजीवने' इत्यमर: । कतिचित् कियत: । मासान् नीत्वा यापयित्वा । अनुशयात् पश्चात्तापात् । 'अथाऽनुशयो दीर्घद्वेषानुतापयो:' इत्यमर: । यं च भ्रातरम् । अन्विष्यन् अन्वेषयन् । वनं काननम् । नदीम् आपगाम् । उत्तरा-रोहशैलान् उत्तर: आरोहो येषां शैलानां ते तथोक्तास्तान् उपरिभागप्रचारयोग्या-नद्रीनित्यर्थ: । 'उपर्युदीच्यश्रेष्ठेष्वप्युत्तरं स्यादनुत्तरम्' इत्यमर: । अत्र शैलस्य उत्तरारोहविशेषणं नरविहारोचितानाम-द्रीणां निरवशेषत्वं व्यञ्जयति । चिरं बहुवासरान् । 'चिरायचिररात्रायचिरस्याद्याश्चिरार्थका:' इत्यमर: । बभ्राम्त: परिभ्रमति स्म ॥६॥

अन्वय—यं च अनुशयात् अन्विष्यन् भ्रातृभक्त: अवशात् शोकात् देहे अत्य-नूचानवृत्त्या कनकवलय भ्रंशरिक्त प्रकोष्ठ: कनीयान् कतिचित् मासान् नीत्वा वनं, नदीं अथ उत्तरारोहशैलान् चिरं बभ्राम्त: ॥

अर्थ—पश्चाताप के कारण जिसकी खोज में भाई का भक्त छोटा भाई अनधीन दु:ख के कारण शरीर के प्रति तपस्वियों जैसे व्यवहार के कारण सोने के कंकण के गिरने से रिक्त कलाई वाला हो कुछ माह बिताकर वन, नदी और ऊँची चढ़ाई वाले पर्वतों में चिरकाल तक अत्यधिक भ्रमण करता रहा ।

व्याख्या—भाई के चले जाने पर छोटे भाई को अत्यधिक पश्चाताप हुआ । दु:ख को सहन न करने के कारण उसने शरीर के प्रति ममता त्याग दी और केवल देह धारण के लिए ही (रसगृद्धि के लिए नहीं) अन्नपान ग्रहण करने लगा । वह इतना दुर्बल हो गया था कि हाथ से सोने का कंकण गिर जाने के कारण उसकी कलाई सूनी पड़ गई । ऐसी हालत में वह कुछ मास तक तो घर पर ठहरा । अनन्तर अपने भाई की खोज में वन, नदी और ऊँचे-ऊँचे पर्वतों पर भ्रमण करने लगा ।

यं चापश्यद्गिरिवननदी: पर्यटन्सोपि कृच्छ्रा-
दध्वभ्रान्त: कतिपयथकैर्वासरैरद्रिकुञ्जे ।
दूराद्धूमप्रततवपुषं नीललेश्यं यथोच्चै-
राषाढस्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानुम् ॥ ७ ॥

यं चापश्यदिति । सोऽपि मरुभूतिरपि । गिरिवननदी: पर्वतकान्तारसरित: । कृच्छ्रात् कष्टात् । 'स्यात्कष्टं कृच्छ्रमाभीलम्' इत्यमर: । पर्यटन् पर्यटतीति

पर्यटन् । अट् गताविति धातोः शतृप्रत्ययः । अध्वश्रान्तः मार्गायस्तः । 'अयनं वर्त्म-मार्गाध्वपन्थानः पदवी सृतिः' इत्युक्तेः । आषाढस्य आषाढया चन्द्रोपेतया युक्ता पौर्णमासी आषाढी 'चन्द्रोपेतात्काले' इत्यण । टिड्ढाणि इति ङी । आषाढी पौर्णमासी अस्यास्तीत्याषाढो मासः । 'सास्य पौर्णमासी' इत्यण् । तस्य । प्रथमदिवसे[1] प्रतिपद्दिने । आश्लिष्टसानुम् आश्लिष्टम् आक्रान्तं सानुपर्वततटं येन स तथोक्तस्तम् । 'स्नुः प्रस्थः सानुरस्त्रियाम्' इत्यमरः । उच्चैः अनल्पम् । 'महत्युच्चैः' इत्यमरः । मेघं वारिवाहम् । यथा येन प्रकारेण । यत्तदोर्नित्य-सम्बन्धात्तथेति गम्यते । मरुत्तद्वदितिशेषः । 'व वा यथा तथैवैवं साम्ये इत्यमरः । धूमप्रततवपुषं धूमेन प्रततम् आवृतं वपुः शरीरं यस्य स इति बहुपदो बहुव्रीहिः । विस्तृतं प्रततमिति । 'गात्रं वपुः संहननम्' इत्यभिधानात् । पञ्चाग्निमध्यग-तत्वादिति भावः । नीललेश्यं नीला लेश्या परिणामविशेषो यस्य तम् । यं च कमठं च । अद्रिकुञ्जे पर्वतनिकुञ्जे । अद्रिगोत्रगिरिग्रावाचलशैलशिलोच्चयाः । 'नि-कुञ्जकुञ्जौ वा क्लीबे' इत्युभयत्राप्यमरः । कतिपयथकैः कियद्भिः 'षट्कति-पयात् थुक्' इति थुक्प्रत्ययः । कतिपयानां पूरणाः कतिपयथाः त एव कतिपय-थकास्तैः । वासरैः दिवसैः । दूरात् दविष्ठप्रदेशात् । अपश्यत् ददर्श । दृशृ प्रेक्षणे । इति धातोर्लङि "पाघ्राध्मा" इत्यादिना पश्यादेशः ॥७॥

अन्वय—गिरिवननदीः कृच्छ्रात् पर्यटन् अध्वश्रान्तः सः अपि आषाढस्य प्रथम-दिवसे आश्लिष्टसानु मेघं यथा धूमप्रततवपुषं नीललेश्यं यं च कतिपयथकैः वासरैः अद्रिकुञ्जे दूरात् उच्चैः अपश्यत् ।

अर्थ—पर्वत, वन और नदियों में अत्यधिक कष्ट से भ्रमण करते हुए, घूमने से थके हुए उस मरुभूति ने भी आषाढमास के प्रथम दिन पर्वत की चोटी से सम्बद्ध मेघ के समान धूम से व्याप्त शरीर वाले, नीलवर्ण (दुष्ट अभिप्राय वाले) जिस कमठ को कुछ दिनों के बाद पर्वतकुञ्ज में दूर से ऊँचे स्थान पर देखा ।

व्याख्या—पहाड़ चढ़कर, नदियाँ पारकर और जंगलों में भ्रमण कर मार्ग के अत्यधिक कष्ट को झेलते हुए उस मरुभूति ने कुछ दिनों बाद आषाढ मास के पहले दिन कमठ को देखा । धुएँ से व्याप्त शरीर वाला वह कमठ पर्वत की चोटी से सम्बद्ध मेघ के समान लग रहा था । वह नील लेश्या वाला था । कषाय के योग से अनुरञ्जित योग प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं । ये लेश्यायें छह प्रकार की होती हैं—कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल । इनमें पूर्व पूर्व की अपेक्षा आगे आने वाली लेश्यायें विशुद्ध होती

१. प्रशमदिवसे ।

हैं। कमठ को यहाँ नील लेश्या वाला कहा गया है। वर्ण की अपेक्षा उसे नीलवर्ण भी कहा जा सकता है। कमठ पर्वत के लताकुञ्जों से दूर ऊँचे स्थान पर तपस्या कर रहा था।

इस श्लोक में आषाढस्य प्रथमदिवसे के स्थान पर कुछ टीकाकारों ने आषाढस्य प्रशमदिवसे पाठ माना है। आषाढस्य प्रथमदिवसे का अर्थ होगा—आषाढ के प्रथम दिन। आषाढस्य प्रशमदिवसे पाठ मानने वालों का कहना है कि आगे 'प्रत्यासन्ने नभसि' के रूप में श्रावण मास की समीपता बतलाई गई है, जो कि प्रशमदिवसे पाठ मानने पर ही उत्पन्न हो सकती है, अतः प्रशमदिवसे पाठ मानना चाहिए। प्रथमदिवसे मानने वालों का कहना है कि ऐसा मानने पर भी मास की प्रत्यासत्ति तो रहती ही है, क्योंकि आषाढ के बाद अव्यवहित रूप से श्रावण मास ही आता है।

पश्चाबद्धभ्रुकुटिकुटिलभ्रूतटो जिह्मवक्त्रः,
क्रोधावेशाज्ज्वलदपघनो भ्रातरं तं तदानीम्।
स्नेहोद्रेकाच्चरणपतितं नापवृष्टिर्विरूक्षं,
वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श॥ ८॥

पश्चेत्यादि। तदानीं तद्दर्शनावसरे। 'सर्वैकान्यकिंयत्तदः काले दा' 'तस्माद् धुनेदानीतदानीं सद्यः' इति काले साधुः यः कमठः। आबद्धभ्रुकुटिकुटिलभ्रूतटः आबद्धा रचिता भ्रुकुटिर्दर्शनविकारजो भ्रूभङ्गविशेषो यस्य तत्। 'भ्रुवोऽच्च कुटिकुंसः' इति ह्रस्वः। कुटिले च ते भ्रुवौ च तथोक्ते तयोस्तटम् आबद्धं भ्रुकुटिकुटिलभ्रूतटं यस्य स तथोक्तः। 'आविद्धं कुटिलं भुग्नं वेल्लितं वक्रमित्यपि' इत्यमरः। जिह्मवक्त्रः जिह्मं वक्रं वक्त्रं मुखं यस्येति बहुव्रीहिः। 'जिह्मस्तु कुटिलेऽलसे।' वक्त्रास्ये वदनं तुण्डम्' इत्युभयत्राप्यमरः। क्रोधावेशात् क्रोधस्य कोपस्यावेशात् अवतारात्। 'कोपक्रोधामर्षरोष' इत्यमरः। ज्वलदपघनः ज्वलतीति ज्वलन्। 'शतृत्यः' ज्वलन्नपघनोऽङ्गं यस्य स तथोक्तः। 'अङ्गं प्रतीकोऽवयवोपघनः' इत्यमरः। अपवृष्टिः विमुखदर्शनः सन्। स्नेहोद्रेकात् स्नेहस्य प्रेम्णः उद्रेकात् प्रादुर्भावात्। 'प्रेम स्नेहः' इत्यमरः। चरणपतितं चरणयोः पतितं विनतम्। पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम् इत्यमरः। वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं वप्रक्रीडा उत्खातकेलयः। उत्खातकेलिः शृङ्गाद्यैर्वप्रक्रीडा निगद्यते इति शब्दार्णवः। तासु परिणतः तिर्यग्दन्तप्रहारस्तु गजः परिणतो मतः इति हलायुधः। स चासौ गजश्चेति कर्मधारयः। प्रेक्षितुं योग्यः प्रेक्षणीयः वप्रक्रीडापरिणतगजवत्प्रेक्षणीयो दर्शनीयस्तम्। 'गौणस्तेन' इति समासः तत्पुरुषः कर्मधारयो वा। तं भ्रातरं मरुभूतिं। विरूक्षम् विनष्टोल्लासः

अप्रेम यथा भवति तथा शब्दपद इत्यादिनाऽव्ययीभावः । 'रूक्षस्त्वप्रेम्णचिक्कणे' इत्यमरः । न ददर्श नाऽपश्यत् । विमुखोऽभवदिति तात्पर्यम् ॥८॥

अन्वय—यश्च आबद्धभ्रुकुटिकुटिलभ्रूतटः जिह्मवक्त्रः क्रोधावेशात् ज्वलदश्रुः अपदृष्टिः विरूक्षं स्नेहोद्रेकात् चरणपतितं वप्रक्रीडापरिणत गजप्रेक्षणीयं तं भ्रातरं तदानीं न ददर्श ।

अर्थ—बँधी हुई भ्रुकुटि से कुटिल भ्रूतट वाले, कुटिलमुख, क्रोध के आवेश से जलते हुए अश्रु युक्त तथा अन्यत्र मुड़े हुए नेत्र वाले अथवा बुरी दृष्टि वाले जिस कमठ ने प्रेमयुक्त स्नेह के उद्रेक से चरणों में पड़े हुए वप्रक्रीड़ा में तिरछा दन्तप्रहार करने वाले हाथी के सदृश दर्शनीय उस भाई मरुभूति को उस समय नहीं देखा ।

व्याख्या—जिस समय मरुभूति कमठ के निकट आया, उस समय कमठ की भौंहें चढ़ गईं, मुख कुटिल हो गया, क्रोध के आवेश से शरीर जलने लगा तथा उसने नेत्रों को दूसरी तरफ घुमा लिया । मरुभूति उसके चरणों में पड़ गया । उस समय उसकी शोभा वप्रक्रीड़ा में तिरछा दन्तप्रहार करने वाले हाथी के समान हो गई । कमठ ने ऐसी स्थिति में भी उसकी ओर नहीं देखा । वप्रक्रीड़ा हाथी एवं साँड़ आदि पशुओं द्वारा की जाने वाली उस क्रीड़ा को कहते हैं, जिसमें ये पशु दाँत या सींगों से टीले आदि की मिट्टी को उखाड़ते हैं ।

सोऽसौ जाल्मः कपटहृदयो दैत्यपाशो हताशः,
स्मृत्वा वैरं मुनिमपघृणो हन्तुकामो निकामम् ।
क्रोधात्स्फूर्जन्नवजलमुचः कालिमानं दधान,
स्तस्य स्थित्वा कथमपि पुरः कौतुकाधानहेतोः ॥ ९ ॥

सोऽसावित्यादि । **सोऽसौ** स एव कमठचरः । सोऽसावित्युभयप्रयोगो भूतवर्तमानभवेष्वात्मैकत्व साधकः । **जाल्मः** गुणदोषविचारशून्यः । 'जाल्मोऽसमीक्ष्यकारी स्यात्' इत्यमरः । **कपटहृदयः** कपटेन युक्तं हृदयं यस्येति बहुव्रीहिः । कुटिलचेताः । **दैत्यपाशः** निन्द्यदैत्यः । 'निन्द्ये पाशप्' इति पाशप्प्रत्ययः । **हताशः** हता दुष्टा आशा अभिलाषो यस्येति बहुव्रीहिः । 'आशा तृष्णापि चायता' इत्यमरः । **वैरं** प्राग्भवविरोधम् । **स्मृत्वा** ध्यात्वा । **अपघृणः** अपगता घृणा यस्य सः । कारुण्यं करुणा घृणा इत्यमरः । **क्रोधात्** कोपात् । **मुनिं** मन्यते केवलज्ञानेन लोकालोकस्वरूपमिति मुनिस्तम् । भाविनि भूतवदुपचारः । पार्श्वनाथम् । **निकामं** यथेष्टम् 'निकामेष्टं यथेप्सितम्' इत्यमरः । **हन्तुकामः** हन्तुं कामयते

इति हन्तुकामः । 'तुमो मनस्कामः' इति मकारस्य लुक् । **स्फूर्जन्नवजलमुचः** स्फूर्जतीति स्फूर्जन् । 'टुवोस्फूर्ज्जविस्फूर्जनिर्घोषे' इति शतृप्रत्ययः । जलं मुञ्चतीति जलमुक् । मुच्लृ मोक्षणे क्विप्प्रत्ययः । नवश्चासौ जलमुक् च नवजलमुक् । 'नूतने नवः' इत्यमरः । स्फूर्ज्जंश्चासौ स चेति पुनः कर्मधारयः । तस्य प्रवर्षतदभिनवमेघस्य **कालिमानं** कालस्य श्यामलस्य भावः कालिमानं श्यामलत्वम् । 'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा' इति भावे इमनिच्प्रत्ययः । 'कालश्यामलमेचकाः' इत्यमरः । **दधानः** धत्ते इति दधानः दधत् । 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' आनशप्रत्ययः । **कौतुकाधानहेतोः** हर्षोपादानकारणस्य । अथवा उपसर्गकारणेन स्वमनोहर्षोत्पादनिमित्तमिति हेतौ का । 'कौतुकं चाभिलाषे स्यादुत्सवे नर्महर्षयोः' इति विश्वः । **तस्य मुनेः** । **पुरः** अग्रे । 'स्यात्पुरः पुरतोऽग्रतः' इत्यमरः । **कथमपि** गरीयसाप्रयत्नेनेत्यर्थः । 'ज्ञानहेतुविवक्षायामविकथमित्यव्ययम् । 'कथमादितथाप्यन्तं यत्नगौरवबाधयोः' इत्यभिधानात् । **स्थित्वा** आस्थाय ॥९॥

किञ्चित्पश्यन्मुनिपमनघं स्वात्मयोगे निविष्टं,
गाढासूयां मनसि निदधत्तद्वधोपायमिच्छन् ।
क्रूरो मृत्युः स्वयमिव वहन्स्वेदबिन्दून्सरोषा-
दन्तर्बाष्पश्चिरमनुचरो राजराजस्य दध्यौ ॥१०॥

किञ्चिदित्यादि । **स्वात्मयोगे** स्वस्यात्मा तस्य योगस्तथोक्तः तस्मिन् स्वस्वरूप ध्याने । 'आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्मवर्ष्म च' इत्यमरः । **निविष्टं** निविशति स्म निविष्टस्तम् । **अनघं** न विद्यते अघं पापं यस्य सः तम् । 'कलुषं वृजिनैनोघम्' इत्यमरः । अनेन निरपराधकत्वं सूच्यते । **मुनिपं** मुनीन्पातीति मुनिपस्तम् हितोपदेशेन परमपदं प्रापकमित्यर्थः । **किञ्चित्** ईषत् । 'किञ्चिदीषन्मनागल्पे' इत्यमरः । **पश्यन्** अवलोकयन् । **मनसि** मानसे । **गाढासूयां** दृढाक्षान्तिम् । 'गाढबाढदृढानि च ।' 'असूया तु दोषारोपो गुणेष्वपि ।' इत्युभयत्राप्यमरः । **निदधत्** निदधातीति निदधत् स्थापयन् । **स्वयम्** आत्मैव । 'स्वयमात्मनि' इत्यमरः । अव्ययत्वात्सर्वविभक्तिषु प्रयुज्यते । **मृत्युरिव** यमवत् । **क्रूरः** घातकः । 'नृशंसो घातकः क्रूरः' इत्यमरः । **तद्वधोपायम्** तस्य मुनेः वधस्य हिंसनस्य उपायः चिकित्सा तथोक्तस्तम् । 'उपायः कर्म चेष्टा च चिकित्सा च नवक्रिया' इत्यमरः । **इच्छन्** इच्छतीति इच्छन् । इषु इच्छायामिति धातोः । 'इषुगमियमां छः' इति छकारादेशः तस्मात् शतृप्रत्ययः । **रोषात्** क्रोधात् । **स्वेदबिन्दून्** घर्माम्बुकणान् । 'घर्मो निदाघः स्वेदः स्यात्' 'पृषन्ति बिन्दु पृषताः पुमांसो विप्रुषः स्त्रियाम्' इत्युभयत्राप्यमरः । **वहन्** धरन् । **अन्तर्बाष्पः** अन्तःस्तम्भिताश्रुः **राजराजस्य** राजानो यक्षाः । 'राजा प्रभौ नृपे चन्द्रे यक्षे यक्षेशचन्द्रयोः'

इतिविश्वः । राज्ञां राजा राजराजः कुबेरः । 'राजराजो धनाधिपः' इत्यमरः । 'राजान्सखे' इत्यट् । तस्य अनुचरो यक्षः । सः कमठचरः । चिरं बहुकालम् । दध्यौ चिन्तयामास । ध्यै स्मृ चिन्तायाम् । इति धातोः लिट् 'नो णोणमेकीशात इत्यौकारः ।' युग्मम् ॥१०॥

अन्वय—सः असौ जाल्मः कपटहृदयः दैत्यपाशः, हताशः, स्फूर्जन्नवजलमुचः कालिमानं दधानः स्वात्मयोगे निविष्टं अनघं मुनिनं किञ्चित् पश्यन्, मनसि गाढासूयां निदधत्, रोषात् स्वेदबिन्दून वहन् स्वयंक्रूरः मृत्युः इव अपघृणः वैरं स्मृत्वा मुनिं निकामं हन्तुकामः क्रोधात् कौतुकाधानहेतोः तस्य पुरः कथमपि स्थित्वातद्वधोपायं इच्छन् अन्तर्बाष्पः राजराजस्य अनुचरः ॥९-१०॥

अर्थ—क्रूर (गुण दोष के विचार से शून्य), कपट हृदय, निन्दितदेव, निर्दय, चिरंदध्य गर्जना करते हुए नए मेघ के समान कालिमा को धारण करते हुए उस कमठ के जीव यक्ष ने ध्यानयोग में निमग्न, निष्पाप उन पार्श्वनाथ मुनीश्वर को कुछ देखकर मन में गाढ असूया (असूयाः = दूसरे के गुणों में भी दोष देखना) को धारण करते हुए, रोष से पसीने को बिन्दुओं को धारण करते हुए, स्वयं क्रूर मृत्यु के समान निर्दय हो, वैर का स्मरण कर मुनि को यथेष्ट रूप से क्रोधपूर्वक मारने की इच्छा की पूर्ति के लिए उनके समीप में जिस किसी प्रकार (बड़े प्रयत्न से) ठहरकर उनके वध के उपाय की इच्छा करते हुए आँसुओं को अन्दर छिपाकर कुबेर के सेवक के समान अधिक समय तक विचार किया ।

व्याख्या—क्रूर और कपट हृदय वाले उस यक्ष ने पार्श्वनाथ मुनीश्वर को ध्यानयोग में निमग्न देखा । उनके प्रति वह गाढ़ असूया को धारण कर रहा था । क्रोध के कारण उसके शरीर पर पसीना उभर आया था । वह यक्ष उस समय मृत्यु के समान निर्दय हो गया था । उसने पूर्वजन्म के वैर का स्मरण कर मुनि को मारने की इच्छा से उन्हें बहुत देर तक देखा । विरहव्यथा के कारण उसने नेत्रों में आँसू भरे हुए थे । । किन्तु प्रकट न करने के उद्देश्य से उसने उन्हें अन्दर ही अन्दर छिपा लिया था । उस समय वह यक्ष गर्जना करते हुए नूतन मेघ के समान कालिमा को धारण कर रहा था । कमठ वास्तव में कुबेर का अनुचर नहीं था, किन्तु अपने व्यवहार से वह कुबेर का अनुचर लग रहा था ॥९-१०॥

मेघैस्तावत्स्तनितमुखरैर्विद्युदुद्योतहासै-
र्विघ्नं क्षोभाग्निरवसदृशैरस्य कुर्वे निकुर्वन् ।

पश्चाच्चैनं प्रचलित धृतिं ह्री हनिष्यामि चित्रं,

मेघालोके भवति सुखिनोप्यन्यथावृत्ति चेतः ॥ ११ ॥

मेघैरित्यादि। **तावत्** प्रथमतः। 'यावत्तावच्च साकल्येऽवधौ मानेऽवधारणे' **स्तनितमुखरैः** स्तनितेन गर्जितेन मुखरैर्वाचाटैः। '**स्तनितं** गर्जितं मेघनिर्घोषे' इति। दुर्मुखे मुखराबद्धमुखौ' इति चामरः। **द्विरदसदृशैः** गजसमानैः। **मेघैः** जलदैः। **अस्य** मुनेः। **चित्त क्षोभम्** स्वान्तवेपथुम्। **कुर्वे** करोमि। **पश्चाच्च** तदनन्तरम्। 'प्रतीच्यां चरमे पश्चात्' इत्यमरः। **एनं** मुनिम्। **प्रचलितधृतिं** प्रचलिता प्रकम्पिता धृतिः धैर्यं यस्य सः तम्। 'चलितं कम्पितं धुते।' धृति-र्धारण धैर्ययोः' इत्युभयत्राप्यमरः। **निकुर्वन्** निकरोतीति निकुर्वन् निराकुर्वन्नित्यर्थः। **चित्रम्** अद्भुतं यथा भवति तथा। **ह्री** दुःखहेतौ 'ह्री दुःखहेतावुद्दिष्टो ह्री विस्मय विषादयोः' इति विश्वः। **हनिष्यामि** घातयिष्यामि। अत्र समर्थनमाह। **मेघालोके** वारिवाहदर्शने **सुखिनोपि** मित्रजनसङ्गतस्यापि। किं पुनरेकाकिन इत्यपि शब्दार्थः। **चेतः** हृदयम्। 'चित्तं तु चेतो हृदयम्' इत्यमरः। **अन्यथावृत्ति** अन्येन प्रकारेणान्यथाऽन्यथाभूतावृत्तिर्वर्तनं यस्य तत् अन्यथावृत्ति। 'वृत्तिर्वर्तन-जीवने' इत्यमरः। **भवति** जायते। **प्रमाद्यत** इत्यर्थः ॥११॥

अन्वय—(यतः) मेघालोके सुखिनः अपि चेतः अन्यथावृत्ति भवति (ततः) तावत् निकुर्वन् (अहं) स्तनितमुखरैः विद्युद्द्योतहासैः द्विरदसदृशैः मेघैः अस्य चित्तक्षोभान् कुर्वे, पश्चात् च प्रचलितधृति एनं ह्री चित्रं हनिष्यामि।

अर्थ—चूंकि मेघ का दर्शन होने पर सुखी व्यक्ति का भी चित्त अन्य प्रकार की प्रवृत्ति वाला हो जाता है, अतः तिरस्कार करता हुआ मैं गर्जनाओं से भयङ्कर ध्वनि युक्त, विद्युत् के उद्योत से असमान शरीर वाले मेघों से इसके (भगवान् पार्श्व के) चित्त में क्षोभ उत्पन्न करूँगा। अनन्तर प्रकम्पित धैर्य वाले इसे (बड़े हर्ष की बात है) विचित्र उपाय से मार डालूंगा।

व्याख्या—जब मेघ का दर्शन होने पर (प्रणयी जनसहित) सुखी व्यक्ति का चित्त भी विकृत हो जाता है तो एकाकी व्यक्ति का तो कहना ही क्या है ? अतः भयङ्कर गर्जनाओं तथा बिजली से प्रकाशमान शरीर वाले मेघों से मैं (यक्ष) इस पार्श्वनाथ के मन को क्षुब्ध करूँगा, जिससे इसका धैर्य स्थिर नहीं रहेगा और तब मैं बड़ी सरलता से विचित्र उपाय से इसे मार डालूंगा।

ध्यायन्नेवं मुनिपमभणीन्निष्ठुरालाप शौण्डो,

भो भो भिक्षो भणतु स भवान्स्वान्तमन्तर्निरुन्धन्।

क्षीणक्लेशे सिषिधुषि मतिं किं निधत्सेऽङ्गितत्त्वे,
कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे ॥ १२ ॥

ध्यायन्नित्यादि । **एवं** कथितरीत्या । **ध्यायन्** ध्यायतीति ध्यायन् चिन्तयन् । **निष्ठुरालापशौण्डः** निष्ठुरश्चासौ आलापश्च निष्ठुरालापस्तस्मिन् शौण्डः मत्तः । 'मत्ते शौण्डोत्कटक्षीबाः' इत्यमरः । कठोरवचनपर इत्यर्थः । **मुनिमयं** पार्श्वनाथम् । **अभणीत्** अब्रोचत् । **भो भो भिक्षो ! हे हे मुने !** 'भृशाभीक्ष्ण्याविच्छेदे प्राक् द्विः' इति भो शब्दस्य द्विः प्रयोगः । 'अथ सम्बोधनार्थकाः । स्युः प्याट् पाडङ्ग हे है भोः' इति । 'भिक्षुः परिव्राट्' इति चामरः । अथवा भोभो इत्येकं पदम् । 'अङ्गेत्यामन्त्रणे हे हे भोभो इति च कथ्यते' इति हलायुधः । **स्वान्तमन्तर्निरुन्धन्** स्वान्तं चित्तम् । अन्तर्निरुन्धन् अन्तर्दधानः । **भवान्** पूज्यस्त्वम् । **भणतु** जल्पतु । ब्रूहीत्यर्थः । भवच्छब्दप्रयोगे प्रथमपुरुष इति वचनात् । **'सिषिधुषि** सिधा-धेतिसिषिधिवन् ।' लिटः क्वसु वन स उस् इति उस् । तस्मिन् सिद्धे । **क्षीणक्लेशे** क्षीणो नष्टः 'क्षि क्षये' इति धातोः क्तः । 'भूत्कादेरिः' इति तस्य नः । 'क्षेरीतीकारः ।' क्षीणः क्लेशो यस्य तस्मिन् । **अङ्गितत्त्वे** अङ्गमस्यास्तीत्यङ्गी जीवः स एव तत्त्वं पदार्थस्तस्मिन् आत्मद्रव्य इत्यर्थः । **मतिं** बुद्धिं । **किं निधत्से** किमर्थं निदधातीति प्रश्नः । अत्रार्थान्तरन्यासः । **जने** बंधुलोके । **कण्ठाश्लेषप्रणयिनि** ग्रीवालिंगनार्थिनि सति । **पुनः** पश्चादपि 'पुनरप्रथमे भेदे' इत्यमरः । **दूरसंस्थे** दूरे विप्रकृष्टप्रदेशे संस्था स्थितिर्यस्य तस्मिन् वस्तुनि संस्थाचारे स्थितौ मृतौ इत्यभिधानात् । **किं** किमर्थमभिलषमिति जुगुप्सा । 'किं पृच्छायां जुगुप्सते' इत्यमरः । 'उक्तसिद्धयर्थमन्यार्थं न्यासोऽन्यार्थपुरः सरम् । कथ्यतेऽर्थान्तरन्यासः' इति वाग्भटः ॥१२॥

अन्वय—एवं ध्यायन् निष्ठुरालापशौण्डः मुनिमयं अभणीत्—भो भो भिक्षो ! स्वान्तमन्तर्निरुन्धन् सः भवान् भणतु । किं क्षीणक्लेशे सिषिधुषि अङ्गितत्त्वे मतिं निधत्ते, किं पुनः दूरसंस्थे कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने (मतिं निधत्ते) ?

अर्थ—उपर्युक्त रूप से सोचता हुआ निर्दय, भाषण में प्रवीण वह यक्ष मुनिराज से बोला—हे हे मुनिराज ! मन को अपनी अन्तरात्मा में रखकर वह (ध्यानी रूप में प्रसिद्ध) आप कहिए। क्या आप दुःख देने वाले कर्मों के नष्ट हो जाने पर सिद्धावस्था को प्राप्त आत्मद्रव्य में मन को लगा रहे हैं अथवा (आपके) कण्ठ में आलिङ्गन की इच्छा रखने वाली दूरवर्ती प्रिया में मन को लगा रहे हैं।

व्याख्या—यह सोचकर कि पहले मैं बिजली की गर्जनाओं से युक्त भयङ्कर आवाज करने वाले मेघों से इसका ध्यान भंग करूँगा, अनन्तर

विचित्र उपायों से मार डालूँगा, कठोर बात बोलने में निपुण वह यक्ष बोला—हे भिक्षु ! तुम कर्म से विमुक्त आत्मा का ध्यान कर रहे हो अथवा उस प्रिया का ध्यान कर रहे हो जो तुम्हारे कण्ठ में आलिङ्गन करने की इच्छा करती है, जरा अपने मन को टटोलकर यह तो बतलाओ।

इत्युक्त्वादो मुहुरुपवहन्निश्चितात्मोपसर्गोऽ,
बद्धक्रोधः सरभसमसौ भीमजीमूतमायाम् ।
आगस्त्राक्षीन्मुनिपमभितो नो मनागप्यसूरिः,
प्रत्यासन्ने नभसि दयिता जीविताल‍म्बनार्थी ॥ १३ ॥

इत्युक्त्वेत्यादि । इति प्रतिपादितप्रकारेण । 'इति हेतुप्रकरणप्रकाशादि-समाप्तिषु' इत्यमरः । मुहुः पुनः । अदः अदसो नपुंसकलिङ्ग द्वितीयैकवचनम् । उक्त्वा एतदुच्यमान स्वरूपम् । उपवहन् धरन् । निश्चितात्मोपसर्गः आत्मना क्रियमाण उपसर्गः आत्मोपसर्गः निश्चितः आत्मोपसर्गो येन स तथोक्तः । अजन्यं क्लीवमुत्पात उपसर्गः समंत्रयम् इत्यमरः । बद्धक्रोधः बद्धः क्रोधो येन सः कृत-क्रोधः । असौ दैत्यः । सरभसं रभसेन सह वर्तते यस्मिन्कर्मणि तथोक्तं सहर्षम् । सवेगं वा 'रभसो वेगहर्षयोः' इत्यमरः । मुनिपं यमीश्वरम् । अभितः सर्वतः । 'हाधिक्समया' इत्यादिना द्वितीया । भीमजीमूतमायां भीमश्चासौ जीमूतश्च । 'घोरं भीमं भयानकम्' इत्यमरः । जीमूतोऽभ्रं बलाहकः 'इति धनञ्जयः ।' तस्य मायां कल्पनाम् । आक् रभसेन । 'स्रागझटित्यञ्जसाह्नाय द्राङ्मङ्क्षु सपदि द्रुते' इत्यमरः । अस्राक्षीत् सृष्टिमकरोत् । सृज विसर्गे । लुङ् । अत्र समर्थन-माह । नभसि श्रावणमासे । 'नभाः श्रावणिकश्च सः' इत्यमरः । प्रत्यासन्ने सन्निकृष्टे । 'समीपे निकटासन्नसन्निकृष्टसनीडवत्' इत्यमरः । दयिताजीविता-लम्बनार्थी दयितायाः प्रियायाः जीवितं जीवनं तस्यालम्बनम् आधारः तदर्थंत इत्येवं शीलः तथोक्तः । 'रमणी दयिता प्रिया' इति धनञ्जयः । विमुक्तकान्ता-जीवनोपायाऽभिलाषी । मनागपि ईषदपि । 'किञ्चिदीषन्मनागल्पे' इत्यमरः । असूरिः न सूरिः असूरिः अपण्डितः 'पण्डितः सूरिराचार्यः' इति धनञ्जयः । नो न भवति । 'अभावे नह्य नो नापि' इत्यमरः । नभसो मासस्य विरहदुःखोद्रेक-हेतुत्वात्स्वाभिप्रेतसिद्धये मोहको न भवेदिति तात्पर्यम् ॥१३॥

अन्वय—इति अदः उक्त्वा मुहुः उपवहन् असौ निश्चितात्मोपसर्गः बद्धक्रोधः दयिताजीविताल‍म्बनार्थी नोमनाक् अपि असूरिः असौ प्रत्यासन्ने नभसि मुनिपं अभितः सरभसं भीमजीमूतमायां आक् अस्राक्षीत् ।

अर्थ—ऐसा कहकर बार बार समीप में जाते हुए (युद्ध के लिए कटि-

बद्ध होते हुए) अत्यधिक मूर्ख उस कमठ के जीव यक्ष ने अपने द्वारा उपसर्ग करने का निश्चय कर, क्रोध में बँधकर, दया से युक्त उन पार्श्वनाथ भगवान् के मरण के उपाय की इच्छा से श्रावणमास के निकट आ जाने पर मुनि के चारों ओर पौर्वापर्य का बिना विचार किए शीघ्र ही भयङ्कर मेघों की माया का सृजन किया।

व्याख्या—अपनी कठिनाई की भी परवाह न कर उस यक्ष ने भगवान् पार्श्वनाथ को मार डालने की इच्छा से मेघमाया का सृजन किया। कुछ लोगों ने दयिताजीविताल्म्बनार्थी का एक दूसरा अर्थ किया है। यक्ष अपनी प्रिया (वसुन्धरा) के जीवित रहने का इच्छुक था। प्रिया से वियुक्त होने पर उसके मरण की सम्भावना से वह डर गया था और मुनि को मारकर शीघ्र ही अपना सन्देश भेजकर वह प्रिया के प्राणों की रक्षा करना चाहता था।

विद्युन्मालास्फुरितरुचिरे मेघजाते नताशे,
स्फूर्जद्वज्रे झटिति कमठो वृष्टिपातं ससर्ज।
कालेनासौ किल जलमुचां योगिनं तं वितन्वन्,
जीमूतेन स्वकुशलमयीं हारयिष्यन्प्रवृत्तिम् ॥ १४ ॥

विद्युन्मालेत्यादि। **विद्युन्मालास्फुरितरुचिरे** विद्युतां सौदामनीनां। 'तडित्सौदामनी विद्युत्' इत्यमरः। माला पंक्तिः। 'माला पंक्तिः पुष्पादिदामान' इति भास्करः। तस्याः स्फुरितेन प्रकाशेन रुचिरं मनोहरं तस्मिन्। 'सुन्दरं रुचिरं चारु सुषमं साधु शोभनम्' इत्यमरः। **स्फूर्जद्वज्रे** स्फूर्जत् निर्घोषत् वज्रं अशनिर्यस्य तस्मिन्। 'वज्रोऽस्त्री हीरके पवौ' इत्यमरः। **मेघजाते** मेघानां जातं समूहस्तस्मिन्। 'जात्यन्भूतयोर्जातं वृन्द जात्यो स्मु न द्वयोः' इत्यनेकार्थरत्नमाला। **नताशे** न ता व्याप्ता आशा दिशो येन तस्मिन्निति। 'आशाश्च हरितश्च ताः' इत्यमरः। **असौ कमठः**। **कालेन** कृष्णेन। 'कालश्यामल मेचकाः' इत्यमरः। **जीमूतेन** मेघेन। 'जीमूतौ मेघपर्वतौ' इत्यमरः। **तं मुनिम्**। **जलमुचां** बलाहकानाम्। **योगिनं** संसर्गिणम्। 'योगः सन्नहनोपायध्यानसङ्गति युक्तिषु' इत्यमरः। **वितन्वन्** वितनोतीति वितन्वन्। तनोतेः शतृस्यः। **स्वकुशलमयीं** स्वस्य कुशलमयीम् पुण्यमयीम्। 'कुशलं क्षेममस्त्रियाम्' इत्यमरः। **प्रवृत्ति** प्रवर्तनम्। **प्रवृत्ति** प्रकृष्टां वृत्तिमित्यर्थः। 'वृत्तिर्वर्तनजीवने' इत्यमरः। अथवा प्रवृत्ति वृत्तान्तम्। 'वार्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्त उदन्तः स्यात्' इत्यमरः। 'वृत्तुङ्विवर्तने' स्त्रियां क्तिन् स्यः। **हारयिष्यन्** हारयिष्यतीति हारयिष्यन्। 'हृहरतेर्यातीत्यासौ लुटोरिति स्यत्यः। 'बलादेः' इतोट्। 'संल्लड्वत्स्यल्लटौ' इति

शत्रुत्वः । नाशयिष्यन् । उपसर्गविधानादिति यावत् । वृष्टिपातं वर्षपतनम् । झटिति शीघ्रम् । 'स्राग्झटित्यञ्जसाह्नाय' इत्यमरः । ससर्ज निर्मिमीते स्म । 'सृज विसर्गे ।' लिट् । किल वार्तायाम् । 'वार्तासम्भाव्ययोः किल' इत्यमरः ॥१४॥

अन्वयः—विद्युन्माला स्फुरितरुचिरैः स्तनितैः घनौघैः दिक्षु छन्नासु जीमूतेन स्वकुशलमयीं प्रवृत्तिं हारयिष्यन् सः जलभृतां कालेन किल योगिनं वितन्वन् असौ कमठः झटिति वृष्टिपातं ससर्ज ।

अर्थ—विद्युत् समूह के प्रकाश से दीप्तिमान् तथा वज्र जिसमें गर्जना कर रहे थे ऐसे मेघों के समूह द्वारा दिशायें व्याप्त कर लेने पर मेघ के द्वारा अपनी कुशलवार्ता भेजने की इच्छा से उन मुनि को मेघों के कृष्णवर्ण से सम्बन्धित करते हुए उस कमठ के जीवधारी दैत्य ने शीघ्र वृष्टिपात की सृष्टि की थी ।

व्याख्या—कमठ के जीवधारी दैत्य ने शीघ्र वर्षा प्रारम्भ की । उस समय विद्युत् समूह के चमकने से वज्र जिसमें गर्जना कर रहे थे, ऐसे मेघों से दिशायें व्याप्त हो गई । अपना कुशल समाचार भेजने के लिए उन मुनि को मेघों के कृष्णवर्ण से सम्बन्धित करते हुए कमठ के जीवधारी दैत्य ने शीघ्र ही वृष्टिपात की, सृष्टि कर दी ।

'स्वकुशलमयी प्रवृत्तिं हारयिष्यन्' का दूसरा अर्थ होगा—अपना कल्याण करने वाले पार्श्व के प्रयत्न अथवा व्यापार को छुड़ाने का इच्छुक ।

एवं प्रायां निकृतिमधमः कर्तुमारब्ध भूयो,
मायाशीलश्चिरपरिचिताद्वैरबन्धात्प्रकुप्यन् ।
सिद्धैस्तन्निष्क्रमणसमये योगिने भक्तिनम्रैः,
स प्रत्यग्रैः कुटजकुसुमैः कल्पितार्घाय तस्मै ॥ १५ ॥

एवमित्यादि । भूयः पुनः । चिरपरिचितात् चिरं बहुकालं परिचियते स्मेति परिचितः तस्मात् । बहुकालमभ्यस्तात् । वैरबन्धात् विरोधानुबन्धात् । प्रकुप्यन् प्रकोपितः सन् । मायाशीलः मायया कपटेनयुक्तं शीलं स्वभावो यस्य सः । 'शीलं स्वभावे सद्वृत्ते' इत्यमरः । अधमः निकृष्टः । 'निकृष्टे प्रतिकृष्टार्वरेफ याप्याव-माधमाः' इत्यमरः । स कमठः । तन्निष्क्रमणसमये तस्य मुनेः निष्क्रमणस्य परिनिष्क्रमणस्य समये काले । 'कालो दिष्टोप्यनेहापि समयोऽपि' इत्यमरः । भक्तिनम्रैः नमन्तीत्येवं शीला नम्राः भक्त्या गुणानुरागेण नम्रास्तैः । सिद्धैः देवविशेषैः । 'पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमीदेवयोनयः' इत्यमरः । प्रत्यग्रैः नवैः 'प्रत्यग्रोऽभिनवो नव्यः' इत्यमरः । कुटजकुसुमैः कुटजानां वनमल्लिकानां

कुसुमैः पुष्पैः । 'कुटजो वनमल्लिका' इति हलायुधः । कल्पितार्घाय कल्पयते स्म कल्पितः अर्घः पूजाविधिर्यस्य तस्मै 'मूल्ये पूजाविधावर्घः' इत्यमरः । तस्मै योगिने पार्श्वमुनये एवं वक्ष्यमाणरीत्या । प्रायां बहुलाम् । 'प्रायो बहुत्वे मृत्यौ च तुल्यानशनयोरपि' इत्यभिधानात् । प्रायो भूम्यन्तगमने इत्यमरः । मान्तपाठाच्चा-नव्ययोऽयं शब्दः । निकृतिं निराकृतिम् 'कुसृतिर्निकृतिः शाठ्यम्' इत्यमरः । 'निकृतिर्भर्त्सने क्षेपे वदन्ति शठशाठ्ययोः' इति विश्वः । कर्तुं विधातुम् । आरब्ध प्रारेभे । 'रभि राभस्ये' लुङात्मनेपदम् ॥१५॥

अन्वय—तन्निष्क्रमणसमये भक्तिनम्रैः सिद्धैः प्रत्यग्रैः कुटजकुसुमैः कल्पितार्घाय तस्मै योगिने चिरपरिचितात् वैरबन्धात् प्रकुप्यन् स मायाशीलः अधमः एवं प्रायां निकृतिं कर्तुं भूयः आरब्धः ।

अर्थ—(जिन) भगवान् के दीक्षा कल्याणक के लिए निकलते समय भक्ति से नम्र सिद्ध नामक देव विशेषों ने नए मल्लिकापुष्पों से पूजा की थी । उन योगी भगवान् के प्रति चिरकाल के अभ्यस्त बैर के बन्ध से कोप करते हुए उस मायाशील अधम यक्ष ने इस प्रकार का तिरस्कार करना पुनः प्रारम्भ कर दिया ।

व्याख्या—प्राणी अपने चिरकाल के अभ्यास के वशीभूत होकर कार्य करता है । जिन भगवान् पार्श्व के दीक्षा कल्याणक के समय देवताओं ने भी गिरिमल्लिकापुष्पों से पूजा की थी, उन्हीं का कमठ का जीव यक्ष उपर्युक्त रीति से तिरस्कार करने लगा ।

> **पर्जन्यानां ध्वनिमनुसकः स्फावयन् सिंहनादा-**
> **नाक्रोशैः स्वैर्मुनिपरिसरात्तर्जयन्नाशदैत्यः ।**
> **हा धिग्मूढं भगवति मुनौ पूर्वबन्धौ न चोच्चैः**
> **प्रोतः प्रीतिप्रमुखवचनं स्वागतं व्याजहार ॥ १६ ॥**

पर्जन्यानामिति । सकः कुत्सितः सः सकः कमठचरः । नाशदैत्यः नाशेन-प्रेरितो दैत्यः तथोक्तः 'पृषोदरादित्वात्समासः' आत्मनाशार्होऽसुरः । मुनिपरि-सरात् समीपभूमेः । 'पर्यन्तभूः परिसरः' इत्यमरः । पर्जन्यानां मेघानाम् । 'पर्जन्यौ रसदब्देन्द्रौ' इत्यमरः । ध्वनिमनु ध्वनिप्रतिभागिनि च । 'प्रतिपर्यनुभिः' इति द्वितीया । सिंहनादान् सिंहध्वनीन् । स्फावयन् वर्धयन् । स्फावयतीति स्फाव-यन् । 'स्फायैङ् वृद्धौ' इति धातोः 'कथातिपातिस्फायोज्ज्वलावमीति' वमागमः । शतृत्यः । स्वैः स्वकीयैः । आक्रोशैः शपनध्वनिभिः । तर्जयन् तर्जयतीति तर्जयन् भर्त्सयन्नित्यर्थः । पूर्वबन्धौ पूर्वभवानुजे । भगवति माहात्म्यवति । 'भगः श्रीकाम

माहात्म्यवीर्ययलार्क कीतिषु' इत्यमरः। मुनौ योगिनि उच्चैः अधिकम्। प्रीतः सन्तुष्टः सन्। प्रीतिप्रमुखवचनं प्रीतिमुखानि प्रीतिपूर्वाणि वचनानि यस्मिन् तत् प्रीतिप्रमुखवचनं यथा भवति तथा। स्वागतं शोभनमागतं स्वागतं क्षेमागमनम्। न व्याजहार न ब्रवीति स्म। व्याङ् पूर्वस्य हृञो धातोर्लिट्। मूढं मूर्खम् त्वाम्। हा धिक्। प्राग्भवबन्धोः स्वामिनो दर्शने प्रोत्या कुशलोदन्तं न प्रपच्छ किन्तु सिंहनादप्रभृति तर्जनमेव चकारेति भावः ॥१६॥

अन्वय—एकः नाशदैत्यः पर्जन्यानां ध्वनि अनु सिंहनादान् स्फावयन् मुनिपरिसरात् स्वैः आक्रोशैः तर्जयन् पूर्वबन्धौ भगवति मुनौ उच्चैः प्रीतः सन् प्रीतिप्रमुखवचनं स्वागतं न व्याजहार (इति) मूढं हा धिक्।

अर्थ—कुत्सित (तथा) नाश से प्रेरित उस दैत्य ने मेघों की ध्वनि के साथ सिंह के समान नाद की वृद्धि करते हुए मुनि के समीप से अपने आक्रोशों द्वारा भर्त्सना कर पूर्वजन्म के छोटे भाई, (अत्यधिक) माहात्म्य वाले मुनि का अत्यधिक प्रसन्न हो प्रीतिभरे वचनों से स्वागत नहीं किया। हा, उस मूढ को धिक्कार है।

व्याख्या—वह कमठ का जीव यक्ष कुत्सित था और विनाश को प्रिय मानता था, अतः उस मुनि के सामने उसने जोरों से सिंहनाद किया, मेघों की आवाज कराई, उनकी तरह-तरह से भर्त्सना की। अत्यधिक प्रसन्न होकर प्रीति से भरे वचनों द्वारा उनका स्वागत नहीं किया। हाय, उस मूढ को धिक्कार है।

नाशदैत्यः का दूसरा अर्थ है—नाश है प्रिय जिसको।

> **क्वायं योगी भुवनमहितो दुर्विलङ्घ्यस्वशक्तिः,**
> **क्वासौ क्षुद्रः कमठदनुजः क्वेभराजः क्व दंशः।**
> **क्वा सद्ध्यानं चिरपरिचितध्येयमाकालिकोऽसौ,**
> **धूमज्योतिः सलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः॥ १७॥**

क्वायमिति। भुवनमहितः भुवनेन लोकेन महितः स्म भुवनमहितः त्रिलोकपूजित इत्यर्थः। दुर्विलङ्घ्यस्वशक्तिः दुर्विलङ्घ्या अनिवार्या स्वशक्तिर्यस्येति बहुपदो बहुव्रीहिः। अयं योगी एष मुनिः। क्व कुत्र। क्षुद्रः नीचः। असौ कमठदनुजः अयं कमठचरदैत्यः। क्व इभराजः गजेन्द्रः। क्व दंशः दंशनामा जन्तुः। 'दंशस्तु वनमक्षिका' इत्यमरः। क्व असत् अशुभम् ध्यानं। क्व चिरपरिचितध्येयं चिरात् परिचितमभ्यस्तं ध्येयं ध्यातव्यं वस्तु यस्य तत् चिरेणाभ्यस्त-

---

१. क्व इति मइहन्तरे।

विषयमित्यर्थः । ध्यानं शुभध्यानं क्व । आकालिकः अकाले भवः आकालिकः अनवसरजः । धूमज्योतिः सलिलमरुतां धूमश्च ज्योतिश्च सलिलं च मरुच्च 'ज्योतिः खद्योतदृष्टिषु' इत्यमरः । तेषां सन्निपातः सङ्घातः । असौ मेघः कालमेघः क्व ॥ १७ ॥

अन्वय—दुर्विलङ्घ्यस्वशक्तिः भुवनमहितः अयं योगी क्व, असौ क्षुद्रः कमठदनुजः क्व, क्व इभराजः, क्व दंशः, चिरपरिचितध्येयं आसद्ध्यानं क्व असौ धूमज्योतिः सलिलमरुतां सन्निपातः आकालिकः मेघः क्व ।

अर्थ—जिसकी आत्मशक्ति का उल्लंघन करना कठिन है, ऐसा तीनों लोकों के द्वारा पूज्य यह योगी कहाँ और नीच कमठ का जीव दैत्य कहाँ, कहाँ तो गजराज और कहाँ वन मक्खी, जिसका ध्येय चिरपरिचित है और पूर्णरूप से जिसका ध्यान शोभन है ऐसा यह योगी कहाँ और धुआँ, अग्नि, जल तथा वायु का समुदाय यह आकस्मिक (शीघ्र नष्ट हो जाने वाला) मेघ कहाँ ?

व्याख्या—जिसकी आत्मशक्ति का उल्लंघन नहीं किया जा सकता ऐसे तीनों लोकों द्वारा पूज्य भगवान् पार्श्व के सामने यह दैत्य उसी प्रकार तुच्छ है जैसे गजराज के सामने मक्खी अथवा उसका सामर्थ्य तुच्छ है । भगवान् पार्श्वनाथ उत्तम ध्यानों से सुशोभित हैं, उनका ध्येय (आत्मतत्त्व) चिरपरिचित है, जबकि मेघ धुँआ, अग्नि, जल तथा वायु से निर्मित एक भौतिक पदार्थ है । भौतिक पदार्थ उद्बुद्ध चेतन आत्मा का कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकता है ।

क्वायं देवो विलसदणिमाद्यष्टभेदस्थितर्धिः,
क्वाल्पर्धित्वाद् गुरुसुरपशुः क्वाद्रिराट् क्वोपलौघः ।
क्वास्योद्योगः क्व नु मुनिगुणा दुर्विभेदाः क्व मूकः,
सन्देशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः ॥ १८ ॥

क्वायं देव इति । **विलसदणिमाद्यष्टभेदस्थितर्द्धिः** अणोर्भावः अणिमा । 'पृथ्व्यादे रिमन्' इतीमन्त्यः । अणिमा आदिर्येषां ते तथोक्ताः । विलसन्तश्च ते अणिमादयश्चेति कर्मधारयः । अष्ट च भेदाश्चाष्टभेदाः । विलसदणिमादयश्च ते अष्टभेदाश्च तथोक्तास्तैः स्थिता नित्यतया वसन्त्यः ऋद्धयः तपः प्रभावोद्भूतगुणाः यस्येति बहुपदो बहुव्रीहिः । **अयं देवः** स्वामी **क्व** । **अल्पर्धित्वात्** स्तोकैश्वर्यत्वात् । **गुरुसुरपशुः** सुरः पशुरिवेति सुरपशुः गुरुर्महांश्चासौ सुरपशुश्च तथोक्तः **क्व** । **क्व अद्रिराट्** अद्रीणां राट् तथोक्तः 'राजि राट्' इत्यमरः । अगेन्द्रः । **क्व उपलौघः** उपलानामश्मनामोघः समूहस्तथोक्तः । 'पाषाणप्रस्तरग्रावो-

प्लायमानः 'बिलः दृषत्' इति सौभाग्यकरप्रालवारसङ्घातसञ्ज्ञयाः' इति चामरः । क्व अस्य कमठचरस्य । उद्योगो व्यापारः । क्व 'नु' बुद्धिभेदाः मेतुमशक्याः । मुनिगुणाः योगिगुणाः । क्व 'नु पृच्छायां वितर्के च' इत्यमरः । मूकः अज्ञः । मकलं मौनमशिथिल इत्यर्थः । 'मुग्धोमूढोजडोज्ञोमूको मूर्खश्च कहुदः' इति धनञ्जयः । क्व पटुकरणैः पटूनि स्फुटानि करणानीन्द्रियाणि येषां तैः विशदेन्द्रियैरित्यर्थः । 'करणं साधकतमं क्षेत्रगात्रेन्द्रियेष्वपि ।' 'दक्षार्मदा गदेषु च । पटुद्वौ वाच्यलिङ्गौ च' इत्युभयत्राप्यमरः । प्राणिभिः प्राणाः सन्ति येषां तैर्जीवैः । 'प्राणा नु चेतनो जन्मी' इत्यमरः । प्रापणीयाः प्रापयितव्याः । 'आप्लृ प्राप्तौ' इति धातोरनीयत्प्रत्ययः । सन्देशार्थाः सन्दिश्यन्त इति सन्देशाः । 'सन्देशः प्रियमोर्वार्ता'' इति धनञ्जयः । तेषाम् अर्थास्ते क्व ॥१८॥

अन्वय—विलसदणिमद्यष्टभेदस्थिरर्द्धिः अयं देवः क्व अल्पर्द्धित्वात् गुरुसुरपशुः क्व ? क्व अद्रिराट् क्व उपलौघः ? अस्य उद्योगः क्व बुद्धिभेद्याः मुनिगुणाः नु क्व ? मूकः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः सन्देशार्थाः क्व ?

अर्थ—शोभायमान अणिमादि आठ प्रकार के ऋद्धि से जो युक्त है ऐसा यह देव (भगवान् पार्श्व) कहाँ और अल्पऋद्धि वाला होने से महा पशु के समान यह दैत्य कहाँ ? कहाँ तो सुमेरु और कहाँ पत्थरों (ओलों) का समूह ? इसका उद्योग कहाँ और कष्ट से भेदन करने योग्य मुनियों के गुण कहाँ ? कहाँ तो मौनी और कहाँ समर्थ इन्द्रियों वाले प्राणियों द्वारा प्राप्त करने योग्य सन्देश के वचन ?

व्याख्या—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व ये आठ ऋद्धियाँ कही गई हैं। ये किसी श्रेष्ठतम योगी को उपलब्ध होती हैं। भगवान् पार्श्वनाथ इन ऋद्धियों से युक्त थे। कमठ के पास ऋद्धियाँ अल्पमात्रा में थीं; क्योंकि देवताओं में ये आंशिक रूप से होती हैं। कमठ देवताओं में भी अत्यधिक नीची श्रेणी के देव के तुल्य था। जिनसेन ने इसीलिए उसे गुरुसुरपशुः कहा है। यहाँ पर गुरु शब्द से कमठ में पशुता का आधिक्य व्यंजित होता है। भगवान् पार्श्व के सामने कमठ वैसा ही था जैसे मेरु के सामने छोटे-छोटे पत्थरों का समूह होता है। मूक पद देने का अभिप्राय यह है कि भगवान् चूँकि ध्यानमग्न थे, अतः उनकी इन्द्रियाँ अपना कार्य करने में असमर्थ थीं। यद्यपि दैत्य जोर से बोल रहा था, किन्तु भगवान् के कान उन शब्दों को ग्रहण नहीं कर रहे थे, दैत्य के सन्देश का पार्श्व द्वारा ग्रहण सम्भव न था।

सत्यप्येवं परिभवपथे योजयन्स्वं दुरात्मा,

मत्यौद्धत्यास्वयमुपवहन्वारिवाहच्छलेन ।

मायायुद्धं मुनिपमुपमाक्षीणको दुर्जयोऽय-
मित्यौत्सुक्यादपरिगणयन्गुह्यकस्तं ययाचे ॥ १९ ॥

सत्यप्येवमिति। **एवं सत्यपि**। **दुरात्मा** दुष्टस्वभावः कमठः। **स्वम्** आत्मानम्। **परिभवपथे** परिभवस्यानादरस्य पन्थाः मार्गस्तथोक्तस्तस्मिन्। 'ऋक्पूःपथ्यपात्' इति अत्यः। 'अनादरः परिभवः परीभावस्तिरस्क्रिया' इत्यमरः। **योजयन्** योजयतीति योजयन्। 'युजिर् योगे' इति शतृत्यः। सम्बन्धयन्। **मत्यौद्धत्यात्** उद्धतस्य भावः औद्धत्यं मतेरौद्धत्यं तस्मात्। बुद्ध्यहंकारादित्यर्थः। 'सोन्मादस्तून्मदिष्णुः स्यादविनीतः समुद्धतः' इत्यमरः। **स्वयम्** आत्मा। **वारिवाहच्छलेन** मेघ व्याजेन। 'व्यपदेशं निभं व्याजं पदं व्यतिकरं छलम्। छद्म' इति धनञ्जयः। **मायायुद्धं** मायारूपं विग्रहम्। **उपव्रजन्** गच्छन्। **औत्सुक्यात्** उत्सुकस्य भावः औत्सुक्यं तस्मात् स्वेच्छारसत्वात्। 'इष्टार्थोद्युक्त उत्सुकः' इत्यमरः। **अयं मुनिः**। **उपमाक्षीणकः** तुलारहितः। **दुर्जयः** दुःसाध्यः। **इति** एवम्। **अपरिगणयन्** अविचारयन्। **गुह्यकः** कमठचरः। 'गुह्यकः सिद्धोभूतः' इत्यमरः। **तं मुनिपं**। **ययाचे** याचति स्म ॥१९॥

अन्वय—एवं सति दुरात्मा स्वं परिभवपथे योजयन् मत्यौद्धत्यात् स्वयं वारिवाहच्छलेन उपव्रजन् अयं उपमाक्षीणकः दुर्जयः इति औत्सुक्यात् अपरिगणयन् गुह्यकः तं मुनिपं मायायुद्धं ययाचे।

अर्थ—ऐसा होने पर भी उस दुरात्मा यक्ष ने अपने आपको विनाश के पथ में लगाते हुए बुद्धि के प्रक्षोभ से स्वयं मेघ के बहाने समीप जाकर यह भगवान् अनुपमेय हैं, दुर्जेय हैं, इस बात का युद्ध के लिए उद्यत होने के कारण विचार न कर उन मुनिराज से मायायुद्ध की याचना की।

व्याख्या—विनाशकाल में प्राणियों की बुद्धि विपरीत हो जाती है। इसी विपरीत बुद्धि से प्रेरित हो यक्ष ने इस बात का विचार नहीं किया कि भगवान् पार्श्व अनुपमेय तथा दुर्जेय हैं। परिणामस्वरूप उसने उनसे मायायुद्ध की याचना की।

जाता रम्या सपदि विरलैरिन्द्रगोपैस्तदा भूः,
सेव्याः केकिध्वनितमुखरा भूभृतां कुञ्जदेशाः।
योगिस्तस्मिञ्जलदसमये प्रस्खलेन्नात्मधैर्यात्,
कामार्त्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु ॥२०॥

जातेति। **तदा** तद्याचन समये। **भूः** भूमिः। **विरलैः** पेलवैः 'पेलवं विरलं तनु' इत्यमरः। **इन्द्रगोपैः** रक्तवर्णकृमिविशेषैः। **सपदि** सद्यः। 'सद्यः सपदि

लक्षणे' इत्यमरः। रम्या मनोहरा। 'रम्यं सौम्यं च सुन्दरम्' इति धनञ्जयः। जाता जायते स्म। 'भूभृद्भूमिधरे नृपे' इत्यमरः। कुञ्जदेशाः निकुञ्जप्रदेशाः 'निकुञ्जकुञ्जौ वा क्लीबे लतादिपिहितोदरे' इत्यमरः। केकिध्वनितमुखराः केकिनां मयूराणां ध्वनितेन ध्वनिना मुखराः शब्दयुताः 'दुर्मुखे मुखराबद्धमुखौ' इत्यमरः। सेव्याः सेवितुं योग्याः। जाताः जायन्ते स्म। अयं वर्षाद्विभवस्था विपरिणाम इत्युभयत्राप्यन्वयः। योगिन् भो मुने त्वं तस्मिन् जलदसमये तादृशे वर्षाकाले आत्मधैर्यात् स्वमनोबलात्। 'धैर्यं शौर्यं च पौरुषम्' इति धनञ्जयः। न प्रस्खलेः न चलेः। तथा हि। कामार्ता हि वाञ्छितार्थपीडिता हि चेतनाचेतनेषु चेतनाश्चाचेतनाश्च चेतनाचेतना इति द्वन्द्वः। तेषु चिदचिद्रूपपदार्थेषु। प्रकृतिकृपणाः स्वभावदीनाः। 'स्वभावः प्रकृतिः शीलं निसर्गो निजलक्षणनिजम्।' 'कीनाशः कृपणो लुब्धो गृध्नुर्दीनोऽभिलाषुकः।' इत्युभयत्रापि धनञ्जयः। हि स्फुटम्। 'हि हेतावव-धारणे' इत्यमरः। कामार्तानामेव जलदसमये चेतनाचेतनद्रव्येषु दैन्यं गमिते कामादेरिति तात्पर्यम् ॥२०॥

अन्वय—तदा भूः विरलैः इन्द्रगोपैः सपदि रम्या जाता। भूभृतां केकिध्वनित-मुखराः कुञ्जदेशाः सेव्याः (जाताः)। तस्मिन् जलदसमये आत्मधैर्यात् योगी न प्रास्खलत्। प्रकृतिकृपणा हि चेतनाचेतनेषु कामार्ताः।

अर्थ—उस समय पृथ्वी सुकुमार इन्द्रगोपों से शीघ्र ही रमणीय हो गई। मोरों की ध्वनि से वाचालित (शब्दयुक्त) पर्वतों के कुञ्जप्रदेश सेवन करने योग्य हो गए। उस मायानिर्मित वर्षाकाल में योगी आत्मधैर्य से स्खलित नहीं हुआ। स्वभाव से दीन अथवा कायर व्यक्ति चेतन और अचेतन पदार्थों में विकार को प्राप्त होते हैं।

व्याख्या—मायानिर्मित मेघों के आगमन के फलस्वरूप पृथ्वी पर इन्द्र-गोप (लाल रंग के एक प्रकार के कीड़े) उत्पन्न हो गए। पर्वतों के कुञ्जों में मोरों की ध्वनि होने लगी। ऐसे समय भी योगी अपने धैर्य से विचलित नहीं हुआ। जो स्वभाव से धीर होते हैं, उनका मन चेतन और अचेतन वस्तुओं में विकृति को प्राप्त नहीं होता है। जो स्वभावतः धैर्य से च्युत हो जाते हैं, उनके ही मन में विकृति का प्रादुर्भाव होता है भगवान् चूँकि स्वभाव से धीरोदात्त प्रकृति के थे अतः उनके मन में विकृति नहीं हो सकती थी। इसी कारण वे आत्मध्यान में लवलीन रहे।

ऊर्ध्वज्ञुं तं मुनिमतिघनैः कालमेघैः प्रयुक्तो,
धारासारो भुवि नमयितुं नाशकद्दुःसहोऽपि।

जात्याश्वानामिव बहुगुणे भूभृतामुग्रनाम्नां,
जातं वंशे भुवनविदिते पुष्कलावर्तकानाम् ॥ २१ ॥

ऊर्ध्वंज्ञुमिति । **अतिघनैः** गम्भसान्द्रैः । घनं निरन्तरं सान्द्रम्' 'प्रकर्षेणकुत्नेष्यति' इत्युभयत्राप्यमरः । **कालमेघैः** कृष्णघनैः । **प्रयुक्तः** विहितः । **धारासारः** धाराणामासारस्तथोक्तः । प्रकृष्टवृष्टिरित्यर्थः । 'धाराम्बुताने मोत्कर्षो' 'आसारो वेगवद्वर्षम्' इत्युभयत्राप्यमरः । **भुवि** भुवने । **दुःसहोऽपि** सौकुमार्यादोऽपि पुष्कलावर्तकानां पुष्कलः शुद्धः आवर्तो येषां तेषां देवमण्यादियोग्यावर्तकानाम् । **जात्याश्वानां** जातौ भवाः जात्याः । 'जातः कुलजवान्तयोः' इत्यमरः । जात्याश्चते अश्वाश्च जात्याश्वास्तेषाम् । **भुवनविदिते** लोकप्रसिद्धे विशिष्टे वा । 'बुद्धं बुधितं विदितं मनितं प्रतिपन्नमथ गतावसितम्' इत्यमरः । **बहुगुणे** बहवो गुणा अश्वयोग्या यस्मिन् तस्मिन् । **वंशे** अन्वये । 'वंशोऽन्ववायः सन्तानः' इत्यमरः । **जातमिव** सम्भूतमिव विशिष्टवाजिनमिवेत्यर्थः । **पुष्कलावर्तकानां** पुष्कलः विशुद्धः आवर्तः लक्षणविशेषो येषां तेषाम् । 'विशदे पुष्कलामलम्' इति धनञ्जयः । **उग्रनाम्नाम्** उग्रवंशाभिधानानाम् भूभृतां राज्ञाम् । **बहुगुणे** औदार्यादिबहुलगुणयुक्ते । **भुवनविदिते** त्रिजगद्विख्याते **वंशे** गोत्रे । **जातं** उत्पन्नं । **ऊर्ध्वज्ञुं** ऊर्ध्वे जानुनी यस्येति ऊर्ध्वज्ञुस्तम् ऊर्ध्वजानुम् । 'वोष्वसि' इति जानुनो ज्ञुआदेशौ । 'ऊर्ध्वज्ञुरूर्ध्वजानुः स्यात्' इत्यमरः । कायोत्सर्गस्थितमित्यर्थः । **तं मुनिं** पार्श्वयतीन्द्रम् । **नमयितुं** नम्रीकर्तुं **नाशकत्** न शक्नोति स्म । तद्ध्यानवृत्तिं चलयितुं समर्थो नाभवदिति तात्पर्यम् ॥२१॥

अन्वय—अतिघनैः कालमेघैः प्रयुक्तः धारासारः दुःसहः अपि पुष्कलावर्तकानां जात्याश्वानां भुवनविदिते बहुगुणे वंशे जातं ऊर्ध्वज्ञुं इव पुष्कलावर्तकानां भुवनविदिते बहुगुणे वंशे जातं तं ऊर्ध्वज्ञुं मुनिं भुवि नमयितुं न अशकत् ।

अर्थ—अत्यन्त घने काले रंग के मेघों से की गई वेगवती वर्षा कठिनाई से सहन करने योग्य होने पर भी निर्दोष आवर्त (लक्षण विशेष) वाले कुलीन अश्वों के सारे संसार में विदित बहुत गुण वाले वंश में उत्पन्न ऊर्ध्वजानु वाले अश्व के समान शुद्धात्मा का चिंतन करने वाले उग्र नामक लोक प्रसिद्ध अनेक गुणों वाले वंश में उत्पन्न उन ऊर्ध्वजानु मुनि को भूमि पर नमाने में समर्थ नहीं हो सकी ।

भूयः क्षोभं गमयितुमनाः स्वान्तवृत्तिमुनीन्दो-
र्वाचाटत्वं प्रचिकटयिषुर्धीरमेवं ज जृम्भे ।
भो भो वीर स्फुटमिति भवान् मव्यगावल्पमृत्युं,
जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः ॥ २२ ॥

भूय इति। भूयः पुनः। मुनीन्दोः इन्दुरिव इन्दुः मुनीनामिन्दु तस्य मुनि-चन्द्रस्येत्यर्थः। स्वान्तवृत्तिं चित्तवर्तनम्। 'वृत्तिर्वर्तनजीवने' इत्यमरः। क्षोभं सञ्चलम्। गमयितुमनाः प्रापयितुमिच्छन् 'तुमो मनस्कामः' इति तुमो मकारस्य लोपः। वाचाटत्वं बहुगर्ह्यवाक्त्वम्। 'वाचा लाटौ' इत्याटलः। 'स्याज्जल्पाकस्तु वाचालो वाचाटो बहुगर्ह्यवाक्' इत्यमरः। प्रचिकटयिषुः प्रकटयितुमिच्छुः 'सनृभिक्षाशंसिवन्दिच्छादुः' इत्युत्यः। एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण धीरं धीरत्वम् यथा तथा अजृम्भे जृम्भते स्म जृम्भाणेत्यर्थः 'जृभुङ् गात्रविनामे' लिट्। भो भो वीर हे हे शूर। भवान् त्वम्। मयि कमठचरे। अल्पमृत्युम् अल्पश्चासौ मृत्युश्चतम्। स्फुटं व्यक्तम्। 'स्फुटं प्रव्यक्तमुल्बणम्' इत्यमरः। अगात् 'इणु गतौ' इति धातोः लुङि गैत्योरिगादेशः। अगमदित्यर्थः। इति एवम्। त्वां मुनिम्। मघोनः इन्द्रस्य। "इन्द्रो मरुत्वान्मघवा' इत्यमरः। कामरूपं इच्छादानविग्रहम्। 'इच्छा मनोभवो कामो' इत्यमरः। दुर्गादिसञ्चारक्षममित्यर्थः। प्रकृतिपुरुषं प्रधान पुरुषम्। 'प्रकृतिः सहजे योनावमात्ये परमात्मनि' इति विश्वः। जानामि मन्ये ॥२२॥

अन्वय—मुनीन्दोः स्वान्तवृत्तिं भूयः क्षोभं गमयितुमनाः वाचाटत्वं प्रचिकटयिषुः भो भो वीर! (यः) भवान् मयि अल्पमृत्युं स्फुटं अगात् (तं) त्वां मघोनः कामरूपं प्रकृतिपुरुषं स्फुटं जानामि इति एवं धीरं अजृम्भे।

अर्थ—चन्द्रमा के समान मुनि का मन की प्रवृत्त को पुनः विकृति को प्राप्त कराने की इच्छा से अपनी वाचालता (बकवादीपन) को प्रकट करने की इच्छा करते हुए (यक्ष ने) हे हे वीर! जो आप मेरे द्वारा अकाल मृत्यु को पहुँचाये गए थे, ऐसे तुम्हें इन्द्रतुल्य महाराज अरविन्द अथवा लोगों के द्वारा आदर को प्राप्त महाराज अरविन्द के कामदेव के समान रूपवाले प्रधान पुरुष के रूप में स्पष्टतया पहचानता हूँ। इस प्रकार धीरतापूर्वक कहने के लिए मुंह खोला।

व्याख्या—मुनि के मन को क्षुब्ध करने के लिए यक्ष ने पूर्वजन्म की स्मृति दिलाई कि तुम मेरे द्वारा पूर्व जन्म में असमय में ही मारे गए थे। तुम्हें राजा अरविन्द प्रधानपुरुष मानते थे। उस समय तुम्हारा रूप कामदेव के समान सुन्दर था।

येनाऽमुष्मिन्भवजलनिधौ पर्यटन्नेकधा मां,
स्थ्यर्थेऽस्थ्यर्थे परिभवपदं प्रापिपस्त्वं प्रमत्तम्।
कृच्छ्राल्लब्धे पुनरिति चिराद्वैरनिर्यातनायां,
तेनार्थित्वं त्वयि विधिवशाद्दूरबन्धुर्गतोऽहम् ॥ २३ ॥

येनेति । येन कारणेन । अमुष्मिन् भवजलनिधौ जलानि निधीयन्तेऽस्मिन्निति जलनिधिः । भवः संसारः 'भावो भवश्च संसारः सरण्यं चैव संसृतिः' इति धनञ्जयः । स एव जलनिधिस्तस्मिन् । पर्यटन् भ्रमन् । त्वं भवान् । स्त्र्यर्थे स्त्र्यर्थे । आभीक्ष्ण्ये द्विः । स्त्रीनिमित्तम् । प्रमत्तं प्रमाद्यति स्म प्रमत्तः तं प्रमादवन्तम् । मां कमठचरम् । नैकधा अनेकप्रकारेण । न एकधा अनेकधेत्यलुक्समासः । परिभवपदं परिभवस्य पदं तयोक्तम् । तत् तिरस्कृतिस्थानम् । 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमरः । प्रापिपः प्रापयसि स्मा 'आप्लृ व्याप्तौ' इति धातोः णिचि लुङ् । तेन कारणेन । पुनः चिरात् बहुकालात् । इति एवम् । कृच्छ्रात् कष्टात् । 'स्यात्कष्टं कृच्छ्रमाभीलम्' इत्यमरः । लब्धे प्राप्ते । त्वयि भवति । विधिवशात् कर्मवशात् । 'नियतिर्विधिः' इत्यमरः । दूरबन्धुः दूरो विप्रकृष्टो बन्धुर्बान्धवो यस्येति बहुव्रीहिः । वियुक्तस्वजन इत्यर्थः । 'बन्धुः स्वस्वजनाः समाः' इत्यमरः । अहम् वैरनियतिनायां वैरविशुद्धिनिमित्तम् । 'वैरशुद्धिः प्रतीकारो वैरनियतिर्न च सा' इत्यमरः । अर्थित्वं याचकत्वम् । गतः प्राप्तोऽस्मि ॥२३॥

अन्वय—येन अमुष्मिन् भवजलनिधौ पर्यटन् त्वं स्त्र्यर्थे स्त्र्यर्थे प्रमत्तं मां परिभवपदं एकधा न प्रापिपः । तेन इति पुनः विधिवशात् कृच्छ्रात् चिरात् लब्धे त्वयि दूरबन्धुः अहं वैरनियतिनायां अर्थित्वं गतः ।

अर्थ—चूंकि इस प्रकार संसारसमुद्र में भ्रमण करते हुए तुमने स्त्री के लिए अत्यधिक उन्मत्त मुझे अपमान की अवस्था को एक ही प्रकार से प्राप्त नहीं कराया । उस कारण इस प्रकार पुनः दैववश अत्यधिक कष्ट से चिरकाल में प्राप्त होने पर तुम्हारा पूर्वभव का भाई मैं कमठ का जीव यक्ष वैर की शुद्धि के लिए याचकपने को प्राप्त हुआ हूँ ॥२३॥

भावार्थ—यक्ष याद दिलाता है कि पूर्वजन्म में स्त्री के कारण उन्मत्त हुए मेरा तुमने अनेक प्रकार से अपमान किया था अतः उस वैर का बदला लेने के लिए मैं तुमसे कुछ याचना कर रहा हूँ ।

तस्माद्वीरप्रथमगणनामाप्तुकामस्त्वकं चे,
त्पूर्वप्रीत्या सुभट सफलां प्रार्थनां मे विधत्स्व ।
कालाद्याचे परमपुरुषं त्वाभियायाद्य युद्धं,
याञ्चा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा ॥ २४ ॥

तस्मादिति । तस्मात् कारणात् । परमपुरुषं उत्कृष्टपुरुषं । त्वां भवन्तम् । 'त्वामौ द्वितीयायाः' । इति युष्मदस्त्वादेशः । कालात् कालवशात् । अभियाय

अभिगम्य। **अद्य** इदानीम्। 'अद्यात्राह्नि' इत्यमरः। **युद्धं** सङ्ग्रामम्। **याचे** प्रार्थये। **सुभट** हे महावीर। **त्वकं** त्वमेव त्वकं भवान्। **वीरप्रथमगणनाम्** वीरेषु शूरेषु प्रथमामाद्याम् गणनां सङ्ख्याम्। **आप्तुकामः** आप्तुमिच्छन्। **चेत्** यदि भवेः। 'पक्षान्तरे चेद्यदि च' इत्यमरः। **पूर्वप्रीत्या** कमठमरुभूतिभवप्रेम्णा। **मे** मम। 'ते मयावेकत्वे' इति अस्मदो मे इत्यादेशः। **प्रार्थनां** याचनाम्। **सफलां** फलसहिताम्। **विधत्स्व** कुरुष्व। 'डुधाञ् धारणे' च लेट्। तथाहि। **अधिगुणे** अधिकगुणे पुरुषे **याञ्चा** प्रार्थना **मोघा** निरर्थकापि। 'मोघं निरर्थकम्' इत्यमरः। **वरं** सम्यक्। 'क्लीबे तु कुंकुमे श्रेष्ठेऽपिव्वेतेष्वव्ययं वरम्' इति भास्करः। **अधमे** निकृष्टे। **लब्धकामा** प्राप्ताभिलाषापि। 'कामोऽभिलाषस्तर्षश्च' इत्यमरः। **न वरं** न सम्यक्॥२४॥

अन्वय—तस्मात् (हे) सुभट! त्वकं वीरप्रथमगणनां आप्तुकामः चेत् पूर्वप्रीत्या मे प्रार्थनां सफलां विधत्स्व। त्वं परमपुरुषं अद्य अभिप्राय कालात् युद्धं याचे। अधिगुणे याञ्चा मोघा न, अधमे लब्धकामा न। यद्वा अधिगुणे मोघा याञ्चा वरं, अधमे लब्धकामा वरं न।

अर्थ—अतः हे सुभट! दयालु यदि तुम यदि वीरों में प्रथम गणना प्राप्त करना चाहते हो तो पूर्वभव की प्रीति से मेरी प्रार्थना को सफल करो। तुम्हें महापुरुष जानकर आज समय पाकर युद्ध की प्रार्थना करता हूँ। अधिक गुण वाले व्यक्ति से की गई प्रार्थना विफल नहीं होती है, नीच व्यक्ति से की गई प्रार्थना सफल नहीं होती है। अथवा अधिक गुण वाले व्यक्ति से की गई प्रार्थना विफल हो जाय तो भी अच्छा है, किन्तु नीच व्यक्ति के प्रति की गई प्रार्थना सफल भी हो जाय तो भी ठीक नहीं है।

व्याख्या—यदि वास्तव में तुम शूरवीर हो तो मेरी युद्ध की प्रार्थना को स्वीकार करो। मैं यक्ष तुम्हें बड़ा मानकर ही तुमसे याचना कर रहा हूँ; क्योंकि अधिक गुण वाले के प्रति की गई प्रार्थना विफल नहीं होती है। अथवा विफल हो जाय तो भी अच्छा है। नीच व्यक्ति के प्रति की गई प्रार्थना सफल नहीं होती है और सफल हो जाय तो भी ठीक नहीं है।

जेतुं शक्तो यदि च समरे मामभीक प्रहृत्य,
स्वर्गस्त्रीणामभयसुभगं भावुकत्वं निरस्यन्।
पुण्य्या भक्त्या चिरमिह वहन् राजयुद्ध्वेतिरूढिं,
सन्तप्तानां त्वमसि शरणं तत्पयोदप्रियायाः॥ २५॥

जेतुमिति । **अभीक** न विद्यते भीर्भयं यस्येत्यभीकः तस्य सम्बोधनं हे सप्तभय-विप्रयुक्त । 'अभीकः कामुके क्रूरे कवौ च भयवर्जिते' इति विश्वः । **समरे** रणे । 'अस्त्रियां समरानीकरणाः' इत्यमरः । **मां** यक्षम् । **प्रहृत्य** आहत्य । **जेतुं** जयनाय । **यदि** च **शक्तः** त्वं समर्थोऽसि चेत् । 'यत्तद्यतस्ततो हेतौ' इत्यमरः । **इह** अस्मिन् जगति । **राजयुद्ध्वा** राजानं योधितवानिति राजयुद्ध्वा राजसहा 'कृध्या-दिभ्यामिति क्वनिप् । कवौ युगे मृगाङ्के च शक्रे राजाभिभाषितः' इत्यभिधानात् । 'यक्षराजबोधकः' इत्यमरः । **इति** एवम् । **रूढिं** प्रसिद्धिम् । **वहन्** धरन् । **सन्तप्तानां** विरहसंज्वलितानाम् । 'सन्तापः सञ्ज्वरः समौ' इत्यमरः । **स्वर्गस्त्रीणां** देव-स्त्रीणाम् । **अभयसुभगम्** अभयेन त्वत्प्रापणधैर्येण मनोरमं । **भावुकत्वं** क्षेमत्वम् । 'भावुकं भविकं भव्यं कुशलं क्षेममस्त्रियाम्' इत्यमरः । **निरस्यन्** निराकुर्वन् । **पयोदप्रियायाः** पयोदस्य प्रिया तथोक्ता तस्याः पयोदनाम्नः स्वस्यासुरस्य-कान्तायाः । 'रमणीदयिता प्रिया' इति धनञ्जयः । **पृथ्व्या** महत्या । **भक्त्या** भजनं भक्तिः तया अनुरागेण । **चिरं** बहुकालम् । **त्वं** भवान् **शरणं** रक्षकः । 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः । **असि** भवसि । मुनेर्जये मरणाभावादेव स्त्रीणामक्षेमता । यक्षस्य हतौ तत्प्रियायामुनीन्द्रशरण्यता च भवतीति भावः ॥२५॥

अन्वय—(हे) अभीक समरे (मां) प्रहृत्य सन्तप्तानां स्वर्गस्त्रीणां अभय-सुभगं भावुकत्वं निरस्यन् पृथ्व्याभक्त्या राजयुद्ध्वा इति रूढिं इह चिरं वहन् मां जेतुं यदि शक्तः तत् पयोदप्रियायाः त्वं शरणं असि ।

अर्थ—हे कामुक ! युद्ध में मुझे अस्त्र से मार कर तुम्हारे विरह से जिन्हें दुःख उत्पन्न हुआ है ऐसी देवाङ्गनाओं से तुम्हारे समागम में किसी प्रकार का भय न होने से शोभन सुखीपने का परिहार करते हुए अत्यधिक प्रेम से 'यक्ष के साथ युद्ध किया' इस प्रकार की प्रसिद्धि को इस पृथ्वी पर चिरकाल तक धारण करते हुए यदि मुझे जीतने में समर्थ होते हो तो भगवान् पर उपसर्ग करने के लिए मेघ के आकार को धारण करने वाले मुझ यक्ष की प्रिया के आप रक्षक हो जायेंगे ।

व्याख्या—दिगम्बर वेष को धारण करने पर तुम मेरे ऊपर तलवार आदि का प्रहार नहीं कर सकते हो अतः तुम्हारा मरण अवश्यंभावी है । और मरकर देवाङ्गनाओं का सुख प्राप्त करोगे । किन्तु यदि तुम मुझे मारोगे और अपनी रक्षा करोगे तो तुम्हारे साथ समागम होने में किसी प्रकार का भय न होने से जिन्हें सुख उत्पन्न हुआ है ऐसी देवाङ्गनाओं के सुख का समागम तुम्हें प्राप्त नहीं होगा । यदि ऐसी स्थिति हो गई तो स्त्री की प्राप्ति न होने से तुम्हें दुःख ही होगा ।

याचे देवं मदसिहृतिभिः प्राप्य मृत्युं निकारान्-
मुक्तो वीरश्रियमनुभव स्वर्गलोकेऽप्सरोभिः।
नैवं दाक्ष्यं यदि तव ततः प्रेष्यतामेत्य तूर्णी,
सन्देशं मे हर धनपतिक्रोधविश्लेषितस्य ॥२६॥

याचे इति। **देवं** त्वाम्। **याचे** प्रार्थये। **मदसिहृतिभिः** मम चन्द्रहासघातैः। 'चन्द्रहासासिरिष्टयः' इत्यमरः। **मृत्युं** मरणम्। **प्राप्य** गत्वा। **निकारात्** तिरस्कारात्। 'निकारो विप्रकारः स्यात्' इत्यमरः। **मुक्तः** त्यक्तस्सन्। **स्वर्गलोके** देवलोके। **अप्सरोभिर्देवस्त्रीभिः** सह। 'स्त्रियां बहुष्वप्सरसः' इत्यमरः। **वीरश्रियं** वीरलक्ष्मीम्। अनुभव। भुङ्क्ष्व निर्विशेत्यर्थः। अथवा **तव** ते। **एवम्** इति। **दाक्ष्यं** समर्थता। **यदि** न न भवति चेत्। **ततः** तस्मात् **धनपतिक्रोधविश्लेषितस्य** धनपतेः कुबेरस्य क्रोधेन कोपेन विश्लेषितस्य वनितया वियोजितस्य। **मे** मम। **प्रेष्यतां** भृत्यत्वम्। 'नियोज्यकिङ्करप्रेष्यभुजिष्यपरिचारकाः' इत्यमरः। **तूर्णी** जोषम्। **एत्य** प्राप्य। **सन्देशं** वार्ताम्। **हर** नय। प्रियां प्रतिप्रापयेत्यर्थः ॥२६॥

अन्वय—मदसिहृतिभिः मृत्युं प्राप्य निकारात् मुक्तः (त्वं) स्वर्गलोके अप्सरोभिः वीरश्रियं अनुभव (इति) देवं याचे। यदि तव एवं दाक्ष्यं न ततः तूर्णी प्रेष्यतां एत्य धनपतिक्रोधविश्लेषितस्य मे सन्देशं हर।

अर्थ—मेरी तलवार के आघातों से मृत्यु को प्राप्त कर तिरस्कार से मुक्त हुए तुम स्वर्गलोक में अप्सराओं के साथ वीर लक्ष्मी का अनुभव करो, ऐसी मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ। यदि तुममें इस प्रकार की सामर्थ्य नहीं है तो चुपचाप सेवकपने को प्राप्त होकर कुबेर सदृश अरविन्द महाराज के क्रोध से वियोग को प्राप्त मुझ यक्ष के सन्देश को (मेरी प्रिया के पास) ले जाओ।

व्याख्या—दूसरे मत वाले यह मानते हैं कि युद्धस्थल में मरने पर मुक्ति होती है। यक्ष को सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं था, अतः पार्श्वनाथ भगवान् को प्रलोभन देता हुआ वह कह रहा है कि मेरी तलवार के प्रहार से मृत्यु हो जाने पर अप्सराओं के साथ वीरलक्ष्मी का उपभोग करोगे। यदि इस प्रकार मृत्यु को प्राप्त करने की तुम्हारे अन्दर सामर्थ्य नहीं है तो मेरे सेवकपने को प्राप्त होओ, ताकि कुबेर के समान अरविन्द महाराज के क्रोध के कारण अलग हुआ मैं अपनी प्रिया के पास सन्देश भेज सकूँ।

आद्यः कल्पः स्व न सुकरो दुर्घटत्वान्नयान्त्यः,
श्लाघ्यो दैन्यान्मुनिमत ततो मध्यकल्पाश्रयस्ते।

श्रेयांस्तस्मिन्सुखमनुभवेरप्सरोभिस्ततुच्चै-
र्गन्तव्या ते वसतिरलका नाम यक्षेश्वराणाम् ॥२७॥

प्राक् श्लोकत्रयेण विकल्पत्रयं प्रतिपाद्य तदेव क्रमेण विवृणोति—आद्य इति। मुनिमत मुनिभिः स्तुत। तत्र ते। आद्यः आदौ भवः आद्यः प्रथमः। कल्पः विकल्पः। 'कल्पः स्यात्प्रलये न्याये शास्त्रे ब्रह्मदिने विधौ' इति विश्वः। दुर्घटत्वात् दुःसाध्यत्वात्। सुकरः सुखकार्यो न न भवति। अस्त्ययं च चरमविकल्पश्च। दैन्यात् दीनत्वात्। श्लाघ्यः पूज्यः न न भवति। ततः तस्मात्कारणात्। ते तव। 'ते मयावेकत्वे' इति युष्मदस्ते इत्यादेशः। मध्यकल्पाश्रयः मध्यकल्पाश्रयणं। श्रेयान् योग्यः। 'श्रेयाञ्छ्रेष्ठपुष्कलः स्यात्सत्तमश्चातिशोभने' इत्यमरः। तस्मिन् मध्यविकल्पे। अप्सरोभिः देवस्त्रीभिः। उच्चैः सुखं महासुखं। अनुभवेः अनुभूयाः। तत् तस्मात् कारणात्। यक्षेश्वराणाम् धनदेन्द्राणाम्। अलका नाम अलकेति प्रसिद्धा। अलकापुरीति 'नाम प्राकाश्यसम्भाव्यक्रोधोपगमकुत्सने' इत्यमरः। वसतिः स्थानम्। 'वसती रात्रिवेश्मनोः' इत्यमरः। तव ते। गन्तव्या यातव्या त्वया प्रापणीयेत्यर्थः ॥२७॥

यस्यां रात्रेरपि च विगमे दम्पतीनां विधत्ते,
प्रीतिं प्राप्तस्तननिधुवनग्लानिमुच्चैर्हरन्ती।
दृष्टा सास्रं सततविरहोत्कण्ठितैश्चक्रवाकै,
र्बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिका धौतहर्म्या ॥२८॥

यस्यामिति। यस्यामलकायां पुर्याम्। सततविरहोत्कण्ठितैः सततमनवरतं विरहेण वियोगेन उत्कण्ठितैः उत्कलितैः। 'सततानारताश्रान्तसन्तताऽविरताऽनिशम्'। 'उत्कण्ठोत्कलिके समे' इत्युभयत्राप्यमरः। 'वियोगो मदनावस्था विरहोपलम्भकं विदुः' इति धनञ्जयः। चक्रवाकैः रथाङ्गपक्षिभिः। 'कोकश्चक्रश्चक्रवाको रथाङ्गाह्वयनामकः।' इत्यमरः। सास्रम् अश्रुपातेन सह। 'रोदनं चास्रमश्रु च' इत्यमरः। दृष्टा लक्षिता। धौतहर्म्या धौतानि विमलीकृतानि हर्म्याणि यया सा तथोक्ता। 'हर्म्यादि धनिनां वासः' इत्यमरः। बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिका बहिर्भवं बाह्यं तच्च तदुद्यानं चेति कर्मधारयः। बाह्योद्याने तिष्ठति स्म बाह्योद्यानस्थितः स चासौ हरश्च तस्य ईशानदिगिन्द्रस्य शिरो मस्तकं तस्मिन् स्थिता चन्द्रिका ज्योत्स्ना। 'चन्द्रिका कौमुदी ज्योत्स्ना' इत्यमरः। रात्रेः निशायाः। विगमेऽपि विरामेऽपि। किं पुनः रात्राविति अपि शब्दार्थः। दम्पतीनां जायापतीनाम्। 'दम्पती जम्पती जायापती भार्यापती च तौ' इत्यमरः। प्रातस्तननिधुवनग्लानिं प्रातर्भवा प्रातस्तना। 'सायं चिरं प्राह्णे प्रगेऽव्ययात्' इति तनट्। निधुवनस्य रतस्य ग्लानिः आयासः तथोक्तः। 'निधुवनं रतम्' इत्यमरः। प्रातस्तना चासौ निधुवनग्लानिश्चेति कर्मधारयः। ताम्। उच्चैः परं हरन्ती मोचयन्ती। प्रीतिं प्रमोदम्। 'मुत्प्रीतिः

प्रमदो हर्षः प्रमोदामोद सम्मदाः' इत्यमरः । विधत्ते करोति । धनदस्य त्र्यम्बकसखत्वात् चैत्ररथनामबाह्योद्यानस्यातिरमणीयत्वेन क्रीडाहेतोरागतस्य शशिशेखरस्य परमदिक्पालकस्य तत्र वसतिरूपपन्नैव तल्लाञ्छनात्मकस्य चन्द्रस्य चन्द्रिकया कोकदम्पतीविरहाद्विरुध्यते ॥२८॥

अन्वय—दुर्घटत्वात् आद्यः कल्पः तव सुकरः न, दैन्यात् च अन्त्यः श्लाघ्यः न । ततः हे मुनिमत ! मध्यकल्पाश्रयः ते श्रेयान् । तस्मिन् अप्सरोभिः उच्चैः सुखं अनुभवेः । तत् यस्यां (या) रात्रेः विगमे अपि दम्पतीनां प्रातस्तननिधुवनग्लानि उच्चैः हरन्ती प्रीति विधत्ते सा धौतहर्म्या बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिका सतत-विरहोत्कण्ठितैः चक्रवाकैः सास्रं दृष्टा यक्षेश्वराणां अलका नाम वसतिः ते गन्तव्या ।

अर्थ—कठिनाई से सम्पन्न होने के कारण पहला प्रस्ताव तुम्हारे लिए आसानी से करने योग्य नहीं है । दीनता के कारण अन्त का प्रस्ताव भी प्रशंसनीय नहीं है । अतः हे मुनियों के द्वारा माने गए ! तुम्हारे लिए मध्य के प्रस्ताव का आश्रय लेना कल्याणकर है । मध्य के प्रस्ताव को स्वीकार कर लेने पर अप्सराओं के साथ अत्यधिक सुख का अनुभव करोगे । अतः जिस अलका नगरी में रात्रि के व्यतीत होने पर भी दम्पतियों की प्रातःकालीन सुरत क्रीड़ा के परिश्रम को अत्यधिक रूप से हरती हुई प्रीति उत्पन्न की जाती है, वह प्रासादों को धवल करने वाली और बाहरी उद्यान में स्थित शिव के सिर की चाँदनी निरन्तर विरह से उत्कण्ठित चक्रवाकों के द्वारा अश्रुपूर्ण नयनों से देखी गई है । ऐसी उस यक्षेश्वरों की उस अलका नामक वसति (निवास स्थान) को तुम्हें जाना चाहिए ।

व्याख्या—हे पार्श्व ! तुम मुझे मार सको यह कार्य तो कठिनाई से सम्पन्न हो सकने के कारण तुम्हारे लिए सुगम नहीं है । आप हमारे सेवक भी नहीं बन सकते हैं; क्योंकि उसमें आपको दीन होना पड़ेगा अतः मेरी तलवार से मृत्यु का वरण करने रूप जो मध्यवर्ती प्रस्ताव है वह आपके लिए श्रेयस्कर है; क्योंकि इससे तुम अलका नामक नगरी में देवाङ्गनाओं के साथ अत्यधिक सुख का अनुभव करोगे । अलका के बाहरी उद्यान में स्थित शिव के सिर के चन्द्रमा की चाँदनी जब प्रातःकालीन सुरतक्रीड़ा से थके हुये दम्पतियों पर पड़ती है तो वह उनके सम्भोगजन्य परिश्रम को नष्ट कर प्रीति को उत्पन्न करती है । रात्रि भर चकवियों से बिछुड़े हुए चक्रवाक आँखों में आँसू भरकर उस चाँदनी को देखते रहते हैं ।

मत्तोमृत्युं समधिगतवान्प्राप्स्यसीष्टां गतिं तां,
यस्मिन्काले विधुतसकलोपप्लवस्त्वं सुखेन ।

दृष्टारोऽधोनियमितदृशो दिव्ययोषास्ससंतोषा-
स्त्वामारूढं पवनपदवीमुद्गृहीतालकान्ताः ॥२९॥

मत्त इति । यस्मिन् काले समये । त्वं भवान् । मत्तः मत्सकाशात् । मृत्युं मरणम् । समधिगतवान् प्राप्तवान् । विधुतसकलोपप्लवः विधुतो निराकृतः सकल उपप्लव उपद्रवो येन स तथोक्तः । सुखेन आनन्देन । 'शर्मशातसुखानि च' इत्यमरः । इष्टाम् अभीष्टाम् । इष्टं क्षेमाशुभाभावे' इत्यमरः । तां गतिम् उत्तरगतिम् । यास्यसि प्राप्स्यसि । 'या प्रापणे' लृट् । पवनपदवीं पवनस्य मार्गः पदवी मार्गम् आकाशम् 'पन्थानः पदवी सृतिः' इत्यमरः । आरूढम् आक्रान्तम् । त्वाम् भवन्तम् । दिव्ययोषाः देवस्त्रियः । 'स्त्री योषिदबला योषा' इत्यमरः । सन्तोषाः सन्तोषेण सहिताः उद्गृहीतालकान्ताः उद्धृतकुन्तलाग्राः । अलकाश्चूर्णकुन्तलाः' इत्यमरः । अधोनियमितदृशः अधः अधोभागे नियमिते निश्चलीकृते दृशौ याभिस्ताः तथोक्ताः सत्यः द्रष्टारः । दृशेर्लुट् प्रेक्षमाणाः भविष्यन्ति । त्वां लब्धुमुत्सुका द्रक्ष्यन्तीत्यर्थः ॥२९॥

अन्वय—मत्तः मृत्युं समधिगतवान् विधुतसकलोपप्लवः त्वं यस्मिन् काले तां इष्टां गतिं सुखेनयास्यसि (तस्मिन् काले) पवनपदवीं आरूढं त्वां उद्गृहीतालकान्ताः सन्तोषाः दिव्ययोषाः अधोनियमितदृशः (सत्यः) द्रष्टारः ।

अर्थ—मुझसे मृत्यु को प्राप्त समस्त उपद्रवों का विनाश करने वाले तुम जिस समय उस इष्टगति को आनन्दपूर्वक जाओगे। (उस समय) पवन के मार्ग (आकाश) में आरूढ तुम्हें बालों के अग्रभाग को ऊँचाकर, सन्तोष से युक्त देवाङ्गनायें नीचे किए हुए निश्चल नेत्रों से अवश्य ही देखेंगी।

व्याख्या—मेरे द्वारा मृत्यु को प्राप्त करने पर तुम्हारे सारे उपद्रव समाप्त हो जायेंगे और तुम स्वर्ग में जाओगे। उस समय आकाश में जाते हुए तुम्हें देवाङ्गनायें नीचे की ओर दृष्टि कर देखेंगी। अपने मुंह पर बिखरे हुए बालों के छोर को वे ऊपर करेंगी।

दिव्ये याने त्रिदिववनितालिङ्गितं व्योममार्गे,
सन्माणिक्याभरणकिरणद्योतिताङ्गं तदानीम् ।
गां गच्छन्तं नवजलधराशङ्कयाऽधः स्थितास्त्वां,
प्रेक्षिष्यन्ते पथिकवनिताः प्रत्ययावाप्तसन्ध्यः ॥३०॥

दिव्य इति । तदानीं गमनावसरे । 'तदा तदानीम्' इत्यमरः । व्योममार्गे नभोवर्त्मनि । 'व्योम पुष्करमम्बरम्' इत्यमरः । दिव्ये दिवि स्वर्गे भवं दिव्यं तस्मिन् । याने विमाने । त्रिदिववनितालिङ्गितं देवस्त्रीभिरालिङ्गितम् । सन्माणिक्याभरण-

किरणद्योतिताङ्गम्' [illegible] सन्ति माणिक्याभरणानि सन्माणिक्याभरणानि सन्ति च तानि चेति कर्मधारयः । 'सत्ये साधौ विद्यमाने प्रशस्तेऽभ्यर्हितेऽपि सन्' 'अलङ्कारस्त्वाभरणम्' इत्युभयत्राप्यमरः । तेषां किरणैः मयूखैः द्योतितानि प्रकाशितान्यङ्गान्यवयवा यस्य तम् । **गां** दिवम् । 'स्वर्गेषु पशुवाग्वज्रदिङ्नेत्रघृणिभूजले । लक्ष्यदृष्ट्या स्त्रियां पुंसि गौः' इत्यमरः । **गच्छन्तं** प्रस्थितं **त्वाम्** । **नवजलधराशङ्कया** नूतनजलधरसन्देहेन । **अधः स्थिताः** भूमिष्ठाः । **पथिकवनिताः** पन्थानं गच्छन्तः पथिकास्तेषां वनिताः । 'पथष्कन्' इति ष्कन् । 'पान्थः पथिक इत्यपि' 'वनिता महिला तथा' इत्युभयत्राप्यमरः । **प्रत्ययात्** प्रियागमनविश्वासात् । 'प्रत्ययोऽधीनशपथज्ञानविश्वासहेतुषु' इत्यमरः । **आश्वसन्त्यः** आङ्पूर्वकस्य श्वस्धातोः शतृन्तः । प्रीणन्त्यः सत्यः । **प्रेक्षिष्यन्ते** द्रक्ष्यन्ति ॥३०॥

अन्वय—तदानीं व्योममार्गे दिव्ये याने त्रिदिववनितालिङ्गितं सन्माणिक्याभरणकिरणद्योतिताङ्गं, गां गच्छन्तं अधः स्थिताः पथिकवनिताः नवजलधराशङ्कया प्रत्ययात् आश्वसन्त्यः त्वां प्रेक्षिष्यन्ते ।

अर्थ—तुम्हारे गमन के समय आकाशमार्ग में दिव्य यान पर देवाङ्गनाओं द्वारा आलिङ्गित, सुन्दर माणिक्यों के आभूषणों की किरणों से द्योतित अङ्ग वाले स्वर्ग भूमि को जाते हुए तुम्हें, भूमिप्रदेश पर स्थित पथिकों की स्त्रियाँ नए मेघ की आशङ्का से उत्पन्न प्रिया गमन के विश्वास से आनन्दित होती हुई अवश्य देखेंगी ।

व्याख्या—जब आप आकाशमार्ग में दिव्य यान पर सवार हो देवाङ्गनाओं से आलिङ्गित होकर जा रहे होंगे, उस समय तुम्हारा अङ्ग नए आभूषणों की किरणों से द्योतित हो रहा होगा । ऐसी अवस्था वाले आपको पथिकवनितायें नया मेघ समझेंगी । नए मेघ के आने पर प्रियागमन अवश्य होगा, ऐसा सोचकर आनन्दित होनेवाली पथिकवनितायें आपको अवश्य देखेंगी ।

स्यादाकूतं मम न पुरतः स्वस्थवीराग्रणीर्य-
स्तिष्ठेदेकं क्षणमिति न तं साम्प्रतं हन्तुमीशः ।
नन्वेषोऽहं क्व भटमतः कीर्तिलक्ष्मीप्रियो वा,
कः सन्नद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेत जायाम् ॥३१॥

स्यादाकूतमिति । **मम** प्रक्षस्य । **पुरतः** अग्रतः । **यः** कश्चन पुरुषः । **स्वस्थवीराग्रणीः** वीराणामग्रणीस्तथोक्तः भटाग्रेसरः । स्वस्थः परानपेक्षी स चासौ वीराग्रणीश्चेति कर्मधारयः । सङ्ग्रामरसिकः सन् । **एकं क्षणम्** एकक्षणपर्यन्तम् ।

न तिष्ठेत् न वसेत् । तं तं पुरुषम् । साम्प्रतम् इदानीम् । 'एतर्हि सम्प्रतीदानीमधुना साम्प्रतं तथा' इत्यमरः । हन्तुं हननाय । नेशः अहं कमठचरः न समर्थः । इत्याकूतं एतावानभिप्रायः । 'आकूतं स्यादभिप्रायः' इति व्याडिः । स्यात् तर्हि । एषोऽहं प्रत्यक्षभूतो मत्तः । भटमतः भटैर्मन्यते स्म भटमतः वीरवर्यः । वा अथवा । 'उप-मायां विकल्पे वा' इत्यमरः । कीर्तिलक्ष्मीप्रियः कीर्तिश्च लक्ष्मीश्च तयोः प्रियो वल्लभः तथोक्तः । ननु न किम् । 'प्रश्नावधारणानुज्ञाऽनुनयामन्त्रणे ननु' इत्यमरः । कव त्वं ब्रूहि । त्वयि भवति । सन्नद्धे सज्जीकृते सति । 'सन्नद्धो वर्मितः सज्जः' इत्यमरः । विरहविधुरां विरहेण विधुरां विवशाम् । 'विधुरं तु प्रविश्लेषे' इत्यमरः । जायां कान्ताम् । 'भार्या जाया' इत्यमरः । कः उपेक्षेत काकुः । न कोऽप्युपेक्षां कुर्यादित्यर्थः ॥३१॥

अन्वय—यः स्वस्थवीराग्रणीः मम पुरतः एकः क्षणं तिष्ठेत् तं साम्प्रतं हन्तुं ईशः न इति न (इति) आकूतं (ते) स्यात् (चेत्) एषः अहं ननु ! कः वा भटमतः कीर्तिलक्ष्मीप्रियः विरहविधुरां जायां त्वयि सन्नद्धे (सति) उपेक्षेत ?

अर्थ—जो धैर्यवान् (दूसरों की अपेक्षा न रखने वाला) शूरों में अग्रणी मेरे सामने एक क्षण ठहरे उसे शीघ्र ही मारने में मैं समर्थ नहीं हूँ, ऐसा नहीं है (अर्थात् मैं अवश्य ही उसे मारने में समर्थ हूँ) । यदि आपका यह अभिप्राय हो तो यह मैं आपके सामने प्रत्यक्ष खड़ा हूँ । श्रेष्ठ योद्धाओं के द्वारा आदर को प्राप्त कौन कीर्ति और लक्ष्मी को प्रिय मानने वाला व्यक्ति विरह से दुःखी कान्ता की तुम्हारे सज्जित (युद्ध के लिए तैयार) रहने पर उपेक्षा करेगा ।

व्याख्या—मैं (पार्श्व) श्रेष्ठ शूर को भी शीघ्र ही मारने में समर्थ हूँ, यदि आपका यह अभिप्राय हो तो मैं आपके सामने खड़ा हूँ । आप जैसे लोगों के युद्ध के लिए सज्जित रहने पर कीर्ति और लक्ष्मी को प्रिय मानने वाला मैं विरह से दुःखी अपनी कान्ता की उपेक्षा नहीं कर सकता हूँ ।

श्रुत्वाप्येवं बहुनिगदितं जोषमेवायमास्ते,
योगी योगान्न चलतितरां पश्य धीरत्वमस्य ।
स्त्रीमन्यो वा भयपरवशः सोऽयमास्ते धिगस्तु,
न स्यादन्योऽप्ययमिव जनो यः पराधीनवृत्तिः ॥३२॥

श्रुत्वापीति । एवम् उक्त प्रकारेण । बहुनिगदितं बहुना भाषितम् श्रुत्वापि श्रुतिविषयं कृत्वापि । अयं योगी एष मुनिः । जोषं तूष्णीम् 'तूष्णीमर्थे सुखे जोषम्' इत्यमरः । आस्ते वर्तते । योगात् ध्यानात् । न चलतितरां न कम्पतेतराम् ।

'द्वयोर्विभज्ये च तरप्' इति तरप्प्रत्ययः । 'आद्ययोर्निकतिकोसत्वेतयाजाम्' इति अम्प्रत्ययश्च । अस्य मुनेः । धीरत्वं धैर्यम् । पश्य प्रेक्षस्व । वा अथवा । सोऽयं स एव मुनिः । स्त्रीम्मन्यः आत्मानं स्त्रियं मन्यते इति स्त्रीम्मन्यः । भयपरवशः भयाधीनः सन् आस्ते वर्तते । धिगस्तु निन्द्योऽस्तु । 'कु धिङ् निर्भर्त्सन निन्दयोः' इत्यमरः । यः जनः यः कश्चन पुरुषः । पराधीनवृत्तिः परेषामधीना वृत्तिर्वर्तनं यस्य तथोक्तः । 'परतन्त्रः पराधीनः परवान्नाथवानपि । 'वृत्तिर्वर्तन जीवने' इत्युभयत्राप्यमरः । सः अन्योपि जनः इतरोऽपि पुरुषः । अयमिव एतन्मुनिरिव । न स्यात् न भवेत् । पराधीनजीवितेषु अयमत्यन्तपराधीन इति तात्पर्यम् ।

अन्वय—एवं बहुनिगदितं श्रुत्वा अपि अयं योगी जोषमेव आस्ते; योगात् न चलतितरां, अस्य धीरत्वं पश्य । स्त्रीम्मन्यः वा अयं । धिगस्तु । यः अयं इव पराधीनवृत्तिः सः अन्यः जनः भयपरवशः स्त्रीम्मन्यः वा आस्ते । धिगस्तु । यः अन्यः जनः पराधीनवृत्तिः अपि अयं इव न स्यात् ।

अर्थ—इस प्रकार अनेक प्रकार का कथन सुनकर भी यह योगी चुप ही है, ध्यान से किञ्चित्मात्र भी च्युत नहीं हुआ है, इसकी धीरता को देखो । अथवा यह अपने आपको स्त्री मानता है । धिक्कार हो । जो इसके समान पराधीनवृत्ति है, वह अन्य मनुष्य (क्या) भयाधीन नहीं होता है ? अथवा वह यह भयाधीन अथवा अपने आपको स्त्री (के समान) मानने वाला है । उस अन्य व्यक्ति को धिक्कार हो जो पराधीन होते हुए भी इसके समान नहीं है ।

व्याख्या—यक्ष द्वारा विस्तार से दिए गए भाषण को सुनकर भी भगवान् पार्श्वनाथ चुप ही रहे, योग से रंचमात्र भी विचलित नहीं हुए । यक्ष कहता है कि इसकी धीरता को तो देखो । संसार में जो व्यक्ति दूसरे के अधीन होता है, वह भयाधीन होता है । चूँकि यह ऐसा नहीं है अतः पराधीन व्यक्तियों को इसका अनुसरण करना चाहिए । पराधीन होने पर भी उन्हें भयाधीन नहीं होना चाहिए । अथवा यह पार्श्व भयाधीन होकर अपने आपको स्त्री के समान निर्बल मानता है । उस व्यक्ति को धिक्कार हो जो पराधीन होते हुए भी इसके समान नहीं है ।

चिन्तानिघ्नः स्मरपरवशां वल्लभां कांचिदेकां,
ध्यानव्याजात्स्मरति रमणीं कामुको नूनमेषः ।
अज्ञातं वा स्मरति युवती या मया दूषिताऽसौ-
तां चावश्यं दिवसगणनातत्परामेकपत्नीम् ॥ ३३ ॥

चिन्तानिघ्न इति । एषः अयं मुनिः । चिन्तानिघ्नः आसमन्तात् निघ्नः

आनिघ्नः वित्तेषु द्रव्येष्वानिघ्नस्तद्योक्तः। 'द्रव्यं वित्तं स्वापतेयम्' 'अधीनो निघ्न आयत्तः' इत्युभयत्राप्यमरः। 'आक्रोशदर्शेऽभिव्याप्तौ' इति च। कामुकः विषयाभिलाषुकः सन्। 'कामुके कमितानुकः' इत्यमरः। ध्यानव्याजात् ध्यानच्छलात्। 'व्याजोपदेशः' इत्यमरः। स्मरपरवशां कामार्त्ताम्। वल्लभां प्रियाम् 'वल्लभा प्रेयसी प्रेष्ठा' इति धनञ्जयः। रमणीं सुन्दराङ्गीम्। 'सुन्दरी रमणी रामा' इत्यमरः। काञ्चिदेकां कामप्येकां स्त्रियम्। नूनं निश्चयेन। 'नूनं तर्केऽर्थनिश्चये' इत्यमरः। स्मरति चिन्तयति। वा अथवा। मया कमठेन। या सुदती शोभना दन्ता यस्या इति सुदती। 'स्त्रियां नाम्नि' इति दन्तस्य दतादेशः। 'नुङ्म् इति ङी। वसुन्धराभिधा कान्ता। दूषिता निन्दिता आसीत् अभवत्। तां च प्रियां दिवसगणनातत्पराम् अवशिष्ट दिवसानां गणनायां सङ्ख्याने तत्परामासक्ताम्। 'तत्परे प्रसितासक्तौ' इत्यमरः। अरविन्दकृतशापकलिते वत्सरे अवशिष्ट दिनानामत्यये पतिरागमिष्यतीति चिन्तयन्तीत्यर्थः। एकपत्नीम् एक पतिर्यस्याः सा तथोक्ता तां पतिव्रताम्। 'सती पतिव्रता साध्वी पतिवत्न्येकपत्न्यपि' इति धनञ्जयः। अवश्यं निश्चयेन। 'अवश्यं निश्चये द्वयम्' इत्यमरः। अज्ञातं परैरबुद्धं यथा भवति तथा। स्मरति ध्यायति ॥३३॥

अन्वय—नूनं एषः वित्तानिघ्नः ध्यानव्याजात् कामुकः स्मरपरवशां काञ्चित् एकां वल्लभां रमणीं स्मरति। वा या सुदती मया दूषिता आसीत् तां दिवसगणनातत्पराम् एकपत्नीं अज्ञातं अवश्यं स्मरति।

अर्थ—निश्चित रूप से यह पार्श्व सम्पत्ति के अधीन नहीं है और कामुक होकर ध्यान के बहाने काम के अधीन किसी विशिष्ट स्त्री को स्मरण करता है। अथवा सुन्दर दाँतों वाली जो मेरे द्वारा दूषित की गई थी, उस शाप के शेष दिनों की गणना करने में तत्पर पतिव्रता स्त्री के समान (अपने को) प्रकट करती हुई दूसरे को ज्ञात न हो, इस प्रकार निश्चित रूप से स्मरण करता है।

भावार्थ—समस्त परिग्रह को छोड़ने पर भी ध्यान के बहाने यह पार्श्व किसी विशिष्ट प्रिया का स्मरण करता है अथवा पूर्वजन्म में जो स्त्री मेरे द्वारा दूषित की गई थी उसे अपने पतिव्रता के समान प्रकट करती हुई का ध्यान यह दूसरों से छिपाकर करता है।

जानासि त्वं प्रथमवयसि स्वीकृतां तां नवोढां,
त्वद्वध्वा यास्यस्यवनिपतिना साकमेकाकिनीं यत्।
प्रत्यावृत्तः कथमपि सतीं जीवितं धारयन्ती-
मव्यापन्नामविहतगतिर्द्रक्ष्यसि भ्रातुजायाम् ॥ ३४ ॥

जानासि । अत्र यस्मात् कारणात् त्वं भवान् प्रथमवयसि बाल्यावस्थायाम् । 'खगबाल्यादिनोर्वयः' इत्यमरः । स्वीकृतां प्रागस्वां इदानीं स्वां कृता स्वीकृता तां नवोढाम् । वहन्ते स्म ऊढा नवा चासौ ऊढा च तथोक्ता ताम् । एकाकिनीम् असहायाम् । 'एकाकी त्वेक एककः' इत्यमरः । तां वसुन्धराम् । त्यक्त्वा मुक्त्वा । अवनिपतिना अरविन्दभूपतिना । साकं सह । 'साकं सत्रा समं सह' इत्यमरः । यास्यसि अगमः । अविहतगतिः सफलगमनः सन् । साधितवज्रवीर्यं रिपुनृपस्सन् इत्यर्थः । प्रत्यावृत्तः पुनरागतः । कथमपि केनापि प्रकारेण । जीवितम् आयुष्यम् । 'आयुर्जीवितकालो ना' इत्यमरः । धारयन्तीं धारयतीति धारयन्ती ताम् शतृप्रत्ययः । 'उगिदचः' इति नम् । 'नृदुगिति' ङी । प्रियागमनप्रत्याशया जीवन्तीमित्यर्थः । अव्यापन्नाम् अप्राप्तविपदम् । 'आपन्न आपत्प्राप्तः स्यात्' इत्यमरः । अप्राप्तमूर्च्छाद्यवस्थामित्यर्थः । सतीं पतिव्रताम् । 'सती साध्वी पतिव्रता' इत्यमरः । भ्रातृजायां भ्रातुर्जायां भ्रातुः मम जाया प्रिया कमठस्याप्यनुकूलेत्याशयः । ताम् । अथवा—भ्रातृजायां पुत्रवतीम् । 'प्रजावती भ्रातृजाया' इत्यमरः । तां वसुन्धराम् । द्रक्ष्यसि अपश्यः । जानासि मन्यसे । तदनुभवप्रपञ्चं स्मरेत्यर्थः । अत्र यास्यसि द्रक्ष्यसीति धातुद्वयस्य स्मृत्यर्थे 'यदि लृट्' इति भूतार्थस्मरणविषये स्मृत्यर्थधातोर्जानातेरुपपदत्वेन लृट् ॥३४॥

अन्वय—जानासि त्वं प्रथमवयसि स्वीकृतां नवोढां एकाकिनीं त्यक्त्वा अवनिपतिना साकं यत् यास्यसि अविहतगतिः प्रत्यावृत्तः कथमपि जीवितं धारयन्तीं (अतएव) अव्यापन्नां सतीं भ्रातृजायाम् द्रक्ष्यसि ?

अर्थ—क्या तुम्हें स्मरण है ? बाल्यावस्था में स्वीकृत उस नवोढा (जिसका विवाह हुए अधिक दिन नहीं हुए) को अकेला छोड़कर राजा अरविन्द के साथ तुम चले गए थे । सफल गमन वाले तुमने लौटकर किसी प्रकार प्राणों को धारण करने वाली, मृत्यु को न प्राप्त हुई, भाई के द्वारा पत्नी के समान स्वीकार की गई स्त्री को देखा था ।

व्याख्या—कमठ याद दिला रहा है कि अपनी नवोढा पत्नी को, जिसकी बाल्यावस्था थी, छोड़कर तुम (युद्धादि कार्य के लिए) महाराज अरविन्द के साथ चले गए थे । तुमने लौटकर बड़ी कठिनाई से प्राणों को धारण करने वाली उस स्त्री को देखा था, जिसे भाई ने पत्नी के रूप में स्वीकार कर लिया था ।

चित्रं तन्मे यदुपयमनानन्तरं विप्रयुक्ता,
त्वत्तः साध्वी सुरतरसिका सा तदा जीवति स्म ।
मन्ये रक्षत्यसुनिरसनाद्धातुमापद्गताना-
-माशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानाम् ॥ ३५ ॥

चित्रमिति । यत् । तदा तत्कुले । **उपयमनानन्तरं** विवाहानन्तरम् । 'विवाहोपयमौ समौ' इत्यमरः । **त्वत्तः** भवतः । **विप्रयुक्ता** वियुक्ता । **सुरतरसिका** निधुवनप्रीता । **साध्वी** पतिव्रता । **सा** वसुन्धरा । **जीवति स्म** अजीवत् । **तत्** तदेतत् । **मे** मम । **चित्रम्** आश्चर्यम् । 'विस्मयोऽद्भुतमाश्चर्यं चित्रम्' इत्यमरः । अवभासत इति शेषः । तथाहि । **आपद्गतानाम्** आपदं गच्छन्ति स्म तथोक्तास्तेषाम् । 'विपत्त्यां विपदापदौ' इत्यमरः । **अङ्गनानां** नारीणाम् । **आशाबन्धः** बध्यते अनेनेतिबन्धः बन्धनमिति यावत् । आशैवबन्धस्तथोक्तः **प्रायशः** प्रायेण । प्रायशो बहुशः परम् । **कुसुमसदृशमपि** कुसुमसुकुमारमपि अतिकोमलमित्यर्थः । **धातु** प्राणधातुम् । 'धातुर्वातादौ हरितालादौ वातश्लेष्मादिकेऽपि च । मनःशिला हिरण्याद्यौ श्रोत्राद्ये भूतपञ्चके । भूवादिशब्द योनौ । स्याद्धातुः रक्तरसादिके' इत्यभिधानात् । **असुनिरसनात्** असूनां प्राणानां निरसनं त्यजनं तस्मात् । 'पुंसि भूम्न्यसवः प्राणाः' 'निरसनं निरसनं प्रत्यादेशो निराकृतिः' इत्युभयत्राप्यमरः । **रक्षति** पालयति । 'अपायेऽवधौ' इति पञ्चमी । प्राणान् गन्तुं न त्यजतीत्यर्थः । **मन्ये** एवमहं वेद्मीति यावत् ।

अन्वय—उपयमनानन्तरं त्वत्तः विप्रयुक्ता सा सुरतरसिका तदा साध्वी सति यत् जीवति स्म तत् मे चित्रं । आपद्गतानां अङ्गनानां हि कुसुमसदृशं धातु असुनिरसनात् प्रायशः आशाबन्धः रक्षति इति मन्ये ।

अर्थ—विवाह के पश्चात् तुमसे वियुक्त वह सुरत में रसिक उस वियोगावस्था में सदाचारी होकर जीवित रही थी, वह मेरे लिए विस्मयावह है। आपत्ति को प्राप्त स्त्रियों के फूल सदृश मन की प्राण परित्याग से रक्षा प्रायः आशा का बन्धन ही करता है, ऐसा मैं मानता हूँ।

व्याख्या—विवाह के अनन्तर सम्भोग की अभिलाषा होने पर भी वह वसुन्धरा तुम्हारा विरह होने पर भी दुराचार का आचरण न कर जो जीवित रही, वह मेरे लिए विस्मय की बात है। विवाह के पश्चात् विरहकाल में काम से सन्तप्त होने पर भी वह मरण को प्राप्त नहीं हुई, यह बड़ा आश्चर्य है। उसी समय उसे दुराचारी हो जाना चाहिए था, किन्तु वह सदाचारी ही रही। अनन्तर कामाग्नि के दाह को सहन में असमर्थ हो तुम्हारे निरन्तर वियोग के कारण उसने दुराचार का सेवन किया।

तच्चाश्चर्यं यदहमभजं त्वद्वियोगेपि कामान्,
प्राणैरार्तः किमनुकुरुते जीवलोको हताशः ।
पुंसां धैर्यं किमुत सुहृदां किं पुनः सङ्गमाशा,
सद्यः पाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि ॥ ३६ ॥

तच्चेति । यत् अहम् । त्वद्वियोगेपि भवद्विरहेऽपि । कामान् अभिलाषान् । 'कामोऽभिलाषस्तर्षश्च' इत्यमरः । अभजं सेवे स्म । तच्च आश्चर्यम् अद्भुतम् । प्राणैः असुभिः । आर्तः दुःखितः । हताशः नष्टाभिलाषः । 'आशातृष्णापि जायते' इत्यमरः । जीवलोकः संसारिजनः । किमनुकुरुते किं कार्यमनुकूलं विदधाति न किमपीत्यर्थः । प्राणभयात्कामानभजमिति भावः । किमुत अथवा । 'आहो उताहो किमुत विकल्पे किं किमुत च' इत्यमरः । पुंसां पुरुषाणाम् । 'स्युः पुमांसः पञ्च-जनाः' इत्यमरः । धैर्यं धीरत्वम् । स्यादिति शेषः । तथाहि । सुहृदां मित्राणाम् । 'अथ मित्रं सखा सुहृद्' इत्यमरः । विप्रयोगे विरहे । 'विप्रलम्भो विप्रयोगः' इत्य-मरः । सङ्गमाशा संसर्गाभिलाषा । सद्यः पाति सद्यः पतति इत्येवंशीलं तथोक्तम् । प्राणिहृदि प्रेमयुक्तानाम् । 'प्राणी [illegible] जन्मी' इत्यमरः । हृदयं जीवितम् । 'हृदयं जीविते चित्ते वक्षस्याकूतजीवयोः' इति शब्दार्णवः । किं पुनः रुणद्धि पुनः कथं स्तम्भय-तीति प्रश्नः । 'किं पृच्छायां जुगुप्सने' इत्यमरः । मित्रवियोगे कामं विषयान् भवनं जीवितधारणं च धैर्यदिशेति तात्पर्यम् ॥ ३६ ॥

अन्वय—यच्च अहं त्वद्वियोगेऽपि कामान् अभजं तत् आश्चर्यं । प्राणैः आर्तः हताशः जीवलोकः पुंसां धैर्यं किं अनुकुरुते ? किमुत सुहृदां ? विप्रयोगे पुनः सङ्ग-माशा पाति प्राणिहृदयं सद्यः रुणद्धि किम् ।

अर्थ—जो मैंने तुम्हारे वियोग में भी काम का सेवन किया वह आश्चर्य है। मनोबल से दुःखी और जिसकी आशा विफल हो गई है ऐसा संसारी जन क्या सामान्य पुरुषों के धैर्य का अनुकरण करता है ? अर्थात् नहीं करता है, ऐसा व्यक्ति जब सामान्य पुरुषों के भी धैर्य का अनुसरण नहीं करता है, तब अच्छे मन वाले महापुरुषों के अनुसरण की तो बात ही क्या है ? वियोग में पुनः मिलने की आशा पतनशील प्रेमी के हृदय को क्या शीघ्र रोक सकती है ? अर्थात् नहीं रोक सकती ।

व्याख्या—आपसे मिलने की आशा यद्यपि मेरे हृदय में उत्पन्न हुई थी, किन्तु वह भी मेरे मन के अधःपात को रोकने में समर्थ न हो सकी । इस प्रकार कमठ का जीव यक्ष अपने दुराचार का समर्थन करने का प्रयत्न कर रहा है ।

इत्युक्त्वाऽथो पुनरपि सुरः सामभेदौ व्यतानी-
द्योन्तः स्नेहस्त्वयि चिरमभूत्पूर्वबन्धोस्तदा मे ।
धिक्कारस्तं तिरयतितरां त्वत्कृतोऽस्मान्स हन्तुं,
मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वाम् ॥ ३७ ॥

इत्युक्त्वेति । इत्युक्त्वा एवमभिधाय । अथो अनन्तरम् । पुनरपि भूयोपि । सुरः दैत्यः साम भेदी सामभेदवचने । 'सामदाने भेददण्डावित्युपायचतुष्टयम्' इत्यमरः । व्यतानीत् विस्तारमकरोत् । पूर्वबन्धो प्राग्भवभ्रातुः । मे मम । तदा तज्जन्मनि । त्वयि भवति । यः अन्तः स्नेहः अन्तरङ्गे भवः स्नेहस्तथोक्तः । अन्तःप्रीतिः । चिरं स्थिरम् । अभूत् अभवत् । तं स्नेहम् । त्वत्कृतः भवता विहितः । धिक्कारः तिरस्कारः । तिरयतितराम् अत्यन्तं तिरस्करोति । पुनः अनुकूलः अनुरूपः । पवनः वायुः । 'नभस्वद्वातपवन' इत्यमरः । मेघमित्याशयः । यथा च नुदति प्रेरयति । यत्तदोर्नित्यसम्बद्धत्वात् । तद्वत् त्वत्कृतधिक्कारः । त्वां भवन्तम् । हन्तुं हननाय । मन्दं मन्दं शनैः शनैः अतिमन्दमित्यर्थः । अत्र कथंचिद्दीप्तायां द्विरुक्तिः । अस्मान् नः । नुदति प्रेरयति । प्राग्भवस्नेहसद्भावेपिस्वरयाऽरविन्दनृपमुखेन कारितधिक्कारवशात् त्वं हन्तव्य इति तात्पर्यम् ॥ ३७ ॥

अन्वय—इति उक्त्वा सुरः पुनः अपि सामभेदी व्यतानीत् अथो पूर्वबन्धो मे अन्तः यः स्नेहः त्वयि तदा चिरं अभूत् तं त्वत्कृतः धिक्कारः तिरयतितरां । स (च) अनुकूलः पवनः यथा त्वां हन्तुं अस्मान् मन्दं मन्दं नुदति ।

अर्थ—ऐसा कहकर शम्बरासुर ने पुनः साम और भेद का विस्तार किया । पूर्वभव के भाई मेरे मन में जो स्नेह आपके प्रति उस समय दीर्घकाल तक हुआ था उस स्नेह का तुम्हारा किया हुआ धिक्कार अत्यन्त तिरस्कार कर रहा है और वह अनुकूल पवन मन्द-मन्द गति से चल रहा है, मानों तुम्हें मारने के लिए हमें प्रेरित कर रहा है ।

व्याख्या—तिरस्कार करने वाले तुम्हें शीघ्र ही मारना चाहिए, किन्तु पूर्वजन्म का स्नेह ऐसा करने से रोक रहा है । तुम्हें मारने के लिए यह वायु भी धीरे-धीरे चलकर प्रेरित कर रहा है ।

तस्माद्योगं शिथिलय मुने देहि युद्धक्षणं मे,
दानादन्यन्न खलु सुकृतं देहिनां श्लाघ्यमस्ति ।
शंसन्तीदं ननु वनगजा दानशीलास्तथाब्दा,
वामश्चायं नुदति[1] मधुरं चातकस्ते सगन्धः ॥ ३८ ॥

तस्मादिति । तस्मात् कारणात् । मुने भो योगिन् । योगं ध्यानं शिथिलय शिथिलं कुरु । मे मम । युद्धक्षणं सङ्ग्रामोत्सवम् 'अथ क्षण उद्धर्षो मह उद्धव उत्सवः' इत्यमरः । देहि वितर । देहिनां जीवानाम् । दानात् त्यागात् । अन्यत् भिन्नत् । श्लाघ्यं पूज्यम् । सुकृतं पुण्यम् । न खलु नास्ति हि । तथाहि । दान-

1. नदति ।

शीला: । 'दानं गजमदे त्यागे शुद्धिखण्डनयोरपि' इति नानार्थमालायाम् । दानं गजजलं त्यागोऽपि तदेव शीलं स्वभावो येषामिति बहुव्रीहिः । 'शीलं स्वभावे सद्वृत्ते' इत्यमरः । वनगजा [illegible] तथा वनगजवत् । अम्बु आपो ददति इत्यब्दाः मेघादय । इदं दानमेव श्लाघ्यमित्येतत् । शंसन्ति ननु स्तुवन्ति खलु । ते तव । सगन्धः सबन्धुरिति केचित् । 'गन्धो गन्धक आमोदे लेशे सम्बन्धगर्वयोः' इति विश्वः । वामः वामभागस्थः । 'वामस्तु रुचके रम्ये सव्ये वामस्थितेऽपि च इति शब्दार्णवः । अयं चातकश्च पक्षिविशेषोऽपि । 'अथ सारङ्गस्तोककश्चातकः समाः' इत्यमरः । मधुरं श्राव्यं यथा तथा । नुदति प्रेरयति । वामभागे चातकध्वनिः शुभनिमित्तमित्यर्थः ॥ २८ ॥

अन्वय—तस्मात् (हे) मुने ! योगं शिथिलय, मे युद्धक्षणं देहि । दानात् अन्यत् देहिनां श्लाघ्यं सुकृतं नास्ति खलु । इदं ननु दानशीलाः वनगजाः तथा (तादृशाः) अब्दाः शंसन्ति । (यः) मधुरं नदति (सः) अयं ते वामः सगन्धः चातकः च (इदं शंसति) ।

अर्थ—अतः हे मुनि ! ध्यान को शिथिल करो, मुझे युद्ध का उत्सव (आनन्द) दो । निश्चित रूप से प्राणियों का दान से भिन्न कोई प्रशंसनीय पुण्यकर्म नहीं है । इस बात को दानशील जंगली हाथी तथा दानशील मेघ प्रकट कर रहे हैं । जो मधुर शब्द करता है, वह यह तुम्हारी बायीं ओर स्थित आमोदयुक्त अथवा गर्वभरा चातक यही बात प्रकट कर रहा है ।

युद्धे शौण्डो यदि च भगवान्वीरशय्यां श्रितः स्याः,
स्वर्गस्त्रीणामहमहमिकां संविधास्यंस्तदा त्वाम् ।
विद्याधर्यो नभसि वृणते पुण्यपाकाद्विनङ्क्ष्यद्-
गर्भाधानक्षणपरिचयान्नूनमाबद्धमालाः ॥ २९ ॥

युद्धे चेति । यदि च यद्य । भगवान् महात्मा त्वम् । युद्धे साम्पराये । शौण्डः आसक्तः । 'मत्ते शौण्डोत्कटक्षीबाः' इत्यमरः । स्वर्गस्त्रीणां त्रिदिववनितानाम् । अहमहमिकाम् अहमधिकाऽहमधिकेत्यहंकारोऽस्यास्ति तथोक्ता ताम् परस्पराहङ्कारम् । 'अहमहमिका तु सा स्यात्परस्परं यो भवत्यहंकारः' इत्यमरः । संविधास्यन् सम्यक् करिष्यन् सन् । वीरशय्यां वीरशयनीयं श्रितः आश्रितः । 'श्रितादिभिः' इति द्वितीयातत्पुरुषः । स्याः भवेः । तदा तत्समये । नभसि आकाशे । आबद्धमालाः विरचितपङ्क्तयः । विद्याधर्यः खेचरसीमन्तिन्यः । पुण्यपाकात् सुकर्मपाकात् । विनङ्क्ष्यत् गर्भाधानक्षणपरिचयात् गर्भः कुक्षिस्थजन्तुः । 'गर्भो पङ्कजकके नगने सुते पनसकण्टके । कुक्षौ कुक्षिस्थजन्तौ च' इति यादवः । विनङ्क्ष्यंश्चासौ गर्भश्च तथोक्तः तस्याधानमुपादानं तदेव क्षणः उत्सवः । 'निर्व्यापारस्थितौ कालविशेषोत्सवयोः क्षणः' इत्यमरः ।

नसिम्परिचयावभ्यासात् । 'पुण्यपाकाविनङ्क्ष्यद्गर्भाधानक्षणपरिचयात्' इति पाठः सम्यक् । तत्क्षणे विनङ्क्ष्यतीति विनङ्क्ष्यन् । 'णश अदर्शने' लृट् । 'स्यतासी लृलुटोः' इति स्यः । 'मस्जिनशोर्झलि' इति नुम् । न विनङ्क्ष्यन्नविनङ्क्ष्यन् पुण्यपाकेनाविनङ्क्ष्यन् पुण्यपाकाविनङ्क्ष्यन् । अन्यत्र पूर्ववदेव स्थिरतरगर्भसत्कारा-दित्यर्थः । नूनं निश्चयेन । त्वां भवन्तम् । वृणते सेवन्ते ॥ ३९ ॥

अन्वय—यदि च युद्धे शौण्डः, स्वर्गस्त्रीणां अहमहमिकां संविधास्यन् भगवान् वीरशय्यां श्रितः स्याः तदा पुण्यपाकात् विनङ्क्ष्यद्गर्भाधानक्षणपरिचयात् नभसि आबद्धमालाः विद्याधर्यः त्वां वृणते ।

अर्थ—यदि युद्ध में प्रवीण हो तो स्वर्ग की स्त्रियों में मैं पहले, मैं पहले इस प्रकार की स्पर्धा कराते हुए हे भगवान् यदि आप वीरशय्या का आश्रय प्राप्त करोगे तो आपके पुण्य के उदय से नष्ट होते हुए गर्भाधान के उत्सव में परिचय से आकाश में पंक्ति बाँधे हुए विद्याधरियाँ तुम्हारी सेवा करेंगी ।

व्याख्या—यदि आप युद्ध में प्रवीण हैं तो देवांगनाओं में आपको पहले पाने की स्पर्धा होगी । यदि युद्ध करते हुए मरण को प्राप्त होगे तो आकाश में विद्याधरियाँ आपकी सेवा करेंगी । उनसे सेवित होने पर आपको सुख होगा, जो कि आपकी तपस्या का उद्देश्य है । अतः समाधिभंग होने पर युद्ध भूमि में मरण होने पर सुख उत्पन्न नहीं होगा, ऐसा मत मानो, अपितु समाधि के द्वारा जिस सुख को पाना चाहते हो, रण क्षेत्र में मरने पर वैसा ही सुख तुम्हें प्राप्त होगा ।

योगिराट् पण्डिताचार्य ने पुण्यपाकाविनङ्क्ष्यद्गर्भाधानक्षणपरिचयात् पाठ को ठीक माना है । ऐसा मानने पर अर्थ होगा—(तुम्हारे) पुण्य के परिणामस्वरूप नष्ट न होते हुए गर्भ के आधान का उत्सव मनाने की अभ्यासी विद्याधरियाँ आकाश में पंक्तियाँ बाँध बाँधकर तुम्हारी सेवा करेंगी । तात्पर्य यह है कि गर्भाधान के बाद गर्भ का पहले पतन हो जाता था, किन्तु अब पार्श्व के दर्शन से गर्भ स्थिर हो गया है । अतः विद्याधरियों के आनन्द की वृद्धि हो रही है तथा आनन्दित होकर विद्याधरियाँ सेवा कर रही हैं । यह सब पार्श्व के पुण्य की ही महिमा है ।

मूर्च्छासुप्तं त्रिदशनिहिताम्लानमन्दारमालं,
तूर्यध्वानस्तनितमुखरं दिव्ययानाधिरूढम् ।
धामुष्मन्तं सजलजलदाशङ्कयाऽऽबद्धमालाः,
सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः ॥ ४० ॥

मूर्च्छेति । मूर्च्छासुप्तं मूर्च्छया शयितम् । त्रिदशनिहिताम्लानमन्दारमालं त्रिदशैर्निर्जरैः निहिता निक्षिप्ता तथोक्ता मन्दारस्य कल्पवृक्षस्य माला स्रक् तथोक्ता । 'मन्दारः परिजातकः । सन्तानः कल्पवृक्षश्च' इति 'माल्यं मालास्रजौ' इति चामरः । अम्लाना चासौ मन्दारमाला च तथोक्ता त्रिदशनिहिता अम्लान-मन्दारमाला यस्य सः तम् । तूर्यध्वानस्तनितमुखरं तूर्याणां नृत्यगीतवाद्यानाम् 'तौर्यत्रिकं नृत्यगीतवाद्यं नाट्यमिदं त्रयम्' इत्यमरः । स्तनितं पयोधरस्वनः । 'स्तनितं गर्जितं मेघनिर्घोषे' इत्यमरः । तेन मुखरः आवद्धमुखः तथोक्तस्तम् । 'दुर्मुखे मुखराबद्धमुखौ' इत्यमरः । तं दिव्ययानाधिरूढम् दिव्यं च तत् यानं च दिव्ययानं तदधिरूढम् । द्यां दिवम् । द्योदिवौ द्वे स्त्रियाम्' इत्यमरः । उद्यन्तम् उद्गच्छन्तम् । नयनसुभगं नयनानां नेत्राणाम् । 'लोचनं नयनं नेत्रम्' इत्यमरः । प्रीतिसुभगम् आनन्दकरं । भवन्तं त्वाम् । खे आकाशे । 'अनन्तं सुरवर्त्म खं' इत्यमरः । आबद्ध-मालाः विहितश्रेणयः । बलाकाः पक्षिविशेषाः । 'बलाकाबिसकण्ठिका' इत्यमरः । सजलजलदाशङ्कया जलसहितमेघाशङ्कया । सेविष्यन्ते भजिष्यन्ते ॥ ४० ॥

अन्वय—मूर्च्छासुप्तं त्रिदशनिहिताम्लानमन्दारमालं दिव्ययानाधिरूढं नयन-सुभगं तूर्यध्वानस्तनितमुखरं द्यामुद्यन्तं भवन्तं सजलजलदाशङ्कया आबद्धमालाः बलाकाः खे सेविष्यन्ते ।

अर्थ—मूर्च्छा से सोए हुए, देवताओं ने जिसके गले में नवीन कल्पवृक्ष के फूलों की माला रखी है । दिव्ययान पर आरूढ़, नेत्रों के लिए सुन्दर लगने वाले, दुन्दुभितुल्य आनद्धवाद्य की गर्जना से वाचालित, आकाश मार्ग में ऊपर की ओर जाते हुए आपकी जलसहित मेघ की आशंका से पंक्ति बाँधे हुए बगुलियाँ सेवा करेंगी ।

व्याख्या—यक्ष कह रहा है कि हे पार्श्व ! मेरे प्रहार से उत्पन्न मूर्च्छा के कारण सोए हुए, युद्ध भूमि में मृत्यु को प्राप्त करने के कारण देवों ने जिसके गले में माला पहिनाई है, नेत्रों को सुन्दर लगने वाले, दिव्य विमान पर आरूढ़, आकाश में ऊपर की ओर जाते हुए आपको जलयुक्त मेघ समझकर बगुलियाँ पंक्ति बाँधकर सेवा करेंगी ।

योगिन्यद्यं स्त्वदतुलधृतेर्भङ्गहेतून्पयोदा-
स्तद्गम्भीरध्वनितमपि च श्रोतुमर्हस्यकाले ।
केकोद्ग्रीवाञ्शिखरिषु चिरं नर्तयेद्यन्मयूरान्,
कर्तुं यच्च प्रभवति महीमुच्छिलीन्ध्रामवन्ध्याम् ॥४१ ॥

योगिन्निति । योगिन् भो यते । अकाले अनवसरे । त्वदतुलधृतेः तव अतुला असमाना धृतिर्धीरता तथोक्ता तस्याः । 'धृतिर्धारणधैर्ययोः' इत्यमरः । भङ्गहेतून्

पराजयकारणभूतान्। पयोदान् स्तनयित्नून्। पश्यन् प्रेक्षमाणः सन्। शिखरिषु भूधरेषु। 'महीध्रे शिखरिक्ष्माभृत्' इत्यमरः। केकोद्ग्रीवान् केकया स्वकोयवाण्या 'केकावाणी मयूरस्य' इत्यमरः। उद्ग्रा ग्रीवा येषां ते तथोक्ताः 'अथ ग्रीवायां शिरोधिः कन्धरेत्यपि' इत्यमरः। तान् मयूरान् नीलकण्ठान्। चिरं नर्तयेत् नाटयेत्। यच्च मही भुवम्। अवन्ध्यां सफलाम्। 'वन्ध्योफलो अकेशी च' इत्यमरः। उच्छिलीन्ध्रां 'कन्दल्यामुच्छिलीन्ध्रा स्मात्' इति शब्दार्णवः। उद्गताः शिलीन्ध्राः अङ्कुरविशेषाः यस्याः सा तथोक्ता ताम्। उत्पन्नसस्याङ्कुरामित्यर्थः। कर्तुं विधातुम्। प्रभवति समर्थ भवति। तच्च गम्भीरस्तनितमपि श्रोतुं श्रवणाय अर्हसि योग्यो भवसि। इदं गर्जितं मृग्विदित्यर्थः॥ ४१॥

अन्वय—अपि च योगिन्! त्वदतुलधृतेः भङ्गहेतून् पयोदान् पश्यन् यत् केकोद्-ग्रीवान् मयूरान् शिखरिषु चिरं नर्तयेत् च महीं उच्छिलीन्ध्रां अवन्ध्यां कर्तुं प्रभवति तत् गम्भीरध्वनितं अकाले श्रोतुमर्हसि।

अर्थ—दूसरी बात यह है कि हे योगी! तुम्हारे अतुल धैर्य के नाश के कारण मेघों को देखते हुए जो ध्वनि करते हुए ऊँची गर्दन किए हुए मोरों को पर्वतों पर चिरकाल तक नचाएगी एवं पृथ्वी को शिलीन्ध्र पुष्पों से युक्त और सफल करने में समर्थ होगी उस गम्भीर ध्वनि को वर्षाकाल से भिन्न समय में सुनने योग्य होगे अर्थात् सुनोगे।

व्याख्या—तुम्हारे धैर्य को नष्ट करने में जो समर्थ है ऐसे मेघ को देखकर पर्वतों पर मोर नाच उठेंगे। पृथ्वी शिलीन्ध्र पुष्पों से युक्त होकर धन-धान्य से समृद्ध हो जायगी और मेघ की गम्भीर गर्जना को आप वर्षा-काल से भिन्न काल में सुनोगे।

पश्योत्त्रस्ता धवलितदिशो मन्दमन्दं प्रयान्तो,
दृश्यन्तेऽमी गगनमभितो मन्दसानाः स्वनन्तः।
बद्धोत्कण्ठोद्विगलितमदाः प्रावृषेण्याम्बुदानां,
तच्छ्रुत्वा ते श्रवणसुभगं गर्जितं मानसोत्काः॥ ४२॥

पश्येति। प्रावृषेण्याम्बुदानां प्रावृषि भवाः प्रावृषेण्याः 'प्रावृषेण्यः' इति साधुः। 'स्त्रियां प्रावृट् स्त्रियां भूम्नि वर्षाः' इत्यमरः। वर्षाकालोद्भूता इत्यर्थः। ते च ते अम्बुदाश्च तेषाम्। श्रवणसुभगं श्रोत्रप्रियम्। तत् गर्जितं स्तनितं श्रुत्वा उत्त्रस्ताः भीताः। बद्धोत्कण्ठोद्विगलितमदाः बद्धा उत्कण्ठा वियोगदुःखम् 'उत्कण्ठोत्कलिके समे' इत्यमरः। तया उद्विगलितः शिथिलितो मदो हर्षो येषां ते तथोक्ताः। स्वनन्तः स्वनन्तः। मानसोत्काः मानसे मानसाभिधाने उत्तरदिक्स्थिते सरसि उत्काः उन्म-

नसः । प्राप्तुमिच्छन्त इत्यर्थः । 'स्यादुत्क उन्मनाः' इत्यमरः । धवलितदिशः शुभ्रीकृतककुभः । 'वलक्षो धवलोऽर्जुनः ।' 'दिशस्तु ककुभः काष्ठाः' इत्युभयत्राप्यमरः । धवलवर्णा इत्यर्थः । गगनं व्योम । अभितः समन्तात् । मन्दमन्दं शनैः शनैः । प्रयान्तः गच्छन्तः । ते अमी मन्दसानाः । ते एते हंसाः दृश्यन्ते प्रेक्ष्यन्ते । पश्य अवलोकय ।

अन्वय-—प्रावृषेण्याम्बुदानां श्रवणसुभगं तत् गर्जितं श्रुत्वा मानसोत्काः बद्धोत्कण्ठोद्विगलितमदाः उत्त्रस्ताः मन्दमन्दं प्रयान्तः धवलितदिशः अमी मन्दसानाः गगनं अभितः स्वनन्तः दृश्यन्ते पश्य ।

अर्थ—वर्षाकालीन मेघों की कानों को सुन्दर लगने वाली उस गर्जना को सुनकर मानसरोवर को जाने के लिए उत्कण्ठित, उत्कण्ठा के कारण नष्ट हुए आनन्द वाले, भयाकुल, मन्द मन्द गति से जाते हुए, दिशाओं को धवलित करते हुए ये हंसविशेष आकाश में चारों ओर ध्वनि करते हुए दिखाई दे रहे हैं (इन्हें) देखो।

भावार्थ—वर्षाकाल होने पर हंस मानसरोवर की ओर जाने लगते हैं। कृत्रिम मेघ को देखकर वर्षाकालीन समय जानकर हंस मानसरोवर की ओर जाने लगे।

ते चावश्यं नवजलधरैरुन्मनीभूय हंसा,
मत्प्रामाण्यात्तव जिगमिषोर्धाम यक्षेश्वराणाम् ।
सम्पत्स्यन्ते पथिजलमुचामापतन्तः समन्ता-
दाकैलासाद्विसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः ॥४३॥

ते चेति । मत्प्रामाण्यात् प्रमाणस्यभावः प्रामाण्यं 'प्रमाणं हेतुमर्यादाशास्त्रेयत्ताप्रमातृषु' इत्यमरः । ममैव प्रामाण्यं मत्प्रामाण्यं तस्मात् । मद्वचनप्राधान्यात् । यक्षेश्वराणाम् गुह्यकानाम् । धाम स्थानम् । 'गृहदेहत्विट्प्रभावा धामानि' इत्यमरः । जिगमिषोः गन्तुमिच्छतीति जिगमिषुः तस्य । तव ते । जलमुचां तडित्वताम् । पथि वर्त्मनि व्योम्नीत्यर्थः । आकैलासात् 'मर्यादायामाङ्' इति पञ्चमी । 'आङीषदर्थेऽभिव्याप्तौ सीमार्थे धातुयोगजे' इत्यमरः । कैलासनामपर्वतपर्यन्तम् । समन्तात् सर्वतः । आपतन्तः गच्छन्तः । बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्त. बिसकिसलयानां मृणालाग्राणाम् 'नालो नालमथा स्त्रियाम् । मृणालं बिसम्' इति पल्लवोऽस्त्री किसलयम्' इत्यप्यमरः । छेदः शकलं स एव पथि साधु पाथेयम् । 'पथ्यातिथि—' इति ढञ् । तदस्त्येषामिति बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः । ते च हंसाः मरालाः । नवजलधरैः नूतनाम्बुधरैः । उन्मनीभूय प्रागनुन्मनसः इदानीम् उन्मनसो भवनम् उन्मनीभवनम् तत्पूर्वं पश्चात्किञ्चिदित्युन्मनीभूय कलेशिनो भूत्वेत्यर्थः । अवश्यं निश्चयेन । सम्पत्स्यन्ते सङ्गता भवन्ति । 'संविप्रावात्' इति तङ् ॥४३॥

अन्वय—मत्प्रामाण्यात् यक्षेश्वराणां धाम जिगमिषोः तव आसमन्तात् जलमुचां पथि आपतन्तः बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः ते च हंसाः नवजलधरैः उन्मनीभूय आकैलासात् सङ्गच्छन्ते ।

अर्थ—मेरे प्रति विश्वास के कारण कुबेर के निवास स्थान को जाने के इच्छुक तुम्हारे चारों ओर मेघों के रास्ते में आ पड़ने पर मार्ग में खाने के लिए मृणाल के अग्रभाग के टुकड़ों को मार्ग के भोजन के रूप में लिए हुए वे हंस नए मेघों से उत्कण्ठित होकर कैलाश पर्वत तक आपके साथी हो जाएँगे ।

स्फीतोत्कण्ठा विगलितमदा मन्दमन्दायमाना,
मूकीभूताः स्खलितगतयोऽनुन्मुखास्सन्तताशाः ।
त्वामन्वेते पवनपदवीमाश्रयन्तोऽनुरूपाः,
सम्पत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः ॥४४॥

स्फीतेति । **स्फीतोत्कण्ठाः** प्रवृद्धक्लेशाः । **विगलितमदाः** कृशीभूतसोत्साः । **मन्दमन्दायमानाः** मन्दमन्दमाचरन्तीति तथोक्ताः । **मूकीभूताः** प्रागमूकाः इदानीं मूका भवन्ति स्मेति तथोक्ताः । 'अवाचि मूकः' इत्यमरः । **स्खलितगतयः** कम्पितगमनाः । **अनुन्मुखाः** उद्गतं मुखं येषां ते उन्मुखाः न उन्मुखाः अनुन्मुखाः अधोमुखा इत्यर्थः । **सन्तताशाः** सन्तता विस्तृता आशा अभिलाषो दिग्वा येषां यैर्वेति बहुव्रीहिः । 'विस्तृतम् ततम्' । आशा तृष्णापि चायता' इत्युभयत्राप्यमरः । **भवतः** तव । **अनुरूपाः** अनुकूलाः । **एते राजहंसाः** हंस विशेषाः । राजहंसास्तुते चञ्चुचरणैर्लोहितैः सिताः' इत्यमरः । **त्वामनु** भवन्तं परि । 'भागिनी च प्रतिपर्यनुभिः' इति द्वितीया । 'पश्चात्सादृश्ययोरनु' इत्यमरः । **पवनपदवीम्** अम्बरम् । **आश्रयन्तः** प्राप्नुवन्तः । **नभसि** खे । **भवतः** ते **सहायाः** सयात्राः । 'सहायस्तु सयात्रे स्यात्' इति शब्दार्णवे । **सम्पत्स्यन्ते** भविष्यन्ते ॥४४॥

अन्वय—स्फीतोत्कण्ठाविगलितमदाः मन्दमन्दायमानाः मूकीभूताः स्खलितगतयः अनुन्मुखाः सन्तताशाः त्वां अनु पवनपदवीं आश्रयन्तः अनुरूपाः एते राजहंसाः भवतः सहायाः सम्पत्स्यन्ते ।

अर्थ—वृद्धि को प्राप्त उत्कण्ठाओं से नष्ट मदवाले, मन्द मन्द गति वाले, मौन हुए, स्खलित गति वाले, ऊपर की ओर मुख न किए हुए (नीचे की ओर मुख किए हुए) सब ओर से दिशाओं को व्याप्त करने वाले, तुम्हारे साथ आकाशमार्ग का आश्रय लेने वाले, तुम्हारे अनुरूप ये राजहंस आकाश में आपके साथी हो जायँगे ।

व्याख्या—इस समय पार्श्व और हंसों की स्थिति एक सी है। हंस वृद्धि को प्राप्त उत्कण्ठाओं से नष्ट आनन्द वाले हैं और भगवान् पार्श्व भी मोक्ष की प्राप्ति हेतु उत्कण्ठित होने के कारण काम क्रोधादि मदों को नष्ट कर चुके हैं। भगवान् ने मोक्ष के लिए मुनिव्रत धारण कर रखा है अतः वे सांसारिक क्रियाओं के प्रति अत्यधिक मन्द उद्यम वाले हैं। हंस भी कामोन्माद के कारण मन्द मन्द गति वाले हैं। ध्याननिमग्न होने के कारण भगवान् वचनव्यापार से विरत हो चुके हैं अथवा उन्होंने इन्द्रियव्यापार का त्याग कर दिया है और राजहंस काम सन्तप्त होने के कारण शब्दों को व्यक्त नहीं कर रहे हैं। भगवान् मोक्षसमीप होने के कारण नारकादि गतियों को नष्ट कर चुके हैं, उसी प्रकार राजहंस कामोन्माद के कारण स्खलित गति वाले हैं। भगवान् ध्यान में लवलीन होने के कारण ऊपर की ओर मुख नहीं किए हैं। राजहंस हतवीर्य होने के कारण नीचे की ओर मुख किए हुए हैं। भगवान् ने परिग्रह को छोड़ दिया है। अतः उन्होंने आशा तृष्णा का त्याग कर दिया है। इन राजहंसों ने दिङ्मण्डल को व्याप्त कर दिया है। जैसे भगवान् ने रत्नत्रयरूप शुद्ध मोक्षमार्ग का आश्रय लिया है, उसी प्रकार इन राजहंसों ने भी आकाश का आश्रय लिया है। इस प्रकार कवि ने श्लेष के माध्यम से राजहंस और भगवान् में समता दिखलाई है। तुल्यगुणवाले होने के कारण अनुरूप राजहंस आकाश में भगवान् के सहायक हो जायँगे, यक्ष के कहने का यह अभिप्राय है।

> **भोक्तुं दिव्यश्रियमभिमतां यातुकामो द्युलोकं,**
> **कालक्षेपादुपरम रणे मङ्क्षु सन्नह्य भिक्षो।**
> **येनामुत्र स्पृहयसि दिवे यश्च संरक्षति त्वा,**
> **मापृच्छस्व प्रियसखममुं तुङ्गमालिङ्ग्य शैलम् ॥४५॥**

भोक्तुमिति। **भिक्षो** हे वाचयम्। अभिमताम् अभिलषिताम्। **दिव्यश्रियं** देवसम्पत्तिम्। 'सम्पत्तिः श्रीश्च लक्ष्मीश्च' इत्यमरः। **भोक्तुम्** अनुभवनाय। **द्युलोकं** त्रिदिवम्। **यातुकामः** यातुं गन्तुं कामयते इति तथोक्तः सन्। **येन** अमुत्र भवान्तरे। 'प्रेत्यामुत्र भवान्तरे' इत्यमरः। **दिवे** स्वर्गाय। 'सुरलोको द्योदिवौ द्वे' इत्यमरः। **स्पृहयसि** वाञ्छसि। यस्तदोर्नित्यसम्बन्धादिति। तस्मिन् **रणे**। संग्रामनिमित्त हेतौ। 'हेत्वर्थे सर्वाः प्रायः' इति सप्तमी। **मङ्क्षु** शीघ्रेण। **सन्नह्य** सज्जीकृत्य। **कालक्षेपात्** समययापनात्। **उपरम** अपेहि कालविलम्बनं मा कुर्वित्यर्थः। **यः त्वां** भवन्तम्। **संरक्षति** पालयति आश्रयो भवतीत्यर्थः। **तं तुङ्गम्** उन्नतम्। **प्रियसखं** प्रियमित्रम्। 'राजन् सखेः' इत्यट् समासान्तः। **अमुं शैलम्** एतच्छिखरकूटाह्वयं पर्वतम्।

आलिङ्ग्य आश्लिष्य । **आपृच्छस्व** सम्भाषमित्र शेति । सभाजय 'अथ द्वे आनन्दन-सभाजने आपृच्छनम्' इत्यमरः । 'नुदाङ्‌ प्रच्छ' इत्यात्मनेपदम् ॥४५॥

अन्वय—हे भिक्षो ! दिव्यश्रियं भोक्तुं द्युलोकं यातुकामः रणे मङ्क्षु सन्नद्धः कालक्षेपात् उपरम । येन अमुत्र दिवे स्पृहयसि यश्च त्वां संरक्षति (तं) अमुं प्रियसखं तुङ्गं शैलं आलिङ्ग्य आपृच्छस्व ।

अर्थ—हे भिक्षु ! दिव्य लक्ष्मी का भोग करने के लिए स्वर्गलोक को जाने के इच्छुक (तुम) युद्ध के लिए शीघ्र ही तैयार होकर विलम्ब से विरत होओ अर्थात् विलम्ब मत करो । जिसके द्वारा तुम अगले जन्म में स्वर्ग की अभिलाषा करते हो और जो तुम्हारा संरक्षण करता है उस इस प्रियमित्र ऊँचे चित्रकूट नामक पर्वत से गले मिलकर जाने के लिए पूछो या विदा लो ।

भावार्थ—हे पार्श्व ! जिस पर्वत का आश्रय लेकर तुम स्वर्ग में जाने के लिए तपस्या कर रहे हो और जो पर्वत निवास देकर मनुष्यों की भीड़ से उत्पन्न कोलाहल से प्रादुर्भूत मन के क्षोभ से तुम्हारी रक्षा करता है, उसका आलिङ्गन कर स्वर्गगमन की आज्ञा लो ।

भूयश्चानुस्मर सिद्धिषुधः कार्यसिद्ध्यै प्रयत्य,
प्रायेणेष्टा महति विधुरे देवताऽनुस्मृतिर्नः ।
सिद्धिक्षेत्रं शरणमथवा गच्छतं रामशैलं,
वन्द्यैः पुंसां रघुपतिपदैरङ्कितं मेखलासु ॥ ४६ ॥

भूयश्चेति । **कार्यसिद्ध्यै** संग्रामविजय निष्पत्तये । **प्रयत्य** प्रयत्नं कृत्वा । **सिद्धिषुधः** सिद्धा देवताविशेषाः । **भूयश्च** मुहुरपि । **अनुस्मर** अनुचिन्तय । **नः** अस्माकं । **महति विधुरे** महाविपदि । **देवतानुस्मृतिः** जिनेन्द्रस्मरणम् । **प्रायेण** बाहुल्येन । **इष्टा** अभिमता । स्यादिति शेषः । अथवा नो चेत् । **पुंसां वन्द्यैः** । 'वानाकः' इति षष्ठी । सत्पुरुषस्तुत्यैरित्यर्थः । **रघुपतिपदैः** रामस्य पादन्यासैः । **मेखलासु** कटकेषु । 'मेखला श्रोणिकाटके कटिबन्धनिबन्धने' इति यादवः । **अङ्कितम्** **सिद्धिक्षेत्रं** श्रेयः स्थानम् । तं **रामशैलम्** । रामगिर्यपराभिधानं चित्रकूटम् । **शरणं** शरण्यम् । **गच्छ** याहि । संग्रामभीरुश्चेत्तत्पृष्ठगामी भवेत्यर्थः ॥४६॥

स्नातो धौताम्बरनिवसनो दिव्यगन्धानुलिप्तः,
स्रग्वी दन्तच्छदविरचितारक्तताम्बूलरागः ।
खड्गी युद्धे कृतपरिकरः क्षालितागः परागः,
काले काले भवति भवतो यस्य संयोगमेत्य ॥ ४७ ॥

स्नान इति । यस्य पुद्धस्य । संयोगं सम्बन्धम् । एत्य प्राप्य । काले काले समये समये । भवतः तव । कृतपरिकरः कृतः परिकरः प्रारम्भम् येन सः । 'वृन्द प्रारम्भयोश्चैव पर्यङ्क परिकारयोः । आरम्भे च परिस्तारे भवेत्परिकरस्तथा' इत्यभिधानात् । गुणगण इति वा पाठः । गुणगणः गुणसमूहः । क्षालितागः परागः आगः दोषः । 'आगोऽपराधः' इत्यमरः । तदेव परागः रजः । 'चन्दने पुष्परजसि धूलिस्नानीयचूर्णयोः । उपरागेऽस्त शैले च परागः परिकथ्यते' इत्यभिधानात् । क्षालितः परिशोधितः आगः परागो यस्यासौ तथोक्तः । भवति । तस्मिन् युद्धे संग्रामनिमित्तम् । स्नातः कृतमङ्गलमज्जनः । धौताम्बरनिवसनः परिशुद्धवस्त्राच्छादनः । 'अम्बरं वाससि व्योम्नि कार्पासे च सुगन्धके ।' 'वसनं छादनेंऽशुके' इत्युभयत्रापि विश्वः । दिव्यगन्धानुलिप्तः मलयजकल्केनानुचर्चितः । स्रग्वी स्रगस्यास्तीति स्रग्वी मालावान् । 'माल्यं मालास्रजौ' इत्यमरः । दन्तच्छद विरचितारक्तताम्बूलरागः दन्तच्छदयोरोष्ठाधरयोः 'ओष्ठाधरौ तु रदनच्छदौ' इत्यमरः । विरचितः विहितः आरक्तः ताम्बूलस्य रागो यस्यासौ तथोक्तः । खड्गी खड्गोऽस्यास्तीति । भव त्वम् युद्धसन्नद्धो भवेरयर्थः ॥४७॥

अन्वय—भूयश्च कार्यसिद्ध्यर्थं प्रयत्य सिसिधुषः अनुस्मर । नः महति विधुरे । प्रायेण देवतानुस्मृतिः इष्टा अथवा काले काले भवतः यस्य संयोगं एत्य युद्धे कृतपरिकरः खड्गी क्षालितागः परागः स्नातः धौताम्बरनिवसनः दिव्यगन्धानुलिप्तः स्रग्वी दन्तच्छदविरचितारक्तताम्बूलरागः भवति तं पुंसां वंद्यैः रघुपतिपदैः मेखलासु अङ्कितं सिद्धिक्षेत्रं तं रामशैलं शरणं गच्छ ।

अर्थ—पुनः कार्य की सिद्धि के लिए प्रयत्न कर सिद्धों का ध्यान करो । महान् विपत्ति आने पर हम लोगों को प्रायः तुम्हारे लिए देवताओं का अनुस्मरण इष्ट है अथवा समय समय पर जिसके संयोग को पाकर मनुष्य युद्ध में बद्धपरिकर खड्ग धारण करने वाला, पाप रूप पराग का उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय करने वाला, स्नान किया हुआ, धोए हुए (स्वच्छ) वस्त्रों को पहिने हुए, दिव्य गन्धों से अनुलिप्त अङ्गों वाला, मालाधारी तथा अधरोष्ठ में लगे हुए कुछ लाल रंग से सुशोभित हो जाता है, उस लोगों के वन्दनीय, राम के चरणों के द्वारा ढलानों पर चिह्नित सिद्धिक्षेत्र रामगिरिपर्वत की शरण में जाओ ।

पश्चात्तापाद्व्युपरतिमहो मय्यपि प्रीतिमेहि,
भ्रातः प्रौढ प्रणयपुलको मां निगूह्य स्वदोर्भ्याम् ।
तत्ते स्निग्धे मयकि जनिता श्लाघनीया जनैः स्तात्,
स्नेहव्यक्तिश्चिरविरहजं मुञ्चतो बाष्पमुष्णम् ॥ ४८ ॥

पश्चात्तापादिति । अहो भोः । भ्रातः सहोदर । पश्चात्तापात् व्युपरतिं विरामम् । अपादाने पञ्चमी । मयि भ्रातरि । प्रीतिमपि स्नेहं च । एहि गच्छ । प्रौढप्रणयपुलकः प्रौढेन प्रणयेन जातः पुलकः रोमाञ्चो यस्यासौ तथोक्तः सन् । स्वदोर्भ्यां निजभुजाभ्याम् । मां ज्येष्ठभ्रातरं निगूह 'गूह संवरणे' लटि 'गोहोवेतूत्पू' आश्लेषय । तत् तस्माद्धेतोः । चिरविरहजं बहुकालवियोगसम्भवम् । उष्णम् ऊष्माणम् । बाष्पं नेत्रजलम् । 'बाष्पं नेत्रजलोष्मणोः' इत्यभिधानात् । मुञ्चतः पातयतः । ते तव । स्निग्धे विश्वस्ते बन्धौ मयकि । 'तिङ् सर्वनाम्नः इत्यकच्प्रत्ययात्पूर्वो-गित्यकच्' । जनिता उत्पन्ना । स्नेहव्यक्तिः प्रेमाविर्भावः । जनैः लोकैः । श्लाघनीया श्लाघितुं योग्या कीर्तनीयेत्यर्थः । स्यात् अस्तु । स्निग्धानां हि चिरविरहात्सङ्गतानां बाष्पपातादिर्भवतीति भावः ॥४८॥

अन्वय—अहो भ्रातः पश्चात्तापात् व्युपरतिं एहि, मयि अपि प्रीतिं (एहि) प्रौढप्रणयपुलकः (त्वं) स्वदोर्भ्यां मां निगूह । तत् चिरविरहजं उष्णं बाष्पं मुञ्चतः ते स्निग्धे मयकि जनिता स्नेहव्यक्तिः जनैः श्लाघनीया स्यात् ।

अर्थ—हे भाई ! पश्चात्ताप से विराम लो अर्थात् पश्चात्ताप मत करो । (तुम्हारी पत्नी के साथ समागम करने के अपकार से रहित) मेरे प्रति भी प्रीति को धारण करो । उत्कृष्ट रूप से वृद्धिगत प्रणय से उत्पन्न रोमाञ्च वाले तुम अपनी दोनों भुजाओं से मेरा आलिङ्गन करो । चिरकाल के विरह से उत्पन्न, गर्म श्वास छोड़ते हुए तुम्हारा स्नेही मेरे प्रति उत्पन्न हुआ स्नेह का प्रादुर्भाव लोगों के द्वारा प्रशंसनीय हो ।

सम्प्रति तस्य गन्तव्यपदानि वक्तुमुपक्रमते—

किं वा वैरीन्धनदहि मयि प्रौढमानस्त्वमेत,
न्नाभिप्रेयाः किमपरमहो नो विलम्बेन तिष्ठ ।
त्वामद्यैवान्तकमुखबिलं प्रापयामि त्वकं मे,
मार्गं मत्तः शृणु कथयतस्त्वत्प्रयाणानुरूपम् ॥ ४९ ॥

किं वेति । वैरीन्धनदहि वैरिण एव इन्धनानि काष्ठानि 'काष्ठं दार्विन्धनम्' इत्यमरः । तद्दहतीति वैरीन्धनधक् तस्मिन् । मयि यशोधरे । त्वं भवान् प्रौढमानः प्रवृद्धगर्वः सन् । मानश्चित्तसमुन्नतिः' इत्यमरः । एतत् एतावदुदितं सर्वम् । किं वा नाभिप्रेयाः किमिति नाभिजानीयाः । अहो भो मुने । अपरं किम् अन्यत् किम् वक्तव्यमस्ति । विलम्बेन कालहरणेन नो तिष्ठ न वस । त्वां भवन्तम् । अद्यैव इदानीमेव । अन्तकमुखबिलं कृतान्तस्य वक्त्र विवरम् प्रापयामि नयामि । त्वत्प्रयाणानुरूपं तव गमनानुकूलम् यथा तथा कथयतः ब्रुवतः । मत्तः मत्सकाशात् । त्वकं

निन्दितस्त्वं त्वकम् । मे मार्गं मम पन्थानम् । 'मार्गो मृगवधे मासे सौम्यर्क्षेऽन्वेषणेऽध्वनि' इति यादवः । शृणु श्रुतिविषयं विधेहि ॥४९॥

अन्वय—वा प्रौढमानः मयि वैरीन्धनदहि एतत् न अभिप्रेमाः किं ? किं अपरं ? नो विलम्बेन तिष्ठ । त्वां अद्य एव अन्तकमुखबिलं प्रापयामि । मे कथयतः त्वत्प्रयाणानुरूपं मार्गं मतः त्वकं शृणु ।

अर्थ—अथवा वृद्धिगत मान वाले आपको वैरी रूपी ईंधन को जलाने वाले मुझमें क्या इष्ट नहीं है ? और क्या ? विलम्ब मत करो। तुम्हें आज ही यम के मुख रूपी बिल में पहुँचाता हूँ। मेरे कहे हुए तुम्हारे प्रयाण के अनुरूप मार्ग को तुम मुझसे सुनो ।

श्रेयोमार्गान्नहि जिनमताद्भ्रंशितस्यैक एव,
मार्गोऽसह्यादसुखविषधेस्तारकात्तारको यः ।
तं मुक्त्वा ते श्रुतिसुखपदं वच्मि यत्र प्रियायाः,
सन्देशं मे तदनु जलद श्रोष्यसि श्रव्यबन्धम्[1] ॥ ५० ॥

श्रेय इति । जलद भो पयोद योगिन् । जिनमतात् मन्यते स्म मतः जिनेन अर्हता मतः जिनमतस्तस्मात् । श्रेयोमार्गात् रत्नत्रयात्मकात् मोक्षमार्गात् । भ्रंशितस्य ध्वंसितस्य । मिथ्यादृष्टेरित्यर्थः । मार्गः स्वाभिप्रेतप्रदेशाप्त्युपायः । एक एव नहि न भवति हि । यः मार्गः । असह्यात् दुःसहात् । तारकात् नरकस्यायं नारकस्तस्मात् । असुखविषधेः न सुखम् असुखम् दुःखविषाणि जलानि 'नीरं जीवनममृतम्' इति धनञ्जयः । तानि धीयन्तेऽस्मिन्निति विषधिः विषधिरिव विषधिः असुखमेवविषधिस्तस्मात् । तारकः उत्तरणहेतुः भवेदेति शेषः । तं मार्गं मुक्त्वा विमुच्य । ते तव । श्रुतिसुखपदं श्रोत्रानन्दास्पदम् । यथा तथा । वच्मि ब्रवीमि । तदनु पश्चात् । यत्र मन्मार्गे । मे मम । प्रियायाः कान्तायाः । श्रव्यबन्धं श्रव्यः श्रवणीयो बन्धः शब्दरचना यस्येति तथोक्तस्तम् । सन्देशं वाचिकम् । 'सन्देशवाग्वाचिकं स्यात्' इत्यमरः । श्रोष्यसि श्रवणविषयं करिष्यसि । स्वस्य मिथ्यादृष्टत्वात् स्वयोग्यं भुवनत्रयमार्गं ब्रवीतीति तात्पर्यम् ॥५०॥

अन्वय—हे जलद ! जिनमतात् श्रेयोमार्गात् भ्रंशितस्य यः असह्यात् नारकात् असुखविषधेः तारकः (सः) मार्गः एकः एव न हि । तं मुक्त्वा ते श्रुतिसुखपदं (मार्गं) वच्मि, यत्र तदनु मे प्रियायाः श्रव्यबन्धं सन्देशं श्रोष्यसि ।

अर्थ—हे मेघ ! तीर्थंकर भगवान् के द्वारा अभिमत श्रेयोमार्ग से पतित

---

1. श्रोत्रपेयम् इत्यपि पाठः ।

व्यक्ति के असह्य नरक जन्य दुःख रूपी विष सागर से पार उतारने वाला वह मार्ग एक (अद्वितीय) ही नहीं है। उसे छोड़कर (उससे भिन्न) तुम्हारे कानों के सुख के कारणभूत मार्ग को कहता हूँ, जिस मार्ग में प्रस्थान के अनन्तर मेरी प्रेयसी के सुनने योग्य शब्दविन्यास से युक्त सन्देश को सुनोगे।

व्याख्या—यक्ष का विश्वास है कि भगवान् पार्श्व मरकर अवश्य ही मेघाकार को धारण करेंगे। इस कारण नैगम नय अथवा द्रव्य निक्षेप की अपेक्षा भगवान् के लिए जलद (मेघ) विशेषण लगाया है। जिनोक्त मार्ग से भिन्न जैनेतरों के कल्याण मार्ग बहुत हैं। असह्य नरकों के दुःख से तारने वाले उनमें से किसी एक धर्ममार्ग का उपदेश देता हूँ। जिनोक्त मार्ग को छोड़कर मेरे कहे हुए मार्ग से चलने पर तुम्हारे दुःख का परिहार अथवा सुख की प्राप्ति होगी। तुम जिनोक्त मार्ग को छोड़कर युद्ध के लिए सन्नद्ध होओ। तुम्हें युद्ध में मरने पर भी कल्याण की प्राप्ति होगी, यह शम्बरासुर का अभिप्राय है।

तत्राप्येकोऽनृजुरृजुरतः कोपि पन्थास्तयोर्यो,
वक्रोऽपि त्वा नयति सुखतस्तं शृणु प्रोच्यमानम्।
नानापुष्पद्रुमसुमनसां सौरभेणाततेषु,
खिन्नः खिन्नः शिखरिषु पदं न्यस्य गन्तासि यत्र ॥ ५१ ॥

तत्रापीति। तत्रापि सन्मार्गेऽपि। एकः पन्थाः। अनृजुः वक्रः। कोपि अन्यः। अतः अस्मात्। ऋजुः सरलः। भवतीतिशेषः। तयोः तदध्वनोः। यः मार्गः। वक्रोपि असरलोपि। त्वा त्वाम्। 'त्वामौ द्वितीयायाः' इति त्वादेशः। सुखतः अनायासेन। नयति प्रापयति। प्रोच्यमानं वक्ष्यमुपक्रान्तम्। तं पन्थानं शृणु। यत्र नानापुष्पद्रुमसुमनसां नानाविधानि पुष्पाणि येषां द्रुमाणां तथोक्तास्तेषाम्। सुमनसः कुसुमानि। 'स्त्रियः सुमनसः पुष्पं प्रसूनं कुसुमं सुमम्' इत्यमरः। तासां सौरभेण सुरभिरेव सौरभं 'सुरभिर्घ्राणतर्पणः' इत्यमरः। तेन आततेषु निचितेषु। शिखरिषु पर्वतेषु। खिन्नः खिन्नः क्षीणबलः सन् क्षीणबलः सन्। वीप्सायां द्विरुक्तिः। पदं पादम्। न्यस्य निक्षिप्य। गन्तासि गमिष्यसि। 'तास्यौलुटश्चोः' इति लुटि तास् ॥५१॥

यस्मिन्रम्याः कृतकगिरयः सेव्यसानुप्रदेशा,
नानावीरुद्विततिसुभगाः पुष्पशय्याचितान्ताः।
तेन श्रान्त्या तव सुखकरी तत्र यायाः सुखेन,
क्षीणः क्षीणः परिलघुपयः स्रोतसां चोपभुज्य ॥ ५२ ॥

यस्मिन्निति । यस्मिन्मार्गे । सेव्यसानुप्रदेशाः सेव्याः सेवितुं योग्याः सानूनां तटानां प्रदेशा येषां ते तथोक्ताः । नानावीरुद्वितितसुभगाः विविधाः वीरुधः गुल्माः 'लता प्रतानिनी वीरुद्गुल्मिन्युलप इत्यपि' इत्यमरः । तासां विततिः सङ्घातः 'सङ्घातः समितिस्ततिः' इति धनञ्जयः । तया सुभगाः रुचिराः तथोक्ताः । पुष्पशय्याचितान्ताः पुष्पैः कृताः शय्याः शयनतल्पानि ताभिराचिताः प्रसारिताः अन्ताः अन्तर्भागाः येषां ते तथोक्ताः । 'मृतावत्रसिते रम्ये समाप्तावन्ते' इति शब्दार्णवे । 'अन्तो व्यवसिते मृत्यौ स्वरूपेनिश्चयेऽन्तके' इति वैजयन्ती । रम्याः रन्तुं योग्याः मनोहरा इत्यर्थः । कृतकगिरयः क्रीडाद्रयः । सन्तीति शेषः । तेन पथा । वज्या गतिः । 'व्रज्याऽऽट्यापर्यटनम्' इत्यमरः । तवते सुखकरी सौख्यकारिणी स्यात् । स्रोतसां प्रवाहाणाम् । 'स्रोतोऽम्बुसरणं स्वतः' इत्यमरः । परिलघु गुरुत्वदोषरहितम् । उपलास्फालनकेलित्वात् पथ्यमित्यर्थः । पयः पानीयम् । उपभुज्य उपयोगं कृत्वा । सुखेन अश्रमेण । यायाः गच्छेः । 'या प्रापणे' लिङ् ॥५२॥

अन्वय—तत्र अपि एकः पन्थाः अनृजुः । कः अपि अतः ऋजुः । तयोः वक्रः अपि यः त्वा सुखतः नयति । यस्मिन् सेव्यसानुप्रदेशाः नानावीरुद्वितितसुभगाः पुष्पशय्याचितान्ताः रम्याः कृतकगिरयः यत्र च खिन्नः खिन्नः नानापुष्पद्रुमसुमनसां सौरभेण आततेषु शिखरिषु पदं न्यस्य गन्तासि, तं प्रोच्यमानं शृणु । तेन तव वज्या सुखकरी (स्यात्) तत्र क्षीणः क्षीणः (त्वं) स्रोतसां परिलघु पयः उपभुज्य सुखेन यायाः ।

अर्थ—जिनोक्त मार्ग से भिन्न मार्ग यद्यपि अनेक हैं; किन्तु उनमें एक मार्ग कुटिल है । कोई एक दूसरा मार्ग इस कुटिल मार्ग से सरल है । उन दोनों मार्गों में से एक मार्ग वक्र होने पर भी तुम्हें सुखपूर्वक अभीष्ट स्थान में पहुँचायेगा । जिस मार्ग में सेवन करने योग्य शिखरों के प्रदेश अनेक प्रकार की लताओं की पंक्तियों से मनोहर पुष्पों से बनाई हुई शय्याओं से ढके हुए प्रान्त प्रदेश वाले मनोहर क्रीड़ा के लिए बनाए गए पर्वत हैं और जहाँ अत्यधिक थककर अनेक प्रकार के पुष्पपादपों के फूलों की सुगन्ध से चारों ओर व्याप्त पर्वत प्रदेश में चरण रखकर जाओगे । उस कहे हुए कठिन मार्ग के विषय में सुनो । कुटिल उस मार्ग से तुम्हारा (पार्श्व का) गमन सुखकर होगा । उस कुटिल मार्ग में अत्यधिक क्षीण झरनों के जल का उपभोगकर (तुम) सुखपूर्वक जाओ ।

कामं यायाः पथि निगदिते कामगत्या विमानं,
प्रौढ्यारूढः प्रथितमहिमा वारिवाहीव बन्धो ।

दृष्टोद्योगो नभसि विहरन् खेचरीभिस्त्वमुच्चै-
रद्रेः शृङ्गं हरति पवनः किंस्विदित्युन्मुखीभिः ॥ ५३ ॥

काममिति । बन्धो अहो भ्रातः । पवनः त्वत्सहचरो वायुः । अद्रेः चित्रकूटस्य । उच्चैः तुङ्गम् । शृङ्गम् शिखरम् । 'कूटोऽस्त्री शिखरं शृङ्गम्' इत्यमरः । हरति किंस्वित् उत्पाटयति किम् । 'किं पृच्छायां जुगुप्सने ।' 'स्वित्प्रश्ने च वितर्के च' इत्युभयत्राप्यमरः । इति एवम् । शङ्कयेति शेषः । उन्मुखीभिः ऊर्ध्वगतं मुखं यासां तास्तथोक्ता ताभिः उन्नमितवक्त्राभिः । खेचरीभिः विद्याधरवनिताभिः । दृष्टोद्योगः ईक्षितव्यापारः । नभसि आकाशे विहरन् । विमानं व्योमयानम् । प्रीत्या प्रमोदेन । आरूढः आरूढवान् । प्रथितमहिमा प्रसिद्ध सामर्थ्यः । त्वम् । 'प्रतीते प्रथितख्यातवित्तविज्ञातविश्रुताः' इत्यमरः । वारिवाहीव मेघवत् । निगदिते मया कथिते । पथि मार्गे । कामगत्या अभीष्ट गमनेन । 'इच्छामनोभवौ कामौ' इत्यमरः । कामं स्वैरम् । 'कामं प्रकामं पर्याप्तं निकामेष्टं यथेप्सितम्' इत्यमरः । यायाः गच्छेः ॥५३॥

अन्वय—बन्धो ! पवनः अद्रेः शृङ्गं हरति किंस्वित् ? इति उन्मुखीभिः खेचरीभिः दृष्टोद्योगः त्वं कामगत्या विमानं आरूढः प्रथितमहिमा वारिवाही इव नभसि विहरन् निगदिते पथि कामं यायाः ।

अर्थ-हे बन्धु ! वायु पर्वत के शिखर को क्या उड़ा ले जा रहा है ? इस प्रकार ऊपर की ओर मुख की हुई विद्याधरियों के द्वारा जिसका ऊर्ध्वगमन देखा गया है ऐसे तुम इच्छानुसार गति से विमान पर आरूढ़ होकर प्रसिद्ध महिमा वाले होकर मेघ के समान आकाश में विहार करते हुए पूर्वप्रतिपादित मार्ग में इच्छानुसार जाओ ।

भावार्थ—तुम्हें आते देखकर विद्याधरियाँ यह सोचकर कि क्या पवन पर्वत की चोटी को उड़ा ले जा रहा है ? तुम्हारी ओर देखेंगी । इस प्रकार प्रसिद्ध कीर्तिवाले आप आकाश में अपनी इच्छा के अनुसार विहार करना ।

मय्यामुक्तस्फुरितकवचे नीलमेघायमाने,
मन्ये युक्तं मदनुकृतये वारिवाहायितं ते ।
मेघीभूतो व्रज लघु ततः पातशङ्काकुलाभिः,
दृष्टोत्साहश्चकितचकितं मुग्धसिद्धाङ्गनाभिः ॥ ५४ ॥

मयीति । आमुक्त स्फुरितकवचे आमुक्तः सन्नद्धः स्फुरितः प्रस्फुरन् कवचो यस्य तस्मिन् । 'आमुक्तः प्रतिमुक्तश्च पिनद्धश्चापिनद्धवत्' इत्यमरः । 'उरश्छदः

कञ्चुकः कञ्चुकोऽजगरः कवचोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः। मयि मत्ते। नीलमेघायमाने नीलश्चासौ मेघश्च स इवाचरतीति नीलमेघायमानस्तस्मिन्नपीति। मदनुकृतये मम स्वरूपानुसरणाय। ते तव। वारिवाहायितं वारिवाह इवाचरतीति वारिवाहायते वारिवाहायते स्म तथोक्तम्। युक्तं योग्यम्। मन्ये जाने। ततः तस्मात्। मेघीभूतः मेघोऽरूपं वहन्। पातशङ्काकुलाभिः पतनसन्देहव्याकुलिताभिः। मुग्धसिद्धाङ्गनाभिः मुग्धाः मूढाः सिद्धानां देवविशेषाणाम् अङ्गनास्ताभिः। 'मुग्धः सुन्दरमूढयोः' इत्यभिधानात्। चकितचकितं भयचकितप्रकारं यथा तथा 'प्रकारे गुणवचनस्य' इति द्विर्भावः। दृष्टोत्साहः अवलोकितस्वारम्भः सन् दृष्टोद्योग इति वा। 'उत्साहोऽध्यवसायः स्यात्सवीर्यमतिशक्तिभाक्' इत्यमरः। लघु शीघ्रम्। व्रज गच्छ ॥५४॥

अन्वय—आमुक्तस्फुरितकवचे मयि नीलमेघायमाने (सति) मदनुकृतये ते वारिवाहायितं युक्तं मन्ये। ततः मेघीभूतः पातशङ्काकुलाभिः मुग्धसिद्धाङ्गनाभिः चकितचकितं दृष्टोत्साहः व्रज।

अर्थ—बँधे हुए चमकदार कवच वाले मेरे नील मेघ के समान आचरण करने पर मेरा अनुकरण करने के लिए तुम्हें मेघ होने के योग्य मानता हूँ। इस कारण मेघ होकर तुम्हारे गिरने की आशङ्का से व्याकुल भोली-भाली सिद्ध स्त्रियों के द्वारा आश्चर्यपूर्वक देखे गए उत्साह वाले तुम शीघ्र ही जाओ।

तस्माद्विद्युत्प्रसवसमये प्राप्य सिद्धिं वधूनां,
सद्यः कृत्वा समुचितमदो दिव्यजीमूतरूपम्।
दिव्यान्भोगान्समनुभवितुं कामुकः कामचारे,
स्थानादस्मात्सरसनिचुलादुत्पतोदङ्मुखः खम् ॥ ५५ ॥

तस्मादिति। तस्मात् ततः। विद्युत्प्रसवसमये तद्विद्युत्प्रसवावसरे। वधूनां योषिताम्। सिद्धिं साधनं सिद्धिहस्तं मनोविजयम्। प्राप्य लब्ध्वा। विद्युत्संयोगे चित्तमनोविकारहेतुत्वादित्यर्थः। अदः एतत्। समुचितं सुयोग्यम्। दिव्यजीमूतरूपं दिव्यमेघाकृतिम्। सद्यः तदैव। 'सद्यः सपदि तत्क्षणे' इत्यमरः। कृत्वा विधाय। दिव्यान् दिविभवान्। भोगान् विषयान्। 'भोगः सुखं स्त्र्यादिभृतावहेश्च फणकाययोः' इत्यमरः। खं व्योम। उत्पत उद्गच्छ। अलकापुर्या उदीच्यत्वादुत्तरमुखो भूत्वा गच्छेति भावः ॥५५॥

अन्वय—तस्मात् अदः समुचितं दिव्यजीमूतरूपं कृत्वा विद्युत्प्रसवसमये वधूनां सिद्धिं प्राप्य दिव्यान् भोगान् समनुभवितुं कामचारे कामुकः सरसनिचुलात् अस्मात् स्थानात् उदङ्मुखः (सन्) खं सद्यः उत्पत।

अर्थ—अतः प्रोक्त सुयोग्य दिव्य मेघरूप आकार बनाकर बिजली की उत्पत्ति के समय (कान्ता की इच्छुक) वधुओं के सङ्केताभिप्रापण रूप कार्य को निष्पत्ति कराकर दिव्यभोगों का भोग करने के लिए इच्छानुसार विहार के अभिलाषी तुम जहाँ बेंत के हरे पेड़ वाले इस स्थान से उत्तर की ओर मुख करके आकाश में शीघ्र ही उड़ जाओ।

भावार्थ—दिव्यरूप मेघ बनकर तुम बिजली के द्वारा अभिसारिकाओं को उनके प्रेमियों के मिलने का स्थान दिखलाओ। पश्चात् दिव्यभोगों का भोग करने के लिए अपनी इच्छानुसार विहार करने की अभिलाषा वाले तुम उत्तर दिशा की ओर आकाश में उड़ जाओ।

दिग्भ्योऽबिभ्यत्कथमिव पुमान्भीलुकस्तत्र गच्छे-
दुल्लङ्घ्याद्रीन्विषमसरितो दुर्गमांश्च प्रदेशान् ।
तन्मारोदीर्व्रज सुनिपुणं व्योममार्गानुसारी,
दिङ्नागानां पथि परिहरन्स्थूलहस्तावलेपान् ॥ ५६ ॥

दिग्भ्य इति। तत्र मार्गे। भीलुकः 'भयः कुकुकक्लुकन्यः' 'भीरुभीरुकभीलुकाः इत्यमरः। पुमान् पुरुषः। दिग्भ्यः ककुब्भ्यः। बिभ्यत् भीतिमगच्छन्। अद्रीन् पर्वतान्। विषमसरितः वैषम्ययुक्ता नदीः। दुर्गमान् गन्तुमशक्यान्। प्रदेशांश्च कान्तारादिस्थानान्यपि। उल्लङ्घ्य अतीत्य। कथमिव केन प्रकारेण। इव शब्दो वाक्यालङ्कारे। गच्छेत् व्रजेत्। तत् तस्मात्कारणात्। मा रोदीः रोदनं मा कुरु। पथि मार्गे। दिङ्नागानां दिग्गजानाम्। स्थूलहस्तावलेपान् पीवराणां शुण्डानां दर्पान्। 'अवलेपस्तु गर्वः स्याल्लेपने दूषणेऽपि च' इति विश्वः। परिहरन् दूरीकुर्वन्। व्योममार्गानुसारी आकाशमार्गानुयायी सन्। सुनिपुणं सुष्ठुचतुरो यथा भवति तथा। व्रज गच्छ। तन्मार्गे पुमान्भीरुश्चेद्गन्तुं न समर्थः। तस्माद्धीरो भवन् मुक्त्या व्रजेति तात्पर्यम् ॥५६॥

अन्वय—दिग्भ्यः बिभ्यत् भीलुकः पुमान् अद्रीन् विषमसरितः दुर्गमान् च प्रदेशान् उल्लङ्घ्य तत्र कथमिव गच्छेत् ; तत् मा रोदीः। व्योममार्गानुसारी (त्वं) पथि दिङ्नागानां स्थूलहस्तावलेपान् परिहरन् सुनिपुणं व्रज।

अर्थ—दिशाओं से डरता हुआ भीरु मनुष्य पर्वतीय विषम नदियों और दुर्गम प्रदेशों का उल्लङ्घन कर वहाँ जाने में किसी प्रकार समर्थ होता है ? अर्थात् किसी भी प्रकार समर्थ नहीं होता है अतः मत रोओ। आकाश मार्ग का अनुसरण करते हुए तुम रास्ते में दिग्गजों की बड़ी-बड़ी सूँड़ों के आक्रमण से बचते हुए निपुणता पूर्वक गमन करो।

व्याख्या—यद्यपि डरपोक होने के कारण उस दुर्गम मार्ग में चलने में आप असमर्थ हैं, तथापि आप आकाशगामी हैं अतः किसी भी प्रकार से उस मार्ग में भय नहीं हो सकता। केवल इतना प्रयत्न करना कि दिग्गजों की बड़ी-बड़ी सूड़ों के आक्रमण से अपने आपको बचाना और जिस प्रकार से कल्याण हो उसी प्रकार जाना।

प्रस्थाने ते विरचितमितस्तोरणं नूनमुच्चैः,
काञ्चीदाम श्लथितमथवा [1]स्वर्गलक्ष्म्याः किमेतत् ।
वर्णोपघ्नं धनुरुत समाविर्भवत्यत्युदग्रं,
रत्नच्छायव्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत्पुरस्तात् ॥ ५७ ॥

नूनं भूम्यान्तरितविसरं भोगिमूर्द्धन्यरत्न-
ज्योतिश्चक्रं वियति किमितो दृश्यते भूमिरन्ध्रात् ।
प्रायेणेदं दिनकरकराश्लिष्टमेघाश्रितं यद्-
वल्मीकाग्रात्प्रभवति धनुः खण्डमाखण्डलस्य ॥ ५८ ॥

प्रस्थान इति । **वल्मीकाग्रात्** वामलूरविवरात् । वामलूरश्च नाकुश्च वल्मीकं पुंनपुंसकम्' इत्यमरः । **प्रायेण** बाहुल्येन । 'प्रायो भून्म्यन्त गमने' इत्यमरः । **दिनकरकराश्लिष्टमेघाश्रितं** सूर्यकिरणसमाक्रान्तवारिवाहाश्रितम् । **यदिदं** यदेतत् । **आखण्डलस्य** इन्द्रस्य **धनुः खण्डं** चापदण्डम् । **प्रभवति** आविर्भवति । **एतत्** इन्द्रधनुः खण्डम् । **ते** तव । **प्रस्थाने** प्रयाणे । 'प्रस्थानं गमनं गमः' इत्यमरः । **इतः** पुरः । **विरचितम्** आरचितम् । **उच्चैः** महत् । **नूनं** निश्चयेन । **तोरणं** भवतीति शेषः । **अथवा** न चेत् । **स्वर्गलक्ष्म्याः** स्वः श्रियः । **श्लथितम्** आलस्तम् । **काञ्चीदाम** रशना । **किं** भवेत् किमिति प्रश्नः । **उत** अथवा । 'विकल्पे किं किमुत च' इत्यमरः । **एतत्** इन्द्रधनुः । **रत्नच्छायाव्यतिकरे** रत्नानां छायाः रत्नछायाः 'सनञ् तत्पुरुषे सेनाछायाशाला सुरानिशा' इति वैजयन्ती स्त्री नपुंसक शेषः । रत्नच्छायानां पद्मरागादिकिरणानाम् । 'छाया सूर्यप्रिया कान्तिः प्रतिबिम्बमनातपे' इत्यमरः । **व्यतिकरो** मिश्रणं तस्मात् । **अत्युदग्रम्** अत्युन्नतम् । 'उच्चप्रांशून्नतोदग्रोच्छ्रितास्तुङ्गे' इत्यमरः । **वर्णोपघ्नं** 'स्यादुपघ्नोऽन्तिकाश्रयः' इत्यमरः । **धनुः** चापः । **समाविर्भवतीव** प्रादुर्भवतीव । **पुरस्तात्** पुरोभागे । 'प्राच्यां पुरस्तात्प्रथमे' इत्यमरः । **प्रेक्ष्य** दर्शनीयं स्यात् । **इतः** सधनुः । **भूमिरन्ध्रात्** तस्माद्भूबिलात् ।

---

1. स्वर्गलक्ष्मीः तवागमनमालक्ष्य त्वदीयपरिरम्भणाभ्यवहितोत्सरक्षण एवासमयार-केलिरारंभ णीयेति कांचीदाम श्लथयित्वा वर्तत इव भाति अतस्त्वया कृपु-गन्तव्यमिति प्रेरणाकृतेत्याशयः ।

भूम्या भूतलेन । अन्तरितविसरम् अन्तरितः व्यवहितः विसरः प्रसारणं यस्य तत् । भोगिमूर्धन्यरत्नज्योतिश्चक्रम् नागेन्द्रस्य मस्तकस्थरत्नानां कान्तिवृन्दम् । मूर्द्धनि भवानि मूर्द्धन्यानि । 'दिगादिभ्यो यत्' इति यत्। । ज्योतिस्तारान्गिभाज्वाला दृक्शुभार्थप्रवरात्मसु 'चक्रं सैन्ये बलावर्ते रथाङ्गे चयराष्ट्रयोः' इत्युभयत्रापि वैजयन्ती । वियति आकाशे । नूनं निश्चयेन दृश्यते किम् अथवोत्प्रेक्षते किमित्युपेक्षा । ॥ ५७-५८ ॥ युग्मम् ।

अन्वय—(यत्) एतत् पुरस्तात् रत्नच्छाया व्यतिकर इव समाविर्भवति तत् ते प्रस्थाने उच्चैः विरचितं नूनं तोरणम् ? अथवा एतत् स्वर्गलक्ष्म्याः श्लथितम् काञ्चीदाम किम् ? उत (एतत्) अत्युदग्रं वर्णोपघ्नं धनुः नूनं (यत्) इतः भूमिरन्ध्रात् वियति दृश्यते (तत्) भूम्या अन्तरितविसरं भोगिमूर्धन्यरत्नज्योतिश्चक्रं किम् ? यत् इदं वल्मीकाग्रात् प्रभवति तत् प्रायेण दिनकरकराश्लिष्टमेघाश्रितं आखण्डलस्य धनुः खण्डम् ।

अर्थ—यह आगे मणियों की कान्तियों के मिश्रण के समान जो प्रकट हो रहा है, वह तुम्हारे प्रस्थान के समय ऊँचा बनाया गया क्या तोरण है ? अथवा यह स्वर्ग लक्ष्मी की शिथिलीभूत माला के समान मेखला है अथवा यह अत्यन्त ऊँचा अनेक प्रकार के रंगों वाला धनुष है । निश्चित रूप से जो यहाँ भूमि के बिल से आकाश में दिखाई देता है क्या वह भूमि के द्वारा रोका गया है प्रसार जिसका ऐसा फणीन्द्र के मस्तक के रत्नों के तेज का समूह है ? जो यह बाँबी के अग्रभाग से उत्पन्न हो रहा है । वह बाहुल्य से सूर्य की किरणों से आक्रान्त मेघ पर आश्रित इन्द्र का धनुषखण्ड है ।

भावार्थ—रत्नों की कान्तियों के सम्मिश्रण के समान दर्शनीय वस्तु दिखाई देने पर जिसे संशय उत्पन्न हो गया है, ऐसे जिज्ञासु के ये प्रश्न हैं ।

खड्गस्यैकं कथमपि दृढं मे सहस्व प्रहारं,
वक्षोभागे कुलिशकठिने प्रोच्छलद्रक्तधारम् ।
विद्युद्दण्डस्फुरितरुचिना वारिदस्येव भूयो,
येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते ॥ ५९ ॥

खड्गस्येति । विद्युद्दण्डस्फुरितरुचिना विद्युद्यष्टिवत् प्रज्वलितकान्तिना । येन खड्गेन । वारिदस्येव मेघस्येव । ते तव । श्यामं नीलहरितम् । वपुः तनुः । भूयः पुनरपि । अतितराम् प्रकृष्टाम् । कान्तिं शोभाम् । 'शोभाकान्तिर्द्युतिश्छविः' इत्यमरः । आपत्स्यते प्राप्स्यति । मे मम । खड्गस्य करवालस्य । दृढं निष्ठुरम् । 'कठोरं निष्ठुरं दृढम्' इत्यमरः । एकं प्रहारं घातम् । कुलिशकठिने वज्रकर्कशे । 'ह्लादिनी वज्रमस्त्री स्यात् कुलिशं भिदुरं पविः' इत्यमरः । वक्षोभागे वक्षः स्थले ।

'उरो वत्सं च वक्षश्च' इत्यमरः । प्रोच्चलद्रक्तधारं प्रोच्चलन्ती रक्तस्य धारा यथा भवति तथा । कथमपि महता कष्टेनापि सहस्व क्षमस्व ॥ ५९ ॥

अन्वय—कुलिशकठिने वक्षोभागे प्रोच्छलद्रक्तधारं मे खड्गस्य एकं दृढं प्रहारं कथं अपि सहस्व, येन ते श्यामं वपुः विद्युद्दण्डस्फुरितरुचिना वारिदस्य वपुः इव अतिशयं कान्तिम् आतंस्यते ।

अर्थ—वज्र के समान कठिन वक्षःस्थल पर निकल रही है रक्त की धारा जिससे ऐसी मेरी तलवार के एक प्रहार को किसी प्रकार सहन करो, जिससे तुम्हारा श्यामल शरीर दण्डाकार बिजली के प्रज्वलित तेज के कारण मेघ के शरीर के समान अत्यधिक शोभा प्राप्त कर लेगा ।

> शङ्कोरेवं[1] प्रहृतमथवा धत्स्व शूराग्रणीर्मे,
> पिच्छोपाग्रप्रततिरुचिरं येन शोभाऽधिका ते ।
> क्रीडाहेतोर्विरचिततनोरिन्द्रनीलत्विषः स्यात्,
> बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः ॥ ६० ॥

शङ्कोरिति । अथवा । क्रीडाहेतोः लीलानिमित्तम् । विरचिततनोः निर्मितशरीरस्य । इन्द्रनीलत्विषः इन्द्रनीलरत्नस्येव त्विट् कान्तिर्यस्य तस्य । गोपवेषस्य गोपालवेषवतः । विष्णोः कृष्णस्य । स्फुरितरुचिना प्रोच्चलद्द्युतिना । बर्हेणेव पिच्छेनेव 'पिच्छबर्हे नपुंसके' इत्यमरः । येन शङ्कुना । ते तव । अधिका उत्कृष्टा । शोभा कान्तिः । स्यात् भवेत् । शूराग्रणीः भो वीराग्रेसर । एवं मे मम शङ्कोः नाराचस्य । 'वा पुंसि शल्यं शङ्कुर्ना' इत्यमरः । प्रहृतं प्रहारम् । पिच्छोपाग्रप्रततिरुचिरं पिच्छस्य शल्यावस्थितबर्हस्य अग्रस्य समीपमुपाग्रं तस्य प्रततिः प्रतानम् 'प्रततिविस्तृतौ वल्ल्याम्' इति विश्वः । तया रुचिरं सुषमं यथा भवति तथा । एवं दृश्यमानप्रकारेण । धत्स्व धेहि ॥ ६० ॥

अन्वय—अथवा शूराग्रणीः पिच्छोपाग्रप्रतीतरुचिरं मे शङ्कोः एकं प्रहृतं धत्स्व, येन स्फुरितरुचिना बर्हेण क्रीडाहेतोः विरचिततनोः इन्द्रनीलत्विषः गोपवेषस्य विष्णोः इव ते अधिका शोभा स्यात् ।

अर्थ—अथवा हे शूराग्रणी ! पिच्छों के अगले भाग के समीपवर्ती प्रदेश के समान विशिष्ट रचना से शोभायमान मेरे बाण के एक प्रहार को धारण (सहन) करो; जिससे उज्ज्वल कान्ति युक्त मयूर पंख से क्रीडा के लिए जिनका शरीर बनाया गया है और जिनकी कान्ति इन्द्रनीलमणि के समान है ऐसे गोपवेषधारी विष्णु के समान आपकी अधिक शोभा हो जायगी ।

---

१. शङ्कोरेकं ।

आस्तां तावत्प्रहरणकथा स्वर्ग्यया ऽज्य्र्यं तथाऽयं,
मार्गः स्वर्जो वियदभिपतेः प्रागमुष्मात्प्रदेशात् ।
जीवमूतत्वं दधदनुगतः क्षेत्रिणां दृष्टिपातै-
स्त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविलासानभिज्ञैः ॥ ६१ ॥

आस्तामिति । यया कथया स्वः स्वर्गः 'स्वर्गे परे च लोके स्वः' इत्यमरः । अर्ज्यं सम्पाद्यं भवति सा प्रहरणकथा प्रघातोक्तिः । अथवा प्रहरणकथा आयुधवार्ता । 'आयुधं तु प्रहरणम्' इत्यमरः । तावदास्तां तदा तिष्ठतु । तव ते । अयं दृश्यमानः । स्वर्जः स्वर् स्वर्गं जायते इति तथोक्तः । स्वर्गप्रापक इत्यर्थः । मार्गः पन्थाः भवति । जीमूतत्वं मेघस्वरूपम् । दधत् वहन् । कृषेर्हलकर्मणः फलं सस्यम् त्वयि भवति । अधिकरणविवक्षायां सप्तमी । आयत्तं 'अधीनो निघ्न आयत्तः' इत्यमरः । इति अस्मात् हेतोः । 'इति हेतु प्रकरणप्रकाशादिसमाप्तिषु' इत्यमरः । क्षेत्रिणां कृषीवलानाम् । भ्रूविलासानभिज्ञैः भ्रूविकाराणां भ्रुवोर्विलासानाम् अनभिज्ञैः प्रशाविकलैः । पामरत्वादिति यावत् । दृष्टिपातैः दृग्व्यापारैः । अनुगतः अनुयातः सन् । अमुष्मात् प्रदेशात् एतत्स्थानात् । प्राक् पूर्वम् । वियत् व्योम । अभिपतेः अभिगच्छेः ॥ ६१ ॥

अन्वय—यया स्वः तव अर्ज्यं सा प्रहरणकथा तावत् आस्तां । अयं स्वर्जः मार्गः । कृषिफलं त्वयि आयत्तं इति भ्रूविलासानभिज्ञैः क्षेत्रिणां दृष्टिपातैः अनुगतः जीमूतत्वं दधत् अमुष्मात् प्रदेशात् वियत अभिपतेः ।

अर्थ—जिसके द्वारा तुम्हें स्वर्ग का अर्जन होगा, वह युद्ध की कथा इस समय रहने दो । यह तुम्हें स्वर्ग पहुँचाने वाला मार्ग है । 'कृषि का फल तुम्हारे आधीन है' इस प्रकार भौंहों के विलास से अनभिज्ञ कृषक स्त्रियों के दृष्टिपातों से अनुसरण किए गए और मेघपने को धारण करते हुए इस प्रदेश से पहले आकाश प्रदेश की ओर अभिमुख होकर जाओ ।

विद्युन्मालाकृतपरिकरो भास्वदिन्द्रायुधश्री-
रुद्यन्मन्द्रस्तनितसुभगः स्निग्धनीलाञ्जनाभः ।
शीघ्रं यायाः कृतकजलद त्वत्पयोबिन्दुपात-
प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः ॥ ६२ ॥

विद्युन्मालेति । कृतकजलद भो विकल्पितमेघ । त्वं विद्युन्मालाकृतपरिकरः सौदामिनीभिः कृतपरिवारः । 'तडित्सौदामिनीविद्युत्' 'परिकरः पर्यङ्कपरिवारयोः' इत्युभयत्राप्यमरः । भास्वदिन्द्रायुधश्रीः भास्वती इन्द्रायुधस्य श्रीर्यस्य सः । 'इन्द्रा-

मुर्धवक्रधनु:' उद्गच्छन्स्तनितसुभगः मन्द्रं च तत्स्तनितं च उद्गच्छन्च तत् मन्द्रस्तनितं च तेन सुभगः रुचिरः । स्निग्धनीलाञ्जनाभः स्निग्धं मसृणं तच्च नीलाञ्जनं च तदिव आभा यस्येति तथोक्तः । 'चिक्कणं मसृणं स्निग्धम्' इत्यमरः । त्वत्पयोबिन्दुपातप्रीतिस्निग्धैः तव जलबिन्दुपतनेन जात प्रमोदेन विश्वस्तैः । जनपदवधूलोचनैः देशस्त्रीणां नेत्रैः पीयमानः पीयते इति पीयमानः अतितृष्णया निरीक्ष्यमाणः सन्नित्यर्थः । शीघ्रं त्वरितम् । यायाः गच्छेः ॥ ६२ ॥

अन्वय—हे कृतकजलद ! विद्युन्मालाकृतपरिकरः स्निग्धनीलाञ्जनाभः, त्वत्पयोबिन्दुपातप्रीतिस्निग्धैः जनपदवधूलोचनैः पीयमानः (त्वं) शीघ्रं यायाः ।

अर्थ—हे कृत्रिम मेघ ! विद्युत् की माला से अपने शरीर का सम्बन्ध करने वाले देदीप्यमान इन्द्र धनुष की शोभा के समान शोभा से युक्त, प्रकट होती हुई गम्भीर गर्जना से मनोहर, तैल से आर्द्रीकृत अञ्जन के समान कृष्णवर्ण की प्रभा वाले तुम्हारे जल की वर्षा से उत्पन्न प्रीति के कारण जिनमें प्रेम उत्पन्न हो गया है ऐसे गाँव की स्त्रियों के नेत्रों से आदरपूर्वक देखे जाते हुए (तुम) शीघ्र ही जाओ ।

भावार्थ—हे कृत्रिम मेघ ! चूँकि गाँव की स्त्रियाँ अपने लोचनों से तुम्हारा आतिथ्य करेंगी, अतः तुम वहाँ पर अधिक समय न बिताकर शीघ्र ही आगे बढ़ना ।

दृश्यान्देशाञ्जलद सकलान्प्रेक्ष्य सिंहावलोका-
त्तत्रत्यानां जनपदभुवां तापमाहृत्य पश्चात् ।
प्रत्यासन्नं जनपदमिमं लङ्घयाऽलं विलम्ब्य,
सद्यः सीरोत्कषणसुरभि क्षेत्रमारुह्य मालम् ॥ ६३ ॥

दृश्यानीति । **जलद** मेघ । **दृश्यान्** द्रष्टुं योग्यान् । **सकलान् देशान्** सर्वविषयान् । **सिंहावलोकात्** सिंहवदवलोकनात् । **प्रेक्ष्य** दृष्ट्वा । **तत्रत्यानां** तत्र भवास्तत्रत्यास्तेषाम् । 'क्वेहामुतस्त्रात्यप्' । **जनपदभुवां** जनपदे भवन्तीति जनपदभुवस्तेषां जनानाम् । **तापं** सन्तापम् । **आहृत्य** परिहृत्य । **पश्चात्** अनन्तरं । **विलम्ब्य** कालमापनं कृत्वा । **अलं** पर्याप्तम् । 'अलं भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम्' इत्यमरः । कालक्षेपो मा भूदित्यर्थः । **मालं** शैलवदुन्नतस्थलम् । 'मालमुन्नत क्षेत्रम्' इत्युत्पलः । 'मालमुन्नतभूः' इति नानार्थरत्नमालायाम् । **क्षेत्रं** भूप्रदेशं । 'क्षेत्रं शरीरेकेदारे सिद्धस्थानकलत्रयोः' इति विश्वः । **सद्यः** तत्क्षण एव । **सीरोत्कषणसुरभि** सीरैर्हलैरुत्कर्षणेन सुरभि घ्राणतर्पणः यथा भवति तथा । ईषद्वृष्टिं वितन्वन्निति भावः । **आरुह्य** उत्क्रम्य । **प्रीत्या** प्रमोदेन आसन्नं समीप-

गतम् । इमं जनपदम् एतद्देशम् । 'नीवृज्जनपदो देशविषयौ' इत्यमरः । लङ्घय अस्येहि ॥ ६३ ॥

अन्वय—हे जलद ! सकलान् दृश्याम् देशान् सिंहावलोकनात् प्रेक्ष्य तत्स्थानां जनपद भुवां तापं आहृत्य पश्चात् सद्यः सीरोत्कषणसुरभि क्षेत्रं मालं आरुह्य इमं आसन्नं जनपदं प्रीत्या उल्लङ्घ्य विलम्बः अलम् ।

अर्थ—हे मेघ ! देखने योग्य समस्त देशों (प्रदेशों) का सिंहावलोकन कर तथा उन स्थानों के देशवासियों के आतप का निवारण करने के बाद तत्क्षण हल चलाये जाने से खुशबूदार माल नामक क्षेत्र पर आरोहण कर इस समीपवर्ती देश (प्रदेश) को प्रीतिपूर्वक पार करो, इसमें विलम्ब मत करना ।

यद्यौत्सुक्यं तव जनपदप्रेक्षणे दीर्घकालं,
प्रत्यावृत्तस्वविषयरतेरस्ति भिक्षो कदाचित् ।
तत्पेपीयस्व परिसरितं दक्षिणाशां भ्रमित्वा,
किञ्चित्पश्चाद्व्रज लघुगतिर्भूय एवोत्तरेण ॥ ६४ ॥

यदिति । तव भवतः । दीर्घकालं बहुकालपर्यन्तम् । जनपदप्रेक्षणे देशदर्शने । औत्सुक्यं लाम्पट्यम् । यदि भवति चेत्तर्हि । प्रत्यावृत्तस्वविषयरतेः प्रत्यावृत्ता पुनरागता स्वविषयरतिश्चक्षुरादीन्द्रियासक्तिस्तस्या इति कर्मधारयः । सा रतिर्यस्येति बहुव्रीहिर्वा । कदाचित् कस्मिंश्चित्काले । भिक्षा प्राप्तिः अस्ति । तत् तस्मात् । पश्चात् पुनः । किञ्चित् कियत् । दक्षिणाशाम् अवाचीदिशम् । भ्रमित्वा चलित्वा । परिसरितं सरितं सरितं परि तथोक्तम् । पेपीयस्व अत्यर्थं पानं विधेहि । 'पीङ् पाने' इति धातोः यङ्लुङ्लोट् । भूयः पुनश्च । उत्तरेणैव उत्तरमार्गेणैव । लघुगतिः प्राक् तत्र निर्वृष्टत्वात् क्षिप्रगमनः सन् । 'लघु क्षिप्रमरं द्रुतम्' इत्यमरः । व्रज गच्छ ॥ ६४ ॥

अन्वय—भिक्षो, यदि दीर्घकालं प्रत्यावृत्तस्वविषयरतेः तव जनपदप्रेक्षणे कदाचित् औत्सुक्यं अस्ति तत् परिसरितं किञ्चित् भ्रमित्वा दक्षिणाशां पेपीयस्व । पश्चात् लघुगतिः भूयः उत्तरेण एव व्रज ।

अर्थ—हे भिक्षु ! यदि अधिक समय तक विषयाकांक्षा विनष्ट होने से तुम्हारी जनपद को देखने की कदाचित् उत्सुकता है तो नदी को छोड़कर कुछ भ्रमण कर दक्षिण दिशा का चक्षु के द्वारा पुनः पुनः पान करो (देखो) । पश्चात् शीघ्रगामी होकर पुनः उत्तर दिशा की ओर ही जाओ ।

---

१. भिक्षो ।

वक्ष्यत्युच्चैः पथगतपरिश्रान्तितान्तं नितान्तं,
तुङ्गोऽद्रिः स्वैर्बहुविलसितैर्निर्झरैरात्तकान्तिः ।
प्रत्युद्यातो धुततटवनोपान्तदेशैर्मरुद्भिः,
त्वामासारप्रशमितवनोपद्रवं साधु मूर्ध्ना ॥ ६५ ॥

वक्ष्यतीति । **उच्चैः पथगतिपरिश्रान्तितान्तम्** उच्चैः पथगत्या व्योमगमनेन जाता परिश्रान्तिः परिश्रमः तया तान्तः खिन्नस्तम् । **आसारप्रशमितवनोपद्रवम्** आसारेण वेगवद्वर्षणेन 'आसारो वेगवद्वर्षम्' इत्यमरः । प्रशमितो वनोपद्रवो वना-ग्निर्येन तं कृतोपकारमित्यर्थः । **त्वां** भवन्तम् । **तुङ्गः** उन्नतः । **अद्रिः** भूभृत् । कोप्य-द्रिरितिवा पाठः । **स्वैः** स्वकीयैः । **बहु विलसितैः** बहुधा निर्मितैः **निर्झरैः** जलप्रवाहैः । 'प्रवाहो निर्झरो झरः' इत्यमरः । **आत्तकान्तिः** धृतद्युतिः । **धुततटवनोपान्तदेशैः** धुताः कम्पिताः तटवनस्य उपान्तदेशा यैस्तैः । **मरुद्भिः** वायुभिः । **प्रत्युद्यातः** प्रत्युद्-गतः सन् **नितान्तं** गाढम् । 'तीव्रैकान्तनितान्तानि गाढबाढदृढानि च' इत्यमरः । **साधु** सम्यक् । **मूर्ध्ना** शिरसा । **वक्ष्यति** उद्धरिष्यति । 'वहि प्रापणे' लृट् । दत्तपाद्यः कृताऽभ्यागतप्रतिपत्तिः सन् मानयिष्यतीति तात्पर्यम् ॥ ६५ ॥

अन्वय—बहुविलसितैः स्वैः निर्झरैः आत्तकान्तिः धुततटवनोपान्तदेशैः मरुद्भिः प्रत्युद्यातः नितान्तं तुङ्गः अद्रिः आसारप्रशमितवनोपद्रवं पथगतिपरिश्रान्तितान्तं त्वां मूर्ध्ना उच्चैः साधु वक्ष्यति ।

अर्थ—अनेक प्रकार की शोभाओं से युक्त अपने जल प्रवाहों से प्राप्त कान्ति वाला, किनारे के वन के समीपवर्ती प्रदेशों को कँपाने वाली वायुओं के द्वारा आदर सत्कार के लिए उठा हुआ, अत्यधिक ऊँचा (कोई) पर्वत दावाग्नि से उत्पन्न दुःख को (अपनी) धाराप्रवाह जल वर्षा से दूर करने वाले तथा मार्ग में गमन करने से उत्पन्न परिश्रम के कारण थके हुए तुम्हें शिर से ऊँचाई पर भली प्रकार धारण कर लेगा ।

भावार्थ—सज्जन लोग किए हुए उपकार को नहीं भूलते हैं । किसी पर्वत पर दावानल जल रही थी । उसे मेघ अपनी धाराप्रवाह जल वर्षा से बुझा देगा । इस कारण कृतज्ञ पर्वत अवश्य ही उस मेघ की भलीभाँति अगवानी करेगा और उपकारी को जिस प्रकार लोग अपने सिर पर उठा लेते हैं, उसी प्रकार जो पर्वत भी मेघ को (जो मार्ग में चलने को थकान के कारण दुःखी है) भलीभाँति अपने ऊपर धारण कर लेगा ।

त्वय्यासन्ने विरलविरलान्प्रावृषेण्योदबिन्दून्,
वस्त्रक्नोपं विसृजसि तयाऽप्यश्मवेश्मोदरीषु ।

सिद्धद्वन्द्वं सुरतरसिकं प्रान्तपर्यस्तवीणं,
वक्ष्यत्यध्वश्रमपरिगतं सानुमानाम्रकूटः ॥ ९६ ॥

त्वयीति । **आसन्ने** समीपगते । **त्वयि** भवति । **विरलविरलान्** सान्तरसान्तरान् । वीप्सायां द्विः । **प्रावृषेण्योदबिन्दून्** प्रावृट्कालभवजलकणान् । **वस्त्रक्नोपं** यावता वस्त्रं क्नोपितमार्द्रं भवति तावत् **विसृजति** वर्षति सति । 'चेलार्थात् क्नोपेः' इति विकल्पितो णमुल् । तथापि **आम्रकूटः** आम्राश्चूताः कूटेषु शिखरेषु यस्य सः । आम्रकूटो नाम **सानुमान्**पर्वतः । **अश्मवेश्मोदरेषु** शिलासद्ममध्येषु गुहास्वित्यर्थः । **सुरतरसिकं** निधुवनशीलम् । **प्रान्तपर्यस्तवीणम्** प्रान्ते समीपे पर्यस्ता निसृष्टा वीणा यस्य तत् । **अध्वश्रमपरिगतं** प्राप्तम् **सिद्धद्वन्द्वं** देवविशेषमिथुनम् । **वक्ष्यति** धारयिष्यति । **मेघागमनस्य** रतिहेतुत्वात् सुरतप्रियं सिद्धमिथुनं सूचयतीति भावः ॥९६॥

अन्वय—तथा अपि आसन्ने त्वयि विरलविरलान् प्रावृषेण्योदबिन्दून् वस्त्रक्नोपं विसृजति सति आम्रकूटः सानुमान् अध्वश्रमपरिगतं प्रान्तपर्यस्तवीणं सुरतरसिकं सिद्धद्वन्द्वं अश्मवेश्मोदरेषु वक्ष्यति ।

अर्थ—उसी प्रकार तुम्हारे समीप में आने पर तथा अत्यधिक विरल वर्षाकाल के समान जलबिन्दुओं को वस्त्र को गीला करने मात्र बरसाने पर आम्रकूट पर्वत मार्ग के परिश्रम से व्याप्त (अर्थात् मार्ग के परिश्रम से खिन्न), समीपवर्ती प्रदेश में वीणा नामक वाद्य को स्थापित किए हुए, सुरत के रसिक सिद्धों के जोड़े को शिलागृह के मध्य धारण कर लेगा ।

त्वामुत्तुङ्गैः शिखरतरुभिः सङ्ग्रहीष्यत्यवश्यं,
विश्रान्त्यर्थं प्रियमुपगतं सोऽचलस्तुङ्गवृत्तिः ।
प्राप्तं काले प्रणयिनमहो कर्तुमर्हत्यपाशं,
न क्षुद्रोऽपि प्रथमसुकृतापेक्षया संश्रयाय ॥ ९७ ॥

त्वामिति । **तुङ्गवृत्तिः** तुङ्गा वृत्तिर्यस्य सोऽचलः **स** आम्रकूटः । **विश्रान्त्यर्थं** विश्रमणाय । **उपगतं** समीपगतम् । **प्रियं** मित्रम् । **त्वां** भवन्तम् । **उत्तुङ्गैः** उन्नतैः । **शिखरतरुभिः** कूटस्थवृक्षैः । **अवश्यं** निश्चयेन । **सङ्ग्रहीष्यति** सम्मानं करिष्यति । **तथाहि** । **काले** समये । **संश्रयाय** आश्रयाय । **प्राप्तम्** आगतम् । **प्रणयिनं** विश्व-स्तम् । **क्षुद्रोऽपि** कृपणोऽपि 'क्षुद्रो दरिद्रे कृपणे नृशंसे' इति यादवः । किं पुनरुदार इत्यपि शब्दार्थः । **प्रथमसुकृतापेक्षया** पूर्वोपकारपर्यालोचनया । **अपाशं** निष्फला-भिलाषम् । **कर्तुं** विधातुम् । **नार्हत्यहो** योग्यो न भवति हि । किन्तु सम्मानयत्ये-वेति तात्पर्यम् ॥९७॥

अन्वय—विश्रान्त्यर्थं उपगतं त्वां प्रियं सः तुङ्गवृत्तिः अचलः उत्तुङ्गशिखरतरुभिः अवश्यं सद्ग्रहीष्यति । काले संश्रयाय प्राप्ते प्रणयिनं अहो ! क्षुद्रः अपि प्रथम सुकृतापेक्षया अपाशं कर्तुं न अर्हति ।

अर्थ– विश्राम के लिए प्रियमित्र आपको पाने पर उन्नतावस्था को प्राप्त (महापुरुषों के आचार के समान जिसका आचार है) वह आम्रकूट पर्वत ऊँचे अपने शिखर पर उगे वृक्षों द्वारा अवश्य ही स्वागत करेगा। योग्य समय में आश्रय हेतु प्राप्त मित्र को अहो ! क्षुद्र व्यक्ति भी पहले के उपकारों की अपेक्षा निराश करने योग्य नहीं होता है।

व्याख्या—मेघ ने दावानल बुझाकर आम्रकूट पर्वत का उपकार किया है। इस पूर्व उपकार को याद कर आम्रकूट पर्वत अवश्य ही मेघ को अपनी चोटी के ऊपर स्थित वृक्षों पर जगह देकर अगवानी करेगा। क्षुद्र व्यक्ति भी अपने उपकारी को समय पड़ने पर कभी निराश नहीं करता है, उन्नतावस्था को प्राप्त आम्रकूट पर्वत की तो बात ही क्या है ? महापुरुषों के समान आचार वाला वह अवश्य ही मेघ का स्वागत कर आशान्वित करेगा।

मन्ये मैत्रीं गुरुभिरचलैर्वारिदानामहार्यां,
यं प्रत्येते विदधति धृतिं तस्यते बन्धुकृत्यम् ।
कुर्यादद्रिर्भृशमसुहृदोऽप्युत्तमस्निग्धवृत्तिः,
प्राप्ते मित्रे भवति विमुखः किं पुनर्यस्तथोच्चैः ॥ ६८ ॥

मन्य इति । **वारिदानां मेघानाम्** । **गुरुभिः** महद्भिः । **अचलैः** गिरिभिः । **आहार्याम्** अतिस्निग्धाम् । **मैत्रीं** मित्रत्वम् । **मन्ये** जाने । **तथाहि** । **एते वारिदाः** । **यं प्रति** यमुद्दिश्य । **धृतिं** सन्तोषम् । 'योगान्तरे धारणे च सन्तत्तौ सुखे पि च । धैर्यसन्तोषयोश्चैव धृतिशब्द उदाहृतः ।' इत्यभिधानात् । **विदधति** कुर्वन्ति । ते अचलाः । **तस्य** वारिदैः सन्तोषितस्यैव । **बन्धुकृत्यम्** । **भृशम्** अत्यन्तम् । 'अतिवेलभृशात्यर्थातिमात्रोद्गाढ निर्भरम्' इत्यमरः । **कुर्यात्** विदध्यात् । **तथा** तेन प्रकारेण । **उच्चैः** महति । **मित्रे** सुहृदि । **प्राप्ते** आश्रिते सति । **यः पुनः** यः कश्चन । **विमुखो भवति किम्** पराङ्मुखो न भवत्येवेत्यर्थः ॥६८॥

अन्वय—वारिदानां गुरुभिः अचलैः मैत्री आहार्या मन्ये । यं प्रति एते धृतिं विदधति, तस्य ते असुहृदः अपि उत्तमस्निग्धवृत्तिः अद्रिः भृशं बन्धुकृत्यं कुर्यात् । यः पुनः तथा उच्चैः (सः) मित्रे भवति प्राप्ते विमुखः किम् ?

अर्थ—मैं मानता हूँ कि मेघों की बड़े-बड़े पर्वतों के साथ जो मित्रता है, उसका परिहार करना शक्य नहीं है अर्थात् वह अत्यन्त स्नेहमयी है।

जिस आपके प्रति ये पर्वत सन्तोष को धारण करते हैं, मित्रभाव को अप्राप्त उस आपका महापुरुषों के समान स्नेहाचरण करने वाला आम्रकूट पर्वत अत्यधिक रूप से बन्धु के द्वारा करने योग्य स्वागत-सत्कारादि के कार्य को करेगा। जो आम्रकूट पर्वत पुनः पूर्वोक्त प्रकार से उन्नत है, वह मित्र के रूप में आपको पाकर क्या विमुख होगा ?

भावार्थ—चूंकि मेघों की उन्नतकाय वाले पर्वतों के साथ मित्रता है, अतः वे पर्वत मेघ जैसे व्यक्तियों का अवश्य ही स्वागत करेंगे। आम्रकूट पर्वत जो शत्रुओं के प्रति भी महापुरुषों के समान व्यवहार करता है, मित्र के रूप में आपको पाकर अवश्य ही स्वागत करेगा। तात्पर्य यह कि आम्रकूट पर्वत यदि आप मित्र न भी होते तो भी आपका स्वागत करता, मित्र होने पर तो करेगा ही।

सेव्यः सोऽद्रिः खचरवनिताध्यासितोदग्रशृङ्ग-
स्त्वां विश्रान्त्यै त्वरयति पुरा रम्यसानुप्रदेशः।
सिद्धोपास्यः कुसुमितलतावीरुधां सन्निवेश्यः,
छन्नोपान्तः परिणतफलद्योतिभिः काननाम्रैः ॥ ६९ ॥

सेव्य इति। **खचरवनिताध्यासितोदग्रशृङ्गः** विद्याधरस्त्रीभिरधिष्ठितमुन्नतशिखरं यस्य सः। **रम्यसानुप्रदेशः** रम्यः सानूनां प्रदेशो यस्य सः। **सिद्धोपास्यः** सिद्धदेवैराराध्यः। **कुसुमितलतावीरुधां** पुष्पितलतागुल्मानाम्। द्राक्षादयो लताभेदाः। मुस्ताकादयो गुल्मभेदा इति यावत्। **सन्निवेश्यः** आश्रयणीयः। **परिणतफलद्योतिभिः** परिणतैः परिपक्वैः फलैः द्योतन्त इति द्योतिनस्तैः। आषाढे च वनचूताः फलन्ति पच्यन्ते च मेघवातैरित्यावादः। **काननाम्रैः** वनचूतैः। **छन्नोपान्तः** समावृत पार्श्वः। **सेव्यः** सेवितुं योग्यः। **सोऽद्रिः** आम्रकूटाचलः। **पुरा** अग्रतः। 'निकटागामिके पुरा' इत्यमरः। **विश्रान्त्यै** विश्रमणाय। **त्वां** भवन्तम्। **त्वरयति** सम्भ्रमयति ॥६९॥

अन्वय—खचरवनिताध्यासितोदग्रशृङ्गः रम्यसानुप्रदेशः सिद्धोपास्यः कुसुमितलतावीरुधां सन्निवेश्यः परिणतफलद्योतिभिः काननाम्रैः छन्नोपान्तः सेव्यः स अद्रिः पुरा त्वां विश्रान्त्यै त्वरयति।

अर्थ—विद्याधरियाँ जिसके ऊँचे शिखर पर बैठा करती हैं, सुन्दर शिखरों के अग्रभाग से युक्त सिद्धों के द्वारा सेवन करने योग्य, फूली हुई लताओं और गुल्मों के आश्रय के योग्य, पके हुए फलों के द्वारा द्योतित वन के आमों द्वारा जिसका समीपवर्ती प्रदेश ढका हुआ है (इस प्रकार) सेवन करने योग्य वह पर्वत तुम्हें निकट भविष्य में विश्राम करने के लिए जल्दी कराएगा।

कृष्णाहिः किं वलयिततनुर्मध्यमस्याधिशेते,
किं वा नीलोत्पलविरचितं शेखरं भूभृतः स्यात् ।
इत्याशङ्कां जनयति पुरा मुग्धविद्याधरीणां,
त्वय्यारूढे शिखरमचलः स्निग्धवेणी सवर्णे ॥ ७० ॥

कृष्णाहिरिति । स्निग्धवेणीसवर्णे मसृणकेशबन्धनसच्छाये श्यामवर्ण इत्यर्थः । 'वेणी तु केशबन्धने । जलसृतौ' इति यादवः । त्वयि भवति । शिखरं शृङ्गम् । आरूढे सति । 'यद्भावो भावलक्षणम्' इति सप्तमी । अचलः सोऽद्रिः । मुग्धविद्याधरीणां मुग्धानां विद्याधरस्त्रीणां । वलयिततनुः मण्डलितकायः । कृष्णाहिः कृष्णसर्पः । अस्य पर्वतस्य । मध्यमस्याधिशेते किं मध्ये तिष्ठति किम् । 'शीङ्स्थासोऽधेराधारः' इत्याधारे द्वितीया । अथवा भूभृतः गिरेः । नीलोत्पलविरचितं कुवलयघटितम् । शेखरं माल्यम् । 'शिखास्वापीड शेखराः' इत्यमरः । स्यात्किम् । इत्याशङ्का एवम् आशङ्काम् । पुरा अग्रे । जनयति उत्पादयति ॥ ७० ॥

अन्वय—स्निग्धवेणी सवर्णे त्वयि शिखरं आरूढे (सति) अचलः वलयिततनुः कृष्णाहिः अस्य मध्यं अधिशेते किम् ? वा भूभृतः नीलोत्पलविरचितं शेखरं स्यात् किम् ? इति आशङ्कां मुग्धविद्याधरीणां पुरा जनयति ।

अर्थ—तेल से आर्द्रीकृत केशबन्ध के सदृश वर्ण वाले तुम जब (आम्रकूट पर्वत के) शिखर पर चढ़ोगे तो आम्रकूट पर्वत क्या अपने शरीर को मण्डलाकार परिणमित करने वाला काला सर्प इस पर्वत के मध्य में बैठा है अथवा यह पर्वत का नीलकमल से बनाया गया शेखर है ? इस प्रकार की आशंका को भोली भाली विद्याधरियों के सामने उत्पन्न करता है ।

भावार्थ—जब मेघ पर्वत के मध्य विराजमान हो जाता है तो तेल युक्त केशबन्ध के समान काले वर्ण वाले मेघ को देखकर भोली भाली विद्याधरियों के मन में यह शङ्का हो जाती है कि क्या यह कुण्डली मारे हुए काला सर्प पर्वत के मध्य में बैठा है अथवा नीलकमल से बनाया गया यह पर्वत का हार है ?

अध्यासीनः क्षणमिव भवानस्य शैलस्य कुञ्जं,
लक्ष्मीं रम्यां मुहुरुपहरन्निन्द्रनीलोपलस्य ।
खेनोन्मुक्तो भुवमिव गतः श्लक्ष्णनिर्मोकखण्डो,
नूनं यास्यत्यमरमिथुनप्रेक्षणीयामवस्थाम् ॥ ७१ ॥

अध्यासीन इति । भवान् त्वम् । अस्य शैलस्य आम्रकूटस्य । कुञ्जं निकुञ्जं । क्षणमिव । इव शब्दो वाक्यालङ्कारे । अध्यासीनः । 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' इति द्वितीया । निकुञ्जनिविष्टः सन् इत्यर्थः । मुहुः पुनः । इन्द्रनीलोपलस्य इन्द्रनीलमणेः । रम्यां लक्ष्मीं । शोभां तुल्यामित्यर्थः । उपहरन् उपलब्धन् । खेन गगनेन 'अनन्तं सुरवर्त्म खम्' इत्यमरः । उन्मुक्तः त्यक्तः सन् । भुवं भूमिम् । गतः प्राप्तः । श्लक्ष्णनिर्मोकखण्ड इव दभ्रकञ्चुकलेशवत् । 'श्लक्ष्णं दभ्रं कृशं तनुं' 'समौ कञ्चुकनिर्मोकौ' इत्यमरः । अमरमिथुनप्रेक्षणीयां दैवमिथुनैर्दर्शनीयां । अवस्थां दशाम् । नूनम् अवश्यम् । यास्यति गमिष्यति । भवच्छब्दप्रयोगात् प्रथमपुरुषः ॥७१॥

अन्वय—इन्द्रनीलोपलस्य रम्यां लक्ष्मीं मुहुः उपहरन् अस्य शैलस्य कुञ्जं क्षणं इव अध्यासीनः भवान् खेन उन्मुक्तः भुवं गतः श्लक्ष्णनिर्मोकखण्डः इव अमरमिथुनप्रेक्षणीयां अवस्थां नूनं यास्यति ।

अर्थ—पुनः इन्द्रनीलमणि की रमणीय लक्ष्मी (कान्ति) को बार बार धारण करते हुए इस पर्वत निकुञ्ज में क्षण भर बैठकर स्वर्ग से परित्यक्त होकर पृथ्वी में आए हुए सूक्ष्म आकाश-खण्ड के समान आप देव युगलों के द्वारा देखने योग्य अवस्था को अवश्य प्राप्त करोगे ।

त्वय्यानीलत्विषि गिरिरसौ शेखरत्वं दधाने,
शोभामेष्यत्यमरमिथुनश्लाघनीयां तदानीम् ।
नानापुष्पद्रुमशबलितोपत्यकः सोऽतिमात्रं,
मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः ॥ ७२ ॥

त्वयीति । तदानीं तत्समये । आनीलत्विषि नीलद्युतौ । त्वयि भवति । शेखरत्वं शेखरताम् । 'शिखास्वापीडशेखरौ' इत्यमरः । दधाने वहमाने सति पर्वतस्य शिखरोपमे सतीत्यर्थः । नानापुष्पद्रुमशबलितोपत्यकः नानाविधानि पुष्पाणि येषां ते ते च ते द्रुमाश्चतैः शबलिता मिश्रिता 'चित्रं किर्मीरकल्माष शबलैताश्च कर्बुरे' इत्यमरः । उपत्यकानगासन्नभूमिर्यस्य सः । 'उपत्यकाद्रेरासन्ना भूमिः' इत्यमरः । मध्ये श्यामः मध्ये शिखरे श्यामः कृष्णवर्णः । 'अलुक्समासः' । शेषविस्तारपाण्डुः मध्यादन्यत्रविस्तारे परितः प्रदेशे 'विस्तारो विग्रहो व्यासः' इत्यमरः । असौ गिरिः एष आम्रकूटः । भुवः वसुन्धरादेव्याः[1] । स्तन इव पयोधर इव । अमरमिथुनश्लाघनीयां निर्जरद्वन्द्वैः स्तुत्याम् । शोभां छविम् । 'शोभाकान्ति-

---

1. भूशब्दस्यलक्षितलक्षणया वसुन्धरेत्यर्थकरणेन भवदभिमतायाः भूतपूर्वभवेनु-मुक्तायाः मदीयपत्न्याः स्तन इवाम्रकूटगिरिरयं भासते कीलेति मर्मतोदकवचनम् ।

द्युतिश्छविः' इत्यमरः । अतिमात्रं निर्भरम् । 'अतिमात्रोद्गाढनिर्भरम्' इत्यमरः । एष्यति यास्यति ।

अन्वय— मध्ये श्यामः नानापुष्पद्रुमशबलितोपत्यकः शेषविस्तारपाण्डुः आसीः कल्विषि त्वयि शेखरत्वं दधाने भुवः स्तनः इव सः असौ गिरिः तदानीं अमरमिथुनश्लाघनीयां शोभां अतिमात्रं एष्यति ।

अर्थ—मध्यभाग में कृष्णवर्ण, अनेक प्रकार के पुष्प वृक्षों से चित्रित (मिश्रित) पर्यन्त प्रदेश वाले अवशिष्ट भूभ्यास में पाण्डुवर्ण वह पर्वत चारों ओर से नीलवर्ण (मेघाकार परिणत) तुम्हारे शेखरपने (माल्यावस्था) को धारण करने पर पृथ्वी के स्तन के समान प्रतीत होता हुआ वह आम्रकूट पर्वत उस समय देव युगलों के द्वारा प्रशंसा के योग्य शोभा को अत्यधिक रूप से प्राप्त कर लेगा ।

भावार्थ—पर्वत के मध्यभाग में मेघ होने के कारण उसका वह भाग काला काला दिखाई देगा । अनेक प्रकार के पुष्पों से चित्रित निचले भाग में पाण्डुवर्ण होगा । इस प्रकार उसकी शोभा देवयुगलों के द्वारा भी प्रशंसा करने योग्य हो जायगी ।

रम्यश्रोणीर्विकटदशनाः प्रोथिनीर्दीर्घघोणाः,
पीनोत्तुङ्गस्तनतटभरान्मन्दमन्दं प्रयान्तीः ।
ग्रावक्षुण्णप्रशिथिलनखा वाजिवक्त्राः प्रपश्ये-
स्तस्मिन्स्थित्वा वनचरवधूभुक्तकुञ्जे मुहूर्तम् ॥ ७३ ॥

रम्यश्रोणीति । **वनचरवधूभुक्तकुञ्जे** वने चरन्तीति वनचरास्ते वधूभिः भुक्तः अनुभूतः कुञ्जः लतालयो यत्र तस्मिन् । एतेन तत्र विनोदोस्तीत्यर्थः । **तस्मिन्नाम्रकूटे** । **मुहूर्तं** स्वल्पकालम् । न तु चिरकालं स्वकार्यविरोधादिति भावः । 'मुहूर्तः स्वल्पकाले स्याद्घटिका द्वितयेऽपि च' इति शब्दार्णवे । **स्थित्वा** विश्रम्य । **रम्यश्रोणीः** रम्या मनोहरा श्रोणिः कटिर्यासां ताः । 'कटिर्नितम्बः श्रोणिश्च जघनम्' इति धनञ्जयः । **विकटदशनाः** विकटाः असदृशाः दशनारदना यासां ताः । 'रदना दशना दन्ताः' इत्यमरः । **प्रोथिनीः** प्रोथोस्त्यासामिति तथोक्तास्ताः लम्बोष्ठीः । **दीर्घघोणाः** दीर्घनासाः । 'घोणा नासा च नासिका' इत्यमरः । **पीनोत्तुङ्गस्तनतटभरात्** उत्तुङ्गौ च तौ स्तनौ च तथोक्तौ पीनौ च तावुत्तुङ्ग स्तनौ च तथोक्तौ 'पीन पीव्नी तु स्थूलपीवरे' इत्यमरः । 'उच्चैरुच्चावचं तुङ्गमुच्चमुन्नतमुच्छ्रितम्' इति धनञ्जयः । तयोस्तटं प्रदेशस्तस्य भरो भारस्तस्मात् 'भरोऽतिशयभारयोः' इति भास्करः । **मन्दमन्दं** शनैः शनैः । **प्रयान्तीः** गच्छन्तीः । **ग्रावक्षुण्णप्रशिथिल-**

नखाः ग्राव्णा शिलया क्षुण्णाः कर्षिता अतएव प्रशिथिलाः अग्राः नखाः नखरा यासां ताः । वाजिवक्त्राः वाजिन इव वक्त्रं यासां ताः मुखविशेषकान्ताः । प्रपश्येः प्रेक्षस्व ॥७३॥

अन्वय—वनचरवधूभुक्तकुञ्जे तस्मिन् मुहूर्तं स्थित्वा रम्य श्रोणीः विकट-दशनाः प्रोथिनो दीर्घघोणाः पीनोत्तुङ्गस्तनतटभरात् मन्दमन्दं प्रयान्तीः ग्रावक्षुण्ण-प्रशिथिलनखाः वाजिवक्त्राः प्रपश्येः ।

अर्थ—वनचर वधुओं के द्वारा भोगे गए कुञ्ज वाले उस आम्रकूट पर्वत पर क्षणमात्र ठहरकर मनोहर नितम्बों से युक्त, विशाल दाँतों वाली, घोड़े की नाक के समान लम्बी नाक वाली पुष्ट और उन्नत स्तनतटों के भार से मन्द मन्द जाती हुई, पत्थर से कुचले जाने के कारण शिथिल नखों वाली अश्वमुखी किन्नरियों को देखोगे ।

तस्मादद्रेः कथमपि भवान्मुक्तकुञ्जः प्रयायाद्,
रम्यस्थानं त्यजति न मनो दुर्विधानं प्रतीहि ।
कालक्षेपं विसृज गरिमालम्बनं याहि सद्य-
स्तोयोत्सर्गद्रुततरगतिस्तत्परं वर्त्म तीर्णः ॥ ७४ ॥

तस्मादिति । तस्मादद्रेः आम्रकूटात् । भवान् त्वम् । कथमपि कष्टेनापि । मुक्तकुञ्जः मुक्तः कुञ्जो येन सः सन् । प्रयायात् गच्छेत् । मनः चित्तम् । दुर्विधानं कर्तुमशक्यम् । लङ्घयितुमशक्यमित्यर्थः । रम्यस्थानं मनोहर प्रदेशम् । न त्यजति न जहाति । इति प्रतीहि जानीहि । 'इण् गतौ' लोट् । कालक्षेपं वेला-विलम्बनम् । विसृज त्यज । तोयोत्सर्गद्रुततरगतिः जलमोचनेन शीघ्रगमनः सन् लघुभूत इति भावः । तत्परः आम्रकूटादुत्तरम् । वर्त्म अध्वानम् । तीर्णः प्रस्थितः । गरिमालम्बनं गुरोर्भावो गरिमा । 'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा' इति भावे इमन् । 'प्रियस्थिर' इत्यादिना गुरुशब्दस्य गरादेशः । गरिम्णः आलम्बनम् आश्रयो यथा तथा । तोयो-त्सर्गेण लघुत्वेपि माहात्म्यमनुत्सर्जं नीयमित्याशयः । सद्यः तत्क्षण एव । याहि गच्छ ॥७४॥

अन्वय—मुक्तकुञ्जः भवान् तस्मात् अद्रेः कथं अपि प्रयायात् । दुर्विधानं मनः रम्यस्थानं त्यजति (इति) प्रतीहि । तोयोत्सर्गद्रुततरगतिः तत्परं वर्त्म तीर्णः गरिमालम्बनं कालक्षेपं विसृज । सद्यः याहि ।

अर्थ—(आम्रकूट पर्वत के) कुञ्जों को छोड़कर आप उस पर्वत से जिस किसी उपाय से आगे बढ़ना । जो दुःख से वश में किया जाता है ऐसा मन रमणीय स्थान को नहीं छोड़ता है, ऐसा जानो । जल की वृष्टि

से अतिशीघ्र गति वाले होकर आम्रकूट के अनन्तरवर्ती मार्ग को पार करते हुए अपने भारीपन के कारण विलम्ब को छोड़कर शीघ्र ही जाना।

गत्वोदीचीं भुव इव पृथुं हारयष्टिं विभक्तां,
वन्येभानां　रदनहृतिभिर्भिन्नपर्यन्तवप्राम्।
वीनां　वृन्दैर्मधुरविरुतैरात्ततीरोपसेवां,
रेवां द्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णाम् ॥ ७५ ॥

गत्वेति। उदीचीं कौबेरीं दिशम्। 'उत्तरा दिगुदीची स्यात्' इत्यमरः। गत्वा। भुवः भूदेव्याः। विभक्तां विच्छित्तिमताम्? पृथुं महतीम्। हारयष्टिमिव हारलतावत्। उपलविषमे उपलः पाषाणे 'पाषाणप्रस्तरग्रावोपलाश्मानः' इत्यमरः। विषमे विकटे। विन्ध्यपादे विन्ध्यनाम्नोऽद्रेः पादे प्रत्यन्तपर्वते। 'पादाः प्रत्यन्त पर्वताः' इत्यमरः। विशीर्णां समन्ततो विस्तृताम्। एतेन कस्याश्चित् कामुक्याः प्रियतमचरणे पातोऽपि व्यज्यते। वन्येभानां कान्तारमतङ्गजानाम्। रदनहृतिभिः दन्ताघातैः। भिन्नपर्यन्तवप्रां स्फुटित समीपकूलाम्। मधुरविरुतैः श्रुतिसुभगध्वनियुतैः वीनां पक्षिणाम्। 'विपक्षिपरमात्मनोः' इत्यभिधानात्। वृन्दैः निकरैः। 'स्त्रियां तु संहतिर्वृन्दम्' इत्यमरः। आत्ततीरोपसेवां अवाप्ततीरप्रदेशाम्। रेवां नर्मदां नदीम्। 'रेवा तु नर्मदा सोमोद्भवा मेकलकन्यका' इत्यमरः। द्रक्ष्यसि प्रेक्षिष्यते ॥७५॥

अन्वय—उदीचीं गत्वा वन्येभानां रदनहृतिभिः भिन्नपर्यन्तवप्राम् वीनां मधुरविरुतैः वृन्दैः आत्ततीरोपसेवां उपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णां रेवां भुवः विभक्तां पृथुं हारयष्टिं इव द्रक्ष्यसि।

अर्थ—उत्तर दिशा की ओर जाकर जंगली हाथियों के दाँतों के प्रहारों से फटे हुए समीपवर्ती किनारे वाली, जिसके किनारों पर मधुर ध्वनि करने वाले पक्षियों ने निवास बना लिया है, पत्थरों से ऊँच-नीच विन्ध्याचल के चरणों में फैली हुई रेवा नदी को भूदेवी की विशिष्ट रचना स्वरूप (भूदेवी के द्वारा विशेष रूप से रचे गये) विशाल हार के समान देखोगे।

तां तस्याद्रेरुपतटवनं विप्रकीर्णप्रवाहां,
तीरोपान्तस्खलनविषमोद्वृत्तफेनां समीनाम्।
पश्य प्रीत्या गिरितटगजक्षोभभिन्नोर्मिमालां,
भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमङ्गे गजस्य ॥ ७६ ॥

तामिति। तस्याद्रेः विन्ध्यस्याचलस्य उपतटवनं तटवनस्य समीपम् उपतट-

वनम् तस्मिन् । 'अव्ययीभावस्य अमन्तस्याः' इति अम् । तटवननिकटे इत्यर्थः । विप्रकीर्णप्रवाहाम् अतिविस्तृतनिर्झराम् । 'प्रवाहो निर्झरो झरः' इत्यमरः । समीनां मीनैर्मत्स्यैः सह वर्तत इति ताम् । गिरितटगजक्षोभभिन्नोर्मिमालाम् गिरेः नगस्य तटस्य गजानां च क्षोभेण सङ्घट्टनेन भिन्ना विदारिता ऊर्मिमाला तरङ्ग पंक्तिर्यस्यास्ताम् । तां नर्मदा । गजस्य नागस्य । अङ्गे शरीरे । भक्तिच्छेदैः भक्तयो रचना रेखा इति यावत् 'भक्तिर्निश्रणे भागे रचनायाम्' इति शब्दार्णवे । तासां छेदैः भङ्गिभिः । विरचितां भूतिमिव शृंगारमिव भस्मेव वा । "भूतिर्भस्मनि श्रृङ्गारे जातौ सम्पदि सम्पदि' इति विश्वः । प्रीत्या तोषेण । पश्य प्रेक्षस्व ॥७६॥

अन्वय—तस्य अद्रेः उपतटवनं विप्रकीर्णप्रवाहां तीरोपान्तस्खलनविषमोद्भूतफेनां, समीनां गिरितटगजक्षोभभिन्नोर्मिमालां भक्तिच्छेदैः गजस्य अङ्गे विरचितां भूतिं इव (लक्ष्यमाणां) तां प्रीत्या पश्य ।

अर्थ—विन्ध्याचल के तट के वन के समीप अतिविशाल प्रवाह वाली, किनारे के समीपवर्ती भाग में (पत्थर आदि की रुकावट से उत्पन्न) स्खलन से ऊपरी भाग में प्राप्त विषम फेन वाली, मछलियों से युक्त पर्वत के किनारे अथवा हाथियों (अथवा पर्वतीय तट पर उत्पन्न हाथियों) के क्षोभ से विरचित तरङ्गों की परम्परा वाली, रंगों से निर्मित मनोहर चित्राकृतियों के विभागों से हाथी के शरीर पर विनिर्मित शृंगार के समान उस नर्मदा नदी को प्रीतिपूर्वक देखोगे ।

व्याख्या—मुझे आशा है कि तुम प्रीतिपूर्वक उस नर्मदा नदी को अवश्य देखोगे, जिसका प्रवाह विन्ध्यपर्वत के किनारे अत्यन्त विशाल है, पत्थर आदि की रुकावट के कारण जिसके ऊपरी भागों में फेन उत्पन्न होते रहते हैं, जिसमें मछलियाँ रहती हैं, जो पर्वतीय किनारे और हाथियों (अथवा पर्वतीय किनारे पर उत्पन्न हाथियों) द्वारा किए गए क्षोभ से तरङ्गों को उत्पन्न करती है तथा जो अनेक प्रकार के मनोहर रंगों से ऐसी मालूम पड़ती है जैसे हाथी के शरीर पर शृंगार किया गया हो ।

दत्तं वन्यैरिव कलभकैः पुष्करेणोत्क्षिपद्भिः,
प्रायोग्यं ते मुनिमतचिरं वासनावासितस्य ।
ग्रावक्षुण्णोच्चलितमथवा त्वं हरेर्वार्यवार्यं,
तस्यास्तिक्तैर्वनगजमदैर्वासितं वान्तवृष्टिः ॥७७॥

दत्तमिति । मुनिमत भी मुनिभिः सम्मत । चिरं बहुकालेन । वासनावासितस्य वासनया संस्कारेण सम्पन्नयेति यावत् । वासितस्य संस्कृतस्य । ते तव । प्रायोग्य-

मिव प्रयोगयोग्यमिव । पुष्करेण पुष्कराग्रेण । 'पुष्करं करिहस्ताग्रे वाद्यभाण्डमुखे जले' इत्यमरः । उत्क्षिपद्भिः उपरिक्षेपयद्भिः । जलमित्यभिप्रायते । वन्यैः वने जातैः । कलभकैः कलभा एव कलभकास्तैः । स्वार्थे कः । हस्तिपोतैः । 'कलभः करिशावकः' इत्यमरः । दत्तं वितीर्णम् । अथवा न चेत् । ग्रावक्षुण्णोच्चलितं ग्राव्णा उपलेन क्षुण्णम् आस्फालितं तच्च तदुच्चलितमुद्गतं च तथोक्तम् । तिक्तैः सुगन्धिभिः तिक्तरसवद्भिश्च 'तिक्तो रसे सुगन्धौ च' इति विश्वः । वनगजमदैः वन्येभमदजलैः । वासितं सुरभीकृतम् । 'भावितं वासितं त्रिषु' इत्यमरः । अवार्यं परिहार्यम् । तस्याः नर्मदानद्याः । वारि अम्भः । त्वं भवान् । वान्तवृष्टिः उद्गीर्णवर्षः सन् । प्रासुकं जलं परिहरन्नित्यर्थः । अनेन श्रमो व्यज्यते । हरेः स्वीकुरु । लिङ् । प्रकारान्तरेणाप्यन्वयः क्रियते—मुनिमत भो यतीन्द्र । चिरं बहुकालम् । वासनावासितस्य संस्कारेण संस्कृतस्य । ते तव । प्रायोग्यं प्रयोगोचितम् । पुष्करेण निजकराग्रेण । उत्क्षिपद्भिः उत्क्षेपयद्भिः । वन्यैः कलभकैः वनकरिशावकैः । दत्तमिव वितीर्णवत् । ग्रावक्षुण्णोच्चलितं शिलास्फालितोद्गतम् । अत्र साम्यं लक्ष्यते । अथवा न चेत् । तिक्तैः सुगन्धिभिः तिक्तरसवद्भिश्च । वनगजमदैः विपिनकरिमदजलैः । वासितं भावितम् । अवार्यं निरुपद्रवम् । तस्याः नर्मदायाः । वारि उदकं । त्वं भवान् । वान्तवृष्टिः उद्गीर्णवर्षः सन् । हरेः गृहाण । उभयत्रापि प्रासुकत्वं व्यज्यते ॥ ७७ ॥

अन्वय—भो मुनिमत ! तिक्तैः वनगजमदैः वासितं पुष्करेण उत्क्षिपद्भिः वन्यैः कलभकैः दत्तं इव (वारि) चिरं वासनावासितस्य ते प्रायोग्यं । अथवा ग्रावक्षुण्णोच्चलितं अवार्यं तस्याः वारि वान्तवृष्टिः त्वं हरेः ।

अर्थ—हे मुनि के रूप में माने गए अथवा हे मुनियों के द्वारा माने गए । सुगन्धित वन्य हाथियों के मदों से उत्पन्न सुगन्ध वाला (सुगन्धित) तथा सूँड़ों के अग्रभाग से जल ऊपर की ओर उछालने वाले वन्य हाथियों के बच्चों द्वारा मानों दिया गया (जल) चिरकाल से वासना को दूर किए हुए (अथवा चिरकाल से जल की अभिलाषा किए हुए) तुम्हारे योग्य है अथवा (वह भी ग्राह्य न हो तो) पत्थरों द्वारा विमर्दित किए जाने से ऊपर की ओर उछलता हुआ निरुपद्रव उस नर्मदा नदी का निर्दोष जल ग्राह्य है, अतः उसके जल को वर्षा किए हुए तुम ग्रहण करो ।

भावार्थ—हे माने हुए मुनि ! चूँकि (मेघ के रूप में) वर्षा करने के कारण तुम खाली हो गए होगे । अतः जंगली हाथियों के मद से सुगन्धित और हाथियों के बच्चों द्वारा सूँड़ से उछाले गए जल को उन्हीं के द्वारा दिया गया मानकर ग्रहण कर लेना । चूँकि बिना दी हुई वस्तु का लेना

आपके लिए निषिद्ध है अतः हाथी के बच्चों द्वारा दिए गए नर्मदा के इस जल को लेने में कोई दोष नहीं है। यदि यह जल भी न लेना चाहो तो चट्टानों से टकराने के कारण ऊपर उछले हुए जल को अवश्य ही ग्रहण कर लेना।

तत्स्वादीयः सुरभि शिशिरं प्रार्थनीयं मुनीनां,
निर्जन्तुत्वादुपलनिपतन्निर्झराम्भः प्रकाशम्।
तस्याः क्षुण्णं वनकरिकराघट्टनैरप्यजस्रं,
जम्बूकुञ्जप्रतिहतरयं तोयमादाय गच्छेः ॥ ७८ ॥

तदिति। **स्वादीयः** प्रकृष्टं स्वादु। 'मिष्टं मधुरं स्वादु' इत्यमरः। **सुरभि** सुगन्धि। **शिशिरं** शीतलम्। 'सुषीमः शिशिरो जडः' इत्यमरः। **उपलनिपतन्निर्झराम्भः प्रकाशम्** उपले दृषदि निपततीति निपतत् निर्झरस्य प्रवाहस्याम्भः जलम् उपलनिपतच्च तत् निर्झराम्भश्च तस्य प्रकाशो व्यक्तिर्यस्य तत्। **वनकरिकराघट्टनैः** विपिनद्विरदकरास्फालनैः। **अजस्रम्** अनवरतम्। 'नित्यानवरताजस्रम्' इत्यमरः। **क्षुण्णं** मर्दितम्। **जम्बूकुञ्जप्रतिहतरयं** जम्बूनां जम्बूवृक्षाणां कुञ्जैः प्रतिहतः प्रतिबद्धो रयो वेगो यस्य तत्। 'रंहस्तरसी तु रयः स्यदः' इत्यमरः। मुक्तवेगमित्यर्थः। अनेन लघुत्वं कषाय भावना च व्यज्यते। **निर्जन्तुत्वात्** निर्गता जन्तवः प्राणिनो यस्मात् तत् तथोक्तम्। तस्य भावो निर्जन्तुत्वं तस्मात् प्रासुकत्वात्। **मुनीनां** यतीनाम्। **प्रार्थनीयं** प्रार्थितुं योग्यम्। **तस्याः** नर्मदानद्याः। **तत्तोयं** नीरम्। 'अम्भोर्णस्तोयपानीयनीरक्षीराम्बु शम्बरम्' इत्यमरः। **आदाय** गृहीत्वा। **गच्छेः** याया: ॥ ७८ ॥

अन्वय—वनकरिकराघट्टनैः अजस्रं क्षुण्णं अपि जम्बूकुञ्जप्रतिहतरयं उपलनिपतन्निर्झराम्भः प्रकाशं निर्जन्तुत्वात् मुनीनां प्रार्थनीयं तस्याः तत् स्वादीयः सुरभिशिशिरं तोयं आदाय गच्छेः।

अर्थ—जंगली हाथियों की सूँड़ों के प्रताड़नों से निरन्तर मर्दित, जामुन के कुञ्जों से अवरुद्ध वेग वाले, पत्थर पर गिरते हुए झरने के जल के तुल्य, जन्तु रहित होने से मुनिजनों के द्वारा प्रार्थनीय उस नर्मदा नदी के स्वादयुक्त (मधुर), सुगन्धित, शीतल जल को लेकर जाना।

हृत्वा तस्या रसमपहृताशेषमार्गश्रमस्त्वं,
व्योमवर्त्मा पुनरविहतप्रक्रमां संवधीथाः।
प्राप्तस्थैर्यं सपदि जलवानप्यसौ यद्गरीयान्,
अन्तःसारं घन तुलयितुं नानिलः शक्यति त्वाम् ॥ ७९ ॥

हृदवेदि। घन हे मेघ। यत् यस्मात्। असावनिलः एष पवनः गरीयान् बलवानपि बलिष्ठोपि। प्राप्तस्थैर्यं प्राप्तं स्थैर्यं स्थिरत्वं येन तम्। अन्तःसारं अन्तःसारं बलं यस्य तम्। त्वां भवन्तम्। तुलयितुं चलयितुम्। सपदि शीघ्रेण। 'द्राग्मंक्षु सपदि द्रुते' इत्यमरः। न शक्ष्यति शक्तो न भविष्यति। 'शक्लृ शक्तौ' लृट्। तस्मात् कारणात्। तस्या रेवायाः। रसं तोयम्। 'शृङ्गारादौ विषे वीर्ये गुणे रागे द्रवे रसः' इत्यमरः। हृत्वा स्वीकृत्य। अपहृताशेषमार्गश्रमः मार्गे जातः श्रमस्तथोक्तः। अपहृतोऽपाकृतः अशेषो मार्गश्रमो येन सः। त्वं भवान्। पुनः पश्चात्। अविहृत प्रक्रमाम् अविहृतः अप्रतिबद्धः प्रक्रमः आरम्भो यस्यास्ताम्। 'प्रक्रमः स्यादुपक्रमः' इत्यमरः। व्योमवज्यां अम्बरगतिम्। 'व्रज्याटाट्या पर्यटनम्' इत्यमरः। संबधीथाः सम्यक् धत्स्व। अयमत्रध्वनिः—आदौ वमनशोधितस्य नरस्य पश्चात् .... वातप्रकोपोपि न स्यादिति भावः। यदाह वाग्भटः। 'कषायाः। स्नेहमास्तस्य विशुद्धेः श्लेष्मणोः हिताः। किमु तिक्ताः कषाया वा येन संगाः कफावहाः' इति। 'कृतशुद्धेः क्रमाद्धितपेयादेः पथ्यभोजनः। वातादिभिर्नबाध्यः स्यादिन्द्रियैरिव योगिनः' इति॥ ७९॥

अन्वय—हे घन! अपहृताशेषमार्गश्रमः त्वं तस्याः रसं हृत्वा अविहृत प्रक्रमां व्योमवज्यां पुनः सन्दधीथाः, यत् जलवान् गरीयान् अपि असौ अनिलः अन्तःसारं प्राप्तस्थैर्यं त्वां सपदि तुलयितुं न शक्ष्यति।

अर्थ—हे मेघ! मार्ग की समस्त थकान को नष्ट कर तुम उस नर्मदा नदी के जल को लेकर (पीकर) निरन्तर शीघ्रगमन वाली आकाशगति को पुनः भली प्रकार धारण करो; क्योंकि जल से युक्त भारी (बलवान्) भी वह वायु भीतर सार (बल) वाले (जल युक्त) तथा स्थिरता को प्राप्त तुम्हें शीघ्र ले जाने में समर्थ नहीं होगी।

> **मार्गे मार्गे पुनरपि जलान्याहरेस्त्वं धुनीनां,**
> **येन स्थेमा भवति भवतो वीर दूरं प्रयातः।**
> **उत्सृज्यालं लघिमघटितां रिक्ततामेधि पूर्णो,**
> **रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय॥ ८०॥**

मार्ग इति। वीर भो शूर! दूरं प्रकृष्टदेशम्। प्रयातः प्रयातीति प्रयान् तस्य प्रयातः। भवत स्तव। येन स्थेमा। 'प्रियस्थिर इत्यादिना स्थिरशब्दस्य स्थादेशः। 'पृथ्वादिभ्य इमन्' इति इमन्प्रत्ययः। स्थिरत्वमित्यर्थः। भवति। येन प्रकारेण। मार्गे मार्गे पथि पथि। 'वीप्सायां द्विः' पुनरपि मुहुः। धुनीनाम् नदी-

नाम् । 'तटिनि ह्लादिनीधुनी' इत्यमरः । जलानि अपः । त्वम् । आहरेः स्वीकुर्याः । लघिमघटितां लघोर्भावः लघिमा तेन घटितां रचिताम् । रिक्ततां दरिद्रत्वम् । उत्सृज्य त्यक्त्वा । अलं शक्त्या । 'अलंभूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम्' इत्यमरः । पूर्णः पुष्टः । एधि भव । 'अस भुवि' इति धातोर्लोटि । 'साध्वे-चिजह्लि' इति निपातनादेधिभावः । मध्यमपुरुषैकवचनम् । रिक्तः अन्तःसारशून्यः । सर्वः । लघुः अगुरुः । भवति । प्रकम्प्योः भवतीत्यर्थः । पूर्णता सारवत्ता । गौरवाय अप्रकम्प्यत्वाय भवतीत्यर्थः ॥ ८० ॥

अन्वय—वीर ! मार्गे मार्गे त्वं पुनः अपि धुनीनां जलानि आहरेः, लघिम-घटितां रिक्ततां अलं उत्सृज्य पूर्णः एधि, येन दूरं प्रयातः भवतः स्थेमा भवति । सर्वः रिक्तः हि लघुः भवति, पूर्णता गौरवाय भवति ।

अर्थ—हे वीर ! प्रत्येक मार्ग में पुन पुनः नदियों के जल को ग्रहण करना, लघुता से रचित रिक्तता को पर्याप्त रूप से छोड़कर परिपूर्ण जल वाले होओ; जिससे दूर किए जाने वाले आपकी स्थिरता होगी; क्योंकि सभी रिक्त पदार्थ (साररहित पदार्थ) हलका (गौरव शून्य) होता है और पूर्णता (सारवत्ता) गौरव के लिए होती है ।

कार्याल्लिङ्गात्स्वयमधिगतात्कारणस्याऽनुमानं,
रूढं येषां तदियमभिमा युक्तरूपेति मन्ये ।
त्वत्सान्निध्यं यदनुमिमते योषितः प्रोषितानां,
नीपं दृष्ट्वा हरितकपिशं केसरैरर्धरूढैः ॥ ८१ ॥

कार्यादिति । यत् यस्मात् । अर्धरूढैः एकदेशोद्भवैः । केसरैः किञ्जल्कैः । 'किञ्जल्कः केसरोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । हरितकपिशं हरितं हरितवर्णं श्यावम् अरुणमिति भावः । 'पालाशो हरितो हरित्' 'श्यावः स्यात्कपिशः' इति चामरः । हरितं च तत्कपिशं च हरितकपिशम् । 'वर्णोवर्णेः' इति समासः । नीपं स्थलकदम्बकुसुमम् । 'अथ स्थलकदम्बके । नीपः स्यात्पुलकः श्रीमान्प्रा-वृषेण्यो हरिप्रियः' इति शब्दार्णवे । दृष्ट्वा ज्ञात्वा । प्रोषितानां योषितः नार्यः त्वत्सान्निध्यं त्वत्सामीप्यम् । अनुमिमते अनुमानयन्ति निश्चिन्वन्तीत्यर्थः । कारणस्य कारणरूपस्य साध्यस्य । अनुमानं परिज्ञानम् । रूढं प्रसिद्धम् । येषां तार्किकाणां स्वयं स्वेन अधिगतात् निश्चितात् कार्यलिंगात् कार्यरूपाल्लिङ्गात् कार्यहेतो-रित्यर्थः । भवतीति शेषः । तत् तस्मात् । इयमभिमा अयमभिमानः । युक्तरूपेति विशिष्टेति । मन्ये जाने ।

अन्वय—यत् प्रोषितानां योषितः अर्धरूढैः केसरैः हरितकपिशं नीपं दृष्ट्वा

त्सांनिध्यं अनुमिमते, तत् स्वयं अभिगतात् कार्यात् लिङ्गात् कारणस्य अनुमानं येषां रूढं तेषां इयं अभिमा युक्ततरा इति मन्ये ।

अर्थ—चूँकि देशान्तर में गए हुए लोगों की स्त्रियाँ अर्धविकसित किञ्जल्कों से हरे और कृष्णलोहित वर्ण से युक्त स्थलकदम्बपुष्प को देखकर तुम्हारी समीपता का अनुमान करती हैं, अतः स्वयं (दूसरे हेतु के आश्रय के बिना अर्थात् प्रत्यक्ष हेतु में साध्य के अविनाभाव का स्वयं निश्चय करके) प्रत्यक्ष से निश्चित कार्य रूप हेतु से कारण का (कार्य की उत्पत्ति के हेतु का) अनुमान होता है, इस प्रकार का मत जिनके यहाँ प्रसिद्ध है, न्यायशास्त्रविदों का यह अभिप्राय अत्यधिक युक्त है, ऐसा मैं मानता हूँ।

मध्येविन्ध्यं वनभुवमिमा यत्र दृष्ट्वा शिलीन्ध्रा¹-
नध्यारूढाननुवनममी पर्वतीया मनुष्याः ।
त्वामायातं कलयितुमलं स्वत्पयोबिन्दुपातै-
राविर्भूतप्रथममुकुलाः कन्दलीश्चानुकच्छम् ॥ ८२ ॥

मध्येविन्ध्यमिति । यत्र पर्वते । अमी एते । पर्वतीयाः पर्वते भवास्तत्रोक्ताः । 'पर्वताश्चन्तरः' इति बत्यः । मनुष्याः मानुषाः 'मनोर्यण्वक् च' इति षगागम-युक्तो यत्प्रत्ययः । स्वत्पयोबिन्दुपातैः तव तोयबिन्दूनां पतनैः । अनुवनम् वनं वनमनु तथोक्तम् । 'भागिनीय प्रतिपर्यनुभिः' इति वीप्सायां द्वितीया । अध्यारूढान् उत्पन्नान् । शिलीन्ध्रान् अङ्कुरविशेषान् । 'कन्दल्यामुच्छिलीन्ध्रस्यात्' इति शब्दार्णवे । अनुकच्छम् कच्छेष्वनूपेष्वनु अनुकच्छम् । 'दीर्घेनुः' इत्यव्ययीभावः । 'जल प्रायमनूपं स्यात्पुंसि कच्छस्तथाविधः' इत्यमरः । आविर्भूतप्रथममुकुलाः आविर्भूताः प्रादुर्भूताः प्रथमाः प्रथमोत्पन्नताः मुकुला यासां ताः । कुड्मलो मुकुलो-ऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । कन्दली: भूकन्दलीरपि । 'द्रोणिपर्णीस्निग्धकन्दी कन्दली भूकदल्यपि' इति शब्दार्णवे । दृष्ट्वा प्रेक्ष्य । आयातमागतम् । त्वां कलयितुं निश्चेतुम् । कल इति धातुः कवीनां कामधेनुरिति वचनात् प्रकृतार्थप्रदः । अलं समर्था भवन्ति । तत्र मध्येविन्ध्यं विन्ध्यस्यमध्यं तथोक्तम् । 'पारे मध्येन्तः षष्ठ्या:' इत्यव्ययीभावे एत्वनिपातः । वनभुवं वनभूमिम् । इयाः यायाः ॥८२॥

अन्वय—यत्र अनुवनं अध्यारूढान् शिलीन्ध्रान् अनुकच्छं च त्वत्पयोबिन्दुपातैः आविर्भूतप्रथममुकुलाः कन्दलीः दृष्ट्वा अमी पर्वतीयाः मनुष्याः त्वां आयातं कलयितुं अलं (तां) मध्येविन्ध्यं वनभुवं इयाः ।

---

१. शिलीन्ध्रान् ।

अर्थ—जिस विन्ध्याचल पर्वत पर वन में उत्पन्न शिलीन्ध्र पुष्पों को और जलप्राय प्रदेश में तुम्हारे जल बिन्दु गिरने से जिनमें कलियाँ पहले पहले प्रकट हुई हैं ऐसी भूकदली को देखकर वे पर्वतीय मनुष्य तुम्हारे आगमन का अनुमान करने में समर्थ होते हैं (तुम्हें) उस विन्ध्यपर्वत के मध्य में स्थित वनभूमि को जाना चाहिए।

त्वामासन्नं सपदि पथिका ज्ञातुमर्हन्त्यकाले,
श्रुत्वा केकाध्वनिमनुवनं केकिनामुन्मदानाम् ।
बर्हक्षेपं नटितमपि च प्रेक्ष्य तेषां सलीलं,
दग्धारण्येष्वधिकसुरभिं गन्धमाघ्राय चोर्व्याः ॥ ८३ ॥

त्वामिति ॥ **अनुवनम्** अनुवनान्यनुवनम् अनुवनेषु । **उन्मदानां** समुत्कृष्टानाम् । **केकिनां** मयूराणाम् । **केकाध्वनिं** केका इति ध्वनिस्तं केकारवम् । 'केका वाणी मयूरस्य' इत्यमरः । **श्रुत्वा तेषां** मयूराणाम् । **सलीलं** लीलया सह वर्तत इति तथोक्तं तत् । **बर्हक्षेपं** बर्हाणांक्षेपः प्रसारणं यस्मिन् तत् । **नटितमपि** नर्तनमपि । **प्रेक्ष्य** च दृष्ट्वा **च** । **दग्धारण्येषु** दग्धानि च तान्यरण्यानि च तेषु । **उर्व्याः** पुनः : अधिकसुरभिम् अधिक आमोदपूर्णम् । गन्धं परिमलम् । **आघ्राय** च गृहीत्वा च । **पथिकाः** पान्थाः । 'पान्थः पथिक' इत्यमरः । **अकाले** अनवसरे । आसन्नं समीपगतम् । **त्वां** भवन्तम् । **सपदि** मङ्क्षु । **ज्ञातुम् अर्हन्ति** योग्या भवन्ति जानन्तीत्यर्थः ॥ ८३ ॥

अन्वय—अनुवनं उन्मदानां केकिनां केकाध्वनिं श्रुत्वा अपि च तेषां सलीलं बर्हक्षेपं नटितं प्रेक्ष्य दग्धारण्येषु च उर्व्याः अधिक सुरभि गन्धं आघ्राय त्वां अकाले आसन्नं सपदि ज्ञातुं पथिकाः अर्हन्ति ।

अर्थ—वनों में उन्मत्त मयूरों की वाणी सुनकर तथा उनके लीलापूर्वक पिच्छों के फैलाने से युक्त नृत्य को देखकर और दग्ध जंगलों में पृथ्वी की अधिक सुगन्धित गन्ध को सूँघकर असमय में ही आए हुए तुम्हें (मेघ को) पथिक शीघ्र ही जानने के योग्य होंगे।

पुष्पामोदैरविरलममी सम्पतन्तो वनान्ते,
बद्धोत्सुक्यात्सरसविवलत्कन्दलैश्चानुकूज्जम् ।
दग्धारण्यस्थलपरिमलैश्चानुकृष्टा यथास्वं,
सारङ्गास्ते जलदमुचः सूचयिष्यन्ति मार्गम् ॥८४॥

पुष्पामोदैरिति । **पुष्पामोदैः** पुष्पाणामामोदैः परिमलैः । 'आमोदः सोतिनिर्हारी' इत्यमरः । **सरसविवलत्कन्दलैश्च** सरसैः विवलद्भिः कन्दलैरङ्कुरविशेषैः ।

'कन्दलीवृक्षमदयोः कन्दलस्तु नवाङ्कुरे' इति नानार्थमालायाम् । दग्धारण्यस्थल-परिमलैः दग्धकानन प्रदेशगन्धैश्च । यथास्वं यथास्वरूपम् । अनुकृष्टाः आकृष्टाः । बद्धौत्सुक्यात् संबद्धलाम्पट्यात् । वनान्ते वनमध्ये । 'अन्तोऽस्त्रीनिश्चये नाशे स्वरूपेऽपि अन्तिकेन्तरे' इति भास्करः । अनुकुञ्जं कुञ्जानन् अनुकुञ्जम् तेषु 'दैर्घ्यानुः' इति समासः । 'सप्तम्याः' इति शाम् अविरलं निबिडम् । 'पेलवं विरलं तनु' इत्यमरः । सम्पतन्तः गच्छन्तः । अमी सारङ्गाः मातङ्गा कुरङ्गा वा । 'सारङ्गश्चातके भृङ्गे कुरङ्गे च मतङ्गजे' इति विश्वः । जललवमुचः जलस्य लवान् कणान् मुञ्चतीति जललवमुक्तस्य । ते तव । मार्गं पदवीम् । सूचयिष्यन्ति द्योतयिष्यन्ति । यत्र यत्र वृष्टिकार्यं नीपकुसुमादिकं तत्र तत्र वृष्टिरिति विष्टिविद्भिरनुमीयत इति तात्पर्यम् ॥८४॥

अन्वय—बद्धौत्सुक्यात् पुष्पामोदैः (अनुकृष्टाः) वनान्ते अविरलं सम्पतन्तः अमी सारङ्गाः बद्धौत्सुक्यात् सरसविदलत्कन्दलैः (अनुकृष्टाः) अनुकुञ्जं (अविरलं सम्पतन्तः अमी सारङ्गाः), बद्धौत्सुक्यात् दग्धारण्यस्थलपरिमलैः (अनुकृष्टाः दग्धारण्यस्थलेषु अविरलं सम्पतन्तः अमी सारङ्गाः) जललवमुचं ते मार्गं यथास्वं सूचयिष्यन्ति ।

अर्थ—औत्सुक्य उत्पन्न होने के कारण फूलों की गन्ध से आकृष्ट वन के मध्य प्रदेश में निरन्तर उड़कर जाते हुए ये भ्रमर, सरस (तथा) प्रादुर्भूत हुए नए अंकुरों से आकृष्ट ये मृग, दावानल से जले हुए वन के स्थलों की सुगन्धि से आकृष्ट होकर जले हुए अरण्यस्थलों में निरन्तर उड़कर जाते हुए ये पपीहे जलकणों की वर्षा करने वाले तुम्हारे मार्ग को यथोचित रूप से सूचित करेंगे।

गम्भीरत्वं यदिदमधुना लक्ष्यते ध्यानहेतोः,
संक्षोभाणां विरचनशतैरप्यदृश्यं[1] मदीयैः ।
तद्दृष्ट्वाऽहं तव घनतया मान्द्यमेवातिधैर्या-
मुत्पश्यामि श्रुतमपि सखे मत्प्रियार्थं पिपासोः ॥८५॥

गम्भीरत्वमिति । सखे भो मित्र । अधुना इदानीम् । मदीयैः मया कृतैः । ध्यानहेतोः योगनिमित्तस्य । संक्षोभाणाम् संचलनानाम् । विरचनशतैः विरचनानां करणानां शतैरपि अनेकैरपि । अदृश्यम् अगोचरम् । यदिदं गम्भीरत्वं गाम्भीर्यम् । लक्ष्यते दृश्यते । तत् गम्भीरत्वम् । दृष्ट्वा । मत्प्रियार्थं मद्वनितानिमित्तम् । श्रुतं शीघ्रम् पिपासोरपि पातुमिच्छोरपि । तव ते । अतिधीरात् बहुधीरत्वात् । घनतया

1. अधृष्यं ।

जड़तया । 'घनो मेघे मूर्तिगुणे त्रिषु मूर्ते निरन्तरे' इत्यमरः । **मान्द्यमेव** मन्दत्वमेव । **अहम् उत्पश्यामि** अहं तर्कयामि ॥८५॥

अन्वय—सखे ! ध्यानहेतोः यत् इदं गम्भीरत्वं अधुना लक्ष्यते तत् प्रयोजनैः संक्षोभाणां विरचनशतैः अपि अधृष्यं दृष्ट्वा मत्प्रियार्थं घनतया अतिधैर्यात् द्रुतं अपि यियासोः तव मान्द्यं एव अहं उत्पश्यामि ।

अर्थ—हे मित्र ध्यान के लिए जो यह गम्भीरता इस समय लक्षित हो रही है, वह मेरे विचलित करने के सैकड़ों प्रयोजन के द्वारा भी तिरस्कार न होने योग्य देखकर मेरी प्रेयसी के लिए मेघरूप धारण करने से अत्यन्त धैर्यपूर्वक शीघ्र जाने के इच्छुक होने पर भी आपकी जड़ता (मन्दता) ही है, ऐसी मैं सम्भावना करता हूँ ।

भावार्थ—हे मित्र ! आपको विचलित करने के सैकड़ों प्रयोजन हैं, इनका तिरस्कार नहीं किया जा सकता है । यह जानकर मेरी प्रेयसी के पास मेघरूप धारण कर अत्यन्त धैर्यपूर्वक शीघ्र जाने के इच्छुक भी आप देरी कर रहे हैं, यह आपकी ध्यान की गम्भीरता से पता चल रहा है ।

भूयश्चाहं नवजलधराधौतसानुप्रदेशे,
नृत्यत्केकिध्वनिमुखरिते स्वागतं तन्वतीव[1] ।
पाद्यं चोच्चैर्वहति शिरसा निर्झराम्भोऽभिशङ्के,
कालक्षेपं ककुभसुरभौ पर्वते पर्वते ते ॥८६॥

भूय इति । **भूयश्च** पुनरपि । **नवजलधराधौतसानुप्रदेशे** नववारिवाहेणाधौतः सानोर्वप्रस्य प्रदेशो यस्य तस्मिन् । **नृत्यत्केकिध्वनिमुखरिते** नृत्यन्मयूरारवेण मुखरिते वाचाटिते । **निर्झराम्भः** प्रवाहोदकम् । **पाद्यं च** पादोदकम् । 'पाद्यं पादाय वारिणि' इत्यमरः । **शिरसा** मस्तकेन । **उच्चैः** परम् । **वहति** वहतीति वहन् तस्मिन् । **ककुभसुरभौ** अर्जुनवृक्षपरिमले । 'इन्द्रद्रुः ककुभोऽर्जुनः' इत्यमरः । **स्वागतम्** अभ्यागत प्रतिपत्तिम् । **तन्वति** तनोतीति तन्वन् तस्मिन् । **इव** यथा तथा । **पर्वते पर्वते** गिरौ गिरौ । **ते** तव । **कालक्षेपं** कालविलम्बनम् । **अहम् अभिशङ्के** आशङ्कां करोमि ॥ ८६ ॥

अन्वय—भूयः च नवजलधराधौत सानुप्रदेशे नृत्यत्केकि ध्वनिमुखरिते स्वागतं तन्वति इव शिरसा च पाद्यं निर्झराम्भः उच्चैः वहति ककुभसुरभौ पर्वते पर्वते ते कालक्षेपं अभिशङ्के ।

---

१. उत्प्रेक्षा ।

अर्थ—पुनश्च नवीन मेघ के द्वारा जिसके शिखर का भूभाग धोया गया है, नाचते हुए मोरों की ध्वनि से वाचालित मानों स्वागत करते हुए, पैर धोने के लिए झरने के जल को सिर पर धारण किए हुए, अर्जुन के फूलों से सुगन्धित ऐसे प्रत्येक पर्वत पर आप समय बितायेंगे, इस प्रकार की मैं शंका करता हूँ।

भावार्थ—हे मेघ ! जब नए-नए जलधरों के द्वारा पर्वतों के शिखर धोए जायँगे तब तुम्हारे पहुँचने पर प्रत्येक पर्वत पर आपका स्वागत होगा। पर्वत मोरों की ध्वनि से स्वागत करेंगे। पैर धोने के लिए झरने के जल को मानों सिर पर धारण कर पर्वत तुम्हारा स्वागत करेंगे। इस प्रकार अर्जुन के फूलों से सुगन्धित प्रत्येक पर्वत पर आप कुछ न कुछ देर अवश्य करेंगे, ऐसी मैं सम्भावना करता हूँ।

निःसङ्गोऽपि व्रजितुमनलं तत्र तत्र क्षितिध्रे,
लब्धातिथ्यः प्रिय इव भवानुह्यमानः शिरोभिः ।
अभ्युद्यातैस्त्वदुपगमनादुन्मनीभूय भूयः,
शुक्लापाङ्गैः सजलनयनैः स्वागतीकृत्य केकाः ॥ ८७ ॥

निःसङ्ग इति । **भूयः** पुनरपि । **त्वदुपगमनात्** तव समीपगतात् । **अभ्युद्यातैः** प्रत्यागतैः । **सजलनयनैः** बाष्पोदक सहित लोचनैः **शुक्लापाङ्गैः** शुक्लोऽपाङ्ग कटाक्षो येषां तैः मयूरैः । **केकाः** तद्ध्वनीन **स्वागतीकृत्य** सुक्षेमागमन प्रश्नं कृत्वा । **उन्मनीभूय** उत्कीभूय । 'स्यादुत्क उन्मनाः' इत्यमरः । **शिरोभिः** मस्तकैः । **उह्यमानः** उह्यत इति उह्यमानः वहेरानश् । ध्रियमाणः । **भवान्** त्वम् । **निःसङ्गोऽपि** निष्परिग्रहोऽपि । **प्रिय इव** सुहृदिव । तत्र तत्र **क्षितिध्रे** क्षितिं धरतीति क्षितिध्रस्तस्मिन् पर्वते । 'महीध्रः शिखरिक्ष्माभृत्' इत्यमरः । **लब्धातिथ्यः** आतिथ्यर्थमातिथ्यं लब्धमातिथ्यं येन सः 'पथ्यौ तिथेः' इति ञ्यः । प्राप्तातिथि-कार्यः सन् । 'अतिथिर्ना गृहागते' 'क्रमादातिथ्यातिथेये अतिथ्यर्थेऽत्र साधुनि' इत्यमरः । **व्रजितुं** गन्तुम् । **अनलम्** असमर्थः । लब्धोपचारत्वात् तत्र तत्र कालक्षेपो भविष्यतीति तात्पर्यम् ॥ ८७ ॥

अन्वय—भूयः तत्र तत्र क्षितिध्रे लब्धातिथ्यः त्वदुपगमात् उन्मनीभूय केकाः स्वागतीकृत्य अभ्युद्यातैः सजलनयनैः शुक्लापाङ्गैः प्रियः इव शिरोभिः उह्यमानः भवान् निःसङ्गः सन् व्रजितुं अनलम् ।

अर्थ—पुनः प्रत्येक पर्वत पर आतिथ्य प्राप्त कर तुम्हारे समीप में आने से उत्कण्ठित होकर जिनकी आँखों से अश्रु निकल रहे हैं ऐसे मोरों द्वारा

प्रियमित्र के समान मस्तक पर धारण किए हुए आप (बाह्य और आभ्य-न्तर परिग्रह का त्याग करने के कारण) निरासक्त होने पर भी आगे बढ़ने में समर्थ नहीं होंगे।

तस्योत्कण्ठाविरुतिमुखरस्योत्पतिष्णोः कथञ्चित्,
प्रत्यासन्नत्वदुपगमनस्याऽन्तरार्द्रस्वभावे ।
स्नेहव्यक्तिं त्वयि घनयतः केकिवृन्दस्य मन्ये,
प्रत्युद्यातः कथमपि भवान्गन्तुमाशु व्यवस्येत् ॥ ८८ ॥

तस्येति। **अन्तरार्द्रस्वभावे** अन्तर्मार्दवस्वभावे। अन्तमार्द्रस्वभावे इति वा त्वयि भवति। **स्नेहव्यक्तिं** प्रेमव्यक्तिम्। **घनयतः** घनं करोतीति घनयन् तस्य दृढयतः। सार्द्रभावं वर्द्धयत इत्यर्थः। **उत्कण्ठाविरुतिमुखरस्य** दुःखारवेण वाचाट-स्य। **उत्पतिष्णोः** उत्पतितु मिच्छुः उत्पतिष्णुः उत्पतनशीलस्य। **कथंचित्** केन-चित्प्रकारेण। **प्रत्यासन्नत्वदुपगमनस्य** तव उपगमनं त्वदुपगमनम्। प्रत्यासन्नं समीपं त्वदुपगमनं यस्य तस्य। **केकिवृन्दस्य** मयूरनिकायस्य। **प्रत्युद्यातः** प्रत्यागतः। **भवान्** त्वम्। **कथमपि** केनापि प्रयुक्तेन। **आशु** शीघ्रेण। 'अविलम्बितमाशु च' इत्यमरः। **गन्तुं** गमनाय। **व्यवस्येत्** निश्चिनुयात्। भवच्छब्दप्रयोगात् प्रथमपुरुष इति। **मन्ये** जाने।

अन्वय—उत्कण्ठाविरुतिमुखरस्य कथञ्चित् उत्पतिष्णोः प्रत्यासन्न त्वदुप-गमनस्य तस्य केकिवृन्दस्य आर्द्रस्वभावे त्वयि स्नेहव्यक्तिं घनयतः प्रत्युद्यातः (सतः) अपि भवान् आशु गन्तुं व्यवस्येत् (इति) कथं मन्ये।

अर्थ—उत्सुकता से उत्पन्न ध्वनि से वाचालित जिस किसी प्रकार ऊपर उड़ने का इच्छुक मोरों का समूह तुम्हारे समीप में पहुँचने पर मृदु-स्वभाव वाले तुम्हारे प्रति प्रेम के आविर्भाव को घना करता हुआ स्वागत के लिए जब तुम्हारे समीप में आयगा, उस समय भी आप शीघ्र ही जाने का निश्चय करेंगे, यह मैं कैसे मान लूँ ?

व्याख्या—हे मेघ ! जब तुम समीप में पहुँचोगे तो मोरों का समूह ध्वनि करता हुआ कोमल स्वभाव वाले तुम्हारे प्रति प्रेम को गाढ़ करता हुआ स्वागत के लिए आयगा। उसका अनादर करके तुम शीघ्र ही जाने का निश्चय करोगे, यह मैं नहीं मान सकता हूँ।

विन्ध्योपान्तासव गतवतो नातिदूरे दशार्णाः,
रम्यारामा नयनविषये संपतिष्यन्ति सद्यः ।

त्वत्सान्निध्यात्कलुषितपयः पूर्णशालेय वप्राः,
पाण्डुच्छायोपवनवृतयः केतकैः सूचिभिन्नैः ॥ ८९ ॥

विन्ध्योपान्तादिति । **विन्ध्योपान्तात्** विन्ध्याचलसमीपात् । **गतवतः** यातवतः **तव** भवतः । **सूचिभिन्नैः** सूच्या भिद्यन्ते स्म सूचिभिन्नानि तैः निमित्तभूतैरित्यर्थः । **केतकैः** केतककुसुमैः । **पाण्डुच्छायोपवनवृतयः** उपवनानां वृतयस्तथोक्ताः 'प्रान्ततो वृतिः' इत्यमरः । पाण्डुरीछाया कान्तिः यासां तास्तथोक्ताः पाण्डुच्छाया उपवन-वृतयो येषां ते तथोक्ताः । **त्वत्सान्निध्यात्** तव मेघस्य सामीप्यात् । **कलुषितपयः पूर्णशालेय वप्राः** कलुषितपयसा पङ्काविलोदकेन पूर्णाः शालीनामुद्भवोचिताः शालेयाः 'व्रीहि शालेर्ढक्' ते च ते वप्राः केदाराश्च तथोक्तास्ते येषां ते कलुषित-पयः पूर्णशालेयवप्राः । 'कलुषोऽनच्छ आविलः' 'क्षेत्रं व्रैहेयशालेयं व्रीहिशाल्यु-द्भवोचितम् ।' पुंनपुंसकयोर्वप्रः क्षेत्रं केदार इत्यपि' इत्यमरः । **रम्यारामाः** रम्या आरामा उपवनानि येषां ते तथोक्ताः । 'आरामः स्यादुपवनम्' इत्यमरः । **दशार्णाः** दशार्णाख्या देशाः । **नातिदूरे** समीपे । अलुक्समासः । **नयनविषये** नेत्र-गोचरे । **सद्यः** तदैव । **संपत्स्यन्ति** संप्राप्स्यन्ति ॥ ८९ ॥

अन्वय—सूचिभिन्नैः केतकैः पाण्डुच्छायोपवनवृतयः त्वत्सान्निध्यात् कलु-षितपयः पूर्णशालेयवप्राः रम्यारामाः दशार्णाः विन्ध्योपान्तात् अतिदूरे न गतवतः तव नयनविषये सद्यः सम्पत्स्यन्ति ।

अर्थ—अग्रभाग में विकसित केतकी के फूलों के द्वारा पीले प्राचीरों से युक्त उपवन वाले तुम्हारी निकटता के कारण कलुषित जल से भरे हुए शालिधान्य के उत्पत्ति क्षेत्र तथा रमणीय उद्यानों वाले दशार्ण नामक जन-पद विन्ध्याचल के समीपवर्ती प्रदेश से अत्यन्त दूर न गए हुए तुम्हारे नयन विषय को शीघ्र ही प्राप्त होंगे (तुम्हें दृष्टिगोचर होंगे) ।

तेषामाविष्कृतजललवे त्वय्युपासन्नवृत्तौ,
सीमोद्देशा नयनसुभगाः सामिसंरूढसस्याः ।
सञ्जायेरन्नवपरिकरा मूकपुंस्कोकिलाश्च,
नीडारम्भैर्गृहबलिभुजामाकुलग्रामचैत्याः ॥ ९० ॥

तेषामिति । **तेषां** दशार्णानाम् । **आविष्कृतजललवे** प्रकटीकृतजलकणयुक्ते । **त्वयि** भवति । **उपासन्नवृत्तौ** उपासन्ना वृत्तिर्यस्य तस्मिन् अत्यासन्नवृत्ते सति । **सीमोद्देशाः** सीम्नां प्रदेशाः । 'ग्रामान्त उपशल्यं स्यात्सीमसीमे स्त्रियामुभे' इत्यमरः । **नयनसुभगाः** नेत्र गोचराः । **सामिसंरूढसस्याः** ईषत्समुत्पन्नसस्याङ्कुराः । **मूकपुंस्कोकिलाः** पुमांश्चासौ कोकिलाश्च तथोक्ताः । 'अवाचि मूकः' इत्यमरः ।

मूका: पुंस्कोकिला: येषां ते तथोक्ता:। वर्षाकाले कोकिलानां मूकभावत्वादित्यर्थः। गृहबलिभुजां गृहकाकानाम् 'बलिभुग्वायसा अपि' इत्यमरः। नीडारम्भैः कुलायप्रारम्भैः 'कुलायो नीडमस्त्रियाम्' इत्यमरः। आकुलग्रामचैत्याः आकुलाः आकीर्णाः ग्रामाणां चैत्याः रथ्यावृक्षाः येषु ते तथोक्ताः 'चैत्यमायतने जैनबिंबे चोद्देशपादपे' इति विश्वः। नवपरिकराः नवः परिकरः प्रोक्तरूपः परिवारो येषां ते तथोक्ताः। नवीनो नूतनो नवः। परिकरः। 'पर्यङ्कपरिवारयोः' इत्युभयत्राप्यमरः। संजायेरन् सम्भवेयुः॥ ९० ॥

अन्वय—उप सन्नभूते त्वयि आविष्कृतजलकण हेपा सीमोद्देशाः ईषदिसंरूढसस्याः मूकपुंस्कोकिलाः गृहबलिभुजां नीडारम्भैः आकुलग्रामचैत्याः च नयनसुभगाः नवपरिकराः सञ्जायेरन्।

अर्थ—तुम्हारे दशार्ण प्रदेश के निकट पहुँचने पर तथा जलकणों की वर्षा करने पर दशार्ण देश के सीमान्तप्रदेश किञ्चित् उत्पन्न धान्याङ्कुरों से युक्त, मूक कोयलों वाले, काक आदि ग्राम पक्षियों के घोंसलों की रचना से सङ्कीर्ण वृक्ष वाले, नेत्रों को आकर्षित करने वाले और नए परिवार वाले हो जायेंगे।

भूयस्तेषामुपवनभुवस्तुङ्गशाखाग्रघृष्ट-
व्योमोत्सङ्गैर्निजतरुवरैरात्तशोभाः फलाढ्याः।
सम्पद्येरन्विविधविहगैराकुला नीडकृद्भिः,
त्वय्यासन्ने परिणतफलश्यामजम्बूवनान्ताः॥ ९१ ॥

भूय इति। भूयः पुनः। तेषां दशार्णदेशानाम्। त्वयि भवति। आसन्ने समीपगते सति 'समीपेनिकटासन्न' इत्यमरः। तुङ्गशाखाग्रघृष्टव्योमोत्सङ्गैः उन्नतशाखाग्रैः घृष्टः व्योमोत्सङ्गो गगनतलं येषां तैः। निजतरुवरैः स्वकीयवृक्षोत्तमैः। 'देवाद्वृते वरः श्रेष्ठे त्रिषु क्लीबे मनाक् प्रिये' इत्यमरः। आत्तशोभाः प्राप्तद्युतयः। फलाढ्याः फलभरिताः। उपवनभुवः आरामभूमयः। 'आरामः स्यादुपवनम्' इत्यमरः। नीडकृद्भिः नीडं कुर्वन्तीति नीडकृतस्तैः। विविधविहगैः नानापक्षिभिः। 'खगे विहङ्गविहगविहङ्गमविहायसः' इत्यमरः। आकुलाः सङ्कीर्णाः। परिणतफलश्यामजम्बूवनान्ताः परिणतैः परिपक्वैः फलैः श्यामानि यानि जम्बूवनानि तैरन्ताः रम्याः। 'मृतावसिते रम्ये समाप्तावन्ते' इति शब्दार्णवे। सम्पद्येरन् भवेयुः॥ ९१ ॥

अन्वय—भूयः त्वयि आसन्ने परिणतफलश्यामजम्बूवनान्ताः, तुङ्गशाखाग्रघृष्टव्योमोत्सङ्गैः निजतरुवरैः आत्तशोभाः, फलाढ्याः तेषां उपवनभुवः नीडकृद्भिः विविधविहगैः आकुलाः सम्पद्येरन्।

अर्थ—पुनः तुम्हारे समीप में पहुँचने पर पके हुए फलों के कारण श्यामवर्ण वाले जामुनों के वृक्षों से रमणीय, ऊँची शाखाओं के अग्रभाग से आकाश के तल प्रदेश को छूने वाले अपने श्रेष्ठ वृक्षों से प्राप्त शोभा वाली दशार्ण देश की उद्यानभूमियाँ घोंसला बनाने वाले अनेक प्रकार के पक्षियों से व्याप्त हो जायँगी।

इत्यभ्यर्णे भवति विलसद्विद्युदुद्दामहासे,
मुक्तासारप्रकटितरवे केकिनामुन्मदानाम्।
नृत्यारम्भं घटयति मुहुर्नूनमुद्भूतपङ्काः,
सम्पत्स्यन्ते कतिपयदिनस्थायिहंसा दशार्णाः॥१२॥

इतीति। **विलसद्विद्युदुद्दामहासे** विलसद्विद्युदेव उद्दामः उत्कटो हासो यस्य तस्मिन्। **मुक्तासारप्रकटितरवे** मुक्तः पातितः आसारो धारावृष्टिः तेन प्रकटितो रवो ध्वनिर्यस्य तस्मिन्। 'आसारो वेगवद्वर्षम्।' 'ध्वनिध्वानरवस्वनाः' इत्यप्यमरः। **उन्मदानां** सन्तुष्टानां। **केकिनां** मयूराणां। **नृत्यारम्भम्** नर्तनव्यापारम्। 'स्यादभ्यादानमुद्घात आरम्भः' इत्यमरः। **मुहुः** असकृत्। **घटयति** घटयतीति घटयन् तस्मिन् सम्बन्धं कुर्वति। **भवति** त्वयि। **इति** एवं प्रकारेण। **अभ्यर्णे** समीपगते। **दशार्णाः** देशाः। **उद्भूतपङ्काः** उत्पन्नकर्दमाः। 'पङ्कोऽस्त्री शादकर्दमौ' इत्यमरः। **कतिपय दिनस्थायिहंसाः** कतिपयेष्विव दिनेषु स्थायिनो वर्तनशीलाः हंसाः येषां ते तथोक्ताः। 'पोटायुवतिस्तोककतिपय' इत्यादिना कतिपयशब्दस्योत्तरत्वेपि दिनशब्दस्योत्तरत्वमत्र शास्त्रस्य प्रायिकत्वात्। **नूनं** सत्यम्। **सम्पत्स्यन्ते** भविष्यन्ति॥१२॥

अन्वय—इति विलसद्विद्युदुद्दामहासे मुक्तासारप्रकटितरवे उन्मदानां केकिनां नृत्यारम्भं मुहुः घटयति भवति अभ्यर्णे (सति) उद्भूतपङ्काः दशार्णाः नूनं कतिपयदिनस्थायिहंसा सम्पत्स्यन्ते।

अर्थ—इस प्रकार शोभायमान बिजली ही जिसका हास्य है, वेगवती वर्षा को छोड़ने के कारण जिसके द्वारा ध्वनि प्रकट की जा रही है तथा जिसने सन्तुष्ट मयूरों के नृत्यकार्य को बार बार सम्पन्न कराया है, ऐसे आपके (मेघ के) समीपवर्ती होने पर कीचड़ युक्त दशार्ण देश में हंस निश्चय ही (वर्षा के प्रारम्भ को देखकर) कुछ ही दिनों तक ठहरेंगे।

गत्वा पश्येः पवनविचलत्केतुहस्तैरभीक्ष्णं,[1]
दूरादुच्चैर्भवनशिखरैराह्वयन्तीमिव त्वाम्।[2]

---

१. केतुहस्तैरित्यत्र रूपकं। २. उत्प्रेक्षालंकारः आह्वयतीमिवेत्यत्र, श्रियमिवेत्यत्रापि च।

सालोदग्रां श्रियमिव भुवो रूपिणीं नाभिभूतां,
तेषां दिक्षु प्रथितविदिशालक्षणां राजधानीम्[1] ।।९३।।

गत्वेति । **पवनविचलत्केतुहस्तैः** वायुना विचलत्केतव एव हस्ता येषां तैः । 'ग्रहभेदे ध्वजे केतुः' इत्यमरः । **उच्चैर्भवनशिखरैः** उन्नतागारशृङ्गैः । **अभीक्ष्णम्** अनवरतम् । **दूरात्** दविष्ठदेशतः । **त्वां** भवन्तम् । **आह्वयन्तीमिव** आकारयन्तीमिव । 'ह्वे ञ् स्पर्धायाम्,' 'वाचि धातोः' शतृप्रत्ययः । 'नुद्गुग्' इति ङीप् । तस्मात् इति नम् । **सालोदग्रां** प्राकारोन्नतां । 'प्राकारो वरणः सालः' इत्यमरः । **रूपिणीं** रूपमस्यास्तीति रूपिणीं तां । मत्वर्थ इनुः । 'नुद्गुग्' इति ङी । **भुवः** भूमेः । **रूपिणीं** मूर्तां । **श्रियमिव** सम्पत्तिमिव । 'सम्पत्तिः श्रीश्च लक्ष्मीश्च' इत्यमरः । **तेषां** दशार्णानाम् । **नाभिभूतां** नाभिर्भवति स्येति तथोक्ता ताम् मध्यगतामित्यर्थः । **दिक्षु** आशासु । **प्रथितविदिशालक्षणां** प्रथितं प्रसिद्धं विदिशालक्षणं नामधेयं यस्यास्ताम् । 'लक्षणं नाम्नि चिह्ने च' इति विश्वः । **राजधानीं** धीयतेऽस्य धानी राज्ञां धानी तथोक्ता । करणाधारे चानट् । 'टिड्ढाणञ्' इति ङी । कृद्योगाच्च षष्ठी । तां प्रधाननगरीम् । 'प्रधाननगरी राज्ञां राजधानीति कथ्यते' इति शब्दार्णवे । गत्वा प्राप्य । **पश्येः** अवलोकयेः ।।९३।।

अन्वय—पवनविचलत्केतुहस्तैः भवनशिखरैः त्वां दूरात् अभीक्ष्णं उच्चैः आह्वयन्तीं इव, भुवः रूपिणीं इव सालोदग्रा श्रियं, नाभिभूतां दिक्षु प्रथितविदिशा लक्षणां तेषां (दशार्णानां) राजधानी गत्वा पश्येः ।

अर्थ—(जो) वायु के द्वारा हिलाए हुए ध्वजा रूप हाथों से युक्त भवन के शिखरों द्वारा तुम्हें दूर से निरन्तर मानो ऊँचे स्वर से बुला रही है, जो पृथ्वी की प्रशस्त आकृति के समान प्राकार से उन्नति को प्राप्त शोभा अथवा लक्ष्मी है, शरीरस्थ नाभिकमल के समान दशार्ण देश के मध्य में स्थित सभी दिशाओं में विदिशा नाम से प्रसिद्ध (उस) दशार्णों की राजधानी में जाकर उसे देखना ।

सौधोत्सङ्गे क्षणमुपनिषत्तृण्ण तूष्णीं निषण्णो,
जालोद्गीर्णैः सुरभिततनुर्धूपधूमैर्मनोज्ञैः ।
वारस्त्रीणां निधुवनरतिं प्रेक्षमाणस्त्वमेनां,
गत्वा सद्यः फलमपि महत्कामुकत्वस्य लब्धा ।। ९४ ।।

---

१. राजधानी शब्दस्य काकाक्षिगोलकन्यायेन गत्वेति क्त्वाप्रत्यये 'पश्येः' इत्यत्र च कर्मत्वेनान्वयः ।

सौधोत्सङ्ग इति। **उपनिषत्तृष्ण** उपनिषन्ती तृष्णा यस्यासौ तस्य सम्बोधनम् हे सम्भवन्मनोरथ। कौतुकार्थलोकनाभिलाषिन्नित्यर्थः। **त्वं** भवान्। **एनां** विदिशापुरीम्। **गत्वा** प्राप्य। **सौधोत्सङ्गे** राजभवनप्रदेशे। 'सौधोऽस्त्री राजसदनम्' इत्यमरः। **क्षणं** क्षणपर्यन्तम्। 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' इति द्वितीया। **तूष्णीं** जोषम्। **निषण्णः** निषीदति स्म निषण्णः उपविष्टः सन्। **जालोद्गीर्णैः** जालात् गवाक्षात् 'जालं समूह आनायो गवाक्ष क्षारकेष्वपि' इत्यमरः। **उद्गीर्णैः** निर्गतैः। **मनोज्ञैः** मनोहरैः। **धूपधूमैः** यक्षकर्दमधूमैः। **सुरभिततनुः** परिमलितशरीरः। 'संजातं तारकादिभ्यः' इति इतच्। **वारस्त्रीणां** गणिकानाम्। वारस्त्री गणिका वेश्या' इत्यमरः। **निधुवनरतिं** सुरतक्रीडाम्। **प्रेक्षमाणः** पश्यन्। **कामुकत्वस्य** विलासितत्वस्य। 'विलासी कामुकः कामी स्त्रीपरो रतिलम्पटः।' इति शब्दार्णवे। **महत् फलमपि** उत्कृष्टं प्रयोजनमपि। **सद्यः** तत्काल एव। **लब्धा** प्राप्स्यसि। 'डुलभिष् प्राप्तौ' लुट्॥ ९४॥

अन्वय—उपनिषत्तृष्ण त्वं एनां गत्वा सौधोत्सङ्गे क्षणं तूष्णीं निषण्णः जालोद्गीर्णैः मनोज्ञैः धूपधूमैः सुरभिततनुः वारस्त्रीणां निधुवनरतिं प्रेक्षमाणः कामुकत्वस्य महत् अपि फलं सद्यः लब्धा।

अर्थ—समुत्पन्न अभिलाषा वाले आप विदिशा नामक राजधानी में जाकर भवनों के ऊपरी भाग में थोड़े समय मौन बैठकर खिड़की से निकलते हुए मनोहर धूप के धुयें से जिसका शरीर सुगन्धित है ऐसी वेश्याओं की सुरतक्रीड़ा को देखते हुए कामुकपने के बहुत बड़े भी फल को शीघ्र ही प्राप्त कर लोगे।

विश्रान्तिस्ते सुभग विपुला तत्र यातस्य मन्ये,
कह्लाराङ्कं सुरभि शिशिरं स्वच्छमुत्फुल्लपद्मम्।
वाताकीर्णैः कुवलयदलैर्वासितं दीर्घिकाम्भ-
स्तीरोपान्तस्तनितसुभगं पास्यसि स्वादु यत्र॥ ९५॥

विश्रान्तिरिति। **सुभग** भो मनोहराङ्ग। **यत्र** पुर्याम्। **कह्लाराङ्कं** कह्लारापद्मेव अङ्कं चिह्नं यस्य तत्। 'सौगन्धिकं तु कह्लारं हल्लकं रक्तसन्ध्यकम्।' 'कलङ्कचिह्नयोरङ्कः' इत्युभयत्राप्यमरः। **सुरभि** घ्राणतर्पणम्। **शिशिरं** शीतलम्। 'सुषीमः शिशिरो जडः। तुषारः शीतलः शीतो हिमः सप्तान्यलिङ्गकाः' इत्यमरः। **स्वच्छं** सुष्ठु अच्छं निर्मलम्। 'विष्वाभाधातुप्रसन्नोऽच्छः' इत्यमरः। **उत्फुल्लपद्मम्** उत्फुल्लानि विकसितानि पद्मानि यस्मिन् तत्। **वाताकीर्णैः** मारुताकुलितैः। **कुवलयदलैः**। 'दलं पर्णं छदः पुमान्' इत्यमरः। **वासितं** परिमलितम्।

'भावितं वासितं त्रिषु' इत्यमरः । स्वादु मधुरम् । दीर्घिकाम्भः क्रीडा सरः सलिलम्। 'वापी तु दीर्घिका' इत्यमरः । तीरोपान्तस्तनितसुभगं कूलसमीपे स्तनितेन गर्जितेन सुभगं मनोहरं यथा भवति तथा । पास्यसि पानं करिष्यसि । तत्र विदिशापुर्याम् । यातस्य गतस्य । ते तव । विपुला महती । विश्रान्तिः विश्रामः । स्यादिति शेषः । मन्ये एवमहं जाने ।। ९५ ।।

अन्वय—(हे) सुभग ! यत्र कह्लाराङ्कं सुरभिशिशिरं स्वच्छं उत्फुल्लपद्मं वाताकीर्णैः कुवलयदलैः वासितं स्वादुदीर्घिकाम्भः तीरोपान्त स्तनित सुभगं पास्यसि तत्र यातस्य ते विपुला विश्रान्तिः (इति) मन्ये ।

अर्थ—हे सुन्दर यश अथवा माहात्म्य वाले ! जिस विशालनगरी में सफेद कमलों से चिह्नित, सुगन्धित, शीतल, स्वच्छ, विकसित पद्मकमलों से युक्त, वायु से व्याप्त, नीलकमलों के समूह से सुगन्धित (एवं) स्वाद-युक्त बावड़ी के जल को किनारे के समीपवर्ती प्रदेश में गरजने से सुन्दर लगते हुए पियोगे । वहाँ (विदिशा नगरी में) जाने पर तुम्हें बहुत विश्राम मिलेगा, ऐसा मैं सोचता हूँ ।

पातव्यं ते रसिक सुरसं प्राणयात्रानिमित्तं,
तस्यां लीलास्फुरितशफराघट्टनैरात्तपङ्कम् ।
रोधः प्रान्ते विहगकलभैर्बद्धडिण्डीरपिण्डं,
सभ्रूभङ्गं मुखमिव पयो वेत्रवत्याश्चलोर्म्याः[1] ।। ९६ ।।

पातव्यमिति । रसिक भो सरस । तस्यां राजधान्याम् । चलोर्म्याः चला ऊर्मयो वीचयो यस्याः सा तथोक्ता तस्याः । 'भङ्गस्तरङ्ग ऊर्मिर्वा स्त्रियां वीचिः' इत्यमरः । वेत्रवत्याः वेत्रवतीनाम नद्याः । रोधःप्रान्ते तीरनिकटे । लीलास्फुरितशफराघट्टनैः लीलया स्फुरितैः प्रवृद्धैः शफराणां मत्स्यानामाघट्टनैः सङ्घर्षणैः । 'शफरो निमिषः तिमिः' इति धनञ्जयः । आत्तपङ्कं प्राप्तकर्दमम् । विहगकलभैः पक्षिपोतैः । बद्धडिण्डीरपिण्डं बद्धो रचितः डिण्डीराणां फेनानां पिण्डः यस्य तत् । 'डिण्डीरोऽब्धिकफः फेनः' इत्यमरः । सुरसं सुशोभनो रसः स्वादु शृङ्गारादिर्वा यस्य तत् । पयः तोयम् । 'पयः क्षीरं पयोम्बु च' इत्यमरः । सभ्रूभङ्गं भ्रुवोर्भङ्गेन रचनया सहितम् । मुखमिव आननवत् । ते तव । प्राणयात्रानिमित्तं प्राणरक्षार्थम् । पातव्यं पानार्हं भवतीति शेषः । कामिनाम धरास्वादनं सुरतादतिरिच्यत इति तात्पर्यम् ।। ९६ ।।

अन्वय—(भो) रसिक ! सुरसं लीलास्फुरितशफराघट्टनैः आत्तपङ्कं,

---

1. चलोर्मि ।

विहगकलभैः रोधःप्रान्ते बद्धडिण्डीरपिण्डं वेत्रवत्याः सभ्रूभङ्गं मुखं इव चलोर्मिः पयः तस्यां प्राणयात्रानिमित्तं ते पातव्यम् ।

अर्थ—हे रसिक ! अच्छे आस्वाद वाले, क्रीड़ा करने के लिए उत्पन्न चंचलपने वाली मछलियों के संघर्ष से कीचड़ युक्त, पक्षियों के बच्चों से किनारे के समीपवर्ती प्रदेश में विरचित फेन समूह वाले, वेत्रवती (नदी) के भ्रकुटी वाली नायिका के मुख के समान चंचल तरंगों वाले जल को उस वेत्रवती नदी में अपनी प्राण-रक्षा के लिए तुम्हें पीना चाहिए ।

पीत्वा तस्यां सलिलममलं जीविकांकृत्य किञ्चि,
न्नीत्वाऽहस्त्वं क्वचिदनुमते हर्म्यपृष्ठे निषण्णः ।
दृष्ट्वा दृश्यं विलसितमदो नागराणां दिनान्ते,
नीचैराख्यं गिरिमधिवसेस्तत्र विश्रामहेतोः ॥ ९७ ॥

पीत्वेति । **तस्यां** वेत्रवत्याम् । **अमलं** निर्मलम् । 'मलोऽस्त्रीपापपङ्कयोः' इत्यमरः । **सलिलं** जलम् । 'सलिलं कमलं जलम्' इत्यमरः । **पीत्वा** पानं कृत्वा । **किञ्चित्** ईषत् । **जीविकां कृत्य** जीवनं कृत्वा । 'जीविकोपनिषदिव' इति ति सञ्ज्ञा । 'क्त्वो ल्यप्' इति ल्यादेशः । **अनुमते** सम्मते । **क्वचित्** कस्मिंश्चित् । **हर्म्यपृष्ठे** धनिनामावासपृष्ठभागे । 'हर्म्यादि धनिनां वासः' इत्यमरः । **निषण्णः** उपविष्टः । **अहः** दिनम् । 'दिवाहर्दिवसे' इति धनञ्जयः । **नीत्वा** यापयित्वा । **नागराणां** नगरे भवाः नागरास्तेषां नागरजनानाम् । **दृश्यं** द्रष्टुं योग्यम् । **अदः** एतत् । **विलसितं** वर्तनम् । **दृष्ट्वा** प्रेक्ष्य । **दिनान्ते** सायाह्ने । तत्र **विदिशानगरी** समीपे । **विश्रामहेतोः** विश्रान्तिनिमित्तम् । 'श्रिश्रमो घञ्' इति वा दीर्घः । पथश्रमापनयनार्थमित्यर्थः । **नीचैराख्यं** नीचैरिति आख्या यस्य तम् । **गिरिं** अद्रिम् । **त्वं** भवान् । **अधिवसेः** 'वसोनूपाध्याङ्' इति आधारे कर्म । गिरौ वसेत्यर्थः ॥९७॥

अन्वय—त्वं तस्यां अमलं सलिलं जीविकांकृत्य किञ्चित् पीत्वा क्वचित् अनुमते हर्म्यपृष्ठे निषण्णः अहः नीत्वा नागराणां अदः दृश्यं विलसितं दृष्ट्वा दिनान्ते विश्रान्ति हेतोः नीचैराख्यं गिरिं अधिवसेः ।

अर्थ—तुम उस वेत्रवती नदी में निर्मल जल को जीवन के साधन के समान मानकर कुछ पीकर अपनी इच्छानुसार किसी धनी के निवास के ऊपरी भाग में बैठकर दिन बिताकर नागरिकों के उस देखने योग्य विलास को देखकर दिन की समाप्ति के समय विश्राम के लिए नीच नामक पर्वत पर निवास करो ।

त्वं सेवेथाः शिखरिणममुं तां निशां मुक्तशङ्को,
विद्युद्दामस्फुरितरुचिमद्दीपिकाद्योतिताशः ।
सिद्धस्त्रीणां रतिपरिमलैर्वासिताधित्यकान्तं,
त्वत्सम्पर्कात्पुलकितमिव प्रौढपुष्पैः कदम्बैः ॥ ९८ ॥

त्वमिति । विद्युद्दामस्फुरितरुचिमद्दीपिकाद्योतिताशः स्फुरिता चासौ रुचिश्च तथोक्ता सास्यास्तीति स्फुरित रुचिमती सा चासौ दीपिका च तथोक्ता विद्युतां तडितां दाम माला विद्युद्दामैव स्फुरितरुचिमद्दीपिकेति कर्मधारयः । तया द्योतिताः प्रकाशिताः आशाः दिशो यस्येति बहुव्रीहिः । मुक्तशङ्कः मुक्ता त्यक्ता शङ्का आशङ्का येना सावित बहुव्रीहिः । त्वं भवान् । त्वत्सम्पर्कात् भवत्सङ्गमात् । प्रौढपुष्पैः प्रवृद्ध कुसुमैः । 'प्रवृद्धं प्रौढमेधितम्' इत्यमरः । कदम्बैः नीपवृक्षैः । 'नीपप्रियक कदम्बास्तु हलिप्रियः' इत्यमरः । पुलकितमिव पुलकानि अस्य सञ्जातानीति पुलकितमिव सञ्जातपुलकवत् । सिद्धस्त्रीणां सुरयोषिताम् । रति-परिमलैः भोगोचितगन्धद्रव्यवासनाभिः । 'विमर्दोत्थे परिमलो गन्धे जनमनोहरे' इत्यमरः । वासिताधित्यकान्तम् अधित्यकायाः पर्वतोर्ध्वभूमेः अन्तोवसानस्तथोक्तः । 'भूमिरूर्ध्वमधित्यका' इत्यमरः । 'अन्तोऽस्त्री निश्चये नाशे स्वरूपेऽप्रान्तिकेऽन्तके' इति नानार्थमालायाम् । वासितोऽधित्यकान्तो यस्येति बहुव्रीहिः । अमुं शिख-रिणम् । मौर्वैरभिधं भूधरम् । तां निशां रात्रिम् । 'निशा निशीथिनी रात्रिः' इत्यमरः । सेवेथाः भजस्व ॥ ९८ ॥

अन्वय—सिद्धस्त्रीणां रतिपरिमलैः वासिताधित्यकान्तं प्रौढपुष्पैः कदम्बैः त्वत्सम्पर्कात् पुलकितं इव अमुं शिखरिणं विद्युद्दामस्फुरितरुचिमद्दीपिका द्योति-ताशः मुक्तशङ्कः त्वं तां निशां सेवेथाः ।

अर्थ—सिद्ध स्त्रियों की रति क्रीड़ा के समय उत्पन्न माल्यादि के गन्धों से सुगन्धित पर्वत के ऊपरी भाग से युक्त प्रदेश वाले, प्रौढ पुष्पों वाले कदम्बों द्वारा मानों तुम्हारे सम्पर्क से पुलकित इस पर्वत को विद्युन्माला के चमकाने से कान्तियुक्त दीप से दिङ्मण्डल को प्रकाशित करने वाले तुम निःशङ्क होकर उस रात्रि का (पूरी तरह) सेवन करो ।

नोट—इस पर्वत को उस रात सेवन करो ।

सोऽसावद्रिर्भवतु नितरां प्रीतये ते समग्र-
ग्रावोपाग्रैर्ग्रहगणमिवोपगृहीतुं समुद्यन् ।
भोगोद्रेकं कथयति लतावेश्मकैः सोपहारै-
र्यः पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारिभिर्नागराणाम् ॥ ९९ ॥

सोऽसाविति । यः नीचैरभिख्यो गिरिः । **पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारिभिः** पण्यस्त्रियो वेश्याः 'वारस्त्री गणिका वेश्या पण्यस्त्री रूपजीविनी' इति शब्दार्णवे । तासां रतिपरिमलो गन्धविशेषस्तं 'विमर्दोत्थे परिमलः' इत्यमरः । तमुद्गिरन्त्या-विर्भवन्तीति रतिपरिमलोद्गारीणि तैः । **सोपहारैः** पुष्पोपहारादियुतैः । **लतावेश्मकैः** लतामयानि वेश्मानि तथोक्तानि लतावेश्मान्येव लतावेश्म कानि तैः लतागृहैः । **नागराणां** नगर जनानाम् । **भोगोद्रेकं** भोगोत्कटत्वम् । **कथयति** ब्रवीति । **सोऽसा-वद्रिः** स एष नीचैरद्रिः । **समग्रग्रावोपाग्रैः** सम्पूर्णशिलाग्र भागैः । 'समग्रं सकलं पूर्णम्' इत्यमरः । **ग्रहगणं** नक्षत्रनिकायम् । **उपग्रहीतुं** स्वीकरणाय । **खं** व्योम । **उद्यन्** उद्गच्छन्निव । **ते** तव । **प्रीतये** प्रेम्णे । **नितराम्** अधिकम् । **भवतु** रम्यत्वात् प्रेमकरोऽस्तीत्यर्थः तात्पर्यम् । अत्रोद्गारिशब्दस्य **गौणार्थत्वात्** न जुगुप्सा-श्लीलत्वं प्रत्युत काव्यस्यार्थं शोभाकरण एव । तदुक्तं दण्डिना 'निष्ठ्यूतोद्गीर्णवा-न्तादि गौणवृत्तिव्यपाश्रयम् । अतिसुन्दरमन्यत्र ग्राम्यां कक्षां विगाहते' इति ॥९९॥

अन्वय—यः पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारिभिः सोपहारैः लतावेश्मकैः नागराणां भोगोद्रेकं कथयति सः समग्रग्रावोपाग्रैः ग्रहगणं उपगृहीतुं इव खं उद्यन् असौ अद्रिः ते नितरां प्रीतये भवतु ।

अर्थ—जो नीच नामक पर्वत वेश्याओं से रतिक्रीड़ा में विमर्दित पुष्प आदि की सुगन्धि को प्रकट करने वाले (पुष्प आदि) उपहारों से युक्त लताओं से निर्मित वेश्याकार मण्डपों (लता गृहों) से नागरिकों के भोगों की अधिकता को कहता है, समस्त पत्थरों के अग्रभागों से मानों तारा-गणों को बन्दी बनाने के लिए ही आकाश में ऊपर की ओर जाता हुआ यह पर्वत तुम्हारे अत्यधिक आनन्द के लिए होगा अर्थात् तुम्हें अत्यधिक आनन्द देगा ।

प्रेमाऽमुष्मिंस्तव समुचितं विद्धि शैले शिलाग्रै,
र्व्योमाभोगं परिमृजति वा पुष्पशय्याचितान्तैः ।
स्रस्तस्रग्भिर्निधुवनविधौ क्रीडतां दम्पतीना-
मुद्दामानि प्रथयति शिलावेश्मभिर्यौवनानि ॥१००॥

प्रेमेति । **शिलाग्रैः** पाषाणाग्रैः । **व्योमाभोगम्** आकाश प्रदेशम् । **परिमृजति** परिमार्ष्टीति परिमृजन् तस्मिन् । 'मृजौ शुद्धौ' धातुरयं वा अथवा । **क्रीडतां** विहरताम् । **दम्पतीनां** स्त्रीपुरुषमिथुनानाम् । 'दम्पती जम्पती जायापती' इत्यमरः । **निधुवनविधौ** सुरतविधाने । 'निधुवनं रतम्' इति 'विधिर्विधाने दैवे च' इत्यप्यमरः । **स्रस्तस्रग्भिः** स्रस्ताः शिथिलिताः स्रजो मालायेषु तानि स्रस्त स्रञ्जि तैः । 'स्रस्तं ध्वस्तं भ्रष्टं स्कन्नं पन्नं च्युतं गलितम्' इत्यमरः । **पुष्पशय्या-**

चिताग्रैः पुष्पशय्याभिश्चिताश्चिता निचितान्ता मध्यप्रदेशो येषां तानीति बहुव्रीहिः । तैः शिलावेश्मभिः गुहाभिः । उद्दामानि उत्कटानि । 'गुहामेदत्स्यिदप्रभावाप्रमानि' इत्यमरः । यौवनानि यूनां भावान् । प्रथयति प्रथयतीति प्रथयन् तस्मिन् प्रकटयति । अमुष्मिन् शैले नीचैरगे । तव भवतः । प्रेम स्नेहः । समुचितं सुयोग्यमिवेति । विद्धि त्वं जानीहि । उत्कटयौवनाः नवचिदनुरक्ता वाराङ्गना विश्रंभव्यवहारकाङ्क्षिण्यो मात्रादिभयात् निशीथसमये विविक्त समय देशमाश्रित्य रमन्त इति बहुलमस्ति प्रसिद्धिः ॥१००॥

अन्वय—शिलाग्रैः व्योमोत्सङ्गं परिभजति क्रीडतां दम्पतीनां निधुवनविधौ न्यस्तस्रग्भिः पुष्पशय्याचितान्तैः शिलावेश्मभिः उद्दामानि यौवनानि प्रथयति वा अमुष्मिन् शैले तव समुचितं प्रेम विद्धि ।

अर्थ—पाषाणों के अग्रभाग द्वारा आकाश प्रदेश को छूने वाले, अथवा क्रीडा करते हुए दम्पतियों की मैथुनसेवन विधि में गिरी हुई मालाओं वाले तथा जिनके मध्यभाग फूलों की शय्या से व्याप्त हैं ऐसे शिलागृहों के द्वारा (पर्वत की शिलाओं में उकेरे गए गृह) उत्कट (अमर्यादित) यौवन को प्रकट करने वाले इस पर्वत पर तुम्हें समुचित प्रेम का अनुभव हो अर्थात् इस पर्वत पर तुम्हारे लिए प्रेम प्रकट करने का अवसर है ।

अथार्धवेष्टितानि—

रम्योत्सङ्गे शिखरनिपतन्निर्झराराबहृद्ये,
पर्यारूढद्रुमपरिगतोपत्यके तत्र शैले ।
विश्रान्तः सन्व्रज वननदीतीरजानां निषिञ्च-
न्नुद्यानानां नवजलकणैर्यूथिकाजालकानि ॥१०१॥

रम्योत्सङ्ग इति । शिखरनिपतन्निर्झराराबहृद्ये शिखरान्निपतन्निति कासः[1] । सचासौ निर्झरश्चेति कर्मधारयः । तस्याराबो ध्वनिरिति तत्पुरुषः । हृदयस्य प्रियो हृद्यः 'तत्पथ्य' इत्यादिना यत्यः । 'हृदयस्य हृल्लेखास:' इति हृदादेशः । तेन हृद्य इति भासः[2] । तस्मिन् । पर्यारूढद्रुमपरिगतोपत्यके परितः आरूढाः प्रवृद्धास्ते च ते द्रुमाश्च कर्मधारयः । तैः परिगता परिवृता उपत्यका उपरिभूमिर्यस्येति बहुव्रीहिः । तस्मिन् । रम्योत्सङ्गे रम्य उत्सङ्ग पार्श्वो यस्येति बहुव्रीहिः । तस्मिन् । तत्र शैले नीचैरचले । विश्रान्तः सन् अध्वश्रमरहितः सन् । वननदीतीरजानां वने अरण्ये या नद्यः तासां तीरेषु जातानि रूढानि अतिक्रमेणेत्यर्थः । उद्यानानाम्

१. कास इति तृतीया तत्पुरुषस्य संज्ञा ।
२. भास इति तृतीया तत्पुरुषस्य संज्ञा ।

आरामाणाम् । यूथिकाजालकानि मागधीमुकुलानि । 'अथ मागधी । गणिका यूथिकाम्बष्ठा' इत्यमरः । 'कोरकजालककलिका कुड्मलमुकुलानि तुल्यानि' इति हलायुधः । नवजलकणैः नूतनजलबिन्दुभिः । सिञ्चन् आर्द्रीकुर्वन् । व्रज गच्छ ।

अन्वय—रम्योत्सङ्गे शिखरनिपतन्निर्झरारावहृद्ये पर्यस्तद्रुमपरिमितोपत्यके तत्र शैले विश्रान्तः सन् वननदीतीरजानां उद्यानानां यूथिकाजालकानि नवजलकणैः सिञ्चन् व्रज ।

अर्थ—रमणीय उपरितन प्रदेश वाले, शिखर से गिरते हुए झरनों की ध्वनि से मनोहर, सब ओर से उगे हुए वृक्षों द्वारा सब ओर से व्याप्त पर्यन्त भूमि वाले उस नीच नामक पर्वत पर विश्राम करके वन की नदियों के तटों में उत्पन्न बगीचों के जुही के मुकुलों को नए जल के बिन्दुओं से सेचन करते हुए जाओ ।

> **अध्याक्रान्ते तपति तपने पुष्पगुल्मावकीर्णां,**
> **तस्यास्तीरक्षितिमतिपतेर्नातिवेगाद् दयालुः ।**
> **गण्डस्वेदापनयनरुजाक्लान्तकर्णोत्पलानां,**
> **छायादानात्क्षणपरिचितः पुष्पलावीमुखानाम् ॥१०२॥**

अध्याक्रान्त इति । **अध्याक्रान्ते** उपर्याक्रान्ते । **तपने** सूर्ये । **तपति** तपन् तस्मिन् । इति शतृत्यः । **गण्डस्वेदापनयनरुजाक्लान्तकर्णोत्पलानाम्** गण्डयोः कपोलयोः स्वेदस्यापनयनेन प्रमार्जनेन रुजा पीडा तया क्लान्तानि म्लानानि कर्णोत्पलानि येषां तेषाम् । **पुष्पलावीमुखानां** पुष्पाणि लुनन्तीति पुष्पलाव्यः पुष्पावचायिकाः स्त्रियः 'कर्मण्यण्' 'टिड्ढाणञ्' इत्यादिना ङीप् । तासां मुखानि तेषाम् । **छाया-दानात्** अनातपस्य दानात् । कान्तिदानाच्चेति ध्वन्यते । 'छाया सूर्यप्रिया कान्तिः' इत्यमरः । कामुकदर्शनात्कामिनीनां मुखविकासो भवतीति भावः । **क्षणपरिचितः** क्षणं संस्पृष्टः । **दयालुः** कारुण्यशीलः सन् । 'निद्रातन्द्रा' इत्यादिना दयाशब्दा-दालुच् । **तस्याः** नद्याः । नद्या इत्येव वा पाठः **पुष्पगुल्मावकीर्णां** पुष्पयुक्तैः गुल्मैः लतासङ्घातैः **अवकीर्णां** विकीर्णाम् । **तीरक्षितिं** तटभुवम् । **नातिवेगात्** मन्द-गमनात् । **अतिपतेः** गच्छ ॥१०२॥

अन्वय—अध्याक्रान्ते तपने तपति (सति) गण्डस्वेदापनयनरुजाक्लान्तकर्णो-त्पलानां पुष्पलावीमुखानां छायादानात् क्षणपरिचितः दयालुः (त्वं) तस्याः पुष्पगुल्मावकीर्णां तीरक्षितिं नातिवेगात् अतिपतेः ।

अर्थ—गगनमण्डल के मध्य में स्थित सूर्य के तपने पर (प्रखर किरणों से युक्त होने पर) गालों पर पसीना हटाने से उत्पन्न पीड़ा से जिनके

कर्णभूषण-कमल मुरझा गए हैं ऐसे फूलों को तोड़ने वाली उन स्त्रियों के मुखों को छाया देने से कुछ समय तक परिचित एवं दयालु होते हुए तुम उस वन नदी की पुष्प, लता, तृणादि से आच्छादित तटभूमि पर अत्यन्त वेग से नहीं जाना।

वक्रोऽप्यध्वा जगति स मतो यत्र लाभोऽस्त्यपूर्वो,
यातुं शक्यं ननु वनपथात्कासिकाग्रार्जुनान्तात्।
वक्रः पन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशां,
सौधोत्सङ्गप्रणयविमुखो मा स्म भूरुज्जयिन्याः॥१०३॥

वक्र इति। यत्र मार्गे। अपूर्वः अलब्धपूर्वः। लाभः प्राप्तिः। अस्ति वर्तते। सः अध्वा मार्गः। वक्रोऽपि आर्जवरहितोऽपि। जगति लोके। मतः अङ्गीकृतो भवति। कासिकाग्रार्जुनान्तात् कासिका एव अग्रम् आदिर्यस्य कासिकाग्रः अर्जुन एव अन्तो यस्य अर्जुनान्तः कासिकाग्रश्चासावर्जुनान्तश्च तथोक्तस्तस्मात् मार्गविशेषात्। वनपथात् वनस्य पन्थाः वनपथस्तस्मात् 'ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे' इति समासान्तः' कान्तारमार्गात्। यातुं गन्तुम्। ननु अवश्यम्। शक्यं भवतीति शेषः। उत्तराशां कौबेरीदिशम्। प्रस्थितस्य गन्तुमुद्यतस्य। भवतः तव। पन्थाः उज्जयिनी मार्गः। वक्रः अनृजुः। यदपि यद्यपि। भवति चेदनीत्यर्थः। उज्जयिन्याः विशालानगरस्य 'विशालोज्जयिनी समे' इत्यमरः। सौधोत्सङ्ग प्रणयविमुखः सौधानामुत्सङ्गेषु-परिभागेषु प्रणयः परिचयः तस्य विमुखः पराङ्मुखः। मा स्म भूः न भवेत्यर्थः। 'स्मे च स्मेन' इति धातोर्माङ्स्मयोगेन लुङ्। 'लङ् लुङ् च' इत्यादिना माङ्योगेऽडागमनिषेधः। अलकां प्रस्थितस्य उज्जयिनीगमने मार्गो वक्रोऽपि उज्जयिन्यां प्रेक्षाकौतुक सम्भवादवश्यं गन्तव्यमेवेति भावः॥१०३॥

अन्वय—यत्र अपूर्वः लाभः अस्ति स अध्वा वक्रः अपि जगति मतः। उत्तराशां प्रस्थितस्य भवतः पन्थाः यद्यपि वक्रः (तदपि) कासिकाग्रार्जुनान्तात् वनपथात् ननु यातुं शक्यम्। (ततः) उज्जयिन्याः सौधोत्सङ्गप्रणयविमुखः मा स्म भूः।

अर्थ—जिस मार्ग में अपूर्व लाभ है वह मार्ग टेढ़ा होने पर भी संसार में आदर को प्राप्त है। उत्तर दिशा की ओर जाते हुए यद्यपि तुम्हारा मार्ग टेढ़ा होगा, फिर भी कासों का अग्रभाग जिसका प्रारम्भ है तथा अर्जुन वृक्ष जिसके अंत में हैं ऐसे जंगल के रास्ते से जाना सम्भव है। (जंगल पार करने के) अनन्तर उज्जयिनी के प्रासादों के ऊर्ध्व भागों से परिचय करने में (तुम) पराङ्मुख न होना।

जैत्रैर्बाणैः कुसुमधनुषो दूरपातैरमोघै-
र्मर्माविद्भिर्दृढपरिचितभ्रूधनुर्यष्टिमुक्तैः ।
विद्युद्दामस्फुरितचकितैर्यत्र पौराङ्गनानां,
लोलाऽपाङ्गैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितः स्याः ॥१०४॥

जैत्रैरिति । यत्र उज्जयिन्याम् । **कुसुमधनुषः** कुसुमान्यत्र धनुर्यस्य तस्य मन्मथस्य । 'पुष्पधन्वा रतिपतिः' इत्यमरः । **जैत्रैः** जयनशीलैर्**बाणैः** । **दूरपातैः** दूरेपातः पतनं येषां तैः । **अमोघैः** न मोघाः अमोघास्तैः । 'मोघं निरर्थकम्' इत्यमरः । सफलैरित्यर्थः । **मर्माविद्भिः** मर्मस्थानम् आसमन्ताद्भेदयद्भिः । **दृढपरिचितभ्रूधनुर्यष्टिमुक्तैः** दृढं गाढं परिचितमभ्यस्तं भ्रुवावेवधनुः दृढपरिचितं च तत् धनुश्च तथोक्तं । तदेव वा यष्टिर्दण्डस्तस्या मुक्ता तैः मदनावस्थोद्रेकैरित्यर्थः । **विद्युद्दामस्फुरितचकितैः** विद्युद्दाम्नो विद्युन्मालायाः स्फुरितं स्फुरणं तेन चकितैः कम्पितैः । **लोलापाङ्गैः** लोलश्चञ्चलोऽपाङ्गो येषां यैः 'लोलश्चलसतृष्णयोः' अपाङ्गो नेत्रयोरङ्गे' इत्युभयत्राप्यमरः । **पौराङ्गनानां** पुरे भवाः पौराः पौराणामङ्गनास्तथोक्ताः । पौराश्च ताः अङ्गनाश्चेति वा तासां । **लोचनैः** नयनैः । **यदि न रमसे** न क्रीडयसि । **चेत्तर्हि** । **वञ्चितः** प्रतारितः । **स्याः** भवेः । तदपाङ्गनिरीक्षणाभावे जन्मवैफल्यं भवेदेति तात्पर्यम् ॥ १०४ ॥

अन्वय—यत्र पौराङ्गनानां विद्युद्दामस्फुरितचकितैः लोलापाङ्गैः कुसुमधनुषः दृढपरिचितभ्रूधनुर्यष्टिमुक्तैः मर्माविद्भिः अमोघैः दूरपातैः जैत्रैः बाणैः यदि न रमसे (तदा) लोचनैः वञ्चितः स्याः ।

अर्थ—जिस उज्जयिनी नगरी में नागरिकों की सुन्दर स्त्रियों के बिजली के चमकने से प्रदीप्त चंचल नेत्रान्त वाले, कामदेव के अत्यन्त परिचित भ्रकुटि रूप धनुर्यष्टियों से छोड़े गए, मर्म का छेदन करने वाले, अचूक, दूर गिरने वाले और जयनशील बाणों से यदि रमण नहीं करते हो तो नेत्रों से वञ्चित हो जाओगे अर्थात् दोनों नेत्रों के होने का फल तुम्हें प्राप्त नहीं होगा ।

भावार्थ—यहाँ बाणों का अर्थ स्त्रियों के नेत्रों से है ।

इदानीमुज्जयिनीं गच्छतस्तस्यान्तरे निर्विन्ध्यासरितः सम्बन्धमाह—

स्रोतः पश्यन्व्रज पथि लुठन्मीनलोला पताक्याः,
निर्विन्ध्यायाः किमपि किमपि व्यञ्जिताकूतवृत्तिः ।
वीचिक्षोभस्तनितविहगश्रेणिकाञ्चीगुणायाः,
संसर्पन्त्याः स्खलितसुभगं दर्शितावर्तनाभेः ॥ १०५ ॥

स्रोत इति । पथि विशालापुरीमार्गे । लुठन्मीनलोलायताक्ष्याः लुठन्तः स्फुरन्तः मीना एव लोले चञ्चले आयते दीर्घे अक्षिणी यस्याः सा तस्याः । वीचिक्षोभस्तनितविहगश्रेणिकाञ्चीगुणायाः वीचिक्षोभेन तरङ्गचलनेन आर्तं स्तनितं घोषणं विहगानां पक्षिणां श्रेणिः पंक्तिः 'श्रेणी रेखास्तु राजयः' इत्यमरः । वीचि क्षोभस्तनितेन सहिता विहगश्रेणिस्तथोक्ता सैव काञ्चीगुणो रसनादाम यस्यास्तस्याः । 'स्त्रीकट्यां मेखला काञ्ची सप्तकीरसना तथा' इत्यमरः । स्खलितसुभगं गमनस्खलनेन सुभगं यथा तथा । संसर्पन्त्याः गच्छन्त्याः । दर्शितावर्तनाभेः दर्शितः आवर्तोम्भोभ्रमः स एव नाभिर्यस्याः सा तस्याः 'स्यादावर्तो भसां भ्रमः' इत्यमरः । निर्विन्ध्यायाः विन्ध्यादचलात् निष्क्रान्ता निर्विन्ध्या नाम नदी । 'गतादिषु प्रादयः' इति समासः । तस्याः स्रोतः । 'स्रोतोम्बुसरणं स्वतः' इत्यमरः । प्रवाहमित्यर्थः । किमपिकिमपि वीप्सायां द्विः । यत्किमपि । व्यञ्जिताकूतवृत्तिः व्यञ्जिता प्रकटिता आकूतस्य अभिप्रायस्य वृत्तिर्वर्तनं यस्य तथोक्तः सन् । 'आकूतं स्यादभिप्रायः' इति व्याडिः । पश्यन् अवलोकयन् । व्रज गच्छ ।

अन्वय—पथि लुठन्मीनलोलायताक्ष्याः वीचिक्षोभस्तनितविहगश्रेणिकाञ्चीगुणायाः दर्शितावर्तनाभेः स्खलितसुभगं संसर्पन्त्याः निर्विन्ध्यायाः किमपि किमपि व्यञ्जिताकूतवृत्तिः स्रोतः पश्यन व्रज ।

अर्थ—(आप) रास्ते में लोटती हुई मछलियाँ ही हैं नेत्र जिसके, तरङ्गों के चलने से शब्द करने वाले पक्षियों की पंक्ति ही है करधनी जिसकी, दिखलाई है आवर्त रूपी नाभि जिसने तथा जो स्खलित गति से मनोहर रूप से जा रही है ऐसे निर्विन्ध्या नदी के प्रवाह को देखते हुए, कुछ अपने अभिप्राय को भी प्रकट करते हुए जाओ ।

त्वय्यौत्सुक्यं स्फुटमिव विनाप्यक्षरैर्व्यञ्जयन्त्याः,
किञ्चिल्लज्जावलितमिव संदर्शिताप्तागमायाः ।
निर्विन्ध्यायाः पथि भव रसाभ्यन्तरः सन्निपत्य,
स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु ॥ १०६ ॥

त्वयीति । पथि उज्जयिनीमार्गे । त्वयि भवति । औत्सुक्यं लाम्पट्यम् । अक्षरैः विना वर्णैः उच्चारणमन्तरेणापीत्यर्थः । 'पृथग्विनान्तरेणर्ते हिरुङ्नाना च वर्जने' इत्यमरः । स्फुटं व्यक्तम् 'स्फुटं प्रव्यक्तमुल्बणम्' इत्यमरः । व्यञ्जयन्त्या इव व्यक्तीकुर्वन्त्या इव । किञ्चिल्लज्जावलितं किञ्चिदीषत् लज्जया ह्रिया आवलितं वक्रमनुल्बं यथा भवति तथा । संदर्शिताप्तागमायाः संदर्शितः व्यञ्जितः आप्तस्य प्रियस्य आगमः आगमनं ययेति बहुव्रीहिः । तस्या इव । एवं भासमानायाः निर्विन्ध्यायाः वनिताया इति ध्वन्यते । सन्निपत्य समीपं गत्वा । रसाभ्यन्तरः रसो

जलं शृङ्गारादिर्वा अभ्यन्तरे यस्य सः । 'शृङ्गारादौ जले वीर्ये सुवर्णे विष-शुक्लयोः । आस्वादे रसने अन्तः' इति शब्दार्णवे । भव सम्यक् तद्रसमनुभवेत्यर्थः । अत्रार्थान्तरन्यासमाह । स्त्रीणां प्रियेषु वल्लभेषु । विभ्रमो विलासः । 'स्त्रीणां विलासविब्बोकविभ्रमाललितम्' इत्यमरः । स एवाद्यमादिमम् । प्रणयवचनं प्रियवाक्यम् । हि स्फुटम् । स्यादिति निर्देशः । विभ्रमैरेव रतिप्रकाशनं न तु वचनतः । विभ्रमश्चात्र नाभिसन्दर्शनादिरेवेति तात्पर्यम् ॥१०६॥

अन्वय—पथि सन्निपत्य अक्षरैः विना अपि स्फुटं इव त्वयि औत्सुक्यं व्यञ्जयन्त्याः किञ्चिल्लज्जावलिते इव सन्दर्शिताप्तागमायाः निर्विन्ध्यायाः सन्निपत्य रसाभ्यन्तरः भव, हि (यतः) स्त्रीणां प्रियेषु विभ्रमः आद्यं प्रणयवचनम् ।

अर्थ—उज्जयिनी के मार्ग में उस निर्विन्ध्यानदी को पाकर अक्षरों के (उच्चारण के) बिना भी व्यक्त के समान आपके विषय में उत्कण्ठा को व्यक्त करती हुई कुछ कुछ लज्जा से अपने शरीर को वक्र बनाती हुई आप्त (विश्वस्त व्यक्ति) के आगमन को प्रकट करती हुई निर्विन्ध्या नदी के पास जाकर उसके रस (जल अथवा शृङ्गार) को ग्रहण करने में अन्तरङ्ग बनो; क्योंकि स्त्रियों की प्रणयीजनों में शृंगार चेष्टा ही प्रथम प्रणय वाक्य हो जाता है ।

भावार्थ—कामिनी अपने प्रेमी के प्रति अभिप्राय को वचन के बिना ही व्यक्त कर देती है, निर्विन्ध्या ने भी नाभि प्रदर्शनादिरूप विलासों से अभिप्राय को व्यक्त कर दिया है। उसने यद्यपि मेघ से वचन द्वारा प्रार्थना नहीं की, फिर भी उसके रस (जल, शृंगार) का अनुभव मेघ को अवश्य करना चाहिए; क्योंकि नाभि आदि दिखलाने से अपने अभिप्राय को वचनादि के उच्चारण बिना ही उसने प्रकट कर दिया है ।

हंसश्रेणीकलविरुतिभिस्त्वामिवोपाह्वयन्ती,
धृष्टा मार्गे शिथिलवसनेवाकुला दृश्यते ते ।
वेणीभूतप्रतनुसलिला[1] तामतीतस्य सिन्धुः,
पाण्डुच्छायातटरुहतरुभ्रंशिभिर्जीर्णपर्णैः ॥१०७॥

हंसश्रेणीति । तां निर्विन्ध्यानदीम् । अतीतस्य अतिक्रान्तस्य । ते तव । मार्गे पथि । तटरुहतरुभ्रंशिभिः तटयोरुहन्तीति तटरुहाः 'शाकुपुंप्रिगुपान्त्यात्कः' इति क प्रत्ययः । तीरद्रुमो अवास्तरवः तेभ्यः भ्रंशतीत्येवं शीलानि भ्रंशानि तैः पतनशीलैः । जीर्णपर्णैः शुष्कदलैः । पाण्डुच्छाया पाण्डुवर्णा विरहावस्थयेति

---

1. सलिलाशावलीतस्येति पाठः ।

व्यज्यते । वेणीभूत प्रतनुसलिला प्रागवेणी इदानीं वेणी भवति स्मेति तथोक्तं वेण्याकारं चलितप्रवाहं प्रतनु प्रकर्षेण स्तोकं सलिलं यस्याः सा तथोक्ता । सिन्धुः सिन्धुनाम नदी । 'नदे सिन्धुर्देशभेदे' इति वैजयन्ती । शिथिलवसना विश्लिष्ट वस्त्रा । धृष्टा निर्लज्जेति यावत् । अङ्गनेव वनितावत् । हंसश्रेणीकलविरुतिभिः हंसानां श्रेण्याः राजेः कलाः 'कलो मन्द्रस्तु गम्भीरे' इत्यमरः । विरुतयः शब्दा-स्ताभिः । त्वां भवन्तम् । उपाह्वयन्तीव समीपमाकारयन्तीव । दृश्यते लक्ष्यते । अत्र स्वल्पजलत्वात् शिथिलवसनमुत्प्रेक्ष्यते इति तात्पर्यम् ॥१०७॥

अन्वय—तां अतीतस्य ते मार्गे वेणीभूतप्रतनुसलिला तटरुहतरुभ्रंशिभिः जीर्णपर्णैः पाण्डुच्छाया सिन्धुः धृष्टा शिथिलवसना अङ्गना इव हंसश्रेणी कल-विरुतिभिः त्वां उपाह्वयन्ती इव दृश्यते ।

अर्थ—निर्विन्ध्या नदी को पार करने वाले, अथवा पारकर जाने वाले तुम्हारे मार्ग में थोड़ा जल ही है वेणी जिसकी, तीर पर उगे हुए वृक्षों से गिरने वाले सूखे हुए पत्तों से पीले वर्ण वाली सिन्धु नामक नदी अविनीत तथा शिथिल वस्त्र अथवा परित्यक्त वस्त्र वाली कामिनी के समान हंसों की पंक्तियों की गम्भीर आवाजों से मानों तुम्हें बुलाती हुई सी दिखाई देगी ।

क्षामापाण्डुः[2] प्रतनुसलिला वेणिकां धारयन्ती,
हंसस्वानैरिव विदधती प्रार्थनाचाटुमेषा ।
सौभाग्यं ते सुभग विरहावस्थया व्यञ्जयन्ती,
कार्श्यं येन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाद्यः ॥१०८॥

क्षामेति । हे सुभग मनोरमाङ्ग । क्षामा कृशाङ्गी । पाण्डुः पाण्डुरवर्णा । 'हरिणः पाण्डुर पाण्डुः' इत्यमरः । प्रतनुसलिला स्तोकतोया । वेणिकां वेण्याकारं धारयन्तीति वेणीकृतकेशपाशां वा । 'वेणी च वेणी बन्धे जलस्रुतौ' इति वैजयन्ती । धारयन्ती हंसस्वानैः मन्द सानरवैः । प्रार्थनाचाटु प्रार्थना प्रियवचनम् । 'अथवा चाटु चटु श्लाघा प्रेम्णा' इत्यमरः । विदधतीव विदधती । शतृत्वः । 'नुम्' इति प्राप्तौ । 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति नम् । कुर्वतीव विरहावस्थया मल्लकदशनया 'वियोगो मदनावस्था विरहो मल्लकं विदुः' इति धनञ्जयः । 'दशावस्थानेकविधा' इत्यमरः । ते तव । सौभाग्यं सुभगत्वम् । 'हृद्भगसिन्ध्वोः' इति उभयपदस्यापि च । व्य-ञ्जयन्ती प्रकाशयन्ती । एषा सिन्धुः कामिनीति व्यज्यते । येन विधिना येन

१. अभूततद्भावे च्विः 'च्वौ' इति दीर्घः ।

२. ऽऽपाण्डुः ।

विधानेन । 'विधिर्विधाने दैवेऽपि' इत्यमरः । कार्श्यम् कृशत्वम् । त्यजति जहाति । स: विधि: । त्वयैव भवतैव । उपपाद्यः कर्तव्य इत्यर्थः । इयं पक्ष्मस्यवस्था स च विधिरेकत्र वृष्टिरन्यत्र सम्भोग: । तत्कार्श्यस्य तदभाव निबन्धनत्वादिति भावः ।

अन्वय—हे सुभग ! क्षामा आपाण्डुः प्रतनुसलिला वेणिकां धारयन्ती हंसस्वानैः प्रार्थना चाटु विदधती इव विरहावस्थया ते सौभाग्यं व्यञ्जयन्ती एषा येन विधिना कार्श्यं त्यजति सः त्वया एव उपपाद्यः ।

अर्थ—हे मनोहर अङ्ग वाले ! दुर्बल शरीर वाली, कुछ-कुछ पाण्डुवर्ण, थोड़े जल रूप वेणी को धारण की हुई हंसों की आवाज से रमण हेतु प्रार्थना रूप चाटुकारी सी करती हुई विरह की अवस्था से तुम्हारे सौभाग्य को प्रकट करने वाली यह सिन्धु नदी जिस विधि से कृशता को छोड़े, उस विधि को तुम्हें ही करना चाहिए ।

सत्यप्येवं पथि बहुविधे संविधानानुषङ्गे,
मुख्य स्वार्थप्रतिहतिभयादाशु गत्वाध्वशेषम् ।
प्राप्यावन्तीनुदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान्,
पूर्वोद्दिष्टामुपसर पुरीं श्रीविशालां विशालाम् ॥१०९॥

सतीति । पथि मार्गे । बहुविधे अनेक प्रकारके । एवं कथितरीत्या । संविधानानुषङ्गे अनुषञ्जनमनुषङ्गः सम्पर्कः संविधानस्य कार्यान्तरस्य अनुषङ्गस्तस्मिन् । सत्यपि तथापि । मुख्य स्वार्थप्रतिहतिभयात् प्रधानभूत स्वप्रयोजनभङ्गभीते । 'अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजन निवृत्तिषु' इत्यमरः । अध्वशेषम् अवशिष्टमार्गम् । आशु शीघ्रम् । गत्वा । उदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान् विन्दतीति विदाः 'शाकुगुपीगुपान्त्यात्कः' इति क प्रत्ययः । ओकसो वेद्यस्थानस्य विदाः कोविदाः 'पृषोदरादित्वादोकारो लुप्तः साधुः ।' उदयनस्य वत्सराजस्य कथानां वासवदत्ताप्रहरणाद्युपाख्यानां कोविदाः परिज्ञानिनः ग्रामेषु ये वृद्धा दीर्घवयस्काः तथोक्ताः उदयनकथाकोविदाः ग्रामवृद्धाः येषु तान् । अवन्तीन् अवन्तीनाम जनपदान् । प्राप्य गत्वा । पूर्वोद्दिष्टां प्रागुक्ताम् । श्रीविशालां सम्पद्विशालाम् । विशालां उज्जयिनीं पुरीम् । 'विशालोज्जयिनी समा' इत्यभिधानात् । उपसर व्रज ॥१०९॥

अन्वय—पथि एवं बहुविधे संविधानानुषङ्गे सति अपि मुख्यस्वार्थ प्रतिहतिभयात् अध्वशेषं आशु गत्वा उदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान् अवन्तीन् प्राप्य श्रीविशालां पूर्वोद्दिष्टां पुरीं । उपसर ।

अर्थ—रास्ते में इस प्रकार के अनेक करने योग्य कार्यों में लगे रहने पर भी प्रधानभूत अपने प्रयोजन का नाश होने के भय से शेष रास्ते को

जल्दी पार कर जहाँ के गाँव के बूढ़े लोग उदयन की कथा के जानकार हैं, ऐसे अवन्ति देश में पहुँचकर विशाल सम्पत्ति वाली पूर्वोक्त उज्जयिनी को जाओ।

श्यावर्ण्यालं भुवनमहितां तां पुरीमुत्तमर्द्धि,
लक्ष्म्याः शश्वन्निवसनभुवं सम्पदामेकसूतिम्।
स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणां गां गतानां,
शेषैः पुण्यैः [1]कृतमिव दिवः कान्तिमत्खण्डमेकम् ॥११०॥

श्यावर्ण्येति। **स्वर्गिणां** देवानाम्। **सुचरितफले** सच्चरितफले स्वर्गोपभोगलक्षणे। **स्वल्पीभूते** अल्पे सतीत्यर्थः। **गां गतानाम्** इलामितानाम्। पुनरपि भूलोकभाजामित्यर्थः। 'गौरिलाकुम्भिनी क्षमा' इत्यमरः। **शेषैः** स्वर्गोपभोगावशिष्टैः। **पुण्यैः** सुकृतैः। **कृतं** विहितम्। **कान्तिमत्** कान्तिरस्यास्तीति कान्तिमत् सारभूतमित्यर्थः। **एकं** मुख्यम्। 'एके मुख्यान्यकेवलाः' इत्यमरः। **दिवः** स्वर्गस्य **खण्डमिव** भागमिवेत्युत्प्रेक्षा। प्रतिभासमानामिति शेषः। **भुवनमहितां** लोकपूजिताम्। **उत्तमर्द्धिम्** उत्तमा ऋद्धिरैश्वर्यं यस्यास्ताम्। **लक्ष्म्याः** रमायाः। **शश्वन्निवसनभुवम्** अनवरतनिवासभूमिम्। **सम्पदां** सम्पत्तीनाम्। **एकसूतिं** मुख्यप्रसव स्थानम्। **तां पुरीम्** विशालाख्यनगरीम्। **श्यावर्ण्य** वर्णयित्वा। **अलं** पर्याप्तम्। अवाग्गोचर महिमत्वात् निःशेषं वर्णयितुं न शक्येत्यर्थः ॥११०॥

अन्वय—तां भुवनमहितां उत्तमर्द्धिं लक्ष्म्याः शश्वन्निवसनभुवं, सम्पदां एकसूतिं, सुचरितफले स्वल्पीभूते गां गतानां स्वर्गिणां शेषैः पुण्यैः दिवः कृतं एकं कान्तिमत् खण्डं इव तां पुरीं श्यावर्ण्य अलम्।

अर्थ—लोकपूजित, उत्तमऋद्धि वाली, लक्ष्मी का सदाकालिक निवासस्थान, सम्पत्तियों का अद्वितीय उत्पत्ति स्थान, पुण्यफल के क्षीण हो जाने पर पृथ्वी पर आए हुए देवों के अवशिष्ट पुण्यों द्वारा स्वर्ग से लाए गए, स्वर्ग के एक उज्ज्वल टुकड़े के समान उस उज्जयिनी नगरी का वर्णन (इतना ही) पर्याप्त है।

यस्यामुच्चैरुपवनतरून्नामयन्मातरिश्वा,
वीचिक्षोभाधिकशिशिरः सञ्चरत्यम्बुकणौघैः।
दीर्घीकुर्वन्पटु मदकलं कूजितं सारसानां,
प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः ॥१११॥

---

१. कृतमिव।

यस्यामीति । यस्यां पुर्याम् । उच्चैः उदग्रान् । उपवनतरून् आरामद्रुमान् । नामयन् संश्लेषं वितन्वन् । आनमय्येति इति पाठे समंतात् संगतान् कम्पनमियेन् प्रह्वीकुर्वन् । वीचिक्षोभात् तरङ्गकम्पनात् । अधिकशिशिरः अतीवशीतलः । सारसानां पक्षिविशेषाणाम् 'सारसी मैथुना कामी गोमी पुष्करह्वयः' इति यादवः । अथवा सारसानां हंसानाम् । 'चक्रसारसयोर्हंसः' इति शब्दार्णवे पटुमदकलं पटु प्रस्फुटं मदेनाव्यक्तमधुरम् । 'ध्वनौ तु मधुरास्फुटे कलः' इत्यमरः । कूजितम् । प्रत्यूषेषु प्रभातेषु । 'प्रत्यूषो-अम्बुकणौघैः जलबिन्दुनिचयैः । दीर्घीकुर्वन् सम्भावयन् । प्रत्यूषेषु प्रभातेषु । 'प्रत्यूषो-ऽहर्मुखम्' इत्यमरः । स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः स्फुटितानां विकसितानां कमलानाम् आमोदैनपरिमलेन मैत्र्या संसर्गेण कषायः सुरभिः । रागद्रव्ये कषायो-ऽस्त्री निर्यासे रसे' इति यादवः । 'मातरिश्वा सदागतिः' इत्यमरः । सञ्चरति विहरति ॥१११॥

अन्वय—उच्चैः उपवनतरून् नामयन् वीचिक्षोभात् अधिकशिशिरः सारसानां पटुमदकलं कूजितं दीर्घीकुर्वन् स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः मातरिश्वा यस्यां प्रत्यूषेषु अम्बुकणौघैः सञ्चरति ।

अर्थ—ऊँचे उपवन के वृक्षों को झुकाता हुआ तरङ्गों के क्षोभ से अत्यधिक ठंडा, सारसों के स्पष्ट और मद से अव्यक्त मधुर आवाज को फैलाता हुआ और विकसित कमलों के परिमल के सम्पर्क से सुगन्धित वायु जिस उज्जयिनी नगरी में प्रातःकाल भी जल बिन्दुओं के समूह से युक्त होकर बहता है।

कल्लोलान्तर्वलनशिशिरः शीकरासारवाही,
धूतोद्यानो मदमधुलिहां व्यञ्जयन्सिञ्जितानि ।
यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूलः,
शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थना चाटुकारः ॥ ११२ ॥

कल्लोलान्तरिति । यत्र पुर्याम् । कल्लोलान्तर्वलनशिशिरः तरङ्गमध्येवलनेन भ्रमणेन शिशिरः शीतलः । शीकरासारवाही शीकराणामासारं वेगवद्वर्षं वहतीत्येवं शीलस्तथोक्तः धूतोद्यानः कम्पितोद्यानपवनः । मदमधुलिहां मत्तमधुकराणाम् । सिञ्जितानि अव्यक्तध्वनीन् । व्यञ्जयन् प्रकाशयन् । शिप्रावातः शिप्रानाम् तत्पु-रिकाचित् समीपगता नदी तस्याः वातः । प्रार्थना चाटुकारः प्रार्थना सुरतयाचना तत्र चाटूनि प्रियवचनानि करोतीति तथोक्तः । पुनः सुरतार्थं प्रियवचनयोजक इत्यर्थः । 'कर्मण्यण्' इत्यण्प्रत्ययः । प्रियतम इव वल्लभ इव । स्त्रीणां अङ्गनानाम् । अङ्गानुकूलः शरीरस्य सुखस्पर्शः । अन्यत्र गाढालिङ्गन स्पर्श सुखप्रद इत्यर्थः । सुरतग्लानि प्राक्तननिधुवनखेदम् । हरति नुदति ॥ ११२ ॥

अन्वय—यत्र कल्लोलान्तर्वेल्लनशिशिरः शीकरासारवाही धूतोद्यानः मदमधुलिहां शिञ्जितानि व्यञ्जयन् प्रियतमः इव प्रार्थनाचाटुकारः अङ्गानुकूलः शिप्रावातः स्त्रीणां सुरतग्लानिं हरति ।

अर्थ—जिस उज्जयिनी नगरी में लहरों के मध्य भ्रमण करने से ठण्डा, जलकणों के समूह को बहा ले जाने वाला, उद्यान को कँपाने वाला, मतवाले भौरों की मधुरगुंजारको प्रकट करता हुआ रमणकी प्रार्थना के लिए प्रियवचन बोलने वाले प्रियतम के समान और शरीर को अनुकूल (सुखकर स्पर्श से युक्त) लगने वाला शिप्रानदी का पवन स्त्रियों की रतिक्रीड़ा के परिश्रम को दूर करता है ।

तीक्ष्णस्यारेरस्य किल कलहे युद्धशौण्डो [1]मुरुण्डः,
प्रद्योतस्य प्रियदुहितरं वत्सराजोऽत्र जह्रे ।
हैमं तालद्रुमवनमभूदत्र तस्यैव राज्ञो,
हासालापैरिति रमयति स्त्रीजनो यत्र बालान् ॥११३॥

तीक्ष्णस्येति । अत्र दृश्यमान प्रदेशे । युद्ध शौण्डः युद्धे मत्तः । 'मत्ते शौण्डोत्कट क्षीबाः' इत्यमरः । मुरुण्डः सः वत्सराजः । 'वंशराजः' इत्यपि पाठान्तरम् । उदयनराज इत्यर्थः । कलहे रणे । प्रद्योतस्य प्रद्योतनाम्नः उज्जयिनीपतेः । तीक्ष्णस्य क्रूरस्य । अरेः शत्रोः । प्रियदुहितरं वासवदत्ताभिधां प्रियपुत्रीम् । जह्रे किल जहार किल । अत्र एतत्प्रदेशे । तस्यैव राज्ञः वत्सराजस्य । हैमं सुवर्णमयम् 'हेमादिभ्योऽञ्' इति अण्प्रत्ययः । तालद्रुमवनं तालवृक्षारण्यम् । अभूत् अभवत् । इति एवमुपाख्यानेन । यत्र उज्जयिनी नगर्याम् । स्त्रीजनः । बालान् अर्भकान् । 'बालस्तु स्यान्माणवकः' इत्यमरः । हासालापैः हास्यवचनैः । रमयति क्रीडयति ॥ ११३ ॥

शैलं शैलप्रतिमवपुषा पीडयन्नुन्मदिष्णून्,
निघ्नन्व्यालान्कुपित समवर्तीव मेघं मरुद्वत् ।
अत्रोद्भ्रान्तः किल नलगिरिः स्तम्भमुत्पाट्य दर्पा-
दित्यागन्तून् रमयति जनो यत्र बन्धूनभिज्ञः ॥११४॥

शैलमिति । अत्र स्थले । शैल प्रतिमवपुषा क्ष्माभृत्सदृशशरीरेण बलवद्देहेनेत्यर्थः । शैलं गिरिम् । पीडयन् मर्दयन् । उन्मदिष्णून् उन्मदितुमिच्छुक उन्मदिष्णवस्तान् । अतिमत्तानित्यर्थः । 'उन्मदिष्णुस्तून्मदिता' इत्यमरः । व्यालान् दुष्टमृगान् । 'व्यालः सर्पे दुष्ट गजे श्वापदेना शठे त्रिषु' इति नानार्थरत्नमालायाम् । कुपितसमवर्तीव कुपितान्तकवत् । 'समवर्ती परेतराट्' इत्यमरः । निघ्नन् निहिंसन् ।

१. नरेन्द्र इति पाठान्तरं ।

मेघं वारिवाहम् । मरुद्वत् वायुरिव । नलगिरिस्तम्भं नलगिरिनाम शिलास्तंभं । दर्पात् बलवत्त्वाहंकारात् । उत्पाद्य आमूलमुद्धृत्य । उद्भ्रान्तः किल उद्भ्रमति स्म किल । इति एवंभूतानि इत्थमकथाभिरिति शेषः । यत्र विशाला पुर्याम् । अभिज्ञः कथाकोविदः । जनो लोकः । आगन्तून् आगम्यते हठादनेनागन्तुः 'स्यादावेशिक आगन्तुः' इत्यमरः । देशान्तरादागतान् । बन्धून् बान्धवान् । रमयति विनोदयति ॥ ११४ ॥

अन्वय—प्रिय ! सः युद्ध शौण्डः मुरुण्डः वत्सराजः कलहे प्रद्योतस्य तीक्ष्णस्य अरेः दुहितरं अत्र किल जह्रे । यत्र स्त्रीजनः बालान् हासालापैः रमयति (तस्मिन्) अत्र (प्रदेशे) तस्य एव राज्ञः हैमं तालद्रुमवनम् अभूत्, इति शैल प्रतिमवपुषा शैलं पीडयन् मेघं मरुद्वत् उन्मदिष्णून् व्यालान् कुपित समवर्ती एव निघ्नन् नलगिरिः दर्पात् स्तम्भं उत्पाद्य अत्र उद्भ्रान्तः किल 'इति च यत्र अभिज्ञः जनः आगन्तून् बन्धून् रमयति' ॥ ११३-११४ ॥

अर्थ—हे प्रिय मित्र ! वह युद्ध में प्रवीण मुरुण्डों और वत्सों के राजा (पार्श्वनाथ के समय का कोई कौशाम्बी का राजा उदयन) ने युद्ध में प्रकृष्ट तेज वाले उग्र शत्रु की पुत्री को इसी उज्जयिनी में हरण कर लिया था । जहाँ स्त्रियाँ हास्य और वार्तालाप द्वारा बालकों का विनोद करती हैं इस प्रदेश में उस राजा का सुनहरा (अथवा शीतयुक्त) तालवृक्षों का वन था । यहाँ पर्वत के समान शरीर द्वारा पर्वत को पीड़ा पहुँचाता हुआ वायु के समान मेघ को नष्ट करता हुआ उन्मत्त दुष्ट हाथियों को क्रोधित यम के समान नष्ट करता हुआ नलगिरि नामक हाथी अभिमान से बन्धन-स्तम्भ को उखाड़कर घूम रहा था । इस प्रकार से कथा का जानकार पुरुष (दूसरे देश से) आए हुए बान्धवों का मनोविनोद करता है ।

व्याख्या—नलगिरि एक पर्वत का भी नाम है । दमयन्ती की खोज में घूमते हुए राजा नल के चरणविन्यास से यह पवित्र हुआ था, अतः इसकी नलगिरि नाम से वैसी ही प्रसिद्धि हो गई जैसे राम के चरणविन्यास से रामगिरि की प्रसिद्धि हो गई थी । यहाँ नलगिरि का तात्पर्य है नलगिरि के शरीर के आकार रूप आदि को धारण करने वाला गजविशेष । नलगिरि इन्द्र के हाथी का भी नाम है, उसके समान नलगिरि नामक गज विशेष से यहाँ तात्पर्य है ।

यस्यां बिभ्रत्यवनिपपथा रत्नराशीनुदग्रान्,
शूर्पोन्मेयाञ्जलधय इवापीततोया युगान्ते ।

हारांस्तारांस्तरल[1]घुटिकान्कोटिशः शङ्ख शुक्तीः,
शष्पश्यामान्मरकतमणीनुन्मयूख प्ररोहान् ॥ ११५ ॥

यस्यामिति। **यस्याम्** उज्जयिन्याम्। **अवनिपथ्याः** राजमार्गाः। समासान्ता-दृचयः पथ्यपोदित्यदन्तत्वम्। **युगान्ते** कालावसाने। 'यानाद्यङ्गे युगः पुंसि युगं युग्मे कृतादिषु' इत्यमरः। **आपीततोयाः** आपीतं तोयं येषां ते शुष्कजला इत्यर्थः। **जलधय इव** जलानि धीयन्ते येष्विति जलधयः समुद्राः। **उदग्रान्** उच्छ्रितान्। 'उच्च-प्रांशून्नतोदग्रोच्छ्रितास्तुङ्गे' इत्यमरः। **शूर्पोन्मेयान्** शूर्पैः प्रस्फोटनैः उन्मातुं योग्याः उन्मेयास्तान् प्रमाणार्हान्। 'प्रस्फोटनं शूर्पमस्त्री' इत्यमरः। एकादिगणनया सङ्ख्यातुमशक्यामित्यर्थः। **रत्नराशीन्** मणिपुञ्जान्। 'पुञ्जराशी तूत्करः' इत्यमरः। **तारान्** शुद्धान्। 'तारो मुक्तादिसंशुद्धौ तरले शुद्धमौक्तिके' इति विश्वः। **तरलघुटिकान्** तरला घुटिका येषां तान् मध्यमणिभूतमहारत्नयुतान्। 'तरलो हार-मध्यगः' इत्यमरः। 'पिण्डे मणौ महारत्ने घुटिकाबद्धवारणे' इति शब्दार्णवे। **हारान्** मुक्तावलीन्। **कोटिशः** अनेकशः। कोटिः प्रकर्षचापाग्रसंख्या पक्षान्तरेषु' इति भास्करः। **शङ्ख शुक्तीः** शङ्खश्च शुक्तयश्च तथोक्तास्ताः। **उन्मयूख प्ररोहान्** उद्गतकिरणाङ्कुरान्। **शष्पश्यामान्** शष्पवच्छयामवर्णान्। 'शष्पं बालतृणं घासः' इत्यमरः। **बिभ्रति** धारयन्ति ॥ ११५ ॥

अन्वय—यस्यां अवनिपथ्याः युगान्ते आपीततोयाः जलधयः इव शूर्पोन्मेयान् उदग्रान् रत्नराशीन् तरलगुटिकान् तारान् हारान् कोटिशः शङ्खशुक्तीः उन्मयूख-प्ररोहान् शष्पश्यामान् मरकतमणीन् बिभ्रति।

अर्थ—जिस उज्जयिनी नगरी में राजमार्ग प्रलयकाल में शुष्क जल वाले समुद्रों के समान सूपों से नापने योग्य ऊँचे ऊँचे रत्नों के ढेरों, मध्य-मणिभूत महारत्नों, शुद्ध मोतियों, हारों, करोड़ों शंख और सीपियों तथा ऊपर की ओर जाने वाली किरणों से सम्पन्न नवीन घास के समान हरे वर्ण वाले मरकतमणियों को धारण करते हैं।

भूयोनानाभरणरचनायोग्यरत्नप्रवेकाञ्,
ज्योतिर्लेखारचितरुचिमच्छक्रचापानुकारान्।
दृष्ट्वा यस्यां विपणिरचितान्विद्रुमाणां च भङ्गान्,
संलक्ष्यन्ते सलिलनिधयस्तोयमात्रावशेषाः ॥ ११६ ॥

भूय इति। **यस्यां** विशालायाम्। **भूयः** पुनः। **विपणिरचितान्** विपणिषु पण्यवीथिका सु रचितान् प्रसारितान्। 'विपणिः पण्यवीथिका' इत्यमरः। **ज्योति-**

1. तरलगुटिकान्।

लेखारचितरुचिमच्छक्रचापानुकारान् ज्योतिर्लेखारचितं च तत् शक्रचापं च तथोक्तं तदनुकुर्वन्तीति तथोक्तास्तान् 'ज्योतिर्भिद्योतदृष्टिषु' इत्यमरः। नानाभरणरचनायोग्यरत्नप्रवेकान् नानाभरणानां विविधालङ्काराणां रचनाया निर्माणस्य योग्यानि तानि च तानि रत्नानि च तेषां प्रवेका उत्तमास्तान् 'प्रवेकानुत्तमोत्तमाः' इत्यमरः। विद्रुमाणां प्रवालानाम्। 'अथ विद्रुमः पुंसि प्रवालं पुंनपुंसकम्' इत्यमरः। भङ्गांश्च खण्डानपि। दृष्ट्वा प्रेक्ष्य। तोयमात्रावशेषाः तोयमात्रेण अवशेषाः सहिताः। सलिलनिधयः समुद्राः। संलक्ष्यन्ते जनैरुपमीयन्ते रत्नसम्पद्भिरत्नाकरादप्यतिरिच्यते इति भावः॥ ११६॥

अन्वय—भूयः यस्यां विपणिरचितान् ज्योतिर्लेखारचित रुचिमच्छक्रचापानुकारान् नानाभरणरचनायोग्यरत्नप्रवेकान् विद्रुमाणां भङ्गान् च दृष्ट्वा सलिलनिधयः तोयमात्रावशेषाः संलक्ष्यन्ते।

अर्थ—पुनः जिस विशाला नगरी में बाजारों में रखे गए ज्योतिर्लेखाओं से रचित, कान्तिमान् इन्द्रधनुष का अनुसरण करने वाले अनेक प्रकार के आभूषणों की रचना के योग्य रत्नोत्तमों को तथा मूँगा के टुकड़ों को देखकर समुद्रों में इनकी जल मात्र शेष रह गया है, ऐसा मालूम पड़ता है।

भावार्थ—उस उज्जयिनी के बाजारों में जब लोग अनेक प्रकार के रत्नों और मूँगों आदि को देखते हैं तो ऐसा मालूम पड़ता है कि रत्नों आदि का अपहरण हो जाने के कारण समुद्र में केवल जल ही रह गया है।

विश्रम्योच्चैर्वलभिषु पुरीं प्राप्य तामुत्तमर्द्धि,
स्वर्गावासप्रणयमुरीकृत्य सौधेस्तथाऽस्याः।
जालोद्गीर्णैरुपचितवपुः केशसंस्कारधूपै-
र्बन्धु प्रीत्या भवनशिखिभिर्दत्तनृत्तोपहारः॥ ११७॥

विश्रम्येति। उत्तमर्द्धिम् उत्तमा ऋद्धिर्यस्यास्तां प्रवृद्ध सम्पत्तिम् तां पुरीम् विशालाम्। प्राप्य गत्वा। वलभिषु भवनाच्छादनेषु 'आच्छादनं स्याद्वलभिर्गृहाणाम्' इति हलायुधः। उच्चैः परम्। विश्रम्य मार्गश्रममपनीय। सौधैः राजसदनैः। 'सौधोऽस्त्री राजसदनम्' इत्यमरः। स्वर्गावासप्रणयं स्वर्गनिलयपरप्रमोदम्। उररीकृत्य अङ्गीकृत्य। 'ऊरर्युरी चोररी च विस्तारेऽङ्गी कृते त्रयम्' इत्यमरः। तथा तद्वत्। जालोद्गीर्णैः गवाक्षमार्गनिर्गतैः। 'जालं गवाक्षमानाये जालके च भटागणे' इति यादवः। केशसंस्कारधूपैः युवतिकेशवासना प्रयुक्त धूपधूमैः। उपचितवपुः सञ्चितशरीरः। 'दिग्धोपचिते' इत्यमरः। भवनशिखिभिः गृहमयूरैः। 'शिखावलः शिखी केकी' इत्यमरः। 'बन्धु प्रीत्या बन्धोः बन्धुरिति वा प्रीत्या बन्धुप्रीत्या।

१. शुक्लापाङ्गसन्तोषकरत्वान्मेघस्य बन्धुत्वं युक्तं।

बन्धुप्रीत्योपहारः दत्तो नृत्तमेव उपहारो उपायनं यस्मै तथोक्तः। 'उपायनमुपग्राह्य-मुपहारस्तथोपदा' इत्यमरः। स्याः भवेः॥ ११७॥

स्वः सौधेषु प्रणयमचिरात्संहरिष्यस्यवश्यं,
मन्द्रातोद्यध्वनिषु सततारब्धसङ्गीतकेषु।
हर्म्येष्वस्याः कुसुमसुरभिष्वध्वखिन्नान्तरात्मा,
नीत्वा[1] खेदं ललितवनितापादरागाङ्कितेषु॥ ११८॥

स्वः सौधेष्विति। अस्याः उज्जयिन्याः। **मन्द्रातोद्यध्वनिषु** मन्द्रो गम्भीरः आतोद्यानां ध्वनिः शब्दो येषु तेषु। **सततारब्धसङ्गीतकेषु** सततमारब्धं सङ्गीतं येषु तेषु। **कुसुमसुरभिषु** सुमनः सुगन्धिषु। **ललितवनितापादरागाङ्कितेषु** ललित-वनिताः सुन्दरस्त्रियः 'ललितम् सुन्दरम्' इति शब्दार्णवे। तासां पादरागेण लाक्षारसेन अङ्कितेषु चिह्नितेषु **हर्म्येषु** सौधेषु। **अध्वखिन्नान्तरात्मा** अध्वना मार्गेण खिन्नः अन्तरात्मा यस्य सः तथोक्तस्त्वम्। **खेदं** श्रमम्। **नीत्वा** अपनीय। **स्वः सौधेषु** स्वर्गहर्म्येषु। **प्रणयं** स्नेहम्। **अचिरात्** शीघ्रात्। **अवश्यं** निश्चयेन। **संहरिष्यसि** अपहरिष्यसि। स्वर्गं सौधेभ्योपि विशालाहर्म्याणि परमोत्कृष्टानीति तात्पर्यम्॥ ११८॥

इत्यमोघवर्षपरमेश्वरपरमगुरु श्रीजिनसेनाचार्यविरचितमेघदूतवेष्टितवेष्टिते पार्श्वाभ्युदये लघुव्याख्यायां च सुबोधिकाख्यायां प्रथमः सर्गः॥ १॥

अन्वय—तां उत्तमर्द्धि पुरीं प्राप्य, वलभिषु उच्चैः विश्रम्य तथा अस्याः सौधैः स्वर्गावासप्रणयं उररीकृत्य जालोद्गीर्णैः केशसंस्कारधूपैः उपचितवपुः, भवनशिखिभिः बन्धुप्रीत्या दत्तनृत्तोपहारः मन्द्रातोद्यध्वनिषु सततारब्ध सङ्गीतकेषु कुसुमसुरभिषु ललितवनितापादराङ्कितेषु अस्याः हर्म्येषु अध्वखिन्नान्तरात्मा (त्वं) खेदं नीत्वा स्वः सौधेषु प्रणयं अचिरात् अवश्यं संहरिष्यसि।

अर्थ—उत्तम ऋद्धि वाली उस विशाला नगरी में जाकर भवनों के उपरितन भागों पर पूर्ण विश्राम कर तथा इस उज्जयिनी के सफेद प्रासादों से स्वर्ग में निवास करने की आकांक्षा स्वीकार कर गवाक्षों से निकले हुए स्त्रियों के केशों को सुगन्धित करने वाले, धूपों से परिपुष्ट शरीर वाले तथा बन्धु के आगमन की प्रीति से भवन के मयूरों से नृत्यरूप उपहार प्राप्त करते हुए, मृदङ्गों की गम्भीर ध्वनि वाले, जिनमें सदा सङ्गीत होता रहता है, फूलों से सुगन्धित, सुन्दरियों के चरणों के लाक्षाराग से चिह्नित इस विशालापुरी के धनियों के भवनों में मार्ग पर चलने के परिश्रम से खिन्न मन वाले तुम श्रम को दूर कर स्वर्ग के भवनों में तीव्र आकांक्षा का परिहार निश्चय से शीघ्र करोगे।

इति प्रथम सर्गः।

---

1. अध्वखेदं नयेथा इत्यपि पाठः। 2. लक्ष्मीं पश्यन् इत्यादयोऽपि पाठः।

अथ द्वितीयः सर्गः

इतः पादवेष्टितानि—

विश्रम्याथ क्षणमिव भवान्पर्यटेत्संदिदृक्षुः,
शोभां तस्याः शतमखपुरीं ह्रेपयन्त्याः स्वभूत्या ।
स्निग्धश्यामं वपुरुपवहन्नागराणां फणाभृ-
द्भर्तुः कण्ठच्छविरिति गणैः सादरं वीक्ष्यमाणः ॥ १ ॥

विश्रम्येति । अथ उज्जयिनीगमनानन्तरे । भवान् त्वम् । क्षणमिव अल्पकाल-मिव । इव शब्दो वाक्यालङ्कारे । विश्रम्य श्रममपनीय । स्निग्धश्यामं मसृणश्याम-लम् । वपुः गात्रम् । उपवहन् स्वीकुर्वन् । नागराणां नगरजनानाम् । गणैः समूहैः । 'समवायश्च यो गणः' इत्यमरः । फणाभृद्भर्तुः फणां बिभ्रति ते फणाभृतस्तेषां भर्तुर्नाथस्य । कण्ठच्छविः कण्ठस्य गलस्य छविः कान्तिः । 'भाश्छविद्युतिदीप्तयः' इत्यमरः । इति एवम् अभिप्रायेण । सादरम् । वीक्ष्यमाणः दृश्यमानः सन् । शत-मखपुरीं शतमखस्य पुरीं नगरीममरावतीम् । 'नगरी त्वमरावती' इत्यमरः । स्व-भूत्या निजसम्पदा । भूतिर्भसितसम्पदि इत्यमरः । ह्रेपयन्त्याः विडम्बयन्त्याः तस्याः विशालायाः । शोभां कान्तिम् । संदिदृक्षुः संद्रष्टुमिच्छुः । पर्यटेत् परितः सञ्चरेत् । भवच्छब्दप्रयोगात् त्वं विहरेत्यर्थः ॥ १ ॥

अन्वय—अथ क्षणमिव विश्रम्य स्निग्धश्यामं वपुः उपवहन् फणाभृद्भर्तुः कण्ठच्छविः इति नागराणां गणैः सादरं वीक्ष्यमाणः स्वभूत्या शतमखपुरीं ह्रेपयन्त्याः तस्याः शोभां संदिदृक्षुः भवान् पर्यटेत् ।

अर्थ—अनन्तर क्षणभर विश्राम कर तेज से युक्त श्यामवर्ण शरीर धारण करते हुए नागों के स्वामी के कण्ठ की छवि के समान है छवि वाले इस प्रकार नागरिक समूहों के द्वारा आदर पूर्वक देखे जाते हुए, अपने ऐश्वर्य से इन्द्रनगरी अमरावती को लज्जित करने वाली उस उज्जयिनी की शोभा देखने के इच्छुक आपको नगर के चारों ओर भ्रमण करना चाहिए ।

पूर्वं तावद्वलितनभोभागमभ्रंलिहाग्रं,
कैलासाद्रिभ्रियमिव हसन्मोहशत्रोर्निहन्तुः ।

कर्मारीणां विजितमदनस्यार्हतः संचिचीषुः,
पुण्यं यायास्त्रिभुवनगुरोर्धाम चण्डेश्वरस्य ॥ २ ॥

पूर्वमिति । **पूर्वं** तावत् प्रथमं तावत् । तावच्छब्दो विधिवाचकः । 'यावत्तावच्च साकल्येऽवधौ मानेऽवधारणे' इत्यभिधानात् । **कर्मारीणां** कर्माण्यष्टविधानि तान्येवारयः शत्रवस्तेषाम् । **मोहशत्रोः** मोहापरनामकं कर्मैव शत्रुस्तस्य । **निहन्तुः** विनाशयितुः । **विजितमदनस्य** विजितो मदनो मन्मथो येन तस्य । **चण्डेश्वरस्य** ईष्टे जगदुद्धरणे समर्थो भवतीतीश्वरः नायकः चंडः कार्यातीतकः तीक्ष्ण इत्यर्थः । 'चंडस्त्वत्यंतकोपनः' इत्यमरः । चण्डश्चासावीश्वरश्चेति कर्मधारयः । अथवा चण्डान्तम् उग्रतपोदीप्ततपस्तप्ततपोघोरतपोमहातपः प्रभृतिनिरुपमतपः शूराणां महामुनीनामीश्वरः प्रभुस्तस्य । **त्रिभुवनगुरोः** त्रयाणां भुवनानां समाहारस्त्रिभुवनम् । 'दिगधीति' सञ्ज्ञा तद्धितोत्तरपदसमासः । 'पात्रेसमितादयः' इति स्त्रीत्वनिषेधः । त्रिभुवनगुरोस्त्रिलोकनाथस्य । **अर्हतः** सहजाद्यतिशयविशेषमनन्तचतुष्टयं च प्राप्तुमर्हतीत्यर्हन् शतृप्रत्ययस्तस्य जिनेन्द्रस्य । **धवलितनभोभागं** धवलितो नभसः आकाशस्य भागो येन तत् । **अभ्रंलिहाग्रम्** अभ्रं लिहतीत्यभ्रंलिहम् । 'वहाभ्रे लिहः' इति खश् । अभ्रंलिहमग्रं यस्य तत् । **कैलासाद्रिश्रियम्** अष्टापदगिरिसम्पदम् । **हसदिव** उपहासं कुर्वदिव । **धाम** स्थानम् । चैत्यालयमित्यर्थः । **पुण्यं** सुकृतम् । 'स्याद्धर्ममस्त्रियां पुण्यश्रेयसी सुकृतं वृषः' इत्यमरः । **संचिचीषुः** सञ्चेतुमिच्छुस्तत्रोक्तः । सम्पादनरतः सन् । **यायाः** गच्छेः । अत्रार्हतः कर्मारीणां निहन्तुरिति सामान्यविशेषणेन सिद्धमपि मोहाक्रान्तेश्वराद्य विषयं मोहशत्रुनिहन्तृत्वं पराजितेश्वरादेर्मदनस्य विजयमपि विशेषेण प्रकटीकर्तुं पुनर्विशेषणद्वयमाहेति भावः । कर्मारीणां मोहशत्रोश्च निहन्तुर्विजितमदनस्यार्हतः चण्डेश्वरत्वं न दुर्घटम् । तदुक्तं समन्तभद्रस्वामिभिः—'स्वदोषमूलं स्वसमाधितेजसा निनाय यो निर्दयभस्मसात्क्रियाम् । जगाद तत्त्वं जगतेऽर्थिनेऽञ्जसा बभूव च ब्रह्मपदामृतेश्वरः' । यो न च याति विकारं युवतिजनकटाक्षबाणविद्धोऽपि । स त्वेव शूरशूरो रणशूरो नो भवेच्छूर' इति ॥ २ ॥

अन्वय—पुण्यं सञ्चिचीषुः (त्वं) पूर्वं तावत् कर्मारीणां मोहशत्रोः त्रिभुवनगुरोः अर्हतः धवलितनभोभागं अभ्रंलिहाग्रं कैलासाद्रिश्रियं हसत् इव धाम यायाः ।

अर्थ—पुण्य का संचय करने के इच्छुक (तुम) पहले कर्म शत्रुओं में मोहशत्रु के नाश करने वाले, काम को जीतने वाले, उग्र तप करने वालों में अग्रणी तीनों लोकों के गुरु अर्हन्त भगवान् के मंदिर में जाओ, जो मन्दिर आकाश को धवल करने वाला है, जिसका अग्रभाग आकाश को छू रहा है और जो कैलाश पर्वत की शोभा पर मानों हँस रहा है ।

---

१. चण्डीश्वरस्येत्यपि पाठः ।

व्याख्या—टीकाकारों ने चण्डेश्वर के कई अर्थ किये हैं जैसे—(१) उग्र तप करने वालों में अग्रणी। (२) क्रोधादि द्रव्यकर्म तथा भावकर्म का नाश करने वाले। (३) चण्ड (कषायों) का ईश्वर जीतने वाला (४) शीघ्र गामी मेघ का स्वामी। (५) तीक्ष्ण रूप से जगत का उद्धार करने में समर्थ।

तं सेवेथाः कृतपरिगतिर्व्याकिरन्पुष्पवर्षं,
स्तोत्रीकुर्वंस्तनितमभितो दुन्दुभिस्वानमन्द्रम् ।
वातोद्धूतैरनिभृततरैरुत्तरङ्गैः पयोभि-
र्धूतोद्यानं कुवलयरजोगन्धिभिर्गन्धवत्याः ॥ ३ ॥

तमिति। **कुवलयरजोगन्धिभिः** उत्पलरजःसुगन्धिभिः। 'सोपमानात्' इति इ प्रत्ययः। **वातोद्धूतैः** वायुना कम्पितैः। **अनिभृततरैः** अस्थिरतरैः। **उत्तरङ्गैः** उन्नततरङ्गो येषां तैः। **गन्धवत्याः** गन्धवतीनामनद्याः। **पयोभिः** वारिभिः। **धूतोद्यानं** धूतमुद्यानं यथा भवति तथा। **कृतपरिगतिः** परितो गमनं परिगतिः। प्रदक्षिणम् कृता परिगतिर्येन सः। **पुष्पवर्षं** पुष्पाणां वर्षं पुष्पसदृशं वा पुष्पवृष्टिम् **व्याकिरन्** प्रकिरन्। **अभितः** सर्वतः। 'समीपोभयतः शीघ्रसाकल्याभिमुखेऽभितः' इत्यमरः। **दुन्दुभिस्वानमन्द्रं** दुन्दुभीनां भेरीणां स्वान इव मन्द्रं गम्भीरम्। 'भेरी स्त्री दुन्दुभिः पुमान्' इत्यमरः। **स्तनितं** गर्जितम्। **स्तोत्रीकुर्वन्** अस्तोत्रम् स्तोत्रं करोतीति स्तोत्रीकुर्वन् स्तुतिं दधानः सन्। **तम्** अर्हन्तम्। **सेवेथाः** भजेथाः ॥ ३ ॥

अन्वय—(त्वं) कृतपरिगतिः पुष्पवर्षं व्याकिरन् दुन्दुभिस्वानमन्द्रं स्तनितं स्तोत्रीकुर्वन् गन्धवत्याः वातोद्धूतैः अनिभृततरैः उत्तरङ्गैः कुवलयरजोगन्धिभिः पयोभिः तं धूतोद्यानं सेवेथाः।

अर्थ—(तुम) प्रदक्षिणा देकर फूलों की तरह पानी की वर्षा करते अथवा उद्यान को हिलाकर पुष्पों की वर्षा करते हुए, भेरी की ध्वनि के समान गम्भीर गर्जना से स्तुति करते हुए, गन्धवती नदी की वायु से प्रेरित अत्यधिक चंचल तरङ्गों से युक्त, नीलकमलों की पराग से सुगन्धित जलों से उस उद्यान को कम्पित कर अर्हन्त भगवान् की सेवा करना।

सत्यन्यस्मिन्सुरभिशिशिरस्वच्छतोयह्रदादौ,
नानास्वादौ पयसि पतिते पीतिनस्त्वद्विनोदः ।
स्याद्धूतैस्तैः कथमिव भवेद्वारिभिर्गन्धवत्या-
स्तोयक्रीडानिरतयुवतिस्नानतिक्तैर्मरुद्भिः ॥ ४ ॥

सतीति । अन्यस्मिन्नपरस्मिन् । सुरभिशिशिरस्वच्छतोयह्रदादौ सुरभि सुगन्धि शिशिरं शीतलं स्वच्छं निर्मलं सुरभि च तत् शिशिरं च सुरभिशिशिरं तच्च तत् स्वच्छं च सुरभिशिशिरस्वच्छं खंजकुंडादिवदत्यतर प्राधान्येन विशेषणं व्यभिचारे कार्यमिति कर्मधारयत्वं । तोयं यस्य स तथोक्तः ह्रद आदिर्यस्य स ह्रदादिः स चासौ ह्रदादिश्च तस्मिन् । नानास्वादौ नानाविधः स्वादुर्यस्य तस्मिन् । नानारस इत्यर्थः । पवित्रे पवित्रीभूते । पुङ् पवने । 'इत्रगोः' इति द्विविकल्पः । पूतं पवित-मिति द्विधासिद्धमित्यर्थः । सति योग्ये । पयसि सलिले । पीतिनः पीतमनेन पूर्वं पीती पीतवानित्यर्थः । तस्यपीतिनस्तव । वितनोङ्गोः सुबिति पयसः सप्तमी । तोयक्रीडानिरतयुवतिस्नानतिक्तैः तोयक्रीडासु निरतानाम् आसक्तानां युवतीनां स्नानं स्नानीयं चन्दनादि द्रव्यं । 'स्नानीयेऽभिषवे स्नानम्' इति यादवः । तेन तिक्तैः सुरभिभिः । 'कटुतिक्त कषायास्तु सुरभीति प्रकीर्तिताः' इति हलायुधः । मरुद्भिः पवनैः । व्याधूतैः आकम्पितैः । गन्धवत्याः सरितः तैर्वारिभिः सलिलैः । सद्विनोदः जलक्रीडाविनोदः । कथमिव भवेत् किंवत्स्यात् । पश्येति शेषः ॥ ४ ॥

अन्वय--अन्यस्मिन् सुरभिशिशिरस्वच्छतोयह्रदादौ नानास्वादौ पवित्रे सति पयसि पीतिनः तव व्याधूतैः तोयक्रीडानिरतयुवति स्नानतिक्तैः तैः गन्धवत्याः वारिभिः विनोदः कथमिव भवेत् ।

अर्थ--गन्धवती से भिन्न दूसरे सुगन्धित, शीतल तथा स्वच्छ जल वाले सरोवर आदि में अत्यधिक स्वादयुक्त, पवित्र तथा समीचीन जल का पान करने वाले तुमको वायुओं से अत्यधिक कम्पित, जलक्रीड़ा में आसक्त, युवतियों द्वारा प्रयुक्त स्नान की वस्तुओं से उत्पन्न सुगन्धों से युक्त गन्ध-वती के उन जलों से सन्तोष कैसे होगा ? अर्थात् किसी भी प्रकार से नहीं होगा ?

भावार्थ--तुम्हें वहाँ विलम्ब नहीं करना चाहिए।

द्रष्टुं वाञ्छा यदि च भवति प्रेतगोष्ठीं विचित्रां,
तिष्ठातिष्ठन्नुपरिनिपतद्गृध्रबन्धाधिकारे ।
दोषामन्येऽप्यहनि नितरां प्रेतगोष्ठीति रात्रे-
रन्यस्मिञ्जलधर महाकालमासाद्य काले ॥ ५ ॥

द्रष्टुमिति । हे जलधर हे मेघ । विचित्रां विविधाम् । प्रेतगोष्ठीं परेतगोष्ठीम् । 'परेत प्रेतसंस्थिताः ।' समज्यापरिषद् गोष्ठी' इत्युभयत्राप्यमरः । द्रष्टुं अवलो-कितुम् । भवतः तव । वाञ्छा अभिलाषः । यदि च भवति चेत् तर्हि । महाकालं महाकालाभिधानम् तत्पुरोसमंपगतमरण्यम् आसाद्य गत्वा । अन्यस्मिन्नपि काले

अपरस्मिन्निति समये । अतिष्ठन् अवसन् सन् । उपरिनिपतद्गृध्रबद्धान्धकारे उपरि निपतन्ति तथोक्ताः ते च ते गृध्राश्च तैर्बद्धो रचितोऽन्धकारो यस्मिन् तस्मिन् । नितराम् अत्यन्तम् । दोषामन्यंऽपि रात्रिसदृशेऽपि । 'कर्तुः खश्' इति खश्प्रत्ययः । खित्यनव्ययस्येति वचनान्मुम् ह्रस्वौ । अहनि दिवसे । 'घस्रो दिनाहनी' इत्यमरः । रात्रेः निशायाः । प्रेतगोष्ठीति परेतगोष्ठीति बुद्ध्वेति शेषः । तिष्ठ आस्स्व । निशाया अतिभयङ्करत्वात् तदा अवसन् दिवस एव स्थित्वा पश्येति भाव ॥ ५ ॥

अन्वय—(हे) जलधर ! यदि च विचित्रां प्रेतगोष्ठीं द्रष्टुं वाञ्छा भवति उपरिनिपतद्गृध्र बद्धान्धकारे दोषामन्यं अहनि अपि नितरां प्रेतगोष्ठी इति रात्रे अन्यस्मिन् अपि काले महाकालं आसाद्य अतिष्ठन् तिष्ठ ।

अर्थ—हे मेघ ! यदि आश्चर्य को उत्पन्न करने वाली प्रेतों की गोष्ठी देखने की इच्छा है तो महाकाल वन के ऊपर आकाश में उड़ते गीधों के द्वारा किया गया है अन्धकार जिसमें इस कारण रात्रि समान दिन में भी अत्यधिक रूप से प्रेत गोष्ठी होती है अतः रात्रि से भिन्न समय में भी महाकाल वन को पाकर (अधिक) समय न बिताते हुए ठहरो ।

तस्माज्जीर्णद्रुमशत बृहत्कोटरान्तः प्रबद्ध,
ध्वानोलूक प्रतिभयरवे प्रेतशोफातिरौद्रे ।
तस्योपान्ते परिणतशिवारब्धसाराविणोग्रे,
स्थातव्यं ते नयनविषयं यावदत्येति भानुः ॥ ६ ॥

तस्मादिति । तस्मात् कारणात् । जीर्णद्रुमशतबृहत्कोटरान्तः प्रबद्धध्वानोलूकप्रतिभयरवे जीर्णानां द्रुमाणां वृक्षाणाम् अनेकानाम् बृहतः पृथुलाः कोटराः निष्कुहास्तेषामन्तर्मध्ये तत्र प्रबद्धो ध्वानो येषामुलूकानां तेभ्यः प्रतिभयो भयङ्करो रवो ध्वनिर्यस्मिन् तस्मिन् । 'निष्कुहः कोटरं वाना' 'उलूकस्तु वायसारातिपेचकौ' । 'भयङ्करं प्रतिभयम्' इत्यमरः । प्रेतशोफातिरौद्रे प्रेतानां शवानां शोफेन श्वयथुना 'शोफस्तु श्वयथुः शोथः' इत्यमरः । अतिरौद्रे 'रौद्रं तूग्रम्' इत्यमरः । परिणतशिवारब्धसाराविणोग्रे शिवाभिः क्रोष्टृभिः आरब्ध कृतं साराविणं ध्वनिः सपूर्वस्य रुशब्दस्य इति धातोः व्याप्तौ भावे नञिनिति जिन् । 'अजिनोऽण्' इत्यण् । 'ञ्णिः स्यस्या' इत्यात् । 'आरैचोऽचादेः' इत्यारैच् । 'शिवा हरीतकी क्रोष्ट्री शमीनद्यामलक्युमा । शिवो घोरे पद्मरागे हरकोलं शिवं जले' इति वैजयन्ती । तस्य महाकालवनस्य । उपान्ते समीपे प्रेतवने । यावत् यावत्कालेन । भानुः सूर्यः । नयनविषयं दृष्टिगोचरम् । अत्येति अतिक्रमति अस्तं गच्छतीत्यर्थः । उत्तरोनित्यसम्बन्धात् ।

तावत् आसमयात् । 'यावत्तावच्च साकल्येऽवधौ मानेऽवधारणे' इत्यमरः । ते स्थातव्यम् । नाकालस्य प्राप्तेः कर्तुरिति विकल्पिता षष्ठी । त्वया स्थातव्यमित्यर्थः ॥ ६ ॥

अन्वय—तस्मात् यावत् भानुः ते नयनविषयं अत्येति (तावत्) तस्य जीर्णद्रुमशतबृहत्कोटरान्तः प्रबुद्धश्यामोलूकप्रतिभयरवे प्रेत श्रोकातिरौद्रे परिणत शिवारब्धसाराविणोर्ये उपान्ते स्थातव्यम् ।

अर्थ—अतः जब तक सूर्य तुम्हारे नेत्रों के विषय का उल्लंघन करता है अर्थात् जब तक सूर्य अस्त नहीं होता है तब तक उस महाकाल वन की पुराने सैकड़ों (बहुत से) बड़े कोटरों के मध्य रुके हुए उल्लुओं के शब्द से युक्त भयोत्पादक शवों के सूजने से अत्यन्त भयङ्कर शृगालिओं द्वारा की गई वृद्धिगत दिगन्तव्यापी ध्वनियों से भयानक समीपवर्ती भूमि में तुम्हें ठहरना चाहिए ।

विद्यासिद्धिं प्रति नियमिनो धौतवस्त्रस्य मन्त्रै-
र्हुंफुंकारैः पितृवनमभिभ्राम्यतः स्वैर्विशब्दैः ।
पूजामाप्तास्यनघमधुरैः साधकौघस्य तस्मिन्,
कुर्वंस्संध्या बलिपटहतां शूलिनः श्लाघनीयाम् ॥ ७ ॥

विद्यासिद्धिमिति । **तस्मिन्** महाकाले । **विद्यासिद्धिं** मन्त्रादिसाधनम् । **प्रति** उद्दिश्य **नियमिनः** नियमोऽस्यास्तीति तस्य । 'नियमो व्रतम्' इत्यमरः । **धौतवस्त्रस्य** धौतं वस्त्रं यस्य तस्य । **हुं फुंकारैः** एवंभूतबीजाक्षर संयुतैः **मन्त्रैः** । **पितृवनं** श्मशानम् । **अभिभ्राम्यतः** परितश्चलतः । **शूलिनः** त्रिशूलवतः । 'अस्त्री शूलं रुगायुधम्' इत्यमरः । **साधकौघस्य** मन्त्रसाधकसमुदायस्य कापालिकनिवहस्येत्यर्थः । **अनघमधुरैः** निरवद्यप्रियैः । **स्वैः** स्वकीयैः । **विशब्दैः** ध्वनिभिः । 'क्षुब्धस्वान्तध्वान्त' इत्यादिना ध्वनौ विशब्देऽसि क्तान्तो साधुः । **सन्ध्याबलिपटहतां** सन्ध्यायां यो भूतबलिस्तैर्दीयते तस्य पटहतां भेरीनिनादरूपम् । **कुर्वन्** सम्पादयन् । **श्लाघनीयां** प्रशस्याम् **पूजां** सम्मानम् । **आप्तासि** लब्धासि । 'आप् व्याप्तौ' लुट् मध्यमपुरुषः ॥७॥

अन्वय—तस्मिन् विद्यासिद्धिं प्रति नियमिनः धौतवस्त्रस्य हुं फुंकारैः मन्त्रैः पितृवनं अभिभ्राम्यतः शूलिनः साधकौघस्य स्वैः अनघमधुरैः विरिब्धैः सन्ध्याबलिपटहतां कुर्वन् श्लाघनीयां पूजां आप्तासि ।

अर्थ—उस महाकाल वन में विद्यासिद्ध करने रूप व्रत में लगे हुए,

---

१. विरिब्धैः ।

श्वेतवस्त्रधारी, हूं फुंकार बीजाक्षर स्वरूप मन्त्रों के साथ श्मसान में भ्रमण करते हुए, शूलधारी साधक समूह के अपनी निर्दोष और प्रिय ध्वनियों द्वारा सन्ध्यापूजा के अवसर पर मृदंग का काम करते हुए तुम प्रशंसा के योग्य सम्मान प्राप्त करोगे।

भावार्थ—हे मेघ ! उस महाकाल वन में मृदंग के समान ध्वनि करते हुए आप साधक समूह द्वारा प्रशंसनीय पूजा प्राप्त करेंगे। साधक समूह उस समय विद्या सिद्ध करने रूप व्रत में लगा हुआ हूं फुंकार स्वरूप बीजाक्षर मन्त्रों के साथ श्मसान में भ्रमण करता हुआ तथा त्रिशूलधारी होगा।

तत्रास्त्यन्तर्वणमपभियामासितं सन्मुनीनां,
जैनं वेश्म स्तुतिकलकलादात्ततन्नामरूढि।
तं सेवित्वा स्तनितपटहैरुच्चरद्भिस्त्वमुच्चै-
रामन्द्राणां फलमविकलं लप्स्यसे गर्जितानाम्॥८॥

तत्रेति। **तत्र अन्तर्वणं** महाकालवनस्य मध्यप्रदेशे। वनस्यान्तः अन्तर्वणम् 'पारेमध्यान्तः षष्ठ्या:' इत्यव्ययीभावः। 'प्रान्तः' इत्यादिना वनशब्दस्य णत्वं निपात्यते। **अपभियाम्** अपगता भीर्भयं येषां तेषाम्। 'भीतिर्भी: साध्वसं भयम्' इत्यमरः। **सन्मुनीनां** सन्तश्च ते मुनयश्च तेषाम्। **आसितम्**। 'क्तस्य च वर्तमाने' इति षष्ठी। मुनिभिः संश्रितमित्यर्थः। **स्तुतिकलकलात्** स्तोत्रकोलाहलात्। 'स्तवः स्तोत्रं स्तुतिर्नुतिः' 'कोलाहलः कलकलः' इत्युभयत्राप्यमरः। **आत्ततन्नामरूढि** आत्ता प्राप्ता तन्नाम कलकलजिनालय इत्यभिधानस्य रूढिः प्रसिद्धियेन तत्। **जैनं** जिनस्येदं जैनम् अर्हद्देवसम्बन्धं। **वेश्म** आलयम्। **अस्ति** वर्तते। **उच्चरद्भिः** ध्वनद्भिः। **स्तनितपटहैः** स्तनितान्येव पटहास्तैः। जिनम्। **सेवित्वा** आराध्य। **त्वं** भवान्। **आमन्द्राणाम्** ईषद्गम्भीराणाम्। **गर्जितानां** स्तनितानाम्। **अविकलं** अखण्डम्। **फलम्** इष्टप्राप्तिम्। **उच्चैः** स्फुटम्। **लप्स्यसे** प्राप्स्यसि। 'डुलभष् प्राप्तौ' इति धातोर्लृट्। 'यरलाभ्यः' इतीण् निषेधः॥८॥

अन्वय—तत्र अन्तर्वणं अपभियां सन्मुनीनां आसितं स्तुतिकलकलात् आत्ततन्नामरूढि जैनं वेश्म अस्ति। तं उच्चरद्भिः स्तनितपटहैः सेवित्वा गर्जितानां अविकलं फल लप्स्यसे।

अर्थ—महाकाल वन में वन के मध्यभाग में निर्भय और आगम के अनुसार आचरण करने वाले मुनियों का निवासस्थान तथा मुनीश्वरों की स्तुति जनित कलकल (कोलाहल) की ध्वनि से 'कलकल' इस नाम

से प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ जैन मन्दिर है। उन जिनेन्द्र भगवान् का उच्चारण करते हुए गर्जित ध्वनि रूप मृदङ्गों से सेवाकर गंभीर गर्जनाओं के सम्पूर्ण उत्कृष्ट फलों को तुम प्राप्त कर लोगे।

सायाह्ने चेत्तदुपगतवान्धाम तत्कालपूजा-
सङ्गीतान्ते श्रमजलकणैराचिताङ्गीः सुकण्ठीः।
मन्दं यान्तीश्चतुरगणिकाः शीकरैः सन्नयेस्त्वं,
पादन्यासक्वणितरसनास्तत्र लीलावधूतैः॥ ९॥

सायाह्न इति। **तत्र** वने **सायाह्ने** सायं च तत् अहश्च सायाह्नं तस्मिन्। 'संख्याव्ययसर्वांशात्' इति अट्। अह्नादेशश्च **तद्धाम**। तज्जिनवेश्म। **उपगतवान्** गतश्चेत् यदि तर्हि। **तत्कालपूजा सङ्गीतान्ते** स चासौ कालश्च तस्मिन् कृता या पूजा तस्याः सङ्गीतस्यान्ते सन्ध्यापूजावसाने। **श्रमजलकणैः** स्वेदजललवैः। **आचिताङ्गीः** आचितं व्याप्तमङ्गं यासां ताः। **मन्दं** शनैः। **यान्तीः** यान्तीति यान्त्यस्ताः। शतृत्वः। 'नुदुम्' इति ङी **पादन्यासक्वणितरसनाः** पादन्यासैः चरणक्षेपैः क्वणिता रणिता रसना काञ्चीदाम यासां ताः। 'स्त्रीकट्यां मेखला-काञ्ची सप्तकी रसना तथा' इत्यमरः। क्वणन्तेर्गत्यकर्मत्वात् 'गत्यकर्मण्याधारे' इति कर्तरि क्तः। **सुकण्ठीः चतुरगणिकाः** प्रौढवेश्याः। **त्वं** भवान्। **लीलावधूतैः** विलासावकीर्णैः। 'हेलालीलेत्यमी हावाः' इत्यमरः। **शीकरैः** अम्बुकणैः। **सन्नयेः** लालयेः॥९॥

अन्वय—तत्र सायाह्ने तत् धाम उपगतवान् चेत् तत्कालपूजा सङ्गीतान्ते श्रमजलकणैः आचिताङ्गीः सुकण्ठीः मन्दं यान्तीः पादन्यासक्वणित रसनाः चतुरगणिकाः लीलावधूतैः शीकरैः त्वं सन्नयेः।

अर्थ—महाकाल वन में सन्ध्या के समय वह कलकल जिनालय नामक मन्दिर यदि तुम्हें प्राप्त हो तो सन्ध्याकालीन पूजा के सङ्गीत के अन्त में श्रम के जलकणों से व्याप्त अङ्गों वाली, सुन्दरकण्ठों से युक्त, धीरे धीरे गमन करने वाली तथा चरणनिक्षेपों से जिनकी करधनियों का शब्द हो रहा है ऐसी चतुरगणिकाओं को क्रीड़ा के लिए प्रक्षिप्त (विकीर्ण) जल बिन्दुओं से सिक्त करो।

भावार्थ—हे मेघ! महाकाल वन में यदि संध्या के समय तुम जैन मंदिर में पहुँचो तो संध्याकालीन पूजा के बाद स्वेदबिन्दुओं से भींगी हुई, धीरे धीरे चलती हुई, अपने चरणनिक्षेप के साथ करधनी का शब्द करती हुई, कोमल कण्ठ वाली चतुरगणिकाओं को तुम लीला में बिखरे हुए जल-कणों से सिक्त करना।

तास्तत्राह्नर्मणिमयरणन्नूपुराः पण्ययोषाः,
प्रोद्गायन्तीः सुललितपदन्यासमुद्भ्रूविलासाः ।
पश्योत्पश्या नवजलकणद्वित्रसिक्ता विलोला,
रत्नच्छायाखचितवलभिश्चामरैः क्लान्तहस्ताः ॥ १० ॥

ता इति । तत्र जिनालये । अह्नः त्वद्गमनसमयो दिवा चेदित्य ध्याह्रियते । मणिमयरणन्नूपुराः रणन्तश्च ते नूपुराश्च तथोक्ताः मञ्जीरो नूपुरोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । मणिमया रणन्नूपुराः यासां ताः । सुललितपदन्यासं पदानां शब्दरूपाणां चरणानां वा । 'पदं व्याजाङ्घ्रिन्नतचिह्नत्राणलक्ष्मसु' इति भास्करः । न्यासः रचनाविशेषः तथोक्तः । सुललितः पदन्यासो यस्मिन्कर्मणि तत् । प्रोद्गायन्तीः गानं कुर्वन्तीः । उद्भ्रूविलासाः भ्रुवोर्विलासः भ्रूविलासः उद्गतो भ्रूविलासो यासां ताः । रत्नच्छायाखचितवलिभिः चामरैः रत्नानां कङ्कणमणीनां छायया द्युत्या खचिता मिश्रिता वलयश्चामरदण्डा येषां तैः । 'वलिश्चामरदण्डे चर्मणि इति विश्वः । चामरैः प्रकीर्णकैः । 'चामरं तु प्रकीर्णकम्' इत्यमरः । क्लान्तहस्ताः श्रान्तपाणयः । एतेन देशिकनर्तनं दर्शितम् । तदुक्तं नृत्यसर्वस्वे—'खड्गकन्दुकवस्त्रादिदर्शिका चामरस्रजः । वीणादि धृत्वा यत्कुर्यान्नृत्यं तद्देशिकं भवेत्' इति । नवजलकणद्वित्रसिक्ताः नवीनसलिलशीकराणां द्वौ वा त्रयो वा द्वित्राः 'सुज्वार्थे' इति समासः । 'प्रमाणे सङ्ख्यान्तः' इति डप्रत्ययः । 'डित्यन्त्यस्वरादेः' इत्यन्त्यस्य लुक् तैः सिक्ताः । त्वयेति शेषः । विलोलाः चञ्चलाः । उत्पश्याः उत्पश्यन्तीति तथोक्ताः । 'पाघ्राध्मा' इति पश्यादेशः । ताः पण्ययोषितः गणिकाः । पश्य अवलोकय ॥१०॥

अन्वय—तत्र अह्नर्मणिमयरणन्नूपुराः सुललितपदन्यासं प्रोद्गायन्तीः उद्भ्रूविलासाः उत्पश्याः नवजलकणिकाद्वित्रसिक्ताः विलोलाः रत्नच्छाया खचितवलिभिः चामरैः क्लान्तहस्ताः ताः पण्ययोषाः पश्य ।

अर्थ—महाकाल वन के अंदर स्थित कलकल जिनालय में सूर्यकान्तमणि से निर्मित शब्द करते हुए नूपुरों वाली, मनोहर पदन्यास से युक्त, ऊँचे स्वर से गान करने वाली, चरमसीमा को प्राप्त भौंहों के विलास वाली, ऊपर की ओर देखने वाली, नए जलकणों से दो या तीन बार सींची गई, चञ्चल अथवा अत्यधिक शोभायमान, रत्नों से खचित दण्ड वाले चामरों द्वारा जिनके हाथ थक गए हैं, ऐसी उन नृत्य करने वाली वेश्याओं को देखो ।

भावार्थ—हे मेघ ! यदि तुम जिन मंदिर में पहुँचो तो तुम्हें वहाँ मणियों

से युक्त तथा बजते हुए नूपुरों वाली, सुललित पदन्यास के साथ गाती हुई, भ्रूविलासयुक्त, रत्नजटित दण्ड वाली, चामरों से थके हुए हाथों वाली, वर्षा के नवीन बिन्दुओं से सिक्त तथा चंचल और ऊपर की ओर देखती हुई गणिकाएँ देखने को मिलेंगी।

त्वां तत्रार्हद्भवनवलभेरूर्ध्वभागे निषण्णं,
सन्ध्यारागच्छुरितवपुषं विद्युदुद्भासिदण्डम् ।
द्रक्ष्यन्ते ता विरचितमिव व्योम्नि लीलावितानं,
वेश्यास्त्वत्तो नखपदसुखान् प्राप्य वर्षाग्रबिन्दून् ॥ ११ ॥

त्वामिति। तत्र जिनालये। त्वत्तः त्वत्सकाशात्। नखपदसुखान् नखपदेषु सुरतजनितनखक्षतेषु सुखान् सुखकरान्। 'सुखहेतौ सुखकरः' इति शब्दार्णवे। वर्षाग्रबिन्दून् वृष्टेः प्रथमजलकणान्। प्राप्य लब्ध्वा। एताः वेश्याः पण्यस्त्रियः। अर्हद्भवनवलभेः जिनालयस्य वलभेः वक्रदारुणः। 'गोपानसीतु वलभी छादने वक्रदारुणि' इत्यमरः। ऊर्ध्वभागे उपरिभागे। निषण्णम् उपविष्टम्। सन्ध्यारागच्छुरितवपुषं सन्ध्यायाः रागेण छुरितं मिश्रितं वपुः शरीरं यस्य तम्। विद्युदुद्भासिदण्डं विद्युदेवोद्भासी प्रभास्वरो दण्डो यस्य तम्। व्योम्नि आकाशे। विरचितं निर्मितम्। लीलावितानमिव विलासदूष्यमिव। 'अस्त्री वितानमुल्लोचो दूष्याद्यं वस्त्रवेश्मनि' इत्यमरः। द्रक्ष्यन्ति प्रेक्षिष्यन्ते ॥११॥

अन्वय—तत्र ताः वेश्याः त्वत्तः नखपदसुखान् वर्षाग्रबिन्दून् प्राप्य अर्हद्भवनवलभेः ऊर्ध्वभागे निषण्णं सन्ध्यारागच्छुरितवपुषं विद्युदुद्भासि दण्डं त्वां व्योम्नि विरचितं लीलावितानं इव द्रक्ष्यन्ति।

अर्थ—कलकल नामक जिनालय में नृत्य करती हुई वे वेश्यायें तुमसे नखक्षतों को सुख देने वाले वर्षा के प्रथमबिन्दुओं को पाकर अर्हन्त भगवान् के मंदिर की छत के ऊपरी भाग में बैठे हुए संध्या की लालिमा मिश्रित शरीर वाले, विद्युत के द्वारा अपने शरीर को प्रकाशित करने वाले तुम्हें आकाश में रचे गये लीला मण्डप के समान देखेंगी।

भूयश्च त्वत्स्तनितचकिताः किंचिदित्यात्तशङ्काः,
किञ्चित्तिर्यग्वलितवदनास्तत्र पण्याङ्गनास्ताः ।
वक्षोत्कम्पस्तनतटलुठल्लोलहाराः सलीला-
नामोक्ष्यन्ति त्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान्कटाक्षान् ॥ १२ ॥

भूय इति। भूयश्च पश्चात्। तत्र जिनालये। त्वत्स्तनित चकिताः तव

गर्जितेन कम्पिताः । किस्विदिति किमिदमिति । आत्तशङ्काः गृहीता शङ्का याभिस्ताः । किञ्चित् ईषत् । तिर्यग्वलितवदनाः तिर्यग्वलितं वक्रितं वदनं यासां ताः । बद्धोत्कम्पस्तनतटलुठल्लोलहाराः बद्धो रचित उत्कम्पो ययोस्तौ च तौ स्तनौ च तयो-श्चलसतृष्णयोः'' इत्यमरः । सलीलाः लीलया सह वर्तन्त इति तथोक्तास्तान् । ताः पण्याङ्गनाः । त्वयि भवति । मधुकरश्रेणिदीर्घान् मधुकराणां भृङ्गाणां श्रेणिः मालेव दीर्घास्तान् । कटाक्षान् अपाङ्गान् । ''अपाङ्गौ नेत्रयोरन्ते कटाक्षोऽपाङ्गदर्शने'' इत्यमरः । आमोक्ष्यन्ति आवर्जिष्यन्ति । गौरवकृताः सत्यः सद्यः प्रत्युपकुर्वन्तीति भावः ।

अन्वय—भूयश्च तत्र त्वत्स्तनितचकिताः किंस्वित् इति आत्तशङ्काः किञ्चित्तिर्यग्वलितवदनाः बद्धोत्कम्पस्तनतटलुठल्लोलहाराः ताः पण्याङ्गनाः त्वयि सलीलान् मधुकरश्रेणिदीर्घान् कटाक्षान् आमोक्ष्यन्ति ।

अर्थ—पुनश्च उस कलकल नामक जिनालय में तुम्हारे गरजने से डरी हुई यह क्या है ? इस प्रकार शङ्का को प्राप्त हुई। मुँह को कुछ तिरछा घुमाए हुई, भय से उत्पन्न कँपकँपी के कारण जिनके स्तन के तटवर्ती हार लोटने से चंचल हो रहे हैं ऐसी वे वेश्यायें तुम्हारे ऊपर भ्रमरों की पंक्तियों के समान दीर्घ कटाक्षों को छोड़ेंगी ।

इत्थं भक्तिप्रकटनपटुस्तत्र चातोद्यगोष्ठीं,
कृत्वा मन्द्रस्तनितमुरवध्वानमाविष्कृतवन् ।
वन्दारूणां शृणु सुनिभृतस्तोत्रपाठं मुनीनां,
पश्चादुच्चैर्भुजतरुवनं मण्डलेनाभिलीनः ॥ १३ ॥

इत्थमिति । इत्थम् अनेन प्रकारेण । तत्र चैत्यालये । भक्तिप्रकटनपटुः भक्ते-र्गुणानुरागस्य प्रकटने प्रकाशे पटुश्चतुरः । मन्द्रस्तनितमुरवध्वानं मन्द्रं स्तनित-मेव मुरवस्य मुरजस्य ध्वानं ध्वनिम् । आविष्कृतवन् प्रादुः कुर्वन् । 'प्रकाशे प्रादुराविः स्यात्' इत्यमरः । आतोद्यगोष्ठीं च वाद्यगोष्ठीमपि । कृत्वा विधाय । पश्चात् वाद्यगोष्ठ्यनन्तरम् । उच्चैः महत् भुजतरुवनं भुजतरूणां वृक्षविशेषाणां वनं तदु-पवनम् । मण्डलेन मण्डलाकारेण । अभिलीनः अभितो व्याप्तः सन् । कर्तरि क्तः । वन्दारूणां वन्दनशीलानाम् । 'वन्दारुः' इत्यारुः । मुनीनां यतीनाम् । सुनिभृत-स्तोत्रपाठं सुनिश्चलस्तुतिपठनम् । शृणु श्रुति विषयं विधेहि ॥ १३ ॥

अन्वय—पश्चात् च तत्र इत्थं भक्ति प्रकटनपटुः आतोद्यगोष्ठीं कृत्वा मन्द्र-स्तनितमुरवध्वानं आविष्कृतवन् उच्चैर्भुजतरुवनं अभि मण्डलेन लीनः वन्दारूणां मुनीनां स्तोत्रपाठं सुनिभृतः (सन्) शृणु ।

अर्थ—अनन्तर उस कलकाल नामक जिनालय में इस प्रकार भक्ति को प्रकट करने में समर्थ वीणा आदि चार प्रकार के वादित्रों के संलाप को करके गम्भीर गर्जना वाली मृदंग की ध्वनि को प्रकट करते हुए ऊँची डालों से युक्त वृक्षों के जंगल को मण्डलाकार व्याप्त करते हुए वन्दना करने वाले मुनियों के स्तुति पाठ को चुपचाप सुनो।

तस्मिन्काले जलधरपथे स्वं वितत्य प्रहर्षा,
द्विद्युद्दीपैर्जिनमुपहरन्भक्तिभारावनम्रः ।
द्रष्टासे[1] त्वं दधदिव मुहुः स्वामिसेवानुरागं,
सान्ध्यं तेजः प्रतिनवजपापुष्परक्तं दधानः ॥ १४ ॥

तस्मिन्निति । **तस्मिन्काले** स्तोत्रश्रवणसमये । **जलधरपथे** आकाशे । **प्रहर्षात्** सन्तोषात् । **स्वं** स्वरूपम् । **वितत्य** विस्तृत्य । **भक्तिभारावनम्रः** भक्त्यतिशयेनावनम्रः नमनशीलः । नम्रकम्प्यजस्कम्र इति रः । **विद्युद्दीपैः** विद्युत् एव दीपास्तैः । **जिनं** जिनेश्वरम् । **उपहरन्** पूजयन् । **प्रतिनवजपापुष्परक्तं** प्रत्यग्रजपाकुसुमारुणम् । **सान्ध्यं** संध्यायां भवं सान्ध्यम् । **तेजो** दीप्तिम् । 'तेजः प्रभावे दीप्तौ च बले शुक्लेऽप्यतस्त्रिषु' इत्यमरः । **दधानः** वहन् । **मुहुः** पुनः । **स्वामिसेवानुरागं** स्वामिनः जिनेश्वरस्य सेवानुरागं प्रीतिम् । **दधदिव** दधातीति दधत् दधान इव । **त्वं भवान्** **द्रष्टासे** द्रक्ष्यसे । कर्मणि लुट् ॥ १४ ॥

अन्वय—तस्मिन् काले जलधरपथे स्वं वितत्य भक्तिभारावनम्रः प्रहर्षात् विद्युद्दीपैः जिनं उपहरन् प्रतिनवजपापुष्परक्तं सान्ध्यं तेजः दधानः स्वामिसेवानुरागं दधत् इव मुहुः दृष्टासि ।

अर्थ—स्तोत्र सुनते समय अपने आपको आकाशमार्ग में फैलाकर, भक्ति के भार से नम्र होकर अत्यधिक हर्ष के कारण विद्युत् रूपी दीपकों द्वारा जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करते हुए नए जपाकुसुम के समान लाल सन्ध्याकाल के तेज को धारण करते हुए मानों भगवान् जिनेन्द्र के प्रति सेवा के अनुराग को धारण किए हुए के समान तुम पुनः पुनः दिखाई दोगे ।

भक्ति कुर्वञ्शतमख इवाविर्भवद्दिव्यरूप-
श्चित्रां वृत्तिं स्वरसरचितां शौखिमीं वा मनोज्ञाम् ।
कण्ठच्छायां स्ववपुषि वहन्मास्मयन्साधुवादं,
नृत्तारम्भे हर पशुपतेरार्द्रनागाजिनेच्छाम् ॥ १५ ॥

---

१. दृष्टासि ।

भविष्यतिमिति । **शतमख इव** देवेन्द्र इव । **आविर्भवद्दिव्यरूपः** दिवि भवं दिव्यं तच्च तत् रूपं च तथोक्तम् आविर्भवतीति आविर्भवत् दिव्यरूपं यस्य सः तथोक्तः । **भक्ति** गुणानुरागम् । **कुर्वन्** । **स्वैरसरचितां** स्वसामर्थ्यकृताम् । 'शृङ्गारादौ विषे वीर्ये गुणे रागे द्रवे रसः' इत्यमरः । **चित्रां** नानारत्नविशिष्टाम् । **वृत्तिं** वर्तनम् । वा अथवा । **शैखिनीं** शिखिनो मयूरस्येयं शैखिनी ताम् । **मनोज्ञां** मनोहराम् । **कण्ठच्छायां** ग्रीवाद्युतिम् । केवलनीलकान्तिमित्यर्थः । **स्ववपुषि** निजशरीरे । **वहन्** धरन् । साधुवादं प्रेक्षकजनश्लाघनोक्तिम् । 'जनोदाहरणं कीर्तिं साधुवादं यशो विदुः' इति धनञ्जयः । **भासयन्** अलंकुर्वन् । **पशुपतेः** ईशानदिक्पतेः रुद्रस्य । **नृत्तारम्भे** जिनेन्द्रदर्शनानन्तरकृते आनन्दनर्तनप्रारम्भे । **आर्द्रनागाजिनेच्छाम्** आर्द्रं शोणिताद्रं यन्नागाजिनं गजचर्म । 'अजिनं चर्मकृत्तिः स्त्री' इत्यमरः । **तत्रेच्छां** काङ्क्षाम् । **हर** निवर्तय दूरीकुर्वित्यर्थः । [illegible] भवेति तात्पर्यम् ।। १५ ।।

अन्वय—शतमखः इव पशुपतेः भक्ति कुर्वन् आविर्भवद्दिव्यरूपः स्वैरसरचितां दिव्यां वृत्तिं मनोज्ञां शैखिनीं कण्ठच्छायां वा स्ववपुषि वहन् नृत्तारम्भे साधुवादं यन् आर्द्रनागाजिनेच्छां मा स्म हर । अथवा शतमख इव आविर्भवद्दिव्यरूपः भक्ति कुर्वन् स्वैरसरचितां चित्रां वृत्तिं वा शैखिनीं मनोज्ञां कण्ठच्छायां स्ववपुषि वहन् भासयन् पशुपतेः नृत्तारम्भे आर्द्रनागाजिनेच्छाम् हर ।

अर्थ—सौधर्मेन्द्र के समान मृग आदि प्राणियों के रक्षक भगवान् जिनेन्द्र की भक्ति करते हुए, दिव्य रूप को प्रकट कर अपनी इच्छा से रची गई दिव्य अवस्था अथवा मनोज्ञ मयूर के कण्ठ की कान्ति को अपने शरीर में धारण करते हुए नृत्य के आरम्भ में प्रशंसा को प्राप्त कर अपनी नए नाग केसर के फूलों (से जिन पूजन करने) की इच्छा को विफल मत करो अथवा नए नागकेसर के वृक्षों की जो तुम्हें (मेघ को) प्राप्त करने की इच्छा है, उसे विफल मत करो या तुम्हारे सदृश अन्य मेघों की जो जिनपूजा की अभिलाषा है, उसे विफल मत करो । अथवा देवेन्द्र के समान जिसका दिव्यरूप प्रकट हुआ है ऐसे तुम भक्ति करते हुए अपनी सामर्थ्य से रची गई नाना रत्नों से विशिष्ट अवस्था को या मोर की मनोहर कण्ठ की द्युति को अपने शरीर में धारण करते हुए, बुरे भाव न कर ईशान दिशा के स्वामी रुद्र की रक्त से गीले गजचर्म को धारण करने की इच्छा को दूर करो अर्थात् उक्त गजचर्म के समान होकर तुम्हीं उसका स्थान ग्रहण करो ।

नाट्यं तन्वन्सुरचिरतनुर्नाटय व्योमरङ्गे,
तारापुष्पप्रकररुचिरे सौम्यविद्युन्नटीं ताम् ।

नायं रौद्रो मृदुरिति चिरं साधुवादैः प्रियान्ते,
शान्तोद्वेगस्तिमितनयनं दृष्टभक्तिर्भवान्या ॥ १६ ॥

नाट्यमिति । **भवान्या** भवस्य पत्न्याः । 'वरुणेन्द्रभव' इत्यादिना ङी आनुक्चागमः अयम् एषः । **रौद्रः** रुद्रसम्बन्धः । **अथवा** भयङ्करः । **न** न भवति । **किन्तु** । **मृदुरिति** मृदुल इति । 'कोमलं मृदुलं मृदु' इत्यमरः । **चिरं** दीर्घकालम् । **साधुवादैः** श्लाघोक्तिभिः । **प्रियान्ते** प्रियस्येश्वरस्य दिग्विन्द्रस्य अन्ते समीपे । **शान्तोद्वेगस्तिमितनयनं** शान्तः उद्वेगो गजाजिनदर्शनजं भयं ययोस्ते अतएव स्तिमिते निश्चले नयने यस्मिन्कर्मणि तत् । 'उद्वेगस्त्वरिते क्लेशे भये मन्थरगामिनि' इति शब्दार्णवे । **दृष्टभक्तिः** भक्तिः पूज्येऽनुरागः दृष्टा भक्तिर्यस्य सः । **सुरुचिरतनुः** सुरुचिरा मनोहरा तनुर्यस्य सः तथोक्तः सन् । **तारापुष्पप्रकररुचिरे** तारा एव पुष्पाणि तेषां प्रकरः समूहस्तेनरुचिरं तस्मिन् । अनेन प्राक् पुष्पाञ्जलिं विधायेति व्यज्यते । **व्योमरङ्गे** व्योमैवरङ्गं नाट्यस्थानं तस्मिन् 'रङ्गस्पृणि रङ्गो ना रोगे नृत्तस्थले रणे' इति भास्करः । **नाट्यं** नर्तनम् । **तन्वन्** कुर्वन् । **तां** प्रसिद्धाम् । **सौम्यविद्युन्नटीं** सौम्या रम्या विद्युत् तडित् सैव नटी नर्तकी ताम् । तां **नाटय** नर्तय ॥ १६ ॥

अन्वय—नाट्यं तन्वन् न अयं रौद्रः (अपितु) मृदुः इति प्रियान्ते साधुवादैः भवान्याशान्तोद्वेगस्तिमितनयनं चिरं दृष्टभक्तिः सुरुचिरतनुः तारापुष्पप्रकर रुचिरे व्योमरङ्गे तां सौम्यविद्युन्नटीं नाटय ।

अर्थ—गीत और वाद्य से युक्त नृत्य करते हुए यह नृत्य करने वाला भयंकर नहीं, अपितु मृदु है, इस प्रकार अपने पति के समीप में प्रशंसा परक वचनों से इन्द्राणी से भय रहित और निश्चल नेत्रों से जिसकी भक्ति चिरकाल तक देखी गई है, ऐसे मनोज्ञ शरीर वाले तुम ताराख्प बिखरे हुए फूलों के समूह से मनोज्ञ आकाशरूप रङ्गस्थल में उस प्रसिद्ध मनोज्ञ या मनोहर बिजली रूपी नटी को नचाओ ।

आलोक्यैवं श्रियमथमहाकालदेवालयानां,
कृत्वा सान्ध्यं समुचितविधिं चात्र भूयो नगर्याम् ।
लीलां पश्यन्विहर शनकै रात्रिसम्भोगहेतो-
र्गच्छन्तीनां रमणवसतिं योषितां तत्र नक्तम् ॥ १७ ॥

आलोक्येति । **अथ** आनन्दनर्तनानन्तरम् । **एवमुक्तप्रकारेण । महाकालदेवालयानां** महाकालवनस्थचैत्यालयानाम् । **श्रियं** सम्पत्तिम् । **आलोक्य** प्रेक्ष्य । **अत्र** चैत्यालयनिकटदेशे । **सान्ध्यं** सन्ध्याकाल सम्बन्धिनम् । **समुचितविधिम् च** स्वयोग्या-

नृत्यानमपि कृत्वा विधाय। भूयः पश्चात्। तत्र नगर्यां विशालायाम्। नक्तं रात्रौ। 'नक्तं च रजनाविति' इत्यमरः। रात्रिसम्भोगहेतोः रात्रौ क्रियमाणसम्भोगः तथोक्तः तस्य हेतुः तस्मात्। रमणवसतिं प्रियसदनम्। 'वसतिः स्यान्निशायोनिजवेश्मनि वेश्मनि' इति नानार्थरत्नमालायाम्। गच्छन्तीनां गच्छन्तीति गच्छन्त्यस्तासाम् शतृत्यः। 'नृदुग्' इति ङी। योषितां नारीणाम्। लीलां शृङ्गारादिभावम्। पश्यन् पश्यतीति पश्यन् सन्। शनकैः मन्दगर्जनादिरहितः सन्नित्यर्थः। विहर सञ्चर ॥ १७ ॥

अन्वय—अथ एव महाकालदेवालयानां श्रियं आलोक्य अत्र भूयः साम्ध्यं समुचितविधिं च कृत्वा तत्र नगर्यां नक्तं रात्रिसम्भोगहेतोः रमणवसतिं शनकैः गच्छन्तीनां योषितां लीलां पश्यन् विहर।

अर्थ—नृत्य के बाद पूर्वोक्त प्रकार से महाकाल वन में स्थित जिनेन्द्र मन्दिरों की शोभा देखकर यहाँ (जिनमन्दिर में) पुनः सन्ध्याकालीन भगवान् अर्हन्त के योग्य (स्तुत्यादिक क्रियायें करके उस नगरी में रात्रि के समय रात्रिकालीन सम्भोग के लिए प्रिय के निवासस्थान को धीरे (धीरे) जाने वाली स्त्रियों की शृङ्गारादि क्रीड़ाओं को देखते हुए विहार करो।

गर्जत्युच्चैर्भवति पिहितव्योममार्गे रमण्यो,
गाढोत्कण्ठा मदनविवशाः पुंसु सङ्केतगोष्ठीम्।
एकाकिन्यः कथमिव रतौ गन्तुमीशा निशीथे-
रुद्धालोके नरपतिपथे सूचिभेद्यैस्तमोभिः ॥ १८ ॥

गर्जतीति। पिहितव्योममार्गे आच्छादिताकाशमार्गे। 'दाब् नुह्रपेरुपसर्गस्याकारस्य लुक्' भवति त्वयि। उच्चैरधिकम्। गर्जति घोषयति सति। निशीथे रात्रौ। सूचिभेद्यैरति सान्द्रैरित्यर्थः। तमोभिरन्धकारैः। रुद्धालोके रुद्धदृष्टिप्रसारे। नरपतिपथे राजमार्गे। एकाकिन्यः निःसहायाः। 'एकादाकि श्चासहाये' इति आकिन् प्रत्ययः। 'नृदुग्' इति ङी। गाढोत्कण्ठाः प्रियसमागम चिन्ताकलिताः। मदनविवशाः मन्मथवशगताः। 'विवशोरिष्टदुष्टधीः' इत्यमरः। रमण्यः नार्यः। रतौ सुरतनिमित्तम्। 'हेतौ हेत्वर्थैः सर्वाः प्रायः' इति सप्तमी। पुंसु पुरुषेषु। सङ्केतगोष्ठीम् उद्देशस्थानम्। 'संङ्केतस्तु समयः' इत्यमरः। कथमिव केन प्रकारेण। गन्तुं यातुम्। ईशाः समर्थाः समर्था न भवन्तीति यावत् ॥ १८ ॥

अन्वय—पिहितव्योममार्गे भवति उच्चैः गर्जति निशीथे नरपतिपथे सूचिभेद्यैः तमोभिः रुद्धालोके पुंसु गाढोत्कण्ठाः मदनविवशाः रमण्यः रतौ सङ्केतगोष्ठीं एकाकिन्यः गन्तुं कथमिव ईशाः।

अर्थ—जिसने आकाशमार्ग को आच्छादित कर दिया है ऐसे तुम्हारे द्वारा ऊँचे स्वर से गर्जना करने पर रात्रि में राजमार्ग पर अत्यन्त गहन अन्धकार के द्वारा प्रकाश के रोके जाने पर पुरुषों के विषय में जिन्हें तीव्र उत्कण्ठा उत्पन्न हो गई है ऐसी कामिनी स्त्रियाँ सम्भोग क्रीड़ा के लिए सङ्केत स्थान पर अकेली जाने में कैसे समर्थ होंगी ? अर्थात् समर्थ नहीं होंगी।

तस्मान्नोच्चैर्ध्वनिषु च भवाडम्बरं संहराशु,
प्रत्यूहानां करणमसतामादृतं नोन्नतानाम् ।
कर्त्तव्या ते सुजनविधुरे प्रत्युतोपक्रिया सा,
सौदामन्या कनकनिकषस्निग्धया दर्शयोर्वीम् ॥ १९ ॥

तस्मादिति । **तस्मात्** कारणात् । **ध्वनिषु** गर्जितेषु । **उच्चैः** महान् । **न भव** त्वं मा भूः । **आडम्बरं** गर्जितम् । 'आडम्बरोऽस्त्रीसंरम्भे गर्जिते तूर्यनिस्वने' इति भास्करः । **आशु** शीघ्रेण । **संहर** निवर्तय । **असतां** दुर्जनानाम् । **प्रत्यूहानां** विघ्नानाम् । 'विघ्नोऽन्तरायः प्रत्यूहः' इत्यमरः । **करणं** विधानम् । **आदृतं** प्रियं भवति 'आदृतं सादरार्चितम्' इत्यमरः । **उन्नतानां** सज्जनानां न आदृतं न भवति **प्रत्युत** किं तर्हि । **सुजन** भो सज्जन । **आसां** वनितानाम् । **विधुरे** विपदि । **उपक्रिया** उपकृतिः । **ते** तव । **कर्त्तव्या** विधेया । 'वा नाकस्य' इति वा षष्ठी । त्वया विधातव्येत्यर्थः । **कनकनिकषस्निग्धया** कनकस्य निकषो निकष्यत इति व्युत्पत्त्या निकषोपलगतरेखा तस्येव स्निग्धं तेजो यस्यास्तया । 'त्रिषु स्निग्धं तु मसृणं सान्द्रे क्लीबं तु तेजसि' इति शब्दार्णवे । **सौदामन्या** सुदाम्नोऽद्रिणः एकदिक् सौदामनी विद्युत् 'एकदिशा' इत्यण् । तया **उर्वीं** मार्गभुवम् । **दर्शय** प्रकाशय ॥ १९ ॥

अन्वय—तस्मात् ध्वनिषु उच्चैः न भव, आडम्बरं च आशु संहर । प्रत्यूहानां करणं असतां आदृतं न उन्नतानां । प्रत्युत (हे) सुजन आसां विधुरे उपक्रिया ते कर्त्तव्या । कनकनिकषस्निग्धया सौदामिन्या उर्वीं दर्शय ।

अर्थ—अतः ध्वनि उच्चारण के विषय में ऊँचे न होओ अर्थात् मन्द स्वर से गर्जना करो । विघ्नों का करना दुर्जनों को प्रिय है, उन्नतों (ऊँचे) या महान् व्यक्तियों को नहीं । बल्कि हे सज्जन ! इन स्त्रियों की आपत्ति के समय तुम्हें उपकार करना चाहिए । सोना जाँचने की कसौटी की रेखा के समान तेज वाली बिजली से भूमि (मार्ग) दिखलाओ ।

क्रीडाहेतोर्यदि च भवतो गर्जनेनोत्सुकत्वं,
मन्दंमन्दं स्तनय वनितानूपुरारावहृद्यम् ।

तासामन्तर्मणितसुभगं सम्भृतासारधार-
स्तोयोत्सर्गस्तनितमुखरो मा च भूर्विक्लवास्ताः ॥ २० ॥

क्रीडाहेतोरिति । यदि च पक्षान्तरे । 'पक्षान्तरे चेद्यदि च' इत्यमरः । भवतः तव । क्रीडाहेतोः विलासनिमित्तम् । गर्जनेन स्तनितेन । उत्सुकत्वं लाम्पट्यम् । 'इष्टार्थोद्युक्त उत्सुकः' इत्यमरः । तर्हि । वनितानूपुरारावहृद्यं वनितानां नारीणां नूपुरस्याराव इव ध्वनिरिव 'आरवारावसंरावविरावा' इत्यमरः । हृद्यं हृदयस्य प्रियम् तथोक्तम् यथा भवति तथा । 'पद्यपथ' इत्यादिना निपातनाद्य प्रत्ययः । 'हृदयस्य हृल्लेखलास' इति हृदादेशः । 'अभीष्टेऽभीप्सितं हृद्यम्' इत्यमरः । तासां नारीणाम् । अन्तर्मणितसुभगम् अन्तर्मणितमिव अन्तर्हितकूजितमिव सुभगं मनोहरं यथा भवति तथा । मन्दंमन्दं शनैः शनैः । 'शीघ्रार्थानिति द्विः' । स्तनय गर्जय । ताः स्त्रियः । विक्लवाः भीरवः । 'विक्लवोविह्वलः' इत्यमरः । भवन्तीति शेषः । सम्भृतासारधारः सम्भृता आसारस्य धारा वेगवद्वर्षस्य धारा येन सः । तोयोत्सर्गस्तनितमुखरः तोयस्य उत्सर्गो वर्षणं तन्निमित्तं यत् स्तनितम् उच्चैर्गर्जितमित्यर्थः । न मुखरो वाचालः । मा च भूः न भवेरर्थः ॥ २० ॥

अन्वय—यदि च क्रीडाहेतोः भवतः गर्जनेन उत्सुकत्वं वनितानूपुरारावहृद्यं तासां अन्तर्मणित सुभगं मन्दं मन्दं स्तनय सम्भृतासारधारः तोयोत्सर्गस्तनितमुखरः च मा भूः ताः विक्लवाः ।

अर्थ—यदि क्रीड़ा के लिए आपकी गरजने की उत्सुकता है तो स्त्रियों के नूपुरों की ध्वनि के समान हृदय को प्रिय, उन स्त्रियों की रति क्रीड़ा के समय उच्चरित अक्षररहित ध्वनि विशेष के समान मनोहर मन्द मन्द गर्जना करो। वेगवती वर्षा की धारा की निष्पत्ति करने वाले तुम जल वृष्टि के लिए किए जाने वाले गर्जन से शब्दशील मत बनो; क्योंकि वे स्त्रियाँ डरपोक होती हैं।

इतोर्ध्ववेष्टितानि—

भ्रान्त्वा कृत्स्नां पुरमिति चिरं रात्रिसम्भोगधूपै-
र्लब्धामोदः सुखमनुभव त्वं गरीयानशेषाम् ।
तां कस्यांचिद्भुवनवलभौ सुप्तपारावतायां,
नीत्वा रात्रिं चिरविलसनात्खिन्नविद्युत्कलत्रः ॥ २१ ॥

भ्रान्त्वेति । रात्रिसम्भोगधूपैः रात्रौ निक्षिप्तसम्भोगधूपैः । लब्धामोदः लब्धः आमोदो मनोहरपरिमलो यस्य सः । गरीयान् प्रकृष्टो गुरुः 'गुणाङ्गात्' इति ईयसुः । 'प्रियस्थिर' इति गरादेशः । त्वं भवान् । कृत्स्नां सकलाम् । 'विश्वमशेषं कृत्स्नम्'

इत्यमरः । **पुरं** पुरीम् । 'पूः स्त्री पुरीनगर्यौ वा' इत्यमरः । इति एवम् । **चिरम्** । **भ्रान्त्वा** विहृत्य । **चिरविलसनात्** चिरस्फुरणात् । **खिन्नविद्युत्कलत्रः** खिन्ना क्लान्ता विद्युदेव कलत्रं कान्ता यस्य सः । 'कलत्रं श्रोणिभार्ययोः' इत्यमरः । **सुप्त-पारावतायां** सुप्ताः पारावताः परस्परवियुक्ताः कलरवाः यस्यां तस्याम् । 'पारावतः कलरवः' इत्यमरः । अनेन पारावतकान्तायां सुखानुभवो ध्वन्यते । **कस्यांचित्** क्वचित् । **भवनवलभौ** भवनस्य वलभावाच्छादने उपरिभाग इत्यर्थः । 'आच्छादनं स्याद्वलभिः गृहाणाम्' इति हलायुधः । **अशेषां** सम्पूर्णाम् । **तां** **रात्रीं** निशाम् । **नीत्वा** यापयित्वा । **सुखं** विषयसुखं । **अनुभव** अनुभूयाः ।। २१ ।।

अन्वय—रात्रिसम्भोगधूपैः लब्धामोदः चिरविलसनात् खिन्नविद्युत्कलत्रः गरीयान् त्वं इति कृत्स्नां पुरं भ्रान्त्वा सुप्तपारावतायां कस्यांचित् भवनवलभौ तां अशेषां रात्रीं नीत्वा सुखं अनुभव ।

अर्थ—रात्रिकालीन सम्भोग के समय प्रयुक्त धूपों (धूप, चन्दन, अगुरु आदि सुगन्धित द्रव्यों के चूर्णों) से प्राप्त सुगन्धवाले, बहुत देर तक चमकने के कारण थकी हुई बिजली रूप पत्नी वाले गुरुतर आप इस प्रकार सम्पूर्ण नगर में भ्रमण कर सोए हुए कबूतरों से युक्त किसी भवन की छत पर उस सम्पूर्ण रात्रि को बिताकर सुख का अनुभव करो ।

यद्यप्यस्यां क्षणपरिचयः स्वर्गवासातिशायी,
तत्रासक्ति सपदि शिथिलीकृत्य वैरं च योगात् ।
दृष्टे सूर्ये पुनरपि भवान्वाहयेदध्वशिष्टं,
मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः ।। २२ ।।

यदीति । **अस्याम्** उज्जयिन्याम् । **क्षणपरिचयः** क्षणस्योत्सवस्य परिचयः परिचर्या । 'कालविशेषोत्सवयोः क्षणः' इत्यमरः । **स्वर्गवासातिशायी** स्वर्गवासादप्यतिशयेत इत्येवं शीलः तथोक्तः । स्वर्गसुखादपि प्रकृष्टः । **यद्यपि भवति चेत्तथापि** । **तत्र** नगर्याम् । **आसक्ति** लाम्पट्यम् । **दृष्टे** उदिते । **सूर्ये** भानौ । **योगात्** सङ्गतेः । तदुदये भोगविगमादित्याशयः । 'योगः सन्नहनोपायध्यानसङ्गतियुक्तिषु' इत्यमरः । **वैरं च** विरोधमपि । **सपदि** शीघ्रेण । **शिथिलीकृत्य** परिहृत्य । **पुनरपि** भूयोपि । **भवान्** त्वम् । **अध्वशिष्टम्** अवशेषमार्गम् । **वाहयेत्** गच्छेत् । तथाहि **सुहृदां** मित्राणाम् । 'अथ मित्रं सखा सुहृत्' इत्यमरः । **अभ्युपेतार्थकृत्याः** अभ्युपेता अङ्गीकृता अर्थस्य प्रयोजनस्य कृत्या क्रिया यैस्ते तथोक्ताः । अङ्गीकृतमित्रप्रयोजना इत्यर्थः । 'अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु' इत्यमरः । 'कृत्या क्रिया देवतयोः कार्यस्त्री-कुपिते त्रिषु' इति यादवः । **न खलु मंदायन्ते** मंदाना भवन्ति हि मंदम् इव आचरंतीति मंदायंते । खल्वपि तु 'निषेधवाक्यालंकारजिज्ञासानुनये खलु' इत्यमरः ।।२२।।

अन्वय—यद्यपि अस्यां क्षणपरिचयः स्वर्गवासातिशायी (तथापि) तत्र आसक्ति योगात् वैरं च शिथिलीकृत्य पुनरपि सूर्ये दृष्टे भवान् अध्वशिष्टं वाहयेत् । सुहृदां अभ्युपेतार्थकृत्याः न खलु मन्दायन्ते ।

अर्थ—यद्यपि इस नगरी में क्षणभर का परिचय स्वर्ग में (दीर्घ समय तक) निवास करने का भी अतिक्रमण करता है तथापि उस नगरी में आसक्ति (तीव्र अनुराग) को शिथिल (कम) करके तथा मेरे साथ मित्रता के कारण शत्रुभाव को छोड़कर पुनः सूर्य दिखाई देने पर आप शेष मार्ग को पार करें; (क्योंकि) मित्र के कार्य को अङ्गीकार करने वाले सज्जन विलम्ब नहीं करते हैं।

भावार्थ—इस नगरी में एक क्षण का निवास स्वर्ग में सागरों पर्यन्त निवास से अधिक अच्छा है।

रुद्धे भानौ नयनविषयं नोपयाति त्वयाऽसौ,
मासो[1] भङ्गादघनिरसनं मा स्म भूत्त्वन्निमित्तम् ।
तस्मिन्काले नयनसलिलं योषितां खण्डितानां,
शान्तिं नेयं प्रणयिभिरतो वर्त्म भानोस्त्यजाशु ॥ २३ ॥

रुद्ध इति । त्वया भवता । भानौ सूर्ये । रुद्धे तिरोहिते सति 'संवीतं रुद्धमावृतम्' इत्यमरः । असौ भानुः । नयनविषयं जनानां नेत्रगोचरम् । नोपयाति नोपगच्छति । मासः मासस्य पद्दन्नोमास्' इत्यादिना मासशब्दस्य मासित्यादेशः । भङ्गात् अपूरणात् । त्वन्निमित्तं त्वमेव निमित्तं कारणं यस्य तत् तथोक्तम् । अघनिरसनं दुःखनिवारणम् । 'अंहो दुःखव्यसनेष्वघम्' । 'प्रत्याख्यानं निरसनं प्रत्यादेशो निराकृतिः' इति चामरः । मा स्म भूत् मा जनिष्ट । सूर्ये अदृष्टे दिवसगणनाया अभावः । तदभावे मासपूर्तिज्ञानाभावः । तदभावे कान्तायाः संवत्सरप्रमितस्य विरहदुःखस्य निवारणम् । त्वत्सम्पर्कादि नाभावि न भवतु । किन्तु मासपूरणादेव जायतामिति तात्पर्यम् । किन्तु । तस्मिन्काले प्रागुक्ते सूर्योदयकाले । खण्डितानां योषिताम् नायिकाविशेषाणाम् । 'ज्ञातेऽन्यासंगविकृते खण्डितेर्ष्याकषायिता' दशरूपके । नयनसलिलम् अश्रुजलम् । प्रणयिभिः प्रियतमैः । शान्तिं शमनम् । नेयं नेतव्यम् । 'णीञ् धातुः द्विकर्मकः' । अतः कारणद्वयात् । भानोरर्कस्य । वर्त्म मार्गम् । आशु शीघ्रम् । त्यज मुञ्च । तस्य रोधको मा भूरित्यर्थः ।

अन्वय—त्वया भानौ रुद्धे असौ नयनविषयं न उपयाति । त्वन्निमित्तं मासः भङ्गात् अघनिरसनं मा स्म भूत् । तस्मिन् काले खण्डितानां योषितां नयनसलिलं प्रणयिभिः शान्तिं नेयम् । अतः भानो वर्त्म आशु त्यज ।

1. मासो ।

अर्थ—आपके द्वारा सूर्य रुद्ध हो जाने पर यह (सूर्य) नेत्रों के विषय को प्राप्त नहीं होता है अर्थात् आँखों से दिखाई नहीं पड़ता है। आपके कारण प्रकाश का विनाश हो जाने से दुःख का विनाश नहीं होगा। उस समय अर्थात् सूर्य दर्शन के समय खण्डिता स्त्रियों के नेत्रों का जल प्रणयी व्यक्तियों के द्वारा शान्ति को प्राप्त कराया जाना चाहिए। अतः सूर्य के मार्ग को शीघ्र ही छोड़ दो।

व्याख्या—जब मेघ बीच में आ जायगा तो सूर्य दिखाई नहीं देगा। जब तक प्रकाश दिखाई नहीं देता है, तब तक खण्डिता नायिकाओं का दुःख विनाश नहीं होता है। सूर्योदय के समय खण्डितानायिका के आँसुओं का शमन उनके प्रेमी करेंगे। अतः हे मेघ! तुम सूर्य के मार्ग को शीघ्र छोड़ दो।

भासो भङ्गात् के स्थान पर मासो भङ्गात् पाठ मानने पर अर्थ इस प्रकार होगा—हे मेघ! आपके द्वारा सूर्य तिरोहित होने पर यह (सूर्य) लोगों को दृष्टिगोचर नहीं होता है। मास के पूर्ण न होने से तुम्हारे कारण दुःख का निवारण न हो अर्थात् सूर्य जब दिखाई नहीं देगा तो दिवस की गणना का अभाव होगा। दिन की गणना के अभाव में माह की समाप्ति के ज्ञान का अभाव होगा। इस अभाव के कारण कान्ता के एक वर्ष प्रमाण विरह दुःख का निवारण होगा, किन्तु यह तुम्हारे द्वारा न होकर मास पूरा होने पर ही हो। सूर्योदय के समय खण्डिता नायिका के आँसुओं का शमन उनके प्रेमी करेंगे, अतः हे मेघ! तुम सूर्य के मार्ग को शीघ्र ही छोड़ देना।

खण्डिता नायिका का लक्षण साहित्यदर्पणकार ने इस प्रकार दिया है—

पार्श्वमेति प्रियो यस्या अन्यसम्भोगचिह्नितः।
सा खण्डितेति कथिता धीरैरीर्ष्याकषायिता॥ ३।७५॥

अन्य स्त्री के संसर्ग–चिह्नों से युक्त नायक जिसके पास जाय वह ईर्ष्या से कलुषित स्त्री खण्डिता कहलाती है।

अन्यच्चान्यव्यसनविधुरेणाऽऽर्य मित्रेण भाव्यं,
तन्मा भानोः प्रियकमलिनी संस्तव त्वं निरुन्धाः।
प्रालेयास्रं कमलवदनात्सोपि हर्तुं नलिन्याः,
प्रत्यावृत्तस्त्वयि करुधि स्यादनल्पाभ्यसूयः॥ २४॥

अन्यच्चेति। अन्यच्च तन्मार्गरोधे दूषणान्तरमित्यर्थः। आर्य भो पूज्य। मित्रेण भानुना। सुहृदा वा। 'सुहृदादित्ययोस्त्वग्न्यभिदिदौषु मित्र' इति नानार्थरत्नमाला-

याम् । **अन्यव्यसनविधुरेण** अन्यदुःखदुःखितेन । **भाव्यम्** अवश्यम् । 'ओरावश्यके' इति ण्यण् । **तत्** तस्मात् । **भानोः** अरुणस्य । **प्रियकमलिनी संस्तवं** प्रिया चासौ कमलिनी च तस्याः नलिन्याः संस्तवं परिचयम् । 'संस्तवः स्यात्परिचयः' इत्यमरः । **त्वं** भवान् । **मा निरुन्धाः** मा स्म निवारयस्व । **सोऽपि** इनः । **नलिन्याः** नलानि अम्बुजानि अस्याः सन्तीति नलिनी पद्मिनी । तृणेऽम्बुजे नलं नातु राशि काले तु न स्त्रियाम्' इति शब्दार्णवे । तस्याः कान्तायाः । **कमलवदनात्** कमलं स्वकुसुममेव वदनं मुखं तस्मात् । **प्रालेयास्रं** प्रालेयमेव अस्रं नेत्राम्बु । 'रोदनं चास्रम्' इत्यमरः । **हर्तुम्** अपनयनाय । **प्रत्यावृत्तः** प्रत्यागतः । भानोर्देशान्तरागमनान्नलिन्याः क्षुभितत्वमिति भावः । **त्वयि** भवति । **करुधि** करान् किरणान् हस्तान्वा रुणद्धि इति करुत् क्विप् । तस्मिन् कररुधि करनिवारके सति । 'बलिहस्तांशवः कराः' इत्यमरः । **अनल्पाऽभ्यसूयः** अधिकद्वेषः । **स्यात्** भवेत् ॥ २४ ॥

अन्वय—अन्यत् च आर्य ! मित्रेण अन्यव्यसनविधुरेण भाव्यं, तत् त्वं भानोः प्रियकमलिनी संस्तवं मा निरुन्धाः । नलिन्याः कमलवदनात् प्रालेयास्रं हर्तुं प्रत्यावृत्तः सः अपि त्वयि कररुधि अनल्पाभ्यसूयः स्यात् ।

अर्थ—हे आर्य ! दूसरी बात यह है—अर्थात् सूर्य का मार्ग रोकने पर दूसरा दोष यह है कि मित्र को दूसरे की विपत्ति से दुःखी होना चाहिए। अतः तुम सूर्य का प्रिय कमलिनी से परिचय मत रोको। कमलिनी के कमल-रूप मुख से हिमरूप आंसू को हटाने के लिए पुनः आया हुआ वह सूर्य भी तुम्हारे द्वारा किरणों के रोके जाने पर अधिक ईर्ष्या वाला होगा।

गम्भीरेति त्वमपि सुभगां तां धुनीं मावमंस्था,
गत्वा तस्या रसमनुभवत्पर्याप्तस्वच्छवृत्तेः ।
गम्भीरायाः पयसि सरितश्चेतसीव प्रसन्ने,
छायात्मापि प्रकृतिसुभगो लप्स्यते ते प्रवेशम् ॥ २५ ॥

गम्भीरेति । **गम्भीरायाः सरितः** गम्भीरानामतटिन्याः उदात्तनायिकायाश्चेति व्यज्यते । **प्रसन्ने** अनुरक्तत्वान्मलशून्ये । **चेतसीव** मनसीव । **प्रसन्ने** निर्मले । **पयसि** उदके । **प्रकृति सुभगो** प्रकृत्या स्वभावेन सुभगः सुन्दरः । 'सुन्दरेऽधिक भाग्यांशे उचिते तदवसरे । तुरीयांशे श्रीमति च सुभगः' इति शब्दार्णवे । **ते** तव । **छायात्मापि** छायारूप आत्मा तथोक्तः सोऽपि । बिम्बं शरीरं च । **प्रवेशम्** । **लप्स्यते** प्राप्स्यति । साक्षात्प्रवेशानमनिच्छोरपि । छायाद्वारा वा तद्रसानुप्रवेशस्यावश्यं भावित्वादित्याशयः । **त्वमपि** भवानपि । **सुभगां** मनोहराम् । **तां धुनीम्** गम्भीराख्यां नदीम् । **गत्वा** प्राप्य । **गम्भीरेति** निम्नवतीति गाम्भीर्यगुणवतीति वा । **मावमंस्थाः** अवज्ञां

मा कुरु । त्वयि भवति । अतिस्वच्छवृत्ते अतिस्वच्छा निर्मला वृत्तिराचरणम् अम्भसां भ्रमो वा यस्यास्तस्याः । तस्याः गम्भीरायाः । रसम् उदकम् । शृङ्गारादिरसं वा । अनुभव अनुभवेः ॥२५॥

अन्वय—एवं अपि मां सुभगां धुनीं गम्भीरा इति मा अवमंस्थाः । गत्वा त्वयि अतिस्वच्छवृत्तेः तस्याः रसं अनुभव । गम्भीरायाः सरितः चेतसि इव प्रसन्ने पयसि ते प्रकृतिसुभगः छायात्मा अपि प्रवेशं लप्स्यते ।

अर्थ—तुम भी उस मनोहर नदी की अत्यधिक गहरी होने के कारण अवज्ञा मत करो । (वहाँ) जाकर तुम्हारे विषय में अत्यन्त निर्मल बुद्धि वाली अथवा सुनिर्मल आचारवाली उस गम्भीरा नदी के रस (जल=प्रेम) का अनुभव करो । गम्भीरा नदी के मन के समान निर्मल जल में तुम्हारा स्वभाव से सुन्दर छाया रूप प्रतिबिम्ब (परछाहीं) भी प्रवेश को प्राप्त करेगा ।

तस्मादेवं प्रणयपरतां त्वय्यभिव्यञ्जयन्ती,
लीलाहासानिव विदधती सा धुनी शीकरोत्थान् ।
तस्मादस्याः कुमुदविशदान्यर्हसि त्वं न धैर्या-
न्मोघीकर्तुं चटुलशफरोद्वर्तनप्रेक्षितानि ॥ २६ ॥

तस्मादिति । तस्मात् ततः । शीकरोत्थान् जलकणोत्पन्नान् लीलाहासान् लीलायुक्ता हासास्तान् । विदधतीव कुर्वतीव सा धुनी सा नदी । त्वयि भवति । एवम् उक्त प्रकारेण । प्रणयपरतां राग परत्वम् । अभिव्यञ्जयन्ती प्रकाशयन्ती । भवेदिति शेषः । तस्मात् प्रणयपरत्वव्यञ्जनादेव । अस्याः गम्भीरायाः । कुमुद-विशदानि कुमुदानीव विशदानि कुवलयनिर्मलानि । चटुलशफरोद्वर्तनप्रेक्षितानि चटुलानि चञ्चलानि शफराणां मीनानाम् उद्वर्तनान्युल्लङ्घितान्येव प्रेक्षितानि लोच-नानि । 'पारिप्लवं चटुलं चञ्चलम् ।' इति । एतदेव गम्भीरायाः त्वयि अनुरागम् । धैर्यात् धाष्ट्‌र्यात् । मोघीकर्तुं निरर्थककरणाय । त्वं भवान् । नार्हसि योग्यो न भवति । सफलां कुर्विति भावः ॥ २६ ॥

अन्वय—तस्मात् शीकरोत्थान् लीलाहासान् विदधती इव सा धुनी एवं त्वयि प्रणयपरतां व्यञ्जयन्ती (भवेत्) तस्मात् अस्याः कुमुदविशदानि चटुलशफरोद्वर्तन-प्रेक्षितानि धैर्यात् मोघीकर्तुं न अर्हसि ।

अर्थ—प्रेम प्रकट करने के कारण जलकणों की उत्पत्ति द्वारा मानों लीलापूर्वक हास्य करती हुई वह नदी इस प्रकार यदि तुम्हारे प्रति प्रेम को व्यक्त करे तो (तुम) गम्भीरा नदी के कुमुदों के समान उज्ज्वल और

मछलियों के चंचलतापूर्वक लोटने रूप अवलोकनों को धृष्टता के कारण निष्फल करने के योग्य नहीं हो।

ज्ञास्यस्युच्चैः पुलिनजघनादुच्चरत्पक्षिमाला-
भास्वत्काञ्चीमधुररणितात्कामसेवाप्रकर्षम्।
तस्याः किञ्चित्करधृतमिव प्राप्तवानीरशाखं,
हृत्वा[1] नीलं सलिलवसनं मुक्तरोधोनितम्बम् ॥ २७ ॥

ज्ञास्यसीति। **तस्याः** नद्याः। **किञ्चित्** **करधृतमिव** किञ्चिदीषत् करेण धृतं हस्तावलम्बितमिव। **प्राप्तवानीरशाखं** प्राप्ता अवाप्ता वानीरस्य वृक्षविशेषस्य शाखा येन तत्। **मुक्तरोधोनितम्बं** मुक्तस्त्यक्तो रोधस्तटमेव नितम्बः। 'पश्चिमश्रोणिभागे द्वे कटीकटौ' इति यादवः। **नीलं** **कृष्णम्**। **सलिलवसनं** सलिलमेव वसनम्। वस्त्रं नीलाम्बरधरणं विरहतापनिवारणमिति प्रसिद्धिः। **हृत्वा** अपनीय। **उच्चरत्पक्षिमालाभास्वत्काञ्चीमधुररणितात्** उच्चरन्ती स्वनन्ती पक्षिणां माला सैव भास्वत्काञ्ची स्फुरन्मेखला तस्या मधुरं श्रुतिप्रियं रणितं ध्वनिर्यस्य तत् तस्मात्। **पुलिनजघनात्** पुलिनमेव जघनं तस्मात्। 'तोयोत्थितं तत्पुलिनम्' इत्यमरः। **कामसेवाप्रकर्षं** मन्मथसेवनोत्कर्षम्। **उच्चैरधिकम्**। **ज्ञास्यसि** मनिष्यसि।

तामुत्फुल्लप्रततलतिकागूढपर्यन्तदेशां,
कामावस्थामिति बहुरसां दर्शयन्तीं निषद्य।
प्रस्थानं ते कथमपि सखे लम्बमानस्य भावि,
ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः ॥ २८ ॥

तामिति। **सखे** हे मित्र। **बहुरसां** बहुलो रसो जलं शृंगारादिरसो यस्यास्ताम्। **कामावस्थां** मन्मथावस्थाम्। **इति** एवं रीत्या। **दर्शयन्तीम्** प्रकटयन्तीम्। **उत्फुल्लप्रततलतिकागूढपर्यन्तदेशाम्** उद्गतानि फुल्लानि पुष्पाणि यासां तास्ताभिः। प्रतताभिर्लतिकाभिः वल्लरीभिः गूढः संवृतः पर्यन्तदेशो यस्यास्ताम्। 'प्रततिर्विस्तृतौ वल्ल्याम्' इति विश्वः। **तां** गम्भीरां नदीम्। **निषद्य** आश्रित्य। **लम्बमानस्य** अवलम्ब्यमानस्य। जघनमारुह्य स्थितस्येति व्यज्यते। **ते** तव। **प्रस्थानं** प्रयाणम्। 'प्रस्थानं गमनं गमः' इत्यमरः। **कथमपि** कृच्छ्रेणापि। **भावि** भविष्यति। अत्र कृच्छ्रत्वे कारणमाह। **ज्ञातास्वादः** अनुभूतरसः। **विवृतजघनां** विवृतं प्रकटितं जघनं कटिस्तत्पूर्वभागो वा यस्यास्ताम्। 'जघनं स्यात्कटि पूर्वं श्रोणीतांगात्तरा स्यात्' इति यादवः। विपुलजघनामिति पाठः। **विहातुं** त्यक्तुम्। **कः** पुमान्। **समर्थः** दक्षः। कोपि न शक्त इति भावः।

---

१. नीत्वेत्यपि पाठः।

अन्वय—उच्चरत्पक्षिमालाभास्वरकाञ्चीमधुराणितात् उच्चैः पुलिनजघनात् यस्याः कामसेवाप्रकर्षं ज्ञास्यसि । सखे! मुक्तरोधोनितम्बं प्राप्तवानीरशाखं किञ्चित् करधृतं इव नीलं सलिलवसनं हृत्वा बहुरसां कामावस्थां इति दर्शयन्तीं उत्फुल्लप्रततलतिकागूढपर्यन्तदेशां तां निषद्य लम्बमानस्य ते प्रस्थानं कथमपि भावि ? कः ज्ञातास्वादः विवृतजघनां विहातुं समर्थः ?

अर्थ—ऊपर उड़ते हुए अथवा ध्वनि करते हुए पक्षि समूह के रूप में तेज से स्फुरण करती हुई करधनी की मधुर ध्वनि से (तथा) ऊँचे रेतीले तट रूप कटिभाग (पक्ष में–ऊँचे तट के तुल्य कटि प्रदेश से युक्त) गम्भीरा नदी के संभोग क्रीड़ा के प्रकर्ष को जानोगे। हे मित्र ! तट रूप नितम्ब को छोड़ने वाले, बेंत की शाखा तक पहुँचे हुए और हाथ से कुछ पकड़े गए के समान नीले जलरूप वस्त्र को हटाकर विपुल अनुराग से युक्त काम की अवस्था को इस प्रकार प्रकट करती हुई, फूली हुई विस्तृत लताओं से जिसका पर्यन्त भाग ढका हुआ है ऐसी गम्भीरा नदी का आश्रय पाकर जल को ग्रहण करने के लिए अपने शरीर को लम्बा बनाने वाले (पक्ष में–विषय सुख का अनुभव करने के लिए अपने शरीर को बड़ा बनाने वाले) तुम्हारा प्रस्थान किसी प्रकार होगा ? संभोग शृंगार रस का अनुभव किया हुआ कौन पुरुष जघन को प्रकट करने वाली स्त्री का त्याग करने में समर्थ है ?

भावार्थ—यहाँ गम्भीरा नदी की नायिका के रूप में कल्पना की गई है। जिस प्रकार किसी नायिका के प्रेम में अनुरक्त व्यक्ति वस्त्र को छोड़कर अपने नितम्बों का प्रदर्शन कर काम की अवस्था को व्यक्त करने वाली उस नायिका को नहीं छोड़ सकता है, उसी प्रकार मेघ भी जलरूप वस्त्र को छोड़ती हुई, तटरूप नितम्ब का प्रदर्शन करने वाली गम्भीरा नदी को छोड़ने में समर्थ नहीं होगा।

उत्तीर्यामूं कथमपि ततो गन्तुमुद्यच्छमानं,
त्वामुन्नेष्यत्यनुवनमसौ गन्धवाहः सुगन्धः ।
त्वन्निष्यन्दोच्छ्वसितवसुधागन्धसम्पर्करम्यः,
स्रोतोरन्ध्रध्वनितमधुरं दन्तिभिः पीयमानः ॥२९॥

उत्तीर्येति । **त्वन्निष्यन्दोच्छ्वसितवसुधागन्धसम्पर्करम्यः** तव निष्यन्दो निष्यन्दनं तेन वर्षणेन उच्छ्वसितायाः उज्जृम्भितायाः वसुधायाः भूमेर्गन्धस्य परिमलस्य सम्पर्केण संगेन रम्यः मनोहरः । **दन्तिभिः** गजैः । **स्रोतोरन्ध्रध्वनितमधुरं** स्रोतःशब्देनेन्द्रियवाचिना तद्विशिष्टं घ्राणं लक्ष्यते । 'स्रोतोऽम्बुवेगेन्द्रिययोः' इति विश्वः । स्रोतोरन्ध्रेषु नासाकुहरेषु । यद्ध्वनितं शब्दः तेन सुभगं रुचिरं यथा भवति तथा ।

पीयमानः पीयते इति तथोक्तः । वसुधागन्धलोभादाघ्रायमाण इत्यर्थः । **सुगन्धः** सुरभिः । इवस्तुष्टा । 'गन्धोगन्धकसम्बन्धामोदलेशलेयेषु च' इत्युभयत्रापि भास्करः । **असौ गन्धवाहः** एषोऽनिलः । **अमुं** गम्भीरां नदीम् । **कथमपि** कष्टेनापि । **उत्तीर्य** उल्लङ्घ्य । **ततः** तत्प्रदेशात् । **गन्तुं** यातुं । **उद्यच्छमानं** प्रयतमानम् । **त्वां** भवन्तम् । **अनुवनं** वनदैर्घ्येण । 'दैर्घ्येऽनु:' इत्यव्ययीभावः । **उन्नेष्यति** गमिष्यति ॥२९॥

अन्वय—अमूं कथमपि उत्तीर्य ततः गन्तुं उद्यच्छमानं त्वां त्वन्निष्यन्दोच्छ्वसित वसुधागन्धसम्पर्करम्यः दन्तिभिः स्रोतोरन्ध्रध्वनितमधुरं पीयमानः असौ सुगन्धः गन्धवाहः त्वां अनुवनं उन्नेष्यति ।

अर्थ—उस गम्भीरा नदी को किसी प्रकार (बड़े कष्ट से) पारकर वहाँ से जाने का उद्यम करनेवाले आपको, तुम्हारे बरसने से भूमि के गन्ध के सम्पर्क से सुगन्धित हाथियों से सूँड़ द्वारा शब्द पूर्वक अच्छी तरह सूँघा गया यह सुगन्धित वायु वन में पहुँचा देगा ।

> **गत्वा किञ्चिच्छ्रमपरिजुषस्त्वत्क्लमच्छेददक्षः,**
> **प्रत्युद्यासुः प्रियसुहृदिवारूढसौगन्ध्ययोगः ।**
> **नीचैर्वास्यत्युपजिगमिषोर्देवपूर्वं गिरिं ते,**
> **शीतो वातः[1] परिणमयिता काननोदुम्बराणाम् ॥३०॥**

गत्वेति । **किञ्चित्** किञ्चिद्दूरम् । **गत्वा** यात्वा । **श्रमपरिजुषः** श्रमयुक्तस्य । **प्रियसुहृदिव** प्रियमित्रमिव । **प्रत्युद्यासुः** प्रत्युद्यातुमिच्छुः अभिगन्तुमिच्छुः । **देवपूर्वं** देवशब्दएव पूर्वं यस्यतम् । **गिरिं** देवगिरिमित्यर्थः । **उपजिगमिषोः** उपगन्तुमिच्छुः उपजिगमिषुस्तस्य समीपं यातुमिच्छोः । **ते** तव । **प्रियसुहृदिव** प्रियमित्रवत् । **त्वत्क्लमच्छेददक्षः** तव क्लमस्य श्रमस्य छेदे निवारणे दक्षः समर्थः । **आरूढसौगन्ध्ययोगः** शोभनो गन्धः सुगन्धः सुगन्धस्य भावः सौगन्ध्यं तस्य बन्धुत्वस्य सुरभित्वस्य वा योगः सौगन्ध्ययोगः आरूढः सौगन्ध्ययोगो येन सः । 'गन्धो गन्धक आमोदे लेशे सम्बन्धगर्वयोः' इत्युभयत्राप्यमरः । **काननोदुम्बराणां** काननेषु वनेषु विद्यमानानां उदुम्बराणां जन्तुफलानाम् । 'उदुम्बरो जन्तुफलो यज्ञाङ्गो हेमदुग्धकः' इत्यमरः । **परिणमयिता** परिपक्वं कारयिता । **शीतो वातः** शीतलोवायुः । 'तुषारः शीतलः शीतः' इत्यमरः । **नीचैः** शनैः । 'अल्पे नीचैः' इत्यमरः । **वास्यति** 'वा गतिगन्धनयोः' लृट् ॥३०॥

अन्वय—किञ्चित् गत्वा देवपूर्वम् गिरिं उपजिगमिषोः श्रमपरिजुषः ते

---

1. शीतो वायुरित्यपि पाठः ।

प्रिय सुहृत् इव प्रत्युद्यातः त्वत्क्लमच्छेददक्षः आरूढसौगन्ध्ययोगः काननोदुम्बराणां परिणमयिता शीतः वातः नीचैः वास्यति ।

अर्थ—कुछ दूर जाकर देवगिरि को जाने के इच्छुक, श्रम से युक्त तुम्हारे प्रिय मित्र के समान प्रयत्न करता हुआ तुम्हारी थकान को नष्ट करने में दक्ष, जिसका सुगन्धि के साथ सम्बन्ध समुत्पन्न हुआ है तथा जो जंगल के गूलरों को पकाने वाला है, ऐसा शीतल वायु धीरे-धीरे बहेगा ।

ईशोमाभ्यामपचितपदं तं पुपुत्रीयिषुभ्यां,
पूजां जैनीं विरिरचयिषुं स्वौकसि प्राज्यभक्त्या ।
तत्र स्कन्दं नियतवसतिं पुष्पमेघीकृतात्मा,
पुष्पासारैः स्नपयतु भवान्व्योमगङ्गाजलार्द्रैः ॥२१॥

ईशोमाभ्यामिति । तत्र देवगिरौ स्वौकसि स्वाश्रये । 'ओकः सद्माश्रयः' इत्यमरः । **नियतवसतिं** नियता निर्णीता वसतिः स्थितिर्यस्य तम् । तमेव । **पुपुत्रीयिषुभ्यां** पुत्रं कर्तुम् पुत्रयितुं वा इच्छू पुपुत्रीयिषू ताभ्याम् । **ईशोमाभ्याम्** अष्टदिक्पतिसम्मत्येशानपूर्वदिक्पतिः । 'शम्भुरीशः पशुपतिः ।' 'उमा कात्यायनी गौरी' इत्युभयत्राप्यमरः । **अपचितपदम्** अपचिते अर्चिते पदे चरणे यस्य तम् । 'स्युः दहिते नमस्यितनमसितमपचायितार्चितापचितम्' इत्यमरः । **जैनीम्** अर्हत्सम्बन्धिनीम् । **पूजां** अर्चनाम् । **प्राज्यभक्त्या** भजनं भक्तिः प्राज्या चासौ भक्तिश्च तया । **विरिरचयिषुं** विरचयितुमिच्छुः विरिरचयिषुः तं कर्तुमिच्छुम् । **स्कन्दं** स्कन्दाभिधानं कंचिद्देवविशेषम् । **भवान्** त्वम् । **व्योमगङ्गाजलार्द्रैः** आकाशगङ्गानद्याः जलेनार्द्रैः । **पुष्पासारैः** कुसुमसम्पातैः । 'धारासम्पात आसारः' इत्यमरः । **पुष्पमेघीकृतात्मा** पुष्पाणां मेघस्तथोक्तः पुष्पमेघीकृतः आत्मा स्वरूपं यस्य तथोक्तः सन् । **स्नपयतु** अभिषिचतु ॥२१॥

अन्वय—तं पुपुत्रीयिषुभ्यां ईशोमाभ्यां अपचितपदं स्वौकसि प्राज्यभक्त्या जैनीं पूजां विरिरचयिषुं तत्र नियतवसतिं स्कन्दं पुष्पमेघीकृतात्मा भवान् व्योमगङ्गाजलार्द्रैः पुष्पासारैः स्नपयतु ।

अर्थ—(स्कन्ददेव को) अपना पुत्र बनाने की इच्छा वाले ईश (उत्तर पूर्व दिशा के पति) तथा उसकी स्त्री उमा के द्वारा जिसके चरणों की पूजा की गई है, अपने भवन में अत्यधिक भक्ति से जो जैनी पूजा को करने का इच्छुक है तथा देवगिरि पर जिसका निश्चित निवास है । ऐसे स्कन्ददेव पर फूलों की वृष्टि करने वाले मेघ के समान शरीर को धारण करते हुए आकाशगङ्गा के जल से भींगे हुए फूलों की वृष्टि से अभिषेक करें ।

पूज्यं देवैर्जिनपतिमजं पूजयन्तं सदैनं,
दृष्ट्वा पूतं त्वमपि भवितादेववृन्दे दिवाग्रयम् ।
रक्षाहेतोर्नवशशिभृता वासवीनां चमूना-
मत्यादित्यं हुतवहमुखे सम्भृतं तद्धि तेजः ॥३२॥

पूज्यमिति । **देवैः** दिविजैः । **पूज्यम्** अर्च्यम् । **अजं** न जायत इत्यजः जन्मरहितस्तम् । उपलक्षणादन्तकादिरहितत्वमनुमीयते । **जिनपतिम्** अनेक भवगहनविषमव्यसनप्रापणहेतून् दुर्जयकर्मठकर्मारातीन् जयन्तीति जिनाः प्रमत्तादिगुणस्थानवर्तिनः । एकदेशजिनास्तेषां पतिस्तम् । अर्हदीश्वरम् । **सदा** सर्वस्मिन्काले । **पूजयन्तम्** । **पूतं** तत्पूजनादिव पवित्रम् । 'पूतं पवित्रं मेध्यं च' इत्यमरः । **एनं** स्कन्दम् । त्वमपि **दृष्ट्वा** अवलोक्य **नवशशिभृता** नवं नूतनं शशिनं बिभर्ति अथवा शशिनं बिभर्तीति शशिभृत् सोमदिक्पालः नवः शशिभृत् यस्याः सा तथोक्ता तया । **दिवा** आकाशेन अथवा स्वर्गेण 'द्योदिवौ द्वे स्त्रियामभ्रम्' द्यौ दिवौ द्वे स्त्रियां क्लीबम्' इत्युभयत्राप्यमरः । **वासवीनां** वासवस्येन्द्रस्येमा वासव्यः 'प्राग्जितादण्' तासां शक्रसम्बन्धिनीनाम् । 'वासवो वृत्रहा वृषा' इत्यमरः । **चमूनां** सेनानाम् । **रक्षाहेतोः** रक्षाया हेतुः तस्मात् । पालनार्थमित्यर्थः । **हुतवहमुखे** हुतं वहतीति हुतवहः 'लिहादिभ्यः' इत्यच् । तस्य वह्नेर्मुखे अग्निमुखे । अथवा अग्नीन्द्रमुखे । **सम्भृतं** सञ्चितम् । **अत्यादित्यम्** आदित्यमतिक्रान्तम् आदित्यादपि प्रकृष्टम् । 'गतादिषु प्रादयः' इति समासः । **देववृन्दे** अमरनिकाये । **अग्र्यम्** अग्रे भवमग्र्यं श्रेष्ठम् । 'पराध्यर्ग्राग्रहर प्राग्र्याग्र्याग्रीयमग्रियम्' इत्यमरः । **तत्तेजः** तत् प्रसिद्धं तेजोरूपं चैतन्यम् । **हि** स्फुटम् । **भविता** । 'तृन्' इति प्रत्ययान्तः तत्सामर्थ्यरूपो भवितासीत्यर्थः । विधेयप्राधान्यान्नपुंसकनिर्देशः ॥ ३२ ॥

अन्वय—देवैः पूज्यं अजं जिनपतिं सदा पूजयन्तं पूतं एनं दृष्ट्वा (यत्) देववृन्दे अग्र्यं (यत्) हुतवहमुखे (विद्यते), (यत्) वासवीनां चमूनां रक्षाहेतोः नवशशिभृता दिवा सम्भृतं तत् अत्यादित्यं तेजः त्वं अपि भवतात् ।

अर्थ—देवताओं के द्वारा पूज्य, जन्म रहित जिनेन्द्र भगवान की सदा पूजा करते हुए पवित्र स्कन्ददेव को देखकर जो देव समूह में उत्कृष्ट है तथा जो अग्नि के मुख में विद्यमान हैं एवं इन्द्र के सैन्यों की रक्षा के लिए अथवा पृथ्वी के प्राणियों की रक्षा के लिए नए चन्द्रमा को धारण करने वाले आकाश के द्वारा संगृहीत हैं, ऐसे सूर्य को भी अतिक्रमण करने वाले अथवा देवताओं के तेज को भी अतिक्रमण करने वाले तेज आप में होवें ।

---

१. भवताद्देववृन्दे ।

व्याख्या—अनेक भवों में दुःख पहुँचाने के निमित्त कमठ आदि तथा कर्मशत्रुओं को जीतने वालों को यहाँ जिन कहा गया है। वे अप्रमत्तादि गुणस्थानवर्ती हैं, उन एकदेश जिनों के स्वामी जिनपति हैं।

सोऽपि त्वत्तः श्रुतिपथसुखं गर्जितं प्राप्य बर्ही,
तुष्टः केकाः प्रतिविकुरुते वाहनं तस्य भर्तुः।
ज्योतिर्लेखावलयि गलितं यस्य बर्हं भवानी,
पुत्रप्रेम्णा कुवलयदलप्रापि कर्णे करोति ॥३३॥

सोऽपीति। **यस्य** मयूरस्य। **ज्योतिर्लेखावलयि** ज्योतिषां तेजसां लेखा राजयः तासां वलयं मण्डलमस्यास्तीति तथोक्तम्। **गलितं** च्युतम्। स्वयं निपतितमित्याशयः। **बर्हं** पिच्छम्। 'पिच्छबर्हे नपुंसके' इत्यमरः। **भवानी** पार्वती। **पुत्रप्रेम्णा** सुतस्नेहेन। **कुवलयदलप्रापि** कुवलयस्य दलं पत्रं तद्योगिप्रापि यथा तथा। **कर्णे** श्रोत्रे। **करोति** विदधाति। दलेन सह धारयतीत्यर्थः। यद्वा दलप्रापि दल प्राप्नोति दलप्राप् तस्मिन्। दलहि कर्णे करोति। क्विबन्तात्सप्तमी। दलं परिहृत्य तत्स्थाने बर्हं धत्ते इत्यर्थः। **सो पि** स च **तस्य भर्तुः** स्कन्दाभिधानस्य विभोः। **वाहनम्** आविशिष्टलिङ्गत्वात् नपुंसकत्वम्। यानभूतः **बर्ही** मयूरः। **त्वत्तः** भवतः सकाशात्। **श्रुतिपथसुखं** श्रुत्योः श्रोत्रयोः पथस्य विवरस्य सुखं यथा तथा। **गर्जितं** स्तनितम्। **प्राप्य** लब्ध्वा। **तुष्टः** सन्तुष्टः सन्। **केकाः** केकारवान्। **प्रतिविकुरुते** गर्जितस्य प्रतिध्वनीन् कुरुते ॥ ३३ ॥

अन्वय—यस्य गलितं ज्योतिर्लेखावलयि बर्हं भवानी पुत्र प्रेम्णा कर्णे कुवलयप्रापि करोति सः अपि तस्य भर्तुः वाहनं बर्ही त्वत्तः श्रुति सुखं गर्जितं प्राप्य तुष्टः केकाः प्रतिविकुरुते।

अर्थ—जिसके (शिखा कलाप से) गिरे हुए तेज की रेखाओं से युक्त मण्डलाकार पंख को रुद्र की पत्नी भवानी पुत्र के स्नेह से कान में स्थित नीलकमल के पत्तों से संयुक्त करती हैं अथवा कान में जहाँ नीलकमल स्थापित किया जाता है, वहाँ रखती है वह स्कन्द नामक देव के स्वामी का वाहन मोर तुमसे श्रोत्रविवर को अच्छी लगने वाली गर्जना पाकर सन्तुष्ट होता हुआ प्रत्युक्ति के रूप में ध्वनि करता है।

यः सद्धर्मात्सकलजगतां पावकाल्लब्धजन्मा,
तस्य प्रीत्या प्रथममुचितां सत्सपर्याम् विधेहि।
धौतापांगं हरशशिरुचा पावकेस्तं मयूरं,
पश्चादद्रिग्रहणगुरुभिर्गर्जितैर्नर्तयेथाः ॥३४॥

य इति । **सकलजगतां** सर्वलोकानाम् । तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेशोऽस्तीति लोकस्य भव्यजनानाम् इति यावत् । **पावकात्** पुनीते इति पावकस्तस्मात् । 'पूञ् पवने' ण्वुलच् ण्वुः । **सद्धर्मात्** संश्चासौ धर्मश्च तस्मात् । सद्विशेषणादहिंसादिलक्षणत्वं लक्ष्यते । यः । **लब्धजन्मा** प्राप्तोदयः । **तस्य** सार्थकनाम्नः पावकेः पावकात् भवः पावकिस्तस्य । 'अत इञ्' सूत्रे । **प्रथमं** प्राक् । **उचितां** योग्याम् । **सत्सपर्यां** समीचीनपूजाम् । 'सपर्याऽर्चार्हणाः समाः' इत्यमरः । **प्रीत्या** अनुरागेण । **विधेहि** कुरु । **पश्चात्** तदनु । **हरशशिरुचा** ईशानचन्द्रचन्द्रिकया । **धौतापाङ्गं** सरलोऽपि स्वच्छत्वादिति धवलिते नेत्रान्ते यस्य तम् । **तं मयूरं** तद्वाहनभूतं शिखिनम् । **अद्रिग्रहणगुरुभिः** अद्रेः देवगिरेः ग्रहणेन गुरुभिः महद्भिः प्रतिध्वानप्रवृद्धैरित्यर्थः **गर्जितैः** स्तनितैः । **नर्तयेथाः** नाटय । मार्दङ्गिकभावेन नर्तयेरर्थः ॥ ३४ ॥

अन्वय—यः सकलजगतां पावकात् सद्धर्मात् लब्धजन्मा तस्य प्रीत्या उचितां सत्सपर्यां प्रथमं विधेहि । पश्चात् हरशशिरुचा धौतापाङ्गं पावके तं मयूरं पश्चाद-द्रिग्रहणगुरुभिः गर्जितैः नर्तयेथाः ।

अर्थ—जो स्कन्द नामक देव संसार के समस्त प्राणियों को पवित्र करने वाले सद्धर्म से उत्पन्न हुआ है, उस देव की अनुराग के साथ योग्य समीचन पूजा को पहले करो । अनन्तर मनोहर चन्द्रमा के उद्योत अथवा शिवजी के सिर की चाँदनी या पूर्वोत्तर दिशा के स्वामी के चन्द्रमा की कान्ति से उज्ज्वल नेत्र प्रान्तों से युक्त धर्मपुत्र (स्कन्द) उस मोर को देवगिरि की गुफा में प्रतिध्वनित होने से दीर्घ (अपने) गर्जनों से नचाओ ।

हृद्ये स्वच्छे सरसि विपुले धर्मसञ्ज्ञे भवत्वा-
ल्लब्धाभिख्यं भुवनजनतामाननीयं प्रजासु ।
आराध्यैनं शरवणभवं देवमुल्लङ्घिताध्वा,
सिद्धद्वन्द्वैर्जलकणभयाद्वीणिभिर्मुक्तमार्गः ॥ ३५ ॥

हृद्य इति । **हृद्ये** मनोहरे । 'अभीष्टेऽभीप्सितं हृद्यम्' इत्यमरः । **स्वच्छे** निर्मले विमले । **विपुले** दण्डे । 'दण्डोरुविपुलं पीनम्' इत्यमरः । **धर्मसञ्ज्ञे** धर्म इति सञ्ज्ञा नाम यस्य तस्मिन् । 'सञ्ज्ञा स्याच्चेतना नाम हस्ताद्यैश्चार्थसूचना' इत्यमरः । **सरसि** सरस्याम् । **भवत्वात्** उद्भूतत्वात् । **लब्धाभिख्यं** प्राप्ताभिधानम् । 'अभिधानम् । अभिख्या नामशोभयोः' इत्यमरः । **शरवणभवं** शराणामुदकानां वनं संश्रयः शरवणम् । 'प्राग्निर्न्तर्' इत्यादिना णत्वम् । 'शरो दध्याद्यग्रसारे बाणे

१. वीणिभिरित्यपि पाठः ।

काण्डे तृणान्तरे । शरं तु नीरे' इति नानार्थरत्नमालायाम् । 'प्रवप्रवासनिवासवारि-कान्तरेषु वनम्' इति नानार्थरत्नमालायाम् । भुवनजनतामाननीयं भुवनानां जगतां जनास्तेषां समूहो भुवनजनता । 'ग्रामजन' इत्यादिना तल् । तया माननीयं पूजनीयम् । एनं प्राक्कथितम् । देवं स्वामिनम् । आराध्य पूजयित्वा । उल्लङ्घिताध्वा उच्चलितमार्गः । वैणिभि वीणास्त्येषामिति तथोक्तास्तैः वीणया कलितैः । सिद्धद्वन्द्वैः सिद्धमिथुनैः । जलकणभयात् स्कन्नीरबिन्दुपतनभीतैः । जलसेकस्य वीणा-क्वणन प्रतिबन्धकत्वादित्याशयः । मुक्तमार्गः त्यक्तावासन् । आशु शीघ्रेण व्रज गच्छ । अत्र चतुर्ष्वप्यतीतेषु पद्येषु परपक्षप्रतिपक्षतया तत्त्वयथानुसारेण कल्पनाकथा काचित्कल्पनीया वादार्थपरत्वादस्य काव्यस्येत्यभिमन्तव्यम् ।। ३५ ।।

अन्वय—हृद्ये स्वच्छे विपुले धर्मसञ्ज्ञे सरसि भवत्वात् लब्धाभिख्यं भुवन-जनतामाननीयं एनं शरवणभवं देवं आराध्य उल्लङ्घिताध्वा जलकणभयात् वीणिभिः सिद्धद्वन्द्वैः मुक्तमार्गः आशुव्रज ।

अर्थ—हृदय के लिए सुखकर, स्वच्छ, अगाध, धर्मनामक तालाब में जन्म लेने से प्रसिद्धि को प्राप्त करने वाले, संसार के जलसमूह द्वारा माननीय, शरने में उत्पन्न इस (स्कन्द) देव की आराधना कर, कुछ आगे जाकर जलकणों के गिरने के भय से वीणा से युक्त सिद्धदम्पतियों द्वारा मार्ग को छोड़ देने पर शीघ्र जाओ ।

गत्वा तस्मादविरलगलन्निर्झरान्तर्मलां तां,
प्राप्याकीर्त्तिं जनवदनजां क्षालयन्पुण्यतोयैः ।
व्यालम्ब्येथाः सुरभितनयालम्भजां मानयिष्यन्,
स्रोतोमूर्त्या भुवि परिणतां रन्तिदेवस्य कीर्तिम् ।। ३६ ।।

गत्वेति । तस्माद्देवगिरेः सकाशात् । गत्वा चलित्वा । अविरलगलन्निर्झरा-न्तर्मलाम् अविरलं निरन्तरं गलन् निर्गच्छन् निर्झरेण प्रवाहेणान्तर्मलामन्तः कलु-षिताम् । तां प्रसिद्धां चर्मण्वतीनामनदीम् । प्राप्य आसाद्य । सुरभितनयालम्भजां सुरभितनयानां गवाम् आलम्भनेन सञ्ज्ञपनेन जायते इति जाताम् । 'आलम्भपि-ञ्जविशरघातोन्माथ वधा अपि' इत्यमरः । भुवि लोके । स्रोतोमूर्त्या प्रवाहरूपेण । परिणतां रूपान्तरमवाप्ताम् रन्तिदेवस्यतदभिधानस्य । दशपुराणामधिपस्य नृपस्य । कीर्तिं यशः । जनवदनजां एवं लोकमुखजनिताम् । अकीर्तिं रन्तिदेवस्यायशः । पुण्यतोयैः तीर्थोदकैः । क्षालयन् प्रक्षालयन् । मानयिष्यन् पूजयिष्यन् । विष्णुवदन-न्तरम् समानं करिष्यन्, इत्यर्थः । व्यालम्ब्येथाः आश्रयेथाः अवतरेत्यर्थः ।।३६।।

अन्वय—तस्मात् गत्वा अविरलगलन्निर्झरान्तर्मलां सुरभितनयालम्भजां

जनकदनजां भुवि स्रोतोमूर्त्या परिणतां रन्तिदेवस्य अकीर्ति तां प्राप्य पुण्यतोयैः क्षालयन् (तां) कीर्ति मानयिष्यन् व्यालम्बेथाः ।

अर्थ—देवगिरि से जाकर निरन्तर गिरते हुए झरनों से अन्दर काई आदि मल वाली, गायों के मारने से उत्पन्न, लोगों के मुखों से उत्पन्न, पृथ्वी में प्रवाहरूप से परिणत राजा रन्तिदेव की अकीर्ति स्वरूप उस चर्मण्वती नदी को पाकर पुण्यजलों से प्रक्षालन कर (उसे) रन्तिदेव की कीर्ति मानते हुए उस नदी का आश्रय लो।

इतः पार्श्वेष्टितम्—

तस्या मध्येजलमुपचिताम्भोनिकाये मुहूर्तं,
छायां कृष्णाजिनमदहरां सन्दधाने समग्राम् ।
मन्ये युक्तं सरिति सुतरां तत्र चर्मण्वतीति,
त्वय्यादातुं जलमवनते शार्ङ्गिणो वर्णचौरे ॥ ३७ ॥

तस्या इति । **उपचिताम्भोनिकाये** सञ्चितजलव्रजे 'निकयोचिते' इत्यमरः । इदमेवकृष्णत्वसाधकत्वम् । **कृष्णाजिनमदहरां** कृष्णाजिनस्य असितचर्मणः मदहरां भञ्जकाम् । तस्मादप्यतिकृष्णत्वान्मदहरत्वम् । **समग्रां** सम्पूर्णाम् । **छायां** कान्तिम् । 'छाया सूर्यप्रिया कान्तिः प्रतिबिम्बमनातपः' इत्यमरः । **सन्दधाने** सम्यक् बिभ्रति । **शार्ङ्गिणः** कृष्णस्य । 'पीताम्बरोऽच्युतः शार्ङ्गी' इत्यमरः । **वर्णचौरे** वर्णस्य कान्तेश्चोरः । औचित्यादर्थनिर्णय इति । ग्राही तस्मिन् तत्समानवर्ण इत्यर्थः । त्वयि भवति । **जलम्** उदकम् । **आदातुं** ग्रहीतुम् । **तस्याः** चर्मण्वतीनद्याः । **मध्येजलं** जलस्य मध्यं मध्येजलम् । 'पारेमध्येषष्ठ्या:' इत्यव्ययीभावे निपातनादेत्वम् । 'सप्तम्याः' इति वाम् । जलस्य मध्यप्रदेशे इत्यर्थः । **मुहूर्तं** मुहूर्तपर्यन्तम् । **अवनते** अवलम्बिते सति । **तत्र सरिति** सम्नद्याम् । **चर्मण्वती** चर्मास्या अस्तीति चर्मण्वती । 'आसन्दीवत्' इत्यादिना मतोमिकारस्य वत्वम् । 'उगितश्च' इति ङी । **इति** एवं नामेति शेषः । **युक्तं** अनुरूपमिदम् । **सुतराम्** अत्यन्तं **मन्ये** जाने ॥ ३७ ॥

अन्वय—तत्र सरिति शार्ङ्गिणः वर्णचौरे त्वयि जलं आदातुं अवनते तस्याः मध्येजलं उपचिताम्भोनिकाये कृष्णाजिनमदहरां समग्रां छायां मुहूर्तं सन्दधाने (सति तस्याः) चर्मण्वती इति (अभिधानं) सुतरां युक्तं मन्ये ।

अर्थ—उस चर्मण्वती नदी में श्रीकृष्ण के वर्ण को चुरानेवाले तुम जब जल को लेने के लिए झुकोगे तो उस चर्मण्वती के जल के मध्य में जल समूह के संचित होने पर कालेवर्ण के चमड़े के मद को हरने वाली सम्पूर्ण छाया या प्रतिबिम्ब को क्षण भर के लिए देने पर अर्थात् जल में अपने को

प्रतिबिम्ब करने पर उस नदी का चर्मण्वती यह नाम अत्यधिक योग्य मानता हूँ।

त्वय्यभ्यर्णे हरति सलिलं तत्र राहोस्सवर्णे,
नूनं ज्योत्स्नाविसरविमलं तर्कयेयुर्नभोगाः।
मध्ये नीलं सितमिव दुकूलोत्तरीयं पृथिव्या-
स्तस्याः सिन्धोः पृथुमपि तनुं दूरभावात्प्रवाहम् ॥ ३८ ॥

त्वयीति। **राहोः** राहुग्रहस्य। **सवर्णे** समानो वर्णो यस्य तस्मिन्। सः समानस्य धर्मादिष्विति समानस्य सकारादेशः। **अभ्यर्णे** समीपगते। **त्वयि** भवति। **तत्र** नद्याम्। **सलिलं** जलम्। **हरतीति** हरन्। तस्मिन् स्वीकुर्वति सति। **नभोगाः** नभसि गच्छन्तीति नभोगाः खेचराः। **पृथुमपि** पृथुलमपि। **दूरभावात्** दूरत्वात् **तनुं** सूक्ष्म-तया प्रतीयमानम्। **तस्याः सिन्धोः** तन्नद्याः। **प्रवाहं** निर्झरं। **ज्योत्स्नाविसर विमलं** ज्योत्स्नायाश्चन्द्रिकायाः विसर इव प्रसरवत् विमलं निर्मलम्। **मध्ये** मध्यप्रदेशे। **नीलं** कृष्णम्। **सितम्** अन्यत्र धवलवर्णम्। **पृथिव्याः** भूदेव्याः। **दुकूलोत्तरीयमिव** क्षौमसंव्यानवस्त्रमिव। 'क्षौमं दुकूलं संव्यानमुत्तरीयं च' इत्यमरः। **नूनं** निश्चयेन। **तर्कयेयुः** ऊहयेयुः ॥ ३८ ॥

अन्वय- —राहोः सवर्णे त्वयि तत्र अभ्यर्णे सलिलं हरति (सति) तस्याः सिन्धोः पृथुं अपि दूरभावात् तनुं ज्योत्स्नाविरलविमलं प्रवाहं नभोगाः पृथिव्याः मध्ये नीलं सितं दुकूलोत्तरीयं इव नूनं तर्कयेयुः।

अर्थ—राहु के समान वर्ण वाले तुम्हारे चर्मण्वती नदी के समीपवर्ती प्रदेश में जल को ग्रहण कर लेने पर उस नदी के बहुत बड़े होने पर भी दूरी के कारण छोटे दिखने वाले प्रवाह को विद्याधर पृथ्वी के मध्य में नीले (तथा अन्यत्र) सफेद रेशमी वस्त्र के दुपट्टे के रूप में निश्चित रूप से सम्भावना करेंगे।

विद्युद्वध्रीविततवपुषं कालिकाकर्बुराङ्गं,
त्वामामन्द्रध्वनितसुभगं पूर्यमाणं पयोभिः।
क्रीडाहेतोः सितमिव दृतिं स्वर्वधूभिर्विमुक्तां,
प्रेक्षिष्यन्ते गगनगतयो नूनमावर्ज्य दृष्टीः ॥ ३९ ॥

विद्युदिति। **विद्युद्वध्रीविततवपुषं** विद्युदेव वध्रीनध्रीत्वया विततं नद्धं वपुः शरीरं यस्य तम्। 'नध्री वध्री वरत्रा स्यात्' इत्यमरः। **कालिकाकर्बुराङ्गं** कालि-केव मेघमालेव कालिकया वा कर्बुरं शबलं अङ्गं यस्य तम्। 'मेघमाला च

कालिका ।' 'शबलैताश्च कर्बुरे' इत्यमरः । आमन्द्रध्वनिसुभगं ईषद् गम्भीरध्वनिनासुन्दरम् । पयोभिः नीरैः । पूर्यमाणं पूर्यत इति पूर्यमाणस्तम् । जलं स्वीकुर्वन्तमित्यर्थः । त्वां भवन्तम् । स्ववधूभिः त्रिविष्टपकान्ताभिः । क्रीडाहेतोः लीलानिमित्तम् । विमुक्तां मुक्तं क्षिप्तां । सितिं मेचकवर्णाम् । 'सितौ धवलमेचकौ' इत्यमरः । दृतिमिव चर्मपात्रमिव 'दृतिश्चर्मपुटे स्मृते' इति विश्वः । गगनगतयः गगने व्योम्नि गतिर्गमनं येषां ते तथोक्ताः विद्याधरादयः । दृष्टीः नेत्राणि । आवर्ज्य आसमन्तादुन्मील्य । नूनम् अवश्यं । प्रेक्षिष्यन्ते द्रक्ष्यन्ति ॥३९॥

अन्वय—विद्युद्दर्भीविततवपुषं कालिकाकर्बुराङ्गं आमन्द्रध्वनिसुभगं पयोभिः पूर्यमाणं त्वां स्ववधूभिः क्रीडाहेतोः विमुक्तां सितिं दृतिं इव गगनगतयः दृष्टीः आवर्ज्य नूनं प्रेक्षिष्यन्ते ।

अर्थ—बिजली रूपी चमड़े की पट्टी से व्याप्त शरीर से युक्त, कालेपन के कारण चितकबरे शरीर वाले, कुछ गम्भीर ध्वनि से मनोहर और जलों से भरे हुए तुम्हें स्वर्ग की स्त्रियों के द्वारा क्रीड़ा के लिए छोड़ी गई, काले वर्ण की चमड़े की मशक के समान आकाश में विचरण करने वाले सिद्ध विद्याधरादिक नेत्रों को नीचे लगाकर अवश्य देखेंगे ।

अध्यासीने त्वयि कुवलयश्यामभासि क्षणं वा,
सिन्धोरस्याः शशधरकरस्पर्धिनं तत्प्रवाहम् ।
द्रक्ष्यन्त्यग्राद् ध्रुवमनिमिषा दूरमावर्ज्य दृष्टी-
रेकं मुक्तागुणमिव भुवः स्थूलमध्येन्द्रनीलम् ॥ ४० ॥

अध्यासीन इति । अस्याः सिन्धोः । चर्मण्वत्याः । शशधरकरस्पर्धिनं चन्द्रकिरणविजयिनं तस्मादप्यतिधवलमित्यर्थः । तत्प्रवाहं स चासौ प्रवाहश्च तम् । कुवलयश्याम भासि नीलोत्पलस्येव श्यामा भाः यस्य तस्मिन् । 'नीलोत्पलं कुवलयम् भाश्छविद्युतिदीप्तयः' इत्यमरः । त्वयि भवति । क्षणं वा क्षणपर्यन्तमपि । अध्यासीने आस्थिते सति । 'शीङ्स्थासोऽधेराधारे' इति आधारे कर्म[1] । अनिमिषाः सुराः । 'सुरमत्स्यावनिमिषौ' इत्यमरः । भुवः भूकान्तायाः । स्थूलमध्येन्द्रनीलं स्थूलो महान् मध्यो मध्यमणिभूतः इन्द्रनीलोमणिर्यस्य तम् । एकम् एकयष्टिकम् । मुक्तागुणमिव मुक्ताहारवत् । अग्रात् उपरिभागात् । 'अग्रं पुरः शिखामानश्रेष्ठाधिक फलादिषु' इति भास्करः । दृष्टीः नयनानि । दूरम् आभूपर्यन्तम् । आवर्ज्य व्यापार्य । ध्रुवम् अवश्यम् । द्रक्ष्यन्ति लोकिष्यन्ते । अत्र नीलमेघसङ्गतस्य प्रवाहस्य भूकण्ठगतमुक्तागुणत्वेनोत्प्रेक्षेयमिव शब्देन व्यज्यते ॥४०॥

---

१. सप्तमीसंज्ञा ।

अन्वय—अस्याः सिन्धोः शशधरकरस्पर्शिनं तत्प्रवाहं कुवलयश्यामभासि त्वयि क्षणं वा अध्यासीने स्थूलमध्येन्द्रनीलम् भुवः एकं मुक्तागुणम् इव अनिमिषाः दृष्टीः दूरं आवर्ज्य अधात् ध्रुवं द्रक्ष्यन्ति।

अर्थ—इस चर्मण्वती नदी के चन्द्रमा की किरणों से स्पर्श करने वाले उस प्रवाह में नीलकमल के समान श्यामकान्ति वाले तुम्हारे क्षणमात्र के लिए बैठने पर मध्य में स्थूल इन्द्रनीलमणि से युक्त पृथ्वी की एक लड़ी वाली मोतियों से बनाई गई माला के समान (तुमको) देव दृष्टि को दूर से डालकर ऊँचे आकाश प्रदेश से निश्चित रूप से देखेंगे।

व्याख्या—नीलकमल के समान कान्ति वाले हे मेघ! जब तुम उस चर्मण्वती नदी के प्रवाह के मध्य कुछ क्षण के लिए बैठोगे तो उस समय नदी एक लड़ी वाली मोतियों की माला के समान दिखाई देगी और तुम स्थूल इन्द्रनीलमणि के समान मालूम पड़ोगे। ऐसी स्थिति होने पर आकाश से देव अवश्य ही तुम्हें इस रूप में देखेंगे।

एवम्प्रायां सलिलविहृतिं तत्र कृत्वा मुहूर्तं,
वारां पुण्यां सुरगज इव व्योममार्गानुसारी।
लीलां पश्यन्प्रजविपवनोद्‌धूतवीचीचयानां,
तामुत्तीर्य व्रज परिचितभ्रूलताविभ्रमाणाम्॥ ४१॥

एवमपि। तत्र नद्याम्। एवं रीत्या। प्रायां बहुलाम्। वारामुदकानाम्। 'वार्वारि जलम्' इति धनञ्जयः। पुण्यां पुण्यमिव पुण्या ताम्। तीर्थविशेषत्वा-त्पुण्यतरूपाम्। सलिलविहृतिं विहरणं विहृतिः सलिलानां विहृतिस्तां जलक्रीडाम्। सुरगज इव ऐरावत इव। मुहूर्तं स्वल्पकालपर्यन्तम्। कृत्वा विरच्य। व्योममार्गा-नुसारी आकाशमार्गानुसारी। परिचितभ्रूलताविभ्रमाणां भ्रूवीलता इव भ्रूलताः उपमित समासः। तासां विभ्रमाः विलासाः परिचिताः ज्ञाताः भ्रूविलासाः येषु तेषाम्। प्रजविपवनोद्धूतवीचीचयानां प्रजविना प्रवेगवता पवनेन वायुना उद्धूताः उत्कम्पिताः 'प्रजवी जवनो जवः' इत्यमरः। वीचीनां चयाः वीचीचयाः ते च ते वीचीचयाश्च तेषाम्। लीलां विलासम्। पश्यन् अवलोकयन्। तां चर्मण्व-तीम्। उत्तीर्य उल्लङ्घ्य। व्रज गच्छ॥ ४१॥

अन्वय—तत्र एवम्प्रायां सुरगज इव सलिलविहृतिं मुहूर्तं कृत्वा व्योममार्गानु-सारी प्रजविपवनोद्धूतवीचीचयानां परिचितभ्रूलताविभ्रमाणां वारां पुण्यां लीलां पश्यन् तां उत्तीर्य व्रज।

अर्थ—चर्मण्वती नदी में इस प्रकार ऐरावत हाथी के समान जलक्रीड़ा

को कुछ क्षण करके आकाशमार्ग से जाते हुए अत्यधिक वेगवती पवन के द्वारा जिसके तरङ्गों को उड़ाया गया है तथा भ्रूलता के विलासों को जानते हैं ऐसे जलों के सुन्दर विलास को देखते हुए उस चर्मण्वती नदी को पार-कर जाओ।

तस्याः सिन्धोरनुवनमुदक्तीरभाजां लताना-
मुत्फुल्लानां ततमधुलिहां मुक्तधारं प्रवर्षन्।
सीतापूरं व्रज लघु ततो जातहार्दस्तु मानात्,
पक्ष्मोत्क्षेपादुपरिविलसत्कृष्णसारप्रभाणाम् ॥४२॥

तस्या इति। **तस्याः सिन्धोः** तन्नद्याः। **अनुवनं** वनदैर्घ्यम् 'दीर्घेऽनुः' इत्यव्ययीभावः। **उदक्तीरभाजाम्** उत्तरतीराश्रितानाम्। **उत्फुल्लानां** विकसितानाम्। **ततमधुलिहां** तता आवृता मधुलिहो यासां तासाम्। 'मधुलिण्मधुपालिनः' इत्यमरः। **लतानां** वल्लरीणाम्। 'वल्ली तु व्रततिर्लता' इत्यमरः। **मुक्तधारं** मुक्ताधारा जलसम्पातो यस्मिन्कर्मणि तत्। **प्रवर्ष** वृष्टिं वितन्वन्। **जातहार्दः** हृदयस्य भावः हार्दम् 'हृदयपुरुषा दसमान' इत्यण्। 'हृदयस्य हृल्लेखयदण्लासेषु' इति हृदादेशश्च। 'प्रेमा ना प्रियता हार्दं प्रेम स्नेहः' इत्यमरः। जातं हार्दं यस्य सः तथोक्तः सन्। **ततः** तत्प्रदेशात्। **पक्ष्मोत्क्षेपात्** पक्ष्माणि नेत्रलोमानि 'पक्ष्मसूत्रादि सूक्ष्मांशे किञ्जल्के नेत्रलोमनि' इति शाश्वतः। तेषामुत्क्षेपात् उन्नमनाद्धेतोः। **उपरिविलसत्कृष्णसारप्रभाणाम्**। कृष्णाश्च ताः साराश्च कृष्णसाराः नीलशबलाः। 'वर्णो वर्णेः' इति समासः। 'कृष्णरक्तसितः सारः' इति यादवः। उपरिविलसन्त्यः कृष्णसाराः प्रभास्तासाम्। सारशब्दादेव सिद्धे कार्ष्ण्ये पुनः कृष्णशब्दोपादनं कार्ष्ण्यप्राधान्यार्थम्। **मानात्** प्रमाणात्। 'मानः स्त्रीणां कोपभेदे गर्वचित्तोन्नतावपि' 'माने प्रमाणे प्रस्थानम्' इति भास्करः। पक्ष्मोत्क्षेपणात् स्थितनेत्रकान्तीनाम्। उत्सर्पणापसर्पणप्रमितकालादित्यर्थः। **लघु** शीघ्रम्। **सीतापूरं** सीतानदीप्रवाहं। **व्रज** गच्छ।

अन्वय—तस्याः सिन्धोः उदक् अनुवनं तीरभाजां उत्फुल्लानां ततमधुलिहां लतानां मुक्ताधारं सीतापूरं प्रवर्षन् ततः तु पक्ष्मोत्क्षेपात् उपरिविलसत्कृष्ण सारप्रभाणां मानात् जात हार्दः लघु व्रज।

अर्थ—उस चर्मण्वती नदी की उत्तर दिशा के वन में तट प्रदेश में उत्पन्न, विकसित भ्रमरों के विस्तार से युक्त लताओं पर जल धारा छोड़कर, जिसमें खेतों के कूँड़ भर जायँ ऐसी वर्षा करते हुए उस स्थान से पलकों के ऊपर उठाने से ऊर्ध्व भाग में जिनके लोचनों की कृष्ण, रक्त और श्वेत प्रभा शोभायमान है ऐसी दशपुर की स्त्रियों के मान को पाकर आनन्दित हो शीघ्र ही जाओ।

विशेष—योगिराट् पण्डिताचार्य की टीका के अनुसार सीतापूर का अर्थ सीता नदी का प्रवाह है। उन्होंने मेघ को सीता नदी के प्रवाह की ओर जाने का निर्देश किया है।

गच्छन्मार्गे प्रियमुपहरेः प्राणनाथोपयान,
प्रत्याश्वासाद्वियति सुदृशां कृष्णसारोदराणाम् ।
लक्षीकुर्वन्पथिकवनितालोचनोल्लासकानां,
कुन्दक्षेपानुगममधुकरश्रीमुषामात्मबिम्बम् ॥ ४३ ॥

गच्छन्निति । वियति व्योम्नि । मार्गे पथि । **गच्छन्** व्रजन् । **कृष्णसारोदराणां** कृष्णसारस्येव मृगविशेषस्येव उदरं यासां तासाम् । 'कृष्णसाररुरुन्यङ्कुरङ्कुशम्बर रोहिषाः' इत्यमरः । तलोदरीणामित्यर्थः । **सुदृशां** शोभने दृशौ यासां तासांकान्तानाम् । 'दृग्दृष्टिः' इत्यमरः । **प्राणनाथोपयानप्रत्याश्वासात्** प्राणनाथस्य भर्तुः उपयान मागमनं तस्य प्रत्याश्वासो विश्वासः तस्मात् । **प्रियं** प्रीतिकरम् । 'दयितं वल्लभं प्रियम्' इत्यमरः । **आत्मबिम्बं** निजप्रतिबिम्बम् । **कुन्दक्षेपानुगममधुकरश्रीमुषां** कुन्दानि माघ्यकुसुमानि 'माघ्यं कुन्दम्' इत्यमरः । तेषां क्षेपः इतस्ततश्चलनं तस्य अनुगम अनुसारिणो ये मधुकराः तेषां श्रियं शोभां मुष्णन्ति अपहरन्तीति तथोक्तानाम् । **पथिकवनितालोचनोल्लासकानां** पथिकवनितानां पान्थस्त्रीणां लोचनानां चक्षुषाम् उल्लास एव उल्लासकास्तेषां विलासानाम् । **लक्षीकुर्वन्** विषयीकुर्वन् । 'लक्षं लक्ष्यं शरव्यं च' इत्यमरः । **उपहरेः** उपनय ॥ ४३ ॥

अन्वय—वियति मार्गे गच्छन् कृष्णसारोदराणां कुन्दक्षेपानुगममधुकरश्रीमुषां पथिकवनितालोचनोल्लासकानां आत्मबिम्बं लक्षीकुर्वन् सुदृशां प्राणनाथोपयानप्रत्याश्वासात् प्रियं उपहरेः ।

अर्थ—आकाश मार्ग में जाते हुए जिनके मध्य भाग काली और रंग-बिरंगी कान्ति से युक्त हैं अथवा कृष्ण सार नामक मृग के उदर के समान जिनका उदर है तथा जो कुन्द पुष्प के चारों ओर घूमने वाले भ्रमरों की शोभा को चुराती हैं ऐसी पथिकों की स्त्रियों के नेत्रों के विलासों से अपने (मण्डलाकार) शरीर को लक्ष्य बनाते हुए प्रोषितभर्तृका स्त्रियों को प्राणनाथ के आगमन का विश्वास दिलाकर (उनका) अभीष्ट कार्य करो।

तस्मिन्नध्वन्यनतिचिरयन्नध्वनीनः प्रयाया,
यस्मिन्यात्राफलमविकलं लप्स्यसे दैवयोगात् ।
जैत्रेषूणामिव हृदिशयस्यायतानां स्वबिम्बं,
पात्रीकुर्वन्दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानाम् ॥ ४४ ॥

तस्मिन्निति । यस्मिन्मार्गे । दैवयोगात् विधिवशात् । 'दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्यं स्त्री नियतिर्विधिः' इत्यमरः । अविकलं सम्पूर्णम् । यात्राफलं प्रयाणप्रयोजनम् । 'यात्रा स्याद्यापने गतौ' इत्यमरः । लप्स्यसे प्राप्स्यसि । तस्मिन्नध्वनि तन्मार्गे । अनतिचिरयन् अतिचिरं करोत्यतिचिरयन् न अतिचिरयन् अनतिचिरयन् । अध्वनीनः पान्थः । 'अध्वानं यत्खौ' इति खप्रत्ययः । 'अध्वनीनोऽध्वगोऽध्वन्यः पान्थः पथिक इत्यपि' इत्यमरः । हृद्विशयस्य हृदि शेते इति हृद्विशयस्तस्य मन्मथस्य । आयतानां दीर्घाणाम् । 'सुदूरे दीर्घमायतौ' इत्यमरः । जैत्रेषूणामिव जयशीलानां बाणानामिव । 'जैत्रस्तु जेता । कलम्बमार्गणशराः पत्री रोप इषुर्द्वयोः' इत्यमरः । दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानां दशपुरं रन्तिदेवपत्तनम् तत्र विद्यमाना वध्वः स्त्रियः तासां नेत्र कौतूहलानां नेत्राभिलाषाणाम् 'कुतुकं च कुतूहलम्' इत्यमरः । साभिलाषदृष्टीनामित्यर्थः । स्वबिम्बं स्वमूर्ति पात्रीकुर्वन् विषयीकुर्वन् । 'योग्य भाजनयोः पात्रं' इत्यमरः । प्रयायाः तत्र ॥ ४४ ॥

अन्वय—हृद्विशयस्य जैत्रेषूणां इव आयतानां दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानां स्वबिम्बं पात्री कुर्वन् यस्मिन् दैवयोगात् अविकलं यात्राफलं लप्स्यसे तस्मिन् अध्वनि अध्वनीनः (त्वं) अनतिचिरयन् प्रयायाः ।

अर्थ—काम को जीतने वाले बाणों के समान दीर्घ दशपुर की स्त्रियों के नेत्रों के कुतूहल का अपने शरीर को पात्र बनाते हुए जिस मार्ग में भाग्योदय से (शुभ कर्मोदय से) सम्पूर्ण यात्रा के फल को पाओगे, उस मार्ग में शीघ्रगामी तुम अधिक देर न करते हुए जाओ ।

इतः पादवेष्टितानि पश्चादर्धार्धवेष्टितानि—

> **रम्यान्देशानिति बहुविधान्सादरं वीक्षमाणो,**
> **देशातिथ्यं व्रजतु स भवांस्तत्र तत्रापि वर्षन् ।**
> **सस्यक्षेत्रे गिरिषु सरितामन्तिके च स्थले च,**
> **ब्रह्मावर्तं जनपदमथच्छायया गाहमानः ॥४५॥**

रम्यानिति । इति एवं प्रकारेण । बहुविधान् बहुप्रकारान् । रम्यान् मनोहरान् । देशान् जनपदान् । सादरं प्रीतिसहितं यथा तथा । वीक्षमाणः वीक्षते इति वीक्षमाणः अवलोकयन् । तत्र तत्र तस्मिन् तस्मिन् । सस्यक्षेत्रे केदारादौ । गिरिषु पर्वतेषु । सरितां नदीनाम् । अन्तिके च समीपे च स्थले च । अन्यत्र भूतलेऽपि । अभिवर्षन् अभिषिञ्चन् । अथ अनन्तरम् । ब्रह्मावर्तं ब्रह्मावर्त्तमपि । जनपदं देशम् । 'नीवृज्जनपदो देशविषयौ' इत्यमरः । छायया अनातपमण्डलेन । गाहमानः प्रविशन् न तु स्वरूपेण । स भवान् त्वम् । देशातिथ्यं देशप्रस्थागत प्रतिपत्तिम् । व्रजतु गच्छतु ॥ ४५ ॥

अन्वय—अथ इति बहुविधान् रम्यान् देशान् सादरं वीक्षमाणः तत्र तत्र अपि सस्यक्षेत्रे, गिरिषु सरितां अन्तिके च स्थले च वर्षन् ब्रह्मावर्तं जनपदं छायया गाहमानः स भवान् देशातिथ्यं व्रजतु।

अर्थ—अनन्तर इस प्रकार अनेक प्रकार के रमणीय देशों को आदर-पूर्वक देखते हुए उन उन खेतों, पर्वतों तथा नदियों के समीपवर्ती स्थलों में बरसते हुए ब्रह्मावर्त जनपद में छायारूप से प्रवेश करते हुए (वह) आप (ब्रह्मावर्त) देश के अतिथि सत्कार को प्राप्त हों।

यस्मिन्नद्यः क्षतजकलुषाः कौरवीणां चमूनां,
प्रावर्तन्त प्रतियुयुधिरे यत्र चामोघशस्त्राः।
पाण्डोः पुत्राः प्रतिहननतः पापभीताः सशङ्कं,
क्षेत्रं क्षत्रप्रधनपिशुनं कौरवं तद्भजेथाः॥ ४६॥

यस्मिन्निति। **यस्मिन्** कुरुक्षेत्रे। **कौरवीणां** कुरुसम्बन्धिनीनाम्। **चमूनां** सेनानाम्। **क्षतजकलुषाः** रक्ताविलाः। 'रक्तं क्षतजं शोणितम्' इत्यमरः। **नद्यः** सरितः **प्रावर्तन्त** प्रवर्त्तन्ते स्म। **यत्र च** कुरुक्षेत्रे। **अमोघशस्त्राः** सफलायुधाः। **प्रतिहननतः** प्राणिहिंसनात्। **पापभीताः** पापद्भीताः। **पाण्डोः** पाण्डुराजस्य। 'पाण्डुः कुन्तीपतौ सिते' इति विश्वः। **पुत्राः** धर्मादितनयाः। **सशङ्कं** शङ्कया सह वर्त्तते यस्मिन्कर्मणि तत्। **प्रतियुयुधिरे** प्रयुध्यन्ते स्म। **तत् क्षत्रप्रधनपिशुनम्** क्षत्रियसङ्ग्रामसूचकम्। 'प्रधनं दारणे युद्धे' इति भास्करः। 'पिशुनौ खलसूचकौ' इत्यमरः। **कौरवं** कुरूणामिदं तथोक्तम्। **क्षेत्रं** विषयम्। **भजेथाः** सेवेथाः॥४६॥

अन्वय—यस्मिन् कौरवीणां चमूनां क्षतजकलुषाः नद्यः प्रावर्तन्त, यत्र च अमोघशस्त्राः प्रतिहननतः पापभीताः पाण्डोः पुत्राः सशङ्कं प्रतियुयुधिरे तत् क्षत्र-प्रधनपिशुनं कौरवं क्षेत्रं भजेथाः।

अर्थ—जिसमें कौरवों की सेना के रुधिर से कलुषित नदियाँ प्रकट हुईं, जहाँ पर सफल आयुधों वाले, प्राणिहिंसा के पाप से भयभीत पाण्डवों ने शङ्का युक्त होकर युद्ध किया उस क्षत्रियों के युद्ध की सूचना देने वाले कुरुक्षेत्र को (तुम) जाओ।

वीरक्षोणीं भुवनविदितां तां क्षणेन व्यतीयाः,
क्षात्रं तेजः प्रतिभयभटस्तम्भनैः सूचयन्तीम्।
राजन्यानां शितशरशतैर्यत्र गाण्डीवधन्वा,
धारापातैस्त्वमिव कमलान्यभ्यवर्षन्मुखानि॥४७॥

वीरक्षोणीमिति । यत्र रणभूमौ । गाण्डीवधन्वा गाण्डीवमिति धनुर्यस्य सः गाण्डीवधन्वा अर्जुनः । 'अर्जुनस्तु गाण्डीवं धनुः गाण्डीवं तु गाण्डिवम्' इत्यमरः । धनुश्चापौ धन्वशरासन कोदण्डकार्मुकम् 'इत्यमरः । शितशरशतैर्निशितबाणबहुलैः । 'शितौ बाणतनूकृतौ' इति वैजयन्ती । राजन्यानां राज्ञामपत्यानि राजन्याः । 'जातौ राज्ञः' इति यः । 'ये चाभावकर्मणोः' इत्यनोऽनलुक् । तेषां राजपुत्राणाम् । 'मूर्द्धाभिषिक्तो राजन्यः' इत्यमरः । मुखानि वदनानि । त्वं भवान् । धारापातैः धाराणामुदक-धाराणां पातैः प्रवर्षणैः । कमलानीव पङ्कजानीव । अभ्यवर्षयत् अपातयत् । अभिमुखं दृष्ट्वा शरवर्षेण शिरांसिच्छेदयित्वा तदभिमुखं शरवृष्टिमतनोदिति भावः प्रतिभयभटस्तम्भनैः भटानां स्तम्भनानि निश्चलीकरणानि तथोक्तानि प्रतिभयानि भयङ्कराणि भटस्तम्भितानि तैः । क्षात्रं क्षत्रसम्बन्धम् । तेजः प्रभावम् । 'तेजः प्रभावे दीप्तौ च बले शुक्रेऽप्यत स्त्रिषु' इत्यमरः । सूचयन्तीं दर्शयन्तीम् । भुवन-विदितां लोक प्रसिद्धाम् । तां वीरक्षोणीं रणभूमिम् । क्षणेन क्षणमात्रेण । व्यतीयाः उल्लङ्घयेः भयङ्करत्वादिति भावः ॥४७॥

अन्वय—यत्र धारापातैःकमलानि त्वं इव गाण्डीवधन्वा शितशरशतैः राज-न्यानां मुखानि अभ्यवर्षत्, तां प्रतिभयभटस्तम्भनैः क्षात्रं तेजः सूचयन्तीं भुवन-विदितां वीरक्षोणीं क्षणेन व्यतीयाः ।

अर्थ—जिस प्रकार कमलों के ऊपर तुमने प्रवाह रूप से वर्षा की थी, उसी प्रकार जिस कुरुक्षेत्र में गाण्डीव धनुषधारी अर्जुन ने तीक्ष्ण सैकड़ों बाणों से क्षत्रियों के मुखों के ऊपर वर्षा की थी अर्थात् मुखों का छेदन कर दिया था। उस भयंकर योद्धाओं के आगे बढ़ने को रोकने से क्षत्रिय जातिविषयक तेज को सूचित करती हुई पृथ्वी मण्डल में प्रसिद्ध वीरों की उत्पत्ति स्थली को क्षण मात्र में पार करो।

पुण्यक्षेत्रं तदपि [1]भजनीयं हि तस्योपकण्ठे,
यस्मिन्नास्थात्तपसि हलभृत्प्रास्तराजर्षिवृत्तः ।
शार्ङ्गिण्यस्तं गतवति महीनिःस्पृहो मन्मथीयां,
हित्वा हालामभिमतरसां रेवतीलोचनाङ्काम् ॥४८॥

पुण्यक्षेत्रमिति । तस्य कुरुक्षेत्रस्य । उपकण्ठे समीपे । 'उपकण्ठान्तिकाभ्य-र्णाभ्यग्रा' इत्यमरः । यस्मिन् प्रदेशे । शार्ङ्गिणि वासुदेव । अस्तं गतवति मरणं गते सति । सः प्रसिद्धः । हलभृत् पद्मबलदेवः । 'रेवतीरमणो रामः कामपालो हलायुधः' इत्यमरः । महीनिस्पृहः भूमौ निर्गताभिलाषः । रेवतीलोचनाङ्कां रेवत्याः

1. वरिवस्येति पुस्तकांतरे ।

स्वभार्यायाः लोचने एव अङ्कं यस्यास्ताम्। **अभिमतरसाम्** अभिमतोऽभीष्टो रसः शृङ्गारादिर्यस्यास्ताम् **मन्मथीयां** मन्मथस्येयं मन्मथीया ताम्। **हालां** सुराम्। 'सुरा हलिप्रिया हाला' इत्यमरः। मन्मथावर्द्धनैव सुरेति कुत्सितोपमा। **हित्वा** त्यक्त्वा। **प्राप्तराजर्षिवृत्तः** राजा चासौ ऋषिश्च राजर्षिः प्राप्तं प्राप्तं राजर्षे-र्मुनीन्द्रस्य वृत्तं वर्त्तनं येन तथोक्तः सन्। **तपसि** तपश्चरणे। **अस्थात्** अतिष्ठत्। **तदपि पुण्यक्षेत्रम्**। तत्तीर्थस्थानमपि हि स्फुटम्। **भजनीयं** भवतु योग्यं भजनीयं सेवनीयम्। त्वयेति शेषः ॥४८॥

अन्वय—शार्ङ्गिणि अस्तं गतवति सः महीतिः स्पृहः प्राप्तराजर्षिवृत्तः हलभृत् अभिमतरसां रेवतीलोचनाङ्कां मन्मथीयां हालां हित्वा यस्मिन् तपसि अस्थात् तत् तस्य उपकण्ठे पुण्यक्षेत्रं अपि हि भजनीयम्।

अर्थ—नारायण (कृष्ण) के विलय को प्राप्त हो जाने पर वह पृथ्वी के प्रति निःस्पृह, मुनीन्द्र के आचार को स्वीकृत करने वाले बलराम के अभीष्ट स्वाद वाली रेवती के नेत्रों के प्रतिबिम्ब से युक्त, कामुक मदिरा को छोड़कर जिस (पुण्य क्षेत्र) में तप के लिए बैठे, प्रसिद्ध उस कुरुक्षेत्र के समीप में विद्यमान (वह) पुण्यक्षेत्र अवश्य ही सेवन करने योग्य है।

तास्ते पुण्यं विदधति पुरा भूमयो दृष्टमात्राः,
वन्द्याः पुंसां परिगमनतस्त्वां पुनन्त्येव सद्यः।
पृथ्वीमेनां स किल विहरन्नात्तदीक्षः प्रजासु
[1]बन्धुस्नेहात्समरविमुखो लाङ्गली याः सिषेवे ॥४९॥

ता इति। सः **लाङ्गली** पद्मबलदेवः। **प्रजासु** जनेषु। 'प्रजा स्यात्सन्ततौ जने' इत्यमरः। **बन्धुस्नेहात्** बन्धाविव स्नेहस्तस्मात्। समताभावादित्यर्थः। **समरविमुखः** सम्परायपराङ्मुखः जीवहिंसाविमुख इत्यर्थः। **आत्तदीक्षः** स्वीकृत परिव्राजपः **एनां** पृथ्वीम् एतद्भूमिं। **विहरन्** पर्यटन्। **याः** भूमीः। **सिषेवे** सेवते स्म किल ताः। **पुंसां** पुरुषैः **वन्द्याः** वन्दनीयाः। 'क्तस्य च वर्तमाने' इति कर्तरि षष्ठी। **भूमयः** भुवः। **पुरा** पूर्वम्। **दृष्टमात्राः** दृष्टा एव दृष्टमात्राः। 'मात्रं कार्त्स्न्येऽव-धारणे' इत्यमरः। **ते** तव। **पुण्यं** श्रियः **विदधति** कुर्वन्ति। **परिगमनतः** तत्र गमनात्। **त्वां** भवन्तम्। **सद्यः** सपदि **पुनन्त्येव** पवित्री कुर्वन्त्येवेति निर्धारणम् ॥४९॥

अन्वय—प्रजासु बन्धुस्नेहात् समरविमुखः आत्तदीक्षः एनां पृथ्वीं विहरन् सः लाङ्गली याः सिषेवे ताः पुंसां वन्द्याः भूमयः दृष्टमात्राः पुरा ते पुण्यं विदधति परिगमनतः त्वां सद्यः पुनन्ति एव।

---

1. बन्धुप्रीत्येत्यपि पाठः।

अर्थ—प्रजाओं के प्रति बन्धु के समान स्नेह के कारण युद्ध से विमुख, मुनिदीक्षा को ग्रहण किए हुए इस पृथ्वी मण्डल पर विहार करते हुए उन बलराम ने जिनका सेवन किया वे पुरुषों के द्वारा वन्दनीय भूमियाँ दिखाई देते ही पहले तुम्हारा कल्याण करेंगी और प्रदक्षिणा करने से तुमको अवश्य पवित्र करेंगी ही।

सद्भिस्तीर्णाः प्रविमलतराः पुष्कलाः सुप्रसन्नाः,
हृद्याः सद्यः कलिमलमुषो याः सतीनां सदृक्षाः।
कृत्वा तासामधिगममपां सौम्यसारस्वतीना-
मन्तःशुद्धस्त्वमसि[1] भविता वर्णमात्रेण कृष्णः ॥५०॥

सद्भिरिति। **याः** आपः। **सतीनां** पतिव्रतानां स्त्रीणाम्। **सदृक्षाः** समानाः। 'सदृक्षः सदृक्' इत्यमरः। **सद्भिः** सत्पुरुषैः **तीर्णाः** प्लाविताः। **प्रविमलतराः** प्रकृष्टाः प्रविमलाः **प्रविमलतराः**। **पुष्कलाः** पूज्याः। 'पूर्णे श्रेष्ठो तु पुष्कलः' इति भास्करः। **सुप्रसन्नाः** हृद्याः हृदय प्रियाः। 'हृद्यं दयितं वल्लभं प्रियम्' इत्यमरः। **सद्यः** तत्काल एव। **कलिमलमुषः** दुष्टपापहराः। तासाम्। **सौम्य सारस्वतीनां** सरस्वत्याः सरस्वतीनामनद्याः इमाः सारस्वत्यः सौम्याः सुन्दराः 'सौम्यं तु सुन्दरे सोमदैवते' इत्यमरः। सौम्याश्च ताः सारस्वत्यश्च तासाम्। **अपाम्** अम्भसाम्। 'आपः स्त्री भूम्नि वार्वारि' इत्यमरः। **अधिगमं** सेवाम्। **कृत्वा** विधाय। **त्वं** भवान्। **वर्णमात्रेण** वर्णेनैव **कृष्णः** श्यामः। न तु पापैनेत्याशयः। **अन्तः शुद्धः** अन्तः आत्मनि शुद्धः निर्मलो निर्दोषः। **भविता**। 'ण्वुल्तृचौ हाविष्णवः' इति तृचः। **असि** भवसि। सद्य एव पवित्रभूतो भविष्यसीत्यर्थः। 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा' इति वर्तमान प्रत्ययः ॥५०॥

अन्वय—सद्भिः तीर्णाः प्रविमलतराः पुष्कलाः सुप्रसन्नाः हृद्याः सद्यः कलिमलमुषः सतीनां सदृक्षाः याः तासां सारस्वतीनां अपां अधिगमं कृत्वा (हे) सौम्य वर्णमात्रेण कृष्णः अपि त्वं अन्तः शुद्धः भविता।

अर्थ—सज्जनों (ग्रह, नक्षत्र, प्रकीर्णक तथा तारा आदि के प्रतिबिम्बों) से व्याप्त, अत्यधिक निर्मल, अत्यधिक श्रेष्ठ, अत्यन्त विशद, प्रिय, तत्क्षण ही कलिकाल के मल को हरण करने वाली तथा जो सतियों के समान हैं, ऐसी (उन) सरस्वती नदी के जल का सेवन कर हे सुन्दर! वर्णमात्र से काले होने पर भी तुम अन्तःकरण से शुद्ध हो जाओगे।

---

१. त्वमपि।

यास्ता नद्यः कुलगिरिभवाः स्वर्धुनीरूढिभाज-
स्तासामेताः प्रतिनिधितया तत्समाख्याः कुनद्यः ।
तीर्थालोके त्वमुपसर तां जाह्नवीं यन्मयोक्तं,
तस्मादगच्छेरनुकनखलं शैलराजावतीर्णाम् ॥५१॥

या इति । **याः कुलगिरिभवाः** कुलपर्वत समुद्भूताः । **नद्यः** तरङ्गिण्यः । **ताः** ता एव । **स्वर्धुनीरूढिभाजः** देवनद्यः इति रूढिं प्राप्ताः । **तासां** नदीनाम् । **प्रतिनिधितया** उपमानतया । 'प्रतिनिधिरूपमोपमानं स्यात्' इत्यमरः । **तत्समाख्याः** तासां समाख्या नाम यासां ताः । **एताः** इमाः । **कुनद्यः** क्षुल्लकनद्यः । भवन्तीति शेषः । तीर्थालोके तीर्थस्थान संदर्शे । **त्वं** भवान् । **मया** कमठचरदैत्येन । **यत्** कुरुक्षेत्रम् । **उक्तं** प्राऽभाषितम् । **तस्मात्** तत्क्षेत्रात् । **अनुकनखलं** कनखलस्य तन्नाम्नोद्रेः समीपे अनुकनखलम् । 'समीपे' इत्यव्ययीभावः । मार्गं सूचनमिदम् । **गच्छेः** यायाः । **शैल राजावतीर्णां** शैलराजात् हिमवदभिधानात् क्षुल्लकगिरेः अवतीर्णां प्रवृत्ताम् । **तां** जाह्नवीं गङ्गानदीम् । **उपसर** गच्छ ॥५१॥

अन्वय—याः नद्यः कुलगिरिभवाः ताः स्वर्धुनीरूढिभाजः । एताः कुनद्यः तासां प्रतिनिधितया तत्समाख्याः । 'तीर्थालोके त्वं उपसर' इति यत् मया उक्तं तस्मात् अनुकनखलं शैलराजावतीर्णां तां जाह्नवीं गच्छेः ।

अर्थ—जो नदियाँ हिमवन् नामक कुलाचल से उत्पन्न हुई वे स्वर्ग नदियों के रूप में प्रसिद्धि को प्राप्त हुईं । ये छोटी नदियाँ उन नदियों की प्रतिनिधि होने से उनके समान नाम वाली हुईं । तीर्थ के दर्शन के लिए तुम जाओ, यह जो मैंने कहा उस कारण कनखल के समीप हिमालय से उतरी हुई उस गंगा की ओर जाओ ।

मोपेक्षिष्ठास्त्वमुपनविकेत्याशुगत्वा प्रविश्य,
प्राहुस्तीर्थप्रतिनिधिमपि क्षालनं कश्मलानाम् ।
तां सेवेथाः सुभग सुरसां लोकरूढेः प्रतीतां,
जह्नोः कन्या सगरतनयस्वर्गसोपानपङ्क्तिम् ॥५२॥

मेति । **सुभग** हे सुभगहिमन् । त्वं भवान् । **उपनविकेति** नदीति **मोपेक्षिष्ठाः** उपेक्षां मा कृथाः । **तीर्थप्रतिनिधिमपि** तीर्थप्रतिकृतिमपि । **कश्मलानां** पापानाम् । **क्षालनं** निवारणमिति । **प्राहुः** ब्रुवन्ति । प्राज्ञा इति शेषः । **आशु** शीघ्रेण । **गत्वा प्रविश्य** । **लोकरूढेः** लौकिक जनप्रसिद्धेः । **प्रतीतां** ख्याताम् । **सगरतनयस्वर्ग-**

सोपानपङ्क्तिम् सगरस्य राज्ञः तनयानां **स्वर्गसोपानं पंक्ति** स्वर्गारोहणराजिम्। "आरोहणं स्यात्सोपानम्" इत्यमरः। स्वर्गसाधनभूतामित्यर्थः। **जह्नोः** जह्नु-राजस्य। **कन्यां** सुताम्। **सुरसां** शोभनो रसो जलं शृङ्गारादिर्वा यस्यास्ताम्। **तां** गङ्गानदीम्। **सेवेथाः** आराधय। लोकरूढैः प्रसिद्धामित्यनेन सगरतनयस्वर्ग-सोपानपंक्तित्वम् जह्नुकन्यात्वं च परसमयप्रसिद्धमित्यत्रगन्तव्यम् ॥५२॥

अन्वय—(हे) सुभग! उपनदिका इति प्रविश्य आशु गत्वा त्वं मा उपे-क्षिष्ठाः (यतः) तीर्थप्रतिनिधि अपि कश्मलानां क्षालनं प्राहुः। लोकरूढैः प्रतीतां जह्नोः कन्यां सगरतनयस्वर्गसोपानपंक्ति सुरसां तां सेवेथाः।

अर्थ—हे सुन्दर शोभावाले! (स्वर्ग नदी के सादृश्य को धारण करने पर भी महत्त्व की अपेक्षा छोटी यह) उपनदी है, ऐसा मानकर प्रविष्ट हुए (प्रतिबिम्ब पड़ने से अवगाहन किए हुए) आप शीघ्र जाकर (उस नदी की) उपेक्षा मत करो; क्योंकि तीर्थ के प्रतिनिधि भी पापों को नष्ट करने वाले कहे जाते हैं। लोकरूढ़ि से जह्नु की कन्या के रूप में प्रसिद्ध तथा सगर पुत्रों को जाने के लिए स्वर्ग की सीढ़ियों के तुल्य अच्छे जल वाली उस गंगा की सेवा (आराधना) करो।

तामेवैनां कलय सरितं त्वं प्रपाते हिमाद्रे-
र्गङ्गादेव्याः प्रतिनिधिगतस्यादिदेवस्य भर्तुः।
गौरीवक्त्रभ्रुकुटिरचनां या विहस्येव फेनैः,
शम्भोः केशग्रहणमकरोदिन्दुलग्नोर्मिहस्ता ॥५३॥

तामिति। **हिमाद्रेः** हिमवत्पर्वतस्य। **प्रपाते** निर्झरे। "प्रपातो निर्झरे भृगौ" इत्यमरः। **प्रतिनिधिगतस्य** गङ्गादेवीगृहशिखरकमलकर्णिकास्थितस्य प्रतिबिम्बात्म-कस्य। **शम्भोः** शं सुखम् अस्मात्सर्वेषां भवतीति शम्भुः। शं सुखस्वरूपो भवतीति वा शम्भुस्तस्य। "अर्हन्जिनःकिनी शम्भूः" इति धनञ्जयः। **भर्तुः** त्रिजगत्स्वा-मिनः। "भर्ता धातरि पोष्टरि" इत्यमरः। **आदिदेवस्य** आदिब्रह्मणः। "हरिणी-रोहिणी शोणी गौरी श्येनी पिशङ्ग्यपि" इति धनञ्जयः। **या** महागङ्गानदी। गङ्गादेवी नाम तत्रासिदेवतायाः। **वक्त्रभ्रुकुटिरचनां** वक्त्रा या भ्रुकुटिरचना भ्रूभङ्ग-करणं ताम्। **फेनैः** डिण्डीरैः। डिण्डीरोऽब्धिकफः फेनः इत्यमरः। **विहस्येव** हसित्वेव। फेनानां धावल्याद्धासत्वेनोत्प्रेक्षणम्। **इन्दुलग्नोर्मिहस्ता** इन्दौ चन्द्रे लग्नाः सम्बद्धाः ऊर्मयः वीचयः एव हस्ताः यस्याः सा तथोक्ता सती। **केशग्रहणं** शिरोरुह स्वीकृ-तिम्। **अकरोत्** अरचयत्। **तामेव सरितम्** तन्महागङ्गानदीमेव। **एनां सरितम्** एतल्लघुगङ्गा नदीम् **त्वं** भवान्। **कलय** भावय। तयोर्भेदबुद्धिमभूदित्याशयः ॥५३॥

अन्वय—या इन्दुलग्नोर्मिहस्ता गौरी फेनैः वक्रभ्रुकुटिरचनां विहस्य इव हिमाद्रेः प्रभाते गङ्गादेव्याः प्रतिनिबिम्बगतस्य शम्भोः आदिदेवस्य भर्तुः केशग्रहणं अकरोत् तां एव एनां सरितं कलय।

अर्थ—जिस श्वेतवर्णवाली गंगा नामक (हिमवान् पर्वत के पद्म सरोवर से निकली हुई) महानदी ने तरंग रूप हाथों को चन्द्रमा के ऊपर लगाते हुए, फेनों से भौंहों की टेढ़ी रचना से युक्त स्त्रियों पर मानों हँसकर अथवा गौरवर्ण स्त्रियों के भ्रूभङ्ग पर मानों हँसकर हिमवान् पर्वत के प्रभात पर गंगाकूट की निवासिनी देवी के गृहशिखर रूप कमलकर्णिका पर स्थित प्रतिबिम्बात्मक अर्हन्त भगवान् अथवा सुखस्वरूप त्रैलोक्याधिपति आदिदेव के केशों को पकड़ लिया (अर्थात् जिसने भगवान् आदिनाथ की प्रतिमा के ऊपरी भाग में स्थित जटा-जूटों को पकड़ लिया) उसी इस गंगा की प्रतिनिधिस्वरूप) नदी को तुम जानो अर्थात् इस नदी को उस गंगा नामक महानदी के समान आदर दो।

स्वादु स्वच्छं शुचि हिमशिलासम्भवं हारि नीरं,
प्राप्तामोदं तटवनपतत्पुष्पकिञ्जल्कवासैः।
अध्वश्रान्तिं श्लथयितुमधः प्राप्तमात्रोऽध्वगस्त्ये-
स्तस्याः पातुं सुरगज इव व्योम्नि पश्चार्धलम्बी॥५४॥

स्वादिति। **तस्याः** गङ्गायाः। **स्वादु** मधुरम्। **स्वच्छं** निर्मलम्। **शुचि** पवित्रम्। **हिमशिलासम्भवम्**। हिमा चासौ शिला च हिमशिला "तुषारः शीतलः शीतो हिमः" इत्यमरः। यद्वा। हिमयुक्ता शिला हिमशिला तस्यां सम्भवं सम्भूतम्। **हारि** मनोहरम्। "हृद्यं हारि मनोहरं च रुचिरम्" इति हलायुधः। **तटवनपतत्पुष्पकिञ्जल्कवासैः** तटे तीरे विद्यमानाद्वनात्पततां पुष्पकिञ्जल्कानां कुसुमकेसराणां वासैरभिनाभिः। "किञ्जल्कः केसरोऽस्त्रियाम्" इत्यमरः। **प्राप्तामोदं** लब्धपरिमलम्। **नीरं** जलम्। **अध्वश्रान्तिं** मार्गश्रमम्। **श्लथयितुं** शिथिलीकर्तुम्। **सुरगज इव** देवदन्तिवत्। **व्योम्नि** अन्तरिक्षे **पश्चार्धलम्बी** पश्चार्धमिति पृषोदरादित्वात्साधुः। तेन लम्बते इति पश्चार्धलम्बी। **अधः** अधस्तात्। **प्राप्तमात्रः** प्राप्त एव प्राप्तमात्रः सन्। पूर्वभागेन व्योम्नि स्थित्वा अग्रभागेन जलोन्मुखः सन्नित्यर्थः। **पातुं** पानाय। **अध्यवस्येः** निश्चिनुयाः॥५४॥

अन्वय—अध्वश्रान्तिं श्लथयितुं तस्याः स्वादु, स्वच्छं, शुचि, हिमशिलासम्भवं हारि तटवनपतत्पुष्पकिञ्जल्कवासैः प्राप्तामोदं नीरं अधः प्राप्त मात्रः व्योम्नि पश्चार्धलम्बी सुरगजः इव पातुं अध्यवस्येः।

अर्थ—मार्ग के परिश्रम को शिथिल करने के लिए गंगा नदी के स्वाद-युक्त, स्वच्छ, पवित्र, हिमशिलाओं से उत्पन्न, मनोहर, किनारे के वन से गिरते हुए फूल के परागों की गन्ध से प्राप्त सुगन्धि वाला जल जिस क्षण नीचे से प्राप्त हो उसी समय आकाश में पिछले आधे भाग को लम्बा कर ऐरावत हाथी के समान पीने का निश्चय करो।

तीव्रोदन्याश्रमपरिगतो न स्वकं चेत्तदानीं
तूष्णीं स्थित्वा क्षणमिव गताध्वश्रमो जातवर्षः।
मध्येगङ्गं ह्रदमधिवसेर्भूरि तस्याः प्रपातुं,
त्वं चेदच्छस्फटिकविशदं तर्कयेस्तिर्यगम्भः ॥५५॥

तीव्रेति। **तदानीं** तत्समये। **स्वकं** त्वमेव त्वकम्। "युष्मदस्मदोः सुपोऽसो-भील्यक्" ... **श्रमपरि**... परिगतः प्राप्तः। "क्षुत्तृडर्श-शनोदन्यदनायम्" इति सुत्रार्थं उदन्या इति नाम्नः। "उदन्या तु पिपासा तृट् तृषा" इत्यमरः। **न चेत्** भवेच्चेत्। **क्षणमिव** क्षणपर्यन्तम्। **तूष्णीं** जोषम्। **स्थित्वा** आस्थाय। **गताध्वश्रमः** विगतमार्गक्लमः। **जातवर्षः** जातं वर्षं यस्मात्सः कृतवर्षः सन् इत्यर्थः। **त्वं** भवान्। **तस्याः** गङ्गायाः। **अच्छस्फटिकविशदं** निर्मलस्फटिक-विशुद्धम् **भूरि** बहुलम्। "अदभ्रं भूरि भूयिष्ठम्" इति धनञ्जयः। **अम्भः** नीरम्। **तिर्यक्** तिरश्चीनं यथा तथा **प्रपातुं** प्रकर्षेण पानाय। **तर्कयेश्चेत्** निश्चिनुयाश्चेत्। **मध्येगङ्गं** गङ्गाया मध्ये मध्येगङ्गम्। अव्ययीभावत्वात्सप्तमी। **ह्रदम्** अगाध-जलम्। "तत्रागाधजलो ह्रदः" इत्यमरः। "वसोनूपाध्याङ्" इति आधारे द्वितीया। तन्मध्यह्रदे तिष्ठेरर्थः ॥५५॥

अन्वय—त्वकं तीव्रोदन्याश्रमपरिगतः न चेत्, क्षणं इव तूष्णीं स्थित्वा गताध्वश्रमः जातवर्षः त्वम् तस्याः अच्छस्फटिकविशदं भूरि अम्भः तिर्यक् प्रपातुं तर्कयेः चेत् तदानीं मध्येगङ्गं ह्रदं अधिवसेः।

अर्थ—तुम यदि तीव्र प्यास से उत्पन्न दुःख की वेदना से आक्रान्त न हो तो क्षणभर चुप बैठकर मार्ग की थकान को दूर करने वाले तुम वर्षा का गंगा के निर्मल स्फटिकमणि के समान उज्ज्वल विपुल जल को तिरछे होकर (पानी) पीने का विचार यदि करो तो उस समय गंगा के बीच के अगाधजल (ह्रद) में ठहरना।

तिष्ठत्येकं क्षणमिव भवानिन्द्रनीलस्य लक्ष्मी-
मातन्वानः स्ववपुषि भृशं पीततोयोपि येन।
संसर्पन्त्या सपदि भवतः स्रोतसिच्छायया सा,
स्यादस्थानोपगतयमुनासङ्गमेवाभिरामा ॥५६॥

तिष्ठत्विति । **येन** कारणेन । **स्रोतसि** प्रवाहे । **सपदि** शीघ्रम् । **संसर्पन्त्या** संक्रामन्त्या । **भवतः** तव । **छायया** प्रतिबिम्बेन । **सा** गङ्गा । **अस्थानोपगतयमुनासङ्गमेव** अस्थाने प्रयागात् अन्यत्र उपगतः प्राप्तो यमुनासङ्गमो ययासा तथोक्ता तद्वत् । **अभिरामा** मनोहरा । स्यात् भवेत् । येन कारणेन । **भृशम्** अत्यर्थम् । "अतिवेलभृशात्यर्थातिमात्रोद् गाढनिर्भरम्" इत्यमरः । पीततोयोपि गृहीतसलिलोपि । **इन्द्रनीलस्य** इन्द्रनीलरत्नस्य । **लक्ष्मीं** शोभाम् । **स्ववपुषि** निजविग्रहे । **आतन्वानः** विरचयन् । **भवान्** त्वम् । **एकक्षणमिव** एकक्षणपर्यन्तम् । इवशब्दो वाक्यालङ्कारे । **तिष्ठतु** आस्ताम् ॥५६॥

अन्वय—स्ववपुषि इन्द्रनीलस्य लक्ष्मीं आतन्वानः भवान् भृशं पीततोयः अपि एकं क्षणं एव तिष्ठतु येन स्रोतसि सपदि संसर्पन्त्या भवतः छायया सा अस्थानोपगतयमुनासङ्गमा इव अभिरामा स्यात् ।

अर्थ—अपने शरीर में इन्द्रनीलमणि की लक्ष्मी की रचना अथवा विस्तार करते हुए आप अधिक जल दिए हुए होने पर भी एक क्षणभर के लिए ठहरें, जिससे गंगा नदी के प्रवाह में शीघ्र पड़ती हुई छाया से वह प्रयाग से भिन्न स्थान में यमुना से मिली हुई के सदृश मनोहर प्रतीत हो।

पुण्याम्बूनामिति भृशितरं चर्मपूरं प्रपूर्णः,
किञ्चिद्गत्वा हिमवदचलस्यानुपादं निषीद ।
तस्यप्रान्ते वनपरिकरं प्रेक्षणीयं प्रपश्य-
न्नासीनानां सुरभितशिलं नाभिगन्धैर्मृगाणाम् ॥५७॥

पुण्येति । **इति** एवंप्रकारेण । **पुण्याम्बूनां** पुण्योदकानाम् । **भृशितरं** प्रकृष्टं भरणं यथा तथा । **चर्मपूरं** चर्म पूरयित्वा । **प्रपूर्णः** सम्पूर्णः । "चर्मोदरात् पूरेः" इति णम् । **हिमवदचलस्य** हिमवत्पर्वतस्य । **अनुपादम्** अनुपादात् प्रत्यन्तपर्वतादारभ्येत्यनुपादम् । "ईर्ष्यनुः" इत्यव्ययीभावः । **किञ्चित्** कियद्दूरम् । **गत्वा** हिमवत्पर्वत समीपे । **आसीनानाम्** उपविष्टानाम् । **मृगाणां** कस्तूरीमृगाणाम् । अन्यथा नाभिगन्धानुपपत्तेः । **नाभिगन्धैः** कस्तूरीगन्धैः । तेषां नभजत्वात् । अतएव मृगनाभिसंज्ञा च मृगनाभिर्मृगमदः कस्तूरी" इत्यमरः । अथवा नाभयः कस्तूर्यः । "नाभिः प्रधाने कस्तूर्यां मदे न क्वचिदीरिता" इति विश्वः । तासां गन्धैः । **सुरभितशिलं** सुरभिताः शिलाः यस्य तम् । **प्रेक्षणीयं** दर्शनीयम् । **वनपरिकरम्** अरण्यप्राभवम् । "वृन्दप्राभवयोश्चैव पर्यङ्कपरिवारयोः आरम्भे च परिस्तारे भवे परिकर स्तथा" इत्यमरः । **पश्यन्** प्रेक्षमाणः । **निषीद** तिष्ठ । षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु "इति धातोः" पाघ्राध्मा इति सीदादेशो लेट् ॥५७॥

अन्वय—इति पुण्याम्बूनां भृतितरं चर्मपूरं प्रपूर्णः किञ्चित् गत्वा हिमवद-चलस्य अनुपादं तत्पर्यन्ते आसीनानां मृगाणां नाभिगन्धैः सुरभितशीलं वनपरिकरं प्रपश्यन् निषीद।

अर्थ—इस प्रकार पुण्यजलों से भरे हुए चर्मपात्र के समान तुम पूरे भरकर कुछ (आगे) जाकर हिमालयपर्वत के चरण प्रदेश में बैठे हुए कस्तूरी मृगों की कस्तूरी की गन्ध से सुगन्धित शिलाओं वाले वन के किनारे को देखते हुए बैठो।

विश्रम्याथो घन घनपथोल्लङ्घिकूटं हिमाङ्कं,
पश्योदग्रैः शिखरतरुभिस्त्वामिवोपान्तयन्तम्।
स्वस्याः कीर्तेरिव विधुरुचो नाकभाजां स्रवन्त्या-
स्तस्या एव प्रभवमचलं प्राप्य गौरं तुषारैः ॥५८॥

विश्रम्येति। **अथो** अनन्तरे। अथवा अथो पुनः। **घन** भो मेघ "मङ्गला-नन्तरारम्भ प्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथ" इत्युभयत्राप्यमरः **विश्रम्य** अध्वश्रममपनीय। **घनपथोल्लङ्घि कूटम्** आकाशोल्लङ्घि शिखरं यस्य तम्। "द्यौराकाशमन्तरिक्षं मेघ-वायुपथेऽपि" इति धनञ्जयः। **उदग्रैः** उन्नतैः। "उच्चप्रांशून्नतोदग्रोच्छ्रिताः" इत्यमरः। **शिखरतरुभिः** शिखरस्थवृक्षैः। **त्वां** भवन्तम्। **उपान्तयन्तमिव** उपान्तं समीपम् एतीति यन् तमिव समीपं गच्छन्तमिव। यद्वा उपान्तं करोतीति उपान्तयति उपान्तयतीति उपान्तयन् तमिव समीपमाह्वयन्तमिव। **स्वस्याः** स्वकीयायाः विधुरुचः विधोरिव रुक् कान्तिर्यस्यास्तस्याः। "स्युः प्रभारुग्रुचिस्त्विड्भा" इत्यमरः। **कीर्तेरिव** यशस इव। तस्याः प्रसिद्धायाः। **नाकभाजां** देवानाम्। **स्रवन्त्या एव।** "स्रवन्ती निम्नगापगा" इत्यमरः। आप गाया एव। **प्रभवं** प्रभवत्यस्मादिति प्रभ-वस्तम् उद्भव स्थानम्। "स्याज्जन्महेतुः प्रभवः स्थानं चाद्योपलब्धयः" इत्यमरः। **गौरं** शुभ्रम्। "सितो गौरो वलक्षः" इत्यमरः। **हिमाङ्कं** हिमनामधेयम्। **अचलं** नगम् **प्राप्य**। **पश्य** प्रेक्षस्व ॥५८॥

अन्वय—अथो घन! विश्रम्य घनपथोल्लङ्घिकूटं उदग्रैः शिखरतरुभिः त्वं उपान्तयन्तं इव स्वस्याः कीर्तेः इव विधुरुचः तस्याः नाकभाजां स्रवन्त्याः एव प्रभवं तुषारैः गौरं हिमाङ्कं अचलं प्राप्य पश्य।

अर्थ—अनन्तर हे मेघ! विश्राम कर आकाश का उल्लंघन करने वाले शिखर से युक्त, ऊँचे शिखर के वृक्षों से तुम्हें मानों समीप बुलाते हुए अपनी कीर्ति के समान सफेद वर्णवाली प्रसिद्ध देवनदी गङ्गा के उत्पत्ति स्थान, हिमसमूह से गोरे रंग वाले हिमालय पर्वत पर जाकर (उसे देखो)।

आरुह्याविर्मदकलमयूरारवैः कृष्यमाणः,
कुञ्जेकुञ्जे दधि घनमिव प्रेक्षमाणो हिमानीम् ।
अध्यस्यध्वश्रमविनयने तस्य शृङ्गे निषण्णः,
शोभां शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातपङ्कोपमेयाम् ॥५९॥

आरुह्येति । **आविर्मदकलमयूरारवैः** आविर्भूतः मदः आविर्मदः तेन कलैः मधुरात्यक्तनरैः । "ध्वनौ तु मधुरास्फुटे कलः" इत्यमरः । मयूराणाम् आरवैः शब्दैः । **कृष्यमाणः** प्रेर्यमाणः सन् । **आरुह्य** उपरि गत्वा । तमिति शेषः । **कुञ्जे कुञ्जे** लताभवने लताभवने । वीप्सायां द्विः । **घनं** पिण्डीभूतम् । **दधीव** दधिवत् । **हिमानीं** हिम संहतिम् । "हिमारण्याद्युरौ" इति ङीः । आनुगान्तादेशः । **प्रेक्षमाणः** अवलोकमानः । अध्वश्रमविनयनेनेति विनयनम् । करणाधारे चानट् । **अध्वश्रमस्य विनयने । तस्य** हिमाद्रेः । **शृङ्गे** शिखरे । **निषण्णः** निविष्टः सन् । **शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातपङ्कोपमेयाम्** शुभ्रो यः त्रिनयनस्य ईशानदिगीशस्य वृषः वृषभः । "सुकृते वृषभे वृषः" इत्यमरः । तेनोत्खातेन अवतारितेन पङ्केन शृङ्गाग्रस्थेन । तं हिमाद्रि । सहोपमेयाम् उपमातुमर्हाम् । वृषभशृङ्गाग्रलग्नपङ्कवदित्यर्थः । **शोभां** कान्तिम् । **वक्ष्यसि** वोढासि । वहतेर्लृट् । त्रिनयने त्वत्र "पूर्व पदात्संज्ञाया मिति" णत्वं न क्षुम्नादिषु निषेधात् ॥५९॥

अन्वय—आविर्मदकलमयूरारवैः कृष्यमाणः कुञ्जे कुञ्जे घनं दधि इव हिमानीं प्रेक्षमाणः अध्वश्रमविनयने तस्य शृङ्गे आरुह्य निषण्णः शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातपङ्कोपमेयां शोभां वक्ष्यसि ।

अर्थ—प्रकट होते हुए आनन्द से मधुर और अव्यक्त शब्द करने वाले मयूरों के शब्दों से आकर्षित प्रत्येक कुंज में पिण्डीभूत दही के समान हिम के समूह को देखते हुए, मार्ग के परिश्रम (थकावट) को दूर करने के लिए हिमालय पर्वत की चोटी पर चढ़कर बैठे हुए तुम रुद्र नामक ईशान-दिशा के इन्द्र के सफेद साँड़ से विदारित कीचड़ के समान (अर्थात् साँड़ के सींग की नोंक में लगी हुई कीचड़ के समान) शोभा को धारण कर लोगे ।

अध्वक्षामं शिथिलिततनुं शैलमार्गाधिरोहा-
त्त्वामोल्लङ्घये घटयितुमसौ शक्नुयादेव-वह्निः ।
धूमैः सान्द्रैर्वनविटपजैर्नातिवर्षन्नुपेया-
स्त्वं चेद्वायौ सरति सरलस्कन्धसङ्घट्टजन्मा ॥६०॥

अध्वक्षाममिति—**वायौ** पवने । **सरति** सरतीति सरन् तस्मिन् सति वाति

यति । अतिवर्षन् अतिवृष्टि कुर्वन् । **त्वं नोपेयाश्चेत्** नगच्छेर्यदि तर्हि । अथवा नातिवर्षम् इत्यलुक्समासः । ईषद्वर्षन्नित्यर्थः । उपेयाश्चेत् यदि या यास्तर्हि । अतिवर्षस्याग्निप्रतिबन्धकत्वादिति भावः **सरलस्कन्धसङ्घट्टजन्मा** सरलानां देवदारुविशेषाणाम् स्कन्धाः प्रदेशविशेषाः "अस्त्रीप्रकाण्डः स्कन्धः स्यान्मूला च्छाखावधिस्तरोः इत्यमरः । तेषां सङ्घट्टेन सङ्घर्षणेन जन्म यस्य स तथोक्तः । जन्मोत्तरत्वाद्व्यधिकरणोऽपि बहुव्रीहिः साधुरित्युक्तम् । **असौवह्निः** दावानलः । **वनविटपिजैः** कान्तारतरुप्रभवैः । "विटपी फलिनोनगः" इति धनञ्जयः । **सान्द्रैः** निरन्तरैः । "घनं निरन्तरं सान्द्रम्" इत्यमरः । **धूमैः** धूमपटलैः । **अध्वक्षामं** मार्गाया सकृशीभूतम् । **शैलमार्गाधिरोहात्** गिरिपथारोहणात् । **शिथिलिततनुं** श्लथित शरीरम् । **त्वां** भवन्तम् । **औलङ्घ्ये** उल्लंघस्य भावः औल्लङ्घ्यं तस्मिन् उच्चलनीयत्वे । **घटयितुं** रचयितुं । **शक्नुयादेव** समर्थो भवेदेव । मेघस्य धूमयोनित्वाद्धूमेन पुष्टिं विदध्यादित्यर्थः ॥६०॥

अन्वय—त्वं वायौ सरति अतिवर्षन् न उपेयाः चेत् सरलस्कन्धसंघट्टजन्मा असौ वह्निः वनविटपिजैः सान्द्रैः धूमैः अध्वक्षामं शैलमार्गाधिरोहात् शिथिलिततनुं त्वां औल्लङ्घ्ये घटयितुं शक्नुयात् एव ।

अर्थ—तुम वायु के बहने पर अत्यन्त वर्षा करते हुए यदि हिमालय पर्वत के समीप में न पहुँचो तो सरल (चीड़) वृक्षों के तनों की रगड़ से उत्पन्न यह आग जंगल के वृक्षों से उत्पन्न घने धुँओं से मार्ग के प्रयाण से क्षीण शरीर एवं पर्वतीय मार्ग पर चढ़ने से दुर्बल शरीर वाले तुम्हें अवश्य उल्लंघन करने योग्य मार्ग में प्रेरणा देने में समर्थ होगी ही ।

आशृङ्गाग्रं कवचितमिवारूढमूर्ति हिमान्या,
त्वत्सान्निध्यादुपहितरसैश्चौषधीनां सहस्रैः ।
आकीर्णान्तं सरसगहनं शैलराजं न चैनं,
बाधेतोल्काक्षपितचमरीबालभारो दवाग्निः ॥६१॥

आशृङ्गाग्रमिति । **हिमान्या** हिमसंहत्या । **आशृङ्गाग्रम्** आशृङ्गादाशृंगाग्रम् । **कवचितमिव** कञ्चुकितमिव । **आरूढमूर्तिम्** आसमन्ताद् व्याप्तदेहम् । **त्वत्सान्निध्यात्** तव सामीप्यात् । **उपहितरसैः** उपधृतार्द्रीभावैः । **ओषधीनां** फलपाकान्तद्रुमादीनाम् । **सहस्रैः** । **आकीर्णान्तं** व्याप्तपर्यन्तम् । **सरसगहनं** सरसं रसयुतं गहनंवनं यस्यतम् । "गहनं काननं वनम्" इत्यमरः । **एनं** शैलराजम् **एनं शैलराजम्** हिमवन्तम् । **उल्काक्षपितचमरीबालभारः** उल्काभिः स्फुलिङ्गैः क्षपिताः निर्दग्धाः चमरीणां मृगाणां बालभाराः केशसमूहाः येन स तथोक्तः । "कुल्लौ

शाल: कवच: तेजा:'' । इत्यमर: । **वनाग्निः** दव इत्यग्नि: दवाग्नि: वनवह्नि: । वने च वनवह्नौ च दवो दाव इतेष्यते ''इति शाश्वत: । **न च बाधेत** न पीडयेत्'' ।

अन्वय—हिमान्या आश्रृङ्गाग्रं कवचितं इव आच्छन्नमूर्ति उपहितरसै: **औष-धीनां** गहनै: च आकीर्णान्तं, सरसगहनं च एनं शैलराजं उल्का अर्पित चमरी-बालभार: दवाग्नि: त्वत्सान्निध्यात् न बाधते ।

अर्थ—हिम समूह से शिखर के अग्रभाग को व्याप्त करने वाले कवच से ढँके हुए के समान चारों ओर से व्याप्त देह वाले तथा जल को धारण करने वाली हजारों औषधियों से व्याप्त पर्यन्त प्रदेश वाले और सरस तथा गहन इस पर्वतराज को उल्काओं से चमरी गायों के बाल समूह को जलाने वाली वन की आग तुम्हारी समीपता के कारण पीड़ित नहीं करेगी ।

त्वत्तो निर्यन्स यदि सहसा विद्युतो जातवेदाः,
प्रालेयाद्रिं सतुहिनवनं निर्दिधक्षेत्तदा स्वैः ।
अर्हस्येनं शर्मयितुमलं वारिधारासहस्रै-
रापन्नार्त्तिप्रशमनफलाः सम्पदो ह्युत्तमानाम् ॥६२॥

त्वत्त इति । **त्वत्तः** त्वत्सकाशात् । **सहसा** शीघ्रेण । **निर्यन्** निर्गच्छन् । स: प्रसिद्ध: । **विद्युतः** तडित: । **जातवेदाः** अग्नि: । ''जातवेदास्तनूनपात्'' इत्यमर: । मेघज्योतिरित्यर्थ: । **सतुहिनवनं** सतुहिनं हिमसहितं वनं यस्य तम् । **प्रालेयाद्रिं** हिमवन्नगम् । **यदि निर्दिधक्षेत्** निर्दग्धुमिच्छेच्चेत् । ''दह भस्मीकरणे'' इति धातो: सन्नन्ताल्लिङ् । **तदा** तत्समये । **स्वैः** स्वकीयै: । **वारिधारा सहस्रैः** वारिधाराणां सहस्रैरनेकै: । **एनं** वह्निम् । **शर्मयितुं** उपशमनाय । **अलंशक्त्या अर्हसि** योग्यो भवसि । उक्तं चैतदित्याह । **उत्तमानां** महताम् । **सम्पदः** समृद्धय: । **आपन्नार्त्ति-प्रशमनफला** आपन्नानाम् आर्तानाम् आर्तै: पीडाया: ''आर्त्ति: पीडाधनुष्कोटयो:'' इत्यमर: । प्रशमनम् उपशमनमेव फलं यासां ता: तथोक्ता: । **हि** स्फुटम् । भवेयु-रिति शेष: । अतो हिमाचलस्य दावानलस्त्वया शमयितव्य इति भाव: ॥६२॥

अन्वय—त्वत: सहसा निर्यन् विद्युत: जातवेदा: यदि सतुहिनवनं प्रालेयाद्रिं निर्दिधक्षेत् तदा स्वै: वारिधारासहस्रै: एनं अलं शर्मयितुं अर्हसि, (हि) यत: उत्तमानां सम्पद: आपन्नार्तिप्रशमनफला: ।

अर्थ—तुम्हारे निकट से शीघ्र निकलती हुई बिजली की आग यदि तुषार युक्त वनों वाले हिमालय को पूरी तरह जलाना चाहे तो (तुम) अपनी हजारों पानी की धाराओं से इस हिमालय को अत्यधिक रूप से

(जंगल की आग से) शान्त करने के योग्य हो; क्योंकि श्रेष्ठ व्यक्तियों की सम्पदायें आपद्ग्रस्तों की पीड़ायें दूर करने रूप फलों से युक्त होती हैं।
इतोऽर्थवेष्टितानि—

मोच्चैस्तत्र स्तनितनिनदानद्रिकुञ्जे तथास्त्व-
मेषां त्वद्भूद्भयमसुहरं शौर्यदर्पोद्धुराणाम् ।
ये संरम्भोत्पतनरभसास्स्वाङ्गभङ्गाय तस्मिन् ।
मुक्ताध्वानं सपदि शरभा लङ्घयेयुर्भवन्तम् ॥६३॥

मोच्चैरिति । तस्मिन् हिमवति । संरम्भोत्पतनरभसाः संरम्भः कोपः "संरम्भः सम्भ्रमे कोपे" इति शब्दार्णवे । तेन उत्पतने उच्चलने रभसो वेगो येषां ते तथोक्ताः । "रभसो वेगहर्षयोः" इत्यमरः । ये शरभाः अष्टापदमृगाः । "शरभोऽष्टापदे मृगान्तरे" इति विश्वः । स्वाङ्गभङ्गाय स्वेषां शरीरावमर्दनाय । मुक्ताध्वानं मुक्तोध्वा मार्गो येन तम् । भवन्तम् त्वाम् । सपदि शीघ्रम् । लङ्घयेयुः उल्लङ्घनं कुर्युः । सम्भावनायां लिङ् । शौर्यदर्पोद्धुराणां शौर्यगर्वोद्धुराणाम् । एषां शरभमृगाणाम् । त्वत् भवतः सकाशात् । असुहरम् प्राणहरणम् । "पुंसि भूम्न्यसवः प्राणाः" इत्यमरः । भयं भीतिः । मा भूत् न भवतु । तस्मात् तत्र तन्नगे । अद्रिकुञ्जे पर्वतलतावगण्डे । त्वं भवान् । स्तनितनिनदान् गर्जितध्वनीन् । "शब्दे निनादनिनदध्वनिध्वान रवस्वनाः" इत्यमरः । उच्चैः अधिकम् । मा तथाः मा कृथाः । "तनूङ् विस्तारे "लङ्ात्मनेपदम् । "तन्यस्थास्थः" इति सेर्वालुक् । "हन्मयम्" इति न लुक् । "लुङ्लुङि" इत्यदागमनिषेधः ॥६३॥

अन्वय—तस्मिन् संरम्भोत्पतनरभसाः ये शरभाः मुक्ताध्वानं भवन्तं स्वाङ्ग भङ्गाय सपदि लङ्घयेयुः (तेषां) शौर्यदर्पोद्धुराणां एषां त्वत् असुहरं भयं मा भूत (इति) तत्र अद्रिकुञ्जे उच्चैः स्तनितनिनदान् त्वं तथाः ।

अर्थ—हिमालय पर्वत पर कोप पूर्वक वेग से उछलने वाले जो अष्टापद नामक मृग हैं, वे उनके मार्ग को छोड़ने वाले आपको अपने अङ्गों का विनाश करने के लिए शीघ्र लङ्घन करें तो शौर्य के अभिमान से उद्धृत अष्टापदों को तुमसे प्राणघातक भय न होवे अतः हिमालय की पर्वतीय. गुफा में तुम गम्भीर गर्जन की ध्वनि मत करना ।

यद्यप्येते स्तनितरभसादुत्पतेयुर्भवन्तं,
तैर्यग्योना भृशमपधियः स्वाङ्गभङ्गैकनिष्ठाः ।
तान्कुर्वीथास्तुमुलकरकावृष्टिपातावकीर्णान्,
केषां न स्युः परिभवपदं निष्फलारम्भयत्नाः ॥६४॥

यदीति। यद्यपि यदा कदाचित्। तैर्यग्योनाः तिर्यग्योनिभवाः। अपधियः अपगता धीर्बुद्धिर्येषां ते तथोक्ताः। स्वाङ्गभङ्गैकनिष्ठाः स्वाङ्गानां भङ्गेन मर्दनेन निष्ठा उद्युक्ताः। "निष्ठा निष्पत्तिनाशान्ताः" इत्यमरः। एते शरभाः। स्तनितरभसात् त्वद्गर्जितवेगात्। "रभसो वेगहर्षयोः" इत्यमरः। भवन्तम् त्वां। भृशं अत्यर्थं। उत्पतेयुः लङ्घयेयुः। तान् शरभान्। तुमुलकरकावृष्टिपातावकीर्णान् तुमुलाः करका वर्षोपलास्तासां वृष्टिस्तस्याः पातेन अवकीर्णान् अधः क्षिप्तान् कुर्वीथाः कुरुष्व। विध्यर्थे लिङ्। क्षुद्रोप्यधिक्षिपन् विपक्षस्सदयः प्रक्षेप्तव्य इति भावः। तथाहि निष्फलारम्भयत्नाः आरभ्यन्त इत्यारम्भाः कर्माणि तेषु उद्योगः स निष्फलो येषां ते तथोक्ताः निष्फलकार्योपक्रमा इत्यर्थः। केषां पुंसां। परिभवपदं तिरस्कारास्पदं। न स्युः न भवेयुः। भवेयुरित्यर्थः। "घनोपलस्तु करकः" इति यादववचनात् करकशब्दस्य नियत पुल्लिङ्गाभिप्राये करकाणामवृष्टिरिति केषांचिन्मतं। तदन्येनाप्यनु मन्यते "वर्षोपलस्तु करका" इत्यमरः। तद्व्याख्याने "कमंडलौ च करकः" इति नानार्थे पुंस्त्यपि वचनात् पुल्लिंगताविधाने तात्पर्यं न तु स्त्रीलिंगतां निषेधयति। न तद्विरोधः। करकस्तु करंडे स्याद्दाडिमे च कमंडलौ। पक्षिभेदे करे चास्ति करका च घनोपले" इति विश्वप्रकाशवचनेन तूभयलिंगता प्युक्तैवेति न विरोधः॥६४॥

अन्वय—यदि एते शरभाः स्वाङ्गभङ्गैकनिष्ठाः तैर्यग्योनाः अपधियः स्तनितरभसात् भवन्तं उत्पतेयुः अपि (तदा) तान् तुमुलकरकावृष्टिपातावकीर्णान् कुर्वीथाः। निष्फलारम्भयत्नाः केषां परिभवपदं न स्युः।

अर्थ—अपने अङ्गों को नष्ट करने रूप अद्वितीय व्यापार से युक्त तिर्यञ्च योनि में उत्पन्न ये शरभ (अष्टापद) यदि अत्यधिक हतबुद्धि होकर (तुम्हारी) गर्जना के वेग के कारण आपके ऊपर उछलें तो उन अष्टापदों को पर्याप्त रूप से ओलों की वृष्टि कर तितर बितर कर देना। निष्फल कर्म में प्रयास करने वाले कौन पुरुष तिरस्कार के पात्र नहीं होते हैं।

तत्र व्यक्तं दृषदि चरणन्यासमर्धेन्दुमौले-
रर्च्यं भर्तुस्त्रिभुवनगुरोरर्हतः सत्सपर्यैः।
शश्वत्सिद्धैरुपहृतबलिं भक्तिनम्रः परीयाः,
पापापाये प्रथममुदितं कारणं भक्तिरेव ॥६५॥

तत्रेति। तत्र हिमवति। दृषदि शिलायां। "शिला दृषद्" इत्यमरः। त्रिभुवनगुरोः त्रिभुवनानां गुरुर्हितोपदेशकस्तस्य भर्तुः स्वामिनः। अर्धेन्दुमौलेः इन्दोरर्धं अर्धेन्दुः समेंऽशमिति तत्पुरुषसमासे सूक्तत्वात्पूर्वनिपातः मौलिरिति मौलिः अर्धेन्दोर्मौलि-

तस्य । "चूडाकिरीटकेशाश्च संयतामौल्यस्त्रयः ।" इत्यमरः । उपहृतबलिम् उपहृतः कृतः बलिः यस्मै तथोक्तस्तम् । अर्च्यम् अर्चितुं योग्यस्तं पूजनीयम् । व्यक्तं व्यज्यते स्म व्यक्तस्तं निवृतम् । चरणन्यासं न्यसनं न्यासः चरणयोर्न्यासस्तम् । "पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम् ।" इत्यमरः पादन्यासप्रतिबिम्बमित्यर्थः । भक्तिनम्रः भक्त्या नमनशीलः सन् । "नम्रकम्प्यजस्करं...... " परीताः प्रदक्षिणीकुरु "प्रदक्षिणूर्वा-दिणूलतौ" इति वार्तोलिङ्क् । तदाहि पापापाये कर्मनिवारणे । भक्तिरेव गुणानुराग एव । प्रथमं मुख्यम् । कारणं निदानम् । उदितं भाषितम् । उक्तं भाषितमुदितम् इत्यमरः । एकांतरितार्नवेष्टितमिदं ॥६५॥

अन्वय—तत्र, दृषदि, व्यक्तं, अर्धेन्दुमौलेः, अर्च्यं सम्यगर्वः सिद्धैः शश्वत् उपहृत बलिं भर्तुः त्रिभुवनगुरोः अर्हतः चरणन्यासं भक्तिनम्रः (सन्) परीताः (सतः) पापापाये भक्तिः एव प्रथमं कारणं उदितं ।

अर्थ—हिमालय पर्वत पर शिला पर प्रकट अर्धचन्द्र के चिह्न से अंकित मुकुटधारी देव विशेष के पूज्य समीचीन परिचर्या अथवा सुश्रूषा करने वाले सिद्ध नामक देवताओं से निरन्तर पूजित तीनों भुवनों के गुरु, स्वामी अर्हन्त भगवान् के प्रतिष्ठित दोनों चरणों में भक्ति से नम्र होकर प्रदक्षिणा करो, क्योंकि पाप को नष्ट करने में भक्ति ही प्रथम कारण कही गयी है।

यस्मिन्दृष्टे करणविगमादूर्ध्वमुद्धूतपापाः,
सिद्धक्षेत्रं विदधति पदं भक्तिभाजस्तमेनम् ।
दृष्ट्वा पूतस्त्वम् भवताद्धे पुनरू्ध्वतोऽमुं,
कल्पिष्यन्ते स्थिरगणपद प्राप्तये श्रद्दधानाः[1] ॥६६॥

यस्मिन्निति । यस्मिन् चरणन्यासे । दृष्टे प्रेक्षिते सति । भक्तिभाजः भक्तिसंपन्नाः । उद्धूतपापाः निर्मूलितपापाः सन्तः । करणविगमात् करणस्य गात्रस्य विगमात् त्यागात् । ऊर्ध्वम् अनन्तरम् । "करणं साधकतमक्षेत्रगात्रेन्द्रियेष्वपि" इत्यमरः । सिद्धक्षेत्रं मुक्तिस्थानम् । विदधति कुर्वन्ति । त्वमपि भक्तानपि । तमेनं पदं तदेव चरणम् न्यासम् । दृष्ट्वा अवलोक्य । पूतः पवित्रः । "पूतं पवित्रं मेध्यं च" इत्यमरः । भवतात् भव । पुनः पश्चात् । अमुं चरणन्यासम् । श्रद्दधानाः अविश्वसन्तः पुरुषाः । स्थिरगणपदप्राप्तये स्थिरं शाश्वतं यद्गणानां पदं स्थानं समवसरणं तस्य प्राप्तये लब्धये । अत्र गणपदस्य स्थिरविशेषणं नरस्थजीवानां क्षुधादिदोषा भावात्तरमस्वास्थ्यं सूचयति । दूरतः दविष्ठदेशात् । वै स्फुटम् ।

---

१. श्रद्दधानः ।

कल्पिष्यन्ते समर्था भविष्यन्ति । "कृपूङ् सामर्थ्ये । कर्मणि लृट् । तच्चरणन्यास-मध्वज्ञाभावे मिथ्यादृष्टित्वं स्यात् समवशरणं प्राप्तुं समर्था भवन्तीति तात्पर्यम् । इदं द्वयन्तरितार्धवेष्टितं ॥६६॥

अन्वय—यस्मिन् दृष्टे उद्धूतपापाः भक्तिभाजः करणविगमात् ऊर्ध्वं सिद्ध-क्षेत्रं बिभ्रति । एतं पदं दृष्ट्वा त्वं अपि पूतः भवतात् । अमुं दूरतः श्रद्दधानाः स्थिरगणपद प्राप्त्यै कल्पिष्यन्ते ।

अर्थ—जिन चरणचिह्नों के देखने पर जिनके पाप नष्ट हो गये हैं ऐसे भक्त शरीर-त्याग के अनन्तर सिद्धक्षेत्र की स्थापना करते हैं अर्थात् सिद्ध क्षेत्र को प्राप्त करते हैं । इस अर्हन्त भगवान के चरणचिह्न से युक्त स्थान को देखकर तुम भी पवित्र होओ । इन चरणचिह्नों के प्रति अत्यन्त श्रद्धा करने वाले लोग (तीव्र तपस्या करने वाले) मुनियों के स्थिर स्थान (मोक्ष) को पाने में समर्थ होंगे ।

तस्योपान्ते रिरचयिषवो नूनमातोद्यगोष्ठीं,
शब्दायन्ते मधुरमनिलैः कीचकाः पूर्यमाणाः ।
तत्रासेवां वितितनुषुभिर्लोकभर्तुर्जिनस्य,
संरक्ताभिस्त्रि[1] पुरविजयो गीयते किन्नरीभिः ॥६७॥

तस्य चरणन्यासस्य । **उपान्ते** समीपे । **आतोद्यगोष्ठीं** वादित्रगोष्ठीम् । "चतुर्विधमिदं वाद्यं वादित्रातोद्यनामकम्" इत्यमरः । **नूनं** निश्चयेन । **रिरचयिषवः** रचितुमिच्छवः । **अनिलैः** वायुभिः । **पूर्यमाणा** ध्माय-मानाः । **कीचकाः** वेणुविशेषाः । **अनिलैः** वायुभिः । पूर्यमाणा ध्मायमानाः । कीचकाः वेणुविशेषाः । "वेणवः कीचकास्ते स्युर्ये स्वनन्त्यनिलोद्धताः" इत्यमरः । **मधुरं** मनोहरं यथा तथा । **शब्दायन्ते** शब्दं कुर्वन्ति स्वनन्तीत्यर्थः । "शब्दादि कृञि वा" इति क्यङ् । अनेन वंशवाद्यसम्पत्तिरुक्ता । तत्रपवित्रस्थाने । **लोकभर्तुः** त्रिलोकस्वामिनः । जिनस्य अर्हतः । आसेवाम् आराधनाम् । **वितितनुषुभिः** वितनितुमिच्छुभिः विस्तरितुमिच्छुभिरित्यर्थः । **संरक्ताभिः** रक्तकण्ठीभिरिति वा संमत्ताभिरिति वा पाठः । वाद्यानुरक्ताभिः **किन्नरीभिः** किन्नरस्त्रीभिः । **त्रिपुर-विजयः** त्रयाणां पुराणाम् औदारिक तैजसकार्मणशरीराणां समाहारः त्रिपुरम् । "द्विगाधिकमप्यशान्तद्वितोत्तर पद" इत्यादिना समाहारसमासः । "पुरं पाटलिपुत्रे स्याद् गृहोपरिगृहे पुरम् ।" "पुरं पुरे शरीरे च गुग्गुले कथितः पुरः । पुरान्व्ययं पूर्वकाले" इति विश्वः । तस्य विजयोऽभिभवः **गीयते** स्तूयते । एकान्तरितार्ध-वेष्टितमिदम् ॥६७॥

---

1. संमत्ताभिरिति वा पाठः ।

अन्वय—तस्य उपान्ते आतोद्यगोष्ठीं विरचयिषवः अनिलैः पूर्यमाणाः कीचकाः नूनं मधुरं शब्दायन्ते । तत्र लोकभर्तुः जिनस्य आसेवां विधित्सुभिः संरक्ताभिः किन्नरीभिः त्रिपुरविजयः गीयते ।

अर्थ—भगवान् के चरणन्यास के समीप में वाद्यगोष्ठी को रचने के इच्छुक, वायुओं से भरे हुए बाँस निश्चित रूप से मधुर शब्द करते हैं। वहाँ पर लोकाधिपति अर्हन्त भगवान् की भक्ति करने की इच्छुक रक्तकण्ठी अथवा सातिशयभक्ति वाली किन्नरियों के द्वारा औदारिक, तैजस और कार्मण इन तीनों शरीरों के विजय (मोक्ष) का गीत गाया जाता है।

वेणुष्वेषु स्फुटमिति तदा मन्द्रतारं ध्वनत्सु
प्रोद्गायन्तीष्वतिकलकलं तज्जयं किन्नरीषु ।
निर्ह्लादी[1] ते मुरज[2] इव चेत्कन्दरीषु ध्वनिः स्यात्
सङ्गीतार्थो ननु पशुपतेस्तत्र भावी समस्तः ॥६८॥

वेणुष्विति । **तदा** तत्समये । **एषु वेणुषु** । तेषु वंशेषु । "शतपर्वा यवफलो वेणुमस्करतेजनाः" इत्यमरः । **स्फुटं** व्यक्तम् । **मन्द्रतारं** गम्भीरोच्चैः स्वरद्वयं यथा तथा । "मन्द्रस्तु गम्भीरे तारोऽत्युच्चैः" इत्युभयत्राप्यमरः । **इति** उक्तप्रकारेण । **ध्वनत्सु** कूजत्सु सत्सु । **किन्नरीषु** किन्नरस्त्रीषु । **तज्जयं** त्रिपुरजयम् । **अतिकलकलं** प्रकृष्टकलकलध्वनि यथा तथा । **प्रोद्गायन्तीषु** गायनं कुर्वन्तीषु सतीषु । **कन्दरीषु** दरीषु । "दरी तु कन्दरो वा स्त्री" इत्यमरः । **ते तव ध्वनिः** शब्दः **निर्ह्लादी** ध्वनिमान् । "स्वाननिर्घोषनिर्ह्लादनादनिस्वाननिस्वनाः" इत्यमरः । **मुरज इव** मुरजवत् । **स्याच्चेत्** यदि भवेत्तर्हि । **तत्र** तच्चरणसमीपे । **पशुपतेः** पशून् मन्दबुद्धीन् पाति रक्षति इति पशुपतिः । तस्य हितोपदेष्टुः जिनेश्वरस्येत्यर्थः । कथमर्हतः पशुपतिनामेति नाशङ्कनीयम् । "सर्वज्ञः सुगतो जिनः पशुपतिः" इति बहुलमुपलम्भात् । समस्तः **सकलः** । **सङ्गीतार्थः** सङ्गीतवस्तु "अर्थोऽभिधेयरैवस्तु प्रयोजननिवृत्तिषु" इत्यमरः । **ननु** निश्चयेन । **भावि** भविष्यन् । गम्यादिर्वत्स्यतीति साधुः । इदमनन्तरिताभिवेष्टितं ॥६८॥

अन्वय—तदा एषु वेणुषु इति स्फुटं मन्द्रतारं ध्वनत्सु, किन्नरीषु तज्जयं

---

१. मारुतरंध्रपूर्णवेणुबोधककीचकपदेनैव विशेषणजन्यार्थलाभे विशेषणस्य वैयर्थ्यमिति नैयायिका विशिष्टवाचकानां पदानां सति पृथग्विशेषणे विशेष्यमात्रपरत्व मिति न्यायादिति वदन्ति । निर्ह्लादस्ते इत्यपि पाठः ।

२. मुरज इवेत्यपि पाठः ।

अलिकलकलं प्रोद्गायन्तीषु ते ध्वनिः मुख, इव, कन्दरीषु निर्ह्रादी स्यात् चेत्, तत्र, पशुपतेः सङ्गीतार्थः ननु समस्तः भावी।

अर्थ—भगवान् के चरणचिह्नों की आराधना के अवसर पर इन बाँसों को इस प्रकार स्पष्ट, गम्भीर और उच्च ध्वनि करने पर तथा किन्नरियों द्वारा त्रिपुरविजय अत्यन्त कोलाहल पूर्वक गाने पर यदि मृदंग के समान तुम्हारी ध्वनि कन्दराओं में प्रतिध्वनित होगी तो प्राणियों की रक्षा करने वाले भगवान् अर्हन्त का संगीत पूर्ण हो जायगा।

प्रालेयाद्रेरुपतटमतिक्रम्य तांस्तान्विशेषान्,
तस्यादूरे कुकविकविताकल्पितं तत्प्रतीयाः।
हंसद्वारं भृगुपतियशोवर्त्म यत्क्रौञ्चरन्ध्रं,
दण्डेनाविष्कृतमिव गुहाद्वारकं वैजयार्धम् ॥६९॥

प्रालेयाद्रेरिति। **प्रालेयाद्रेः** हिमवद्गिरेः। **उपतटं** तटसमीपे। "शब्दप्रथा" इत्यव्ययीभावः। **तांस्तान्** प्रदेशान्। "वीप्सायाम्" इति द्विरुक्तिः। **विशेषान्** प्रष्टव्यार्थान्। "विशेषोऽवयवे द्रव्ये प्रष्टव्योत्तमवस्तुनि।" इतिशब्दार्णवे। **अतिक्रम्य** दर्शदर्शं गत्वा। **तस्य** हिमाद्रेः। **अदूरे** समीपे। **यत्** **भृगुपति यशोवर्त्म** भृगुपतेः जामदग्न्यस्य यशसः कीर्तेः वर्त्म प्रसृतिकारणमित्यर्थः। **हंसद्वारं** हंसानां द्वारं मानसप्रस्थायिनो हंसाः क्रौञ्चरन्ध्रेण सञ्चरन्तीति तदागमः। **क्रौञ्चरन्ध्रं** क्रौञ्चस्याद्रेः रन्ध्रं विवरं तत् **कुकविकविताकल्पितम्** कुत्सितकविरचितं लौकिकजनैः कल्पितमित्यर्थः। **वैजयार्धं** चक्रिणां विजयस्य अर्धं विजयार्धः रजताद्रिः विजयस्यार्धस्येदं वैजयार्धम्। **गुहाद्वारक मिव** द्वारमेव द्वारकं गुहायाः द्वारकं कन्दरद्वारमिव। **प्रतीयाः** प्रतिविशेः। अत्र क्रौञ्चरन्ध्रमिति क्वचिद्गुहाविवास्य विजयार्धगुहोपमया महत्त्वं लक्ष्यते ॥६९॥

अन्वय—प्रालेयाद्रेः उपतटं तान् तान् विशेषान् अतिक्रम्य तस्य अदूरे कुकविकविताकल्पितं, हंसद्वारं, भृगुपतियशोवर्त्म यत् क्रौञ्चरन्ध्रं तत् दण्डेन आविष्कृतं वैजयार्धं गुहाद्वारकं इव प्रतीयाः।

अर्थ—हिमालय पर्वत के तट के समीप में सब देखने योग्य पदार्थों का अतिक्रमण कर उसके (हिमालय के) समीप में कुकवि की कविता से कल्पित हंसों का द्वारभूत और परशुराम की कीर्ति का मार्ग स्वरूप जो क्रौञ्चपर्वत का छिद्र है उसे (चक्रवर्ती के) दण्ड से खोले गये विजयार्ध पर्वत के गुहाद्वार के समान जानो।

एकान्तरितार्धवेष्टितानीतः—

बह्वाश्चर्ये हिमवति कृतालोकनत्वादसङ्ग-
स्तेनोदीचीं दिशमनुसरेस्तिर्यगायामशोभी ।
कृष्णः सर्पो गुरुरिव गिरेर्गह्वरान्निष्पताशु,
श्यामः पादो बलिनियमनाभ्युद्यतस्येव विष्णोः ॥७०॥

बह्विति । **बह्वाश्चर्ये** बहु आश्चर्यं यस्मिन् तस्मिन् । **हिमवति** हिमाचले । **कृतालोकनत्वात्** विहितदर्शनत्वात् । **असङ्गः** सङ्गहीनः । **तिर्यगायामशोभी** तिर्यगायामेन छिद्रप्रवेशार्थं तिरश्चीनदैर्घ्येण शोभत इति तिर्यगायामशोभी सन् । ताच्छील्ये णिनत् । "दैर्घ्यमाणा म आरोहः" इत्यमरः । **गिरेः** क्रौञ्चगिरेः । **गह्वरात्** गुहाद्वारात् । "दरी तु कन्दरो वा स्त्री देवखातबिले गुहा । गह्वरम्" इत्यमरः । गुरुर्महान् । **कृष्णः सर्प इव** कालोरग इव । बलिनियमनाभ्युद्यतस्य बलिनियमने बलेः बलिनामविप्रस्य नियमने बन्धने । अभ्युद्यतस्य प्रवृत्तस्य । **विष्णोः** विष्णुमुनेः । **श्यामः** कृष्णवर्णः । **पाद इव** चरण इव । **आशु** शीघ्रम् । **निष्पत** निर्गच्छ ॥७०॥

अन्वय—बह्वाश्चर्ये हिमवति कृतालोकनत्वात् असङ्गः तिर्यगायामशोभी (त्वं) तेन उदीचीं दिशं अनुसरेः । गुरुः कृष्णः सर्प इव बलिनियमने अभ्युद्यतस्य विष्णोः श्यामः पादः इव गिरेः गह्वरात् आशु निष्पत् ।

अर्थ—बहुत से विस्मयावह दृश्यों से सम्पन्न हिमालय पर्वत को प्राप्त करने का निश्चय करने के कारण निरासक्त तिरछे विस्तार से शोभित तुम क्रौञ्च नामक पर्वत के विवरमार्ग से उत्तर दिशा का अनुसरण करो । बिल से निकलने वाले महाकाय काले सर्प के समान तथा बलि को बाँधने के लिए तत्पर विक्रिया ऋद्धि को प्राप्त विष्णु कुमार नामक मुनिराज के काले वर्ण वाले पैर के समान तुम पर्वत की गुफा से शीघ्र निकल जाओ ।

तस्माद्धूमप्रचय इव निःसृत्य शैलस्य रन्ध्रा-
द्गत्वा चोर्ध्वं दशमुखभुजोच्छ्वासितप्रस्थसन्धेः ।
शुभ्रादभ्रस्फटिकघटनाशोभिगण्डोपलस्य,
कैलासस्य त्रिदशवनितादर्पणस्यातिथिः स्याः ॥७१॥

तस्मादिति । **शैलस्य** क्रौञ्चाचलस्य । **तस्मात् रन्ध्रात्** तद्विवरात् । **धूमप्रचय इव** धूमसमूह इव । **निःसृत्य** निष्क्रम्य । **ऊर्ध्वं** व्योममार्गम् । **गत्वा च** चलित्वापि । **दशमुखभुजोच्छ्वासितप्रस्थसन्धेः** दशमुखस्य रावणस्य भजैरुच्छ्वासिताः विश्लेषिताः प्रस्थानां सानूनाम् "कटकोऽस्त्री नितम्बोऽद्रेः स्नुः प्रस्थः सानुरस्त्रियाम्" इत्यमरः । सन्धयो यस्य तथोक्तस्य । "रन्ध्र संश्लेषयोः सन्धिः" इति धनञ्जयः । एतत्कथाव-

तारः पुण्यास्रवे दृढ्यः। **शुभ्राच्छस्फटिकघटनाशोभि गण्डोपलस्य** शुभ्राणां निर्मलानाम् अदभ्राणां स्थूलानां स्फटिकानां घटनया शोभिनो मनोहराः गण्डोपलाः यस्य तथोक्तस्य। "अदभ्रं भूरि भूयिष्ठम्" इति धनञ्जयः। "गण्डशैलास्तु च्युताः स्थूलोपला गिरेः" इत्यमरः। **त्रिदशवनितादर्पणस्य** त्रिदशस्य स्वर्गस्य वनितानां दर्पणम् आदर्श तस्य। स्वस्वीमन्तिनीनां संमुखीनीनो यमस्य राजत्वाद्विम्ब-ग्राहित्वाद्विदमुक्तम्। **कैलासस्य** अष्टापदगिरेः कैलासाचलस्य प्रान्तं व्रजेति तात्पर्यम् ॥७१॥

क्षीरादच्छच्छविभिरभितः प्रोच्चलन्निर्झरौघैः,
भृङ्गोच्छ्रायैः कुमुदविशदैर्यो वितत्य स्थितः खम्।
नृत्तारम्भे प्रतिकृतिगतस्यादिभर्तुः पुरस्ता-
द्राशीभूतः प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्याट्टहासः ॥७२॥

क्षीरादिति। **यः** कैलाशाचलः। **क्षीरात्** पयसोपि। **अच्छच्छविभिः** निर्मल-कान्तिभिः। 'त्रिष्वागाधात्प्रसन्नोच्छः' इत्यमरः। **अभितः** परितः। **प्रोच्चलन्निर्झरौघैः** प्रोच्चलतां उद्गच्छतां निर्झराणां प्रवाहाणाम् ओघैः समूहैः। **कुमुदविशदैः**। "सिते कुमुदकैरवे विशदश्वेतपाण्डराः" इत्यमरः। **भृङ्गोच्छ्रायैः** शिखराणामुन्नतिभिः। "नगाद्यारोह उच्छ्राय उत्सेधश्चोच्छ्रयश्च सः" इत्यमरः। **खम्** आकाशम्। "सुरवर्त्म खम्" इत्यमरः। **वितत्य** व्याप्य। **प्रतिकृतिगतस्य**। प्रतिमात्मकस्य। "प्रतिकृतिरर्च्चा पुंसि प्रतिनिधिः" इत्यमरः। **आदिभर्तुः** आदिजिनेश्वरस्य। **पुरस्तात्** अग्रतः। **त्र्यम्बकस्य** ईशानदिक्पतेः। **नृत्तारम्भे** आनन्दनर्तनप्रारम्भे। "लास्यं नृत्तं च नर्तनं" इत्यमरः। अट्टहासः हासभेदः। "अट्टोऽतिशयभूमौ" इति यादवः। "अट्टहासो महत्तरे" इति विदग्धचूडामणौ। हासादीनां धावल्यं कवि समय सिद्धम् **प्रतिदिनं** दिनं प्रति। **राशीभूत इव** पुञ्जीभूत इव। **स्थितः** तिष्ठति स्म ॥७२॥

अन्वय—शैलस्य तस्मात् रन्ध्रात् धूमप्रचय इव निःसृत्य ऊर्ध्वं च गत्वा क्षीरात् अच्छच्छविभिः, अभितः प्रोच्चलन्निर्झरौघैः कुमुदविशदैः भृङ्गोच्छ्रायैः प्रतिकृतिगतस्य आदिभर्तुः पुरस्तात् प्रतिदिनं, नृत्तारम्भे राशीभूतः त्र्यम्बकस्य अट्टहासः इव खं वितत्य यः स्थितः तस्य दशमुखभुजोच्छ्वासितप्रस्थसन्धेः शुभ्राच्छस्फटिकघटनाशोभि गण्डोपलस्य, त्रिदशवनितादर्पणस्य कैलाशस्य अतिथिः स्याः।

अर्थ—क्रौञ्च नामक पर्वत के उस विवर से धुएँ के समूह के समान निकल कर तथा ऊपर (आकाश मार्ग में) जाकर दूध से भी अधिक स्वच्छ

स्फटिक के समान कान्ति वाले चारों ओर बहते हुए फेन से युक्त जल प्रवाहों तथा कुमुद के समान शुभ्र कान्तिवाली ऊँची चोटियों द्वारा (जो कैलाश पर्वत) आदि जिनेश्वर की मूर्ति के आगे प्रतिदिन नृत्य के आरम्भ में पुञ्जीभूत होकर ईशान दिशा के रुद्र के अट्टहास के समान आकाश को व्याप्त कर जो स्थित है उस रावण की भुजाओं से वियोजित प्रस्थसन्धियों से युक्त शुभ्र वर्ण और स्थूल स्फटिक के संसर्ग से शोभित स्थूल पत्थरों वाले और देवस्त्रियों के दर्पण के समान कैलाश पर्वत के अतिथि हो जाओ।

उत्पश्यामि त्वयि तटगते स्निग्धभिन्नाञ्जनाभे,
शोभामद्रेर्वटतरुमतो मण्डलभ्राजितस्य।
सद्यः कृत्तद्विरदरदनच्छेदगौरस्य तस्य,
प्रालेयांशोर्ग्रसितुमनसा राहुणेवाश्रितस्य ॥७३॥

उत्पश्यामीति। **स्निग्धभिन्नाञ्जनाभे** स्निग्धं मसृणं भिन्नं मर्दितं च यदञ्जनं तस्य आभेव आभा यस्य तस्मिन्। **त्वयि** भवति। **तटगते** सानुगते सति। **वटतरुमतः** वटवृक्षवतः। **मण्डलभ्राजितस्य** बिम्बेन वृत्तेन राजितस्य। "बिम्बोऽस्त्री मण्डलं त्रिषु" इत्यमरः। सं द्यः तत्क्षणे। **कृत्तद्विरदरदनच्छेदगौरस्य** कृत्तस्य छिन्नस्य द्विरदरदनस्य गजदन्तस्य छेदवत् भागवद्गौरस्य शुभ्रस्य। "अवदातः सितो गौरोवलक्षो धवलोऽर्जुनः इत्यमरः। इदं विशेषणत्रयमुभयत्राप्यन्वीयते। **ग्रसितुमनसा** ग्रसितुं मनो यस्य तेन **राहुणा** स्वर्भानुना। **आश्रितस्य** संयुक्तस्य। **प्रालेयांशोरिव** चन्द्रस्येव। **तस्याद्रेः** कैलाशस्य। **शोभां** द्युतिम्। **उत्पश्यामि** उत्प्रेक्षे। शोभा भविष्यतीति तर्कयामीत्यर्थः ॥७३॥

अन्वय—स्निग्धभिन्नाञ्जनाभे त्वयि तटगते (सति) वटतरुमतः मण्डलभ्राजितस्य, सद्यः कृत्तद्विरदनच्छेदगौरस्य, ग्रसितु मनसा राहुणा आश्रितस्य प्रालेयांशोः इव तस्य अद्रेः शोभां उत्पश्यामि।

अर्थ—सूक्ष्म और पीसे गए काजल के समान तुम जब हिमालय के तट प्रदेश में पहुँचोगे तो वटवृक्ष से युक्त परिधिगत भूप्रदेश से शोभित (पक्ष में प्रभामण्डल से शोभित) उसी क्षण काटे हुए हाथी दाँत के टुकड़े के समान सफेद और ग्रसने के इच्छुक राहु द्वारा आश्रित (संयोग वाले) चन्द्रमा के समान उस हिमालय की शोभा हो जायगी, ऐसी मैं सम्भावना करता हूँ।

भावार्थ—मेघ राहु के समान है और हिमालय चन्द्रमा के समान है। जब मेघ हिमालय पर पहुँचेगा तब वह ऐसा प्रतीत होगा जैसे राहु ने चन्द्रमा को ग्रस लिया हो।

त्वय्यारूढे शिखरमभितोऽधित्यकां तस्य मन्ये,
पार्श्वाग्रे वा पुनरपि दशास्यावतारप्रपञ्चम् ।
लीलामद्रेस्स्तिमितनयनप्रेक्षणीयां भवित्री-
मंसन्यस्ते सति हलभृतो मेचके वाससीव ॥७४॥

त्वयीति । **तस्य** कैलासस्य **शिखरमभितः** शिखरस्य सर्वतः "हाधिक्समया" इत्यादिना द्वितीया । **अधित्यकाम्** ऊर्ध्वभूमिम् "उपत्यकाद्रेरासन्ना भूमिरूर्ध्व-मधित्यका" इत्यमरः । **त्वयि** भवति । **आरूढे** निविष्टे सति । पुनरपि प्रागिव पश्चादपि । **दशास्यावतारप्रपञ्चं** दशास्यस्य रावणस्य अवतारस्य प्रपञ्चं विस्तारम् । "विपर्यासे विस्तरे च प्रपञ्चः" इत्यमरः । **मन्ये** जाने । **पार्श्वाग्रे वा** पार्श्वपरिभागे वा । **वा** शब्दः पक्षान्तरे । "उपमायां विकल्पे वा" इत्यमरः । **त्वयि** तदधित्यका-यामारूढे सतीति पुनरन्वयः । **मेचके** श्यामले । "कालश्यामलमेचकाः" इत्यमरः । **वाससि** वस्त्रे । "वस्त्रमाच्छादनं वासः" इत्यमरः । हलभृतः बलभद्रस्य । "मुसलीहली" इत्यमरः । **अंसन्यस्ते** अंसे भुजशिरसि । न्यस्यते स्म तथोक्तं तस्मिन् । "स्कन्धो भुजशिरोंऽसोऽस्त्री" इत्यमरः । **सति** अस्तीति सन् तस्मिन् सति । **इव** यद्वत् तद्वत् । **अद्रेः** कैलासस्य । **भवित्रीं** भाविनीम् । **स्तिमितनयनप्रेक्षणीयां** स्तिमिताभ्यां निर्निमिषाभ्यां नयनाभ्यां प्रेक्षणीयाम् दर्शनीयाम् अतिप्रकृष्टामित्यर्थः । **लीलां** शोभामिति वा पाठः । **मन्ये** जानामि । "बुद्धिमति ज्ञाने" । त्वयि अग्रभा-गस्थे बलभद्रभुजशिरःस्थितश्यामवस्त्रेणोत्प्रेक्ष्यते इत्यर्थः ॥७४॥

अन्वय—तस्य शिखरं अभितः अधित्यकां त्वयि आरूढे (सति) दशास्यावतारप्रपञ्चं मन्ये । पुनः अपि पार्श्वाग्रे वा (त्वयि आरूढे) मेचके वाससि अंसन्यस्ते सति हलभृतः इव स्तिमितनयनप्रेक्षणीयां अद्रेः लीलां भवित्रीं (मन्ये) ।

अर्थ—कैलाश पर्वत के शिखर के चारों ओर पहाड़ के ऊपर की समतलभूमि में आपके आरूढ होने पर दशानन (रावण) के आकार का आविर्भाव मानता हूँ । तुम आरूढ़ होकर बगल में अथवा कन्धे पर काले रंग वाला वस्त्र रख लोगे तो कैलाश पर्वत की बलराम के समान निश्चल नेत्रों से दर्शनीय शोभा हो जायगी ।

एकान्तरितार्धवेष्टितम्—

तस्मिन्हित्वा भुजगवलयं शम्भुना दत्तहस्ता,
सम्प्राप्योच्चैर्विरचित इवानीलरत्नैस्त्वयीयम् ।
क्रीडाशैले यदि च विहरेत्पादचारेण गौरी-
मा स्म स्फूर्जः सितिफणिभयान्मा स्म संवलेदिनी भूत् ॥७५॥

तस्मिन्निति । **तस्मिन्** कैलासे । **भुजगवलयं** भुजग एव वलयं तत् । "कटकं वलयोऽस्त्रियाम्" इत्यमरः । **हित्वा** मुक्त्वा । **शम्भुना** ईशानदिगीशेन । **दत्तहस्ता** दत्तो हस्तो यस्याः सावितीर्णकरालम्बा । **इयं गौरी** पार्वती । **संप्राप्य** समागत्य । **आनीलरत्नैः** इन्द्रनीलमणिभिः । **विरचिते** कल्पिते । **उच्चैः** महति । **क्रीडाशैल इव** क्रीडाद्राविव । **त्वयि** भवति । **पादचारेण** चरणगमनेन यानादि हित्वेत्यर्थः । **यदि च विहरेत्** सञ्चरेत्तर्हि । ... स्फूर्जः मास्म गर्जः । "स्फूर्जथुर्वज्र" वज्रनिर्घोषे । तद् **सितिफणिभयात्** सितिश्चासौ फणिश्च सितिफणिः कालोरगः । "सिति धवलमेचकौ" इत्यमरः । इति भयात् भीतेः । **संक्लेदिनी मनः** खेदवती । **मास्म भूत्** न भवतु । क्रीडाशैल इति त्वदुपरि विहरणेच्छं गर्जयसि चेत् तस्याः कालोरग इति भीतिर्भवेत् इति तात्पर्यम् ॥७५॥

अन्वय—भुजगवलयं तस्मिन् हित्वा शम्भुना दत्तहस्ता इयं गौरी सम्प्राप्य आनीलरत्नैः उच्चैः विरचिते क्रीडाशैले इव त्वयि यदि च पादचारेण विहरेत् सितिफणभयात् सङ्क्लेदिनी मा स्म भूत (इति) मा स्म स्फूर्जः ।

अर्थ—सर्परूप कड़े को अथवा मण्डलाकार परिणमित अपने शरीर को कैलाश पर्वत पर छोड़ कर रुद्र के तुल्य ईशान दिशा के स्वामी द्वारा हाथ का सहारा दी हुई यह गौरी के सदृश गौर अंग वाली स्त्री अथवा ईशान दिशा के स्वामी की पत्नी आकर अत्यधिक नीलवर्ण वाले रत्नों से अत्यन्त ऊँचे रचे गए क्रीड़ा पर्वत के समान तुम्हारे ऊपर यदि पैदल विहार करे (तब) काले साँप के भय से (वह) मानसिक दुःख से युक्त न हो अतः गर्जना की ध्वनि मत करो ।

विशेष—योगिराट् पण्डिताचार्य ने गौरी का अर्थ पार्वती किया है ।

इन्द्राणी चेदुपगतवती जैनगेहानुपातं,
तस्मिन्निज्यां रचयितुमना देवभक्त्या तदास्याः ।
भङ्गीभक्त्या विरचितवपुस्स्तम्भितान्तर्जलौघः,
सोपानत्वं कुरु मणितटारोहणायाग्रचारी¹ ॥७६॥

इन्द्राणीति ॥ **तस्मिन्** कैलासे । **इन्द्राणी** शची महादेवी "वरुणेन्द्रमृडभव-शर्वरुद्राणाम्" इत्यानुक् । "ङीप्" इति ङी **इज्यां** जिनेन्द्रपूजाम् । **रचयितुमनाः** कर्तुमनाः सती । **देवभक्त्या** अर्हद्भक्त्या । **जैनगेहानुपातं** चैत्यालयसमीपम् । **उपगतवतीचेत्** आगताचेत् । **तदा** तत्समये । **त्वं** भवान् । **भङ्गीभक्त्या** भङ्गीनां पर्वणां भक्त्या रचनया । **विरचितवपुः** कल्पितशरीरः सन् । "स्त्रीनिषेवणे भागे रचनायाम्" इति शब्दार्णवे । **स्तम्भितान्तर्जलौघः** स्तम्भितो घनीभावं गमितो-

१. अग्रयायीत्यपि पाठः ।

न्तर्जलौघः प्रवाहो यस्य तथाभूतः सन्। **मणितटारोहणाय** मणीनां तटं तस्या-रोहणाय। **अग्रचारी** पुरोगः सन्। **अस्याः** इन्द्राण्याः। **सोपानत्वं** सोपानभावम्। **कुरु** विधेहि।

अन्वयः—देवभक्त्या, पूजां चिकीर्षुः इन्द्राणी जैनगेहानुपातं उपगतवती चेत् तदा स्तम्भितान्तर्जलौघैः भङ्गीभक्त्या विरचितवपुः अग्रचारी मणितटारोहणाय अस्याः सोपानत्वं कुरु।

अर्थ—देवभक्ति के कारण पूजा करने की इच्छुक इन्द्राणी प्रत्येक जैन मन्दिर अथवा एक के बाद दूसरे जैनमंदिर को आती हुई प्राप्त हो तो (तुम) भीतर जलप्रवाह को रोककर अपने शरीर को सीढ़ी के रूप में परिणत करते हुए आगे जाकर मणियों के तट पर आरोहण करने के लिए इसकी (इन्द्राणी की) सीढ़ी का काम करो।

अनन्तरितार्धवेष्टितम्—

अन्तस्तोयोच्चलनसुभगां भाविनीं तामवस्थां-
मन्वानास्तास्सुनिभृततरं सानुदेशे निषण्णम्।
तत्रावश्यं वलयकुलिशोद्घट्टनोद्गीर्णतोयं,
नेष्यन्ति त्वां सुरयुवतयो यन्त्रधारागृहत्वम् ॥७७॥

अन्तस्तोय इति। **अन्तस्तोयोच्चलनसुभगाम्** अन्तर्जलस्योद्गमनेन सुन्दराम्। **भाविनीं** भविष्यन्तीम्। **तामवस्थां** प्राक्कुर्वद्वृष्टिस्वरूपाम्। **मन्वानाः** मन्वते इति मन्वानाः जानन्त्यः। **ताः** **सुरयुवतयः** त्रिदिववनिताः। **तत्र** कैलासे। **सानुदेशे** तटप्रदेशे। **सुनिभृततरं** सुनिश्चलतरम्। **निषण्णम्** उपविष्टम्। **वलयकुलिशोद्घट्टनोद्गीर्णतोयं** वलयकुलिशानि कङ्कणकोटयः शतकोटिवाचिना कुलिशशब्देन कोटिमात्रं लक्ष्यते। तैरुद्घट्टनानि प्रहारास्तैरुदीर्णमुत्सृष्टं तोयं येन तम्। **त्वां** भवन्तम्। **यन्त्रधारागृहत्वम्** कृत्रिमधारा गृहत्वम्। **अवश्यं** नूनम्। **नेष्यन्ति** प्रापयिष्यन्ति ॥७७॥

अन्वयः—अन्तस्तोयोच्चलन सुभगां तां भाविनीं अवस्थां मन्वानाः ताः सुरयुवतयः सुनिभृततरं तत्र सानुदेशे निषण्णं वलयकुलिशोद्घट्टनोद्गीर्णतोयं त्वां यन्त्रधारागृहत्वं अवश्यं नेष्यन्ति।

अर्थ—अन्दर के जल के उछलने या बाहर निकलने से मनोहर उस आगे होने वाली अवस्था को विचार में लाती हुई वे देवाङ्गनायें कैलाश पर्वत के शिखर के ऊपरी भाग में निश्चल बैठे हुए वज्रमणि जड़े हुए कङ्कण के प्रहार से जल छोड़नेवाले तुम्हें अवश्य ही फुहारा बना डालेंगी।

आकर्षन्त्यो दृतिमिव सरस्तोयपूर्णामधस्तात्,
क्रीडिष्यन्ति त्रिदशवनितास्त्वामितश्चामुतश्च ।
ताभ्यो मोक्षो यदि तव सखे धर्मलब्धस्य न स्यात्,
क्रीडालोलाः श्रवणपरुषैर्गर्जितैर्भीषयेस्ताः ॥७८॥

आकर्षन्त्य इति । **सरस्तोयपूर्णां** कासाराम्भः सम्पूर्णाम् । **दृतिमिव** चर्मपात्रमिव । "दृतिश्चर्म घटे स्थे" इति विश्वः । **अधस्तात्** । अधोभागे । **इतश्चामुतश्च** अस्माच्चामुष्माच्च । **त्वां** भवन्तम् । **आकर्षन्त्यः** नयन्त्यः । **त्रिदशवनिताः** त्रिदिवमरण्यः । **क्रीडिष्यन्ति** क्रीडां करिष्यन्ति । "क्रीड" विहरणे । लृट् । **सखे** भो मित्र । **धर्मलब्धस्य** धर्मे निदाघे "धर्मो निदाघः स्वेदः स्यात्" इत्यमरः । लब्धस्य प्राप्तस्य । **तव** भवतः । **ताभ्यः** सुरयुवतिभ्यः । **मोक्षः** विश्लेषणम् । **यदि । स्यात्** न भवेत् । **तदा** । **क्रीडालोलाः** क्रीडासक्ताः प्रमत्ता इत्यर्थः । **ताः** सुरयुवतीः । **श्रवणपरुषैः** श्रवणानां कर्णानां परुषैः निष्ठुरैः । "निष्ठुरं परुषम्" इत्यमरः । **गर्जितैः** स्तनितैः । **भीषयेः** । "ञिभी भये" इति भीषादेशः । तर्जयेत्यर्थः ॥७८॥

अन्वय—अधस्तात् सरस्तोयपूर्णां दृतिं इव इतः च अमुतः च त्वा आकर्षन्त्यः त्रिदश वनिता क्रीडिष्यन्ति सखे ! ताभ्यः धर्मलब्धस्य तव मोक्षः यदि न स्यात् ताः क्रीडालोलाः श्रवणपरुषैः गर्जितैः भीषयेः ।

अर्थ—नीचे तालाब के जल से भरे हुए चमड़े के घट के समान इधर-उधर से तुम्हें खींचती हुई देवाङ्गनायें क्रीड़ा करेंगी । हे मित्र ! घाम की अवस्था को प्राप्त तुम्हारा यदि उन देवाङ्गनाओं से छुटकारा न हो तो क्रीड़ा में आसक्त होने वाली उनके कानों को कठोर लगने वाली गर्जनाओं से डरा दो ।

कृच्छ्रान्मुक्तो विविधकरणैस्तत्र रंत्वाऽथ ताभि-
र्भूयः शैले विहर गमितो वायुनाप्तक्षणाङ्कम् ।
हैमाम्भोजप्रसवि सलिलं मानसस्याददानः,
कुर्वन्कामं क्षणमुखपटप्रीतिमैरावणस्य ॥७९॥

कृच्छ्रादिति । **अथ** अनन्तरं । **तत्र** शैले । **ताभिः** देवनारीभिः **विविधकरणैः** विविधैरिन्द्रियैः नानाक्रीडासाधनैर्वा । "करणं साधकतमक्षेत्रगात्रेन्द्रियेष्वपि" इत्यमरः । **रंत्वा** क्रीडित्वा । **कृच्छ्रात्** कष्टात् । **मुक्तः** त्यक्तः । "ङसिभ्यांभ्यस्तोकाल्पकतिपयकृच्छ्रादसत्त्वे" इति पञ्चमी । **भूयः** पुनः । **वायुना** वातेन । **आप्तक्षणाङ्कं** प्राप्तक्षणावयम् । "अङ्कं प्रतीकोऽवयवोपघनः" इत्यमरः । **गमितः** ।

मानसस्य मानससरोवरस्य । **हेमाम्भोजप्रसवि** हेमाम्भोजानां प्रसवि प्रसवनमस्यास्तीति प्रसवि "स्यादुत्पादे फले पुष्पप्रसवे गर्भमोचने" इत्यमरः । **सलिलम्** जलम् । **आददानः** स्वीकुर्वाणः । पिबन्नित्यर्थः । **ऐरावणस्य** इन्द्रगजस्य । "ऐरावतोऽभ्रमातङ्गैरावणाऽभ्रमु वल्लभाः" इत्यमरः । **क्षणमुखपट प्रीति** क्षणे मानसजलादानकाले मुखपटेन या प्रीतिस्ताम् । **कुर्वन्** वितन्वन् । जिनेन्द्रपूजामागत शक्रस्य गजेन्द्रमुखाग्रभागेऽपि क्षणं तिष्ठन्नित्यर्थः । **कामं** यथेच्छया "कामं प्रकामं पर्याप्तं निकामेष्टं यथेप्सितम्" इत्यमरः । **शैले** कैलासनगे । **विहर** सञ्चर ॥७९॥

अन्वय—अथ तत्र ताभिः विविधिकरणैः रन्त्वा कृच्छ्रात् मुक्तः वायुना आप्तव्रणाङ्क गमितः, मानसस्य हेमाम्भोजप्रसवि सलिलं आददानः ऐरावणस्य क्षणमुखपटप्रीतिं कामं कुर्वन् शैले भूयः विहर ।

अर्थ—अनन्तर कैलाशपर्वत पर देवाङ्गनाओं के साथ (ताली से ताल देना आदि) नाना प्रकार की क्रियाओं से क्रीड़ा कर (उनके द्वारा) कष्ट से मुक्त हुये या छोड़े गये वायु द्वारा शरीर में व्रण (घाव) की अवस्था को प्राप्त मानसरोवर के स्वर्ग कमलों को उत्पन्न करने वाले जल को न ग्रहण करते हुए क्षणभर ऐरावत के मुख पर डाले गये वस्त्र के आनन्द को इच्छानुसार करते हुए कैलाशपर्वत पर पुनः विहार करो ।

क्रीडाद्रीणां कनकशिखराण्यावसंस्तत्र पश्यन्,
स्वर्गस्त्रीणां निधुवनलतागेहसम्भोगदेशान् ।
धुन्वन्कल्पद्रुमकिसलयान्यंशुकानि स्ववातै-
र्नानाचेष्टैर्जलद ललितैर्निर्विशेस्तं नगेन्द्रम् ॥८०॥

क्रीडाद्रीणामिति । **जलद** भो मेघ । **तत्र** कैलासे । **क्रीडाद्रीणां** क्रीडापर्वतानाम् । **कनकशिखराणि** स्वर्णकूटानि "वसोनूपाध्याङः" इत्याधारे द्वितीया । **आवसन्** आस्थितवान् । **स्वर्गस्त्रीणां** देवस्त्रीणाम् । **निधुवनलतागेहसम्भोगदेशान्** सुरतलताभवनसम्भोगप्रदेशान् । **पश्यन्** ईक्षमाणः । **कल्पद्रुमकिसलयानि** कल्पद्रुमाणां किसलयानि पल्लवभूतानि "पल्लवोऽस्त्री किसलयम्" इत्यमरः । **अंशुकानि** सूक्ष्मवस्त्राणि । "अंशुकं वस्त्र मात्रे स्यात्परिधानोत्तरीययोः । सूत्रे वस्त्रे सानु दीप्तौ" इति शब्दार्णवे । **नानाचेष्टैः** नाना विविधाचेष्टा येषु तैः । **ललितैः** क्रीडितैः । "नाभावभेदे स्त्रीनृत्यं ललितं त्रिषु सुन्दरे । अस्त्रियां प्रमदारामे क्रीडिते जातपल्लवे" इति शब्दार्णवे । **स्ववातैः** निजवायुभिः । **धुन्वन्** कम्पयन् । **तं नगेन्द्रं** तं कैलासम् । **निर्विशेः** उपभुंक्ष्व । "निर्विशो भृतिभोगयोः" इति विश्वः । मेघपर्वतयोरविरलसन्द्रयोः शिखिजीमूतयोर्दृष्टिरम्ययोः । स्वयंदर्शनाग्निमता भवेदिति भावः ॥८०॥

अन्वय—जलद ! क्रीडाद्रीणां कनकशिखराणि आवसन्, तत्र स्वर्गस्त्रीणां निधुवनलतागेहसम्भोगदेशान् पश्यन्, नानाचेष्टैः ललितैः स्ववातैः अंशुकानि कल्पद्रुमकिसलयानि धुन्वन् तं नगेन्द्रं निर्विशेः ।

अर्थ—हे मेघ ! क्रीड़ापर्वतों के स्वर्णशिखरों पर आरूढ़ होकर वहाँ स्वर्ग की स्त्रियों के सम्भोग के लिए रचे गये लतागृहरूप संभोग के स्थानों को देखते हुए नाना प्रकार की चेष्टा वाली और शरीर को प्रिय अपनी वायुओं द्वारा सूक्ष्म वस्त्रों के समान कल्पवृक्षों के कोमल पत्तों को कँपाते हुए उस पर्वतराज कैलाश का उपभोग करो ।

इतः पादवेष्टितानि—

विद्युद्दाम्ना बलयिततनुस्तत्र बध्र्येव[1] रुद्धो,
दीर्घं स्थित्वा सरति पवने मन्दमन्दं दिनान्ते ।
तस्मादद्रेरवतर पुरीं स्वेष्टकामो धनीशां
तस्योत्सङ्गे प्रणयिन इव स्रस्तगङ्गादुकूलाम् ॥८१॥

विद्युदिति । तत्र कैलासे । **बध्र्या** नद्ध्र्या "बध्री नध्री वरत्रा स्यात्" इत्यमरः । **रुद्ध इव** आवृतवत् । **विद्युद्दाम्ना** तडिन्मालया । **बलयिततनुः** आवेष्टित शरीरः । **दीर्घं** चिरम् । **स्थित्वा** विश्रामं कृत्वा । **दिनान्ते** सायाह्ने । **पवने** वायौ । **मन्दमन्दं** शनैः शनैः । वीप्सायां द्विः । **सरति** वाति सति । **प्रणयिन इव** प्रियतमस्येव । **तस्य** कैलासस्य **उत्सङ्गे** ऊर्ध्वतटे । "उत्सङ्गो मुक्त संयोगे सक्थ्न्यूर्ध्वतटेऽपि च" इति मालायाम् । **स्रस्तगङ्गादुकूलां** विश्लिष्टं गङ्गा एव दुकूलं शुभ्रवस्त्रं यस्यास्ताम् । "दुकूलं सूक्ष्मवस्त्रे स्यादुत्तरीये सितांशुके" इति शब्दार्णवे । **धनीशां** धनिनामीशास्तेषां यक्षाणाम् । **पुरीं** अलकाख्याम् । **स्वेष्टकामः** स्वेष्टाभिलाषी । **तस्मादद्रेः** कैलासपर्वतात् । **अवतर** उपगच्छ ॥८१॥

अन्वय—विद्युद्दाम्ना वलयिततनुः बध्र्या रुद्धः इव तत्र दीर्घं स्थित्वा दिनान्ते पवने मन्दमन्दं सरति तस्मात् अद्रेः प्रणयिनः इव तस्य उत्सङ्गे स्रस्तगङ्गादुकूलां धनीशां पुरीं स्वेष्टकामः अवतर ।

अर्थ—बिजली की (रज्जु के समान) रेखा से आवेष्टित शरीर वाले, चमड़े की रस्सी से बाँधे गए के समान उस कैलाश पर्वत पर बहुत देर तक ठहर कर दिन के अन्त समय में हवा के मन्द-मन्द चलने पर प्रियतम के समान उसकी (कैलाश पर्वत की) गोद में (कामिनी के समान) गङ्गारूप शुभ्र वस्त्र को शरीर से पृथक् करती हुई यक्षेश्वरों की नगरी

१. वध्र्येव ।

(अलका) में अपनी अभिलाषा को पूर्ण करने की इच्छा से उस पर्वत से नीचे उतरो ।

दृष्टाध्यात्मस्थितिरधिगताशेषवेद्यः सविद्यः,
योगाभ्यासाद्भुवनमखिलं सञ्चरन्दूरदर्शी ।
लक्ष्म्याः सूतिं भुवनविदितां तां पुरीं तत्र साक्षा-
न्न त्वं दृष्ट्वा न पुनरलकां ज्ञास्यसे कामचारिन् ॥८२॥

दृष्टेति । **कामचारिन्** भो यथेष्टविहारिन् । **त्वं** भवान् । **योगाभ्यासात्** ध्यानपरिचयात् । **दृष्टाध्यात्मस्थितिः** आत्मन्यधिकृत्यवर्तमानमध्यात्मं दृष्टा अध्यात्मस्थितिर्येन सः । आत्मस्वरूपं दृष्टवानित्यर्थः । **अधिगताशेषवेद्यः** ज्ञाताखिलपदार्थः । **सविद्यः** विद्याभिः सहितः । **दूरदर्शी** विद्वान् । "दूरदर्शी दीर्घदर्शी" इत्यमरः । **खिलं** निखिलम् । **भुवनं** जगत् । **सञ्चरन्** विहरन् । **लक्ष्म्याः** सम्पत्तेः । **सूतिम्** उत्पत्तिगृहम् । **भुवनविदितां** लोक प्रथिताम् । **तामलकाम्** अलकाभिधां पुरीं पुरम् । **दृष्ट्वा** वीक्ष्य । **पुनः** पश्चात् । **तत्र पुर्याम्** । **साक्षात्** प्रत्यक्षेण । **न त्वं ज्ञास्यसि** न वेत्स्यसि इति न किन्तु ज्ञास्यस्येवेत्यर्थः । **कामचारिणस्ते पूर्वमपि** बहुकृत्वो दर्शन सम्भवात् अज्ञानमसंभावितमेवेति **निश्चयार्थं नञ् द्वय प्रयोगः** । तदुक्तम् । निश्चयसिद्धार्थेषु नञ्द्वयप्रयोग इति ॥८२॥

अन्वय—कामचारिन् ! योगाभ्यासात् दृष्टाध्यात्मस्थितिः अधिगताशेषवेद्यः सविद्यः अखिलं भुवनं सञ्चरन् दूरदर्शी तत्र लक्ष्म्याः सूतिं भुवनविदितां अलकां पुरीं त्वं पुनः साक्षात् न दृष्ट्वा तां न ज्ञास्यसे न ।

अर्थ—हे इच्छानुसार विहार करने वाले ! योग के अभ्यास से शुद्ध स्वभाव का अनुभव कर समस्त जानने योग्य वस्तुओं को जानकर केवलज्ञान से युक्त हो समस्त भूमण्डल पर विचरण करते हुए (सूक्ष्म, अन्तरित और) दूरवर्ती पदार्थों को देखने वाले आप हिमालय पर्वत के शिखर पर लक्ष्मी की उत्पत्ति स्थान भूमण्डल पर प्रसिद्ध अलका नगरी को साक्षात् न देखकर उसको नहीं जान सकोगे । अर्थात् साक्षात् दर्शन के बिना उसका ज्ञान नहीं हो सकता है ।

निर्वाणार्थं तितपसिषवोऽमी स्वयं क्लेशयन्ति,
व्यर्थोद्योगा मयि तु वितृषः किन्तु मत्तोऽधिकं तत् ।
इत्याकूताद्विहसितमिवाम्भोमुचामिन्दुशुभ्रं,
या वः काले वहति सलिलोद्गारमुच्चैर्विमाना ॥८३॥

निर्वाणार्थमिति । **अमी** इमं **योगिनः** । **निर्वाणार्थं** मोक्षार्थम् । "मुक्तिः कैवल्यनिर्वाणम्" इत्यमरः । **तितपसिषवः** तपस्यितुमिच्छवः तितपसिषवः तपः कर्तुमिच्छवः । "तप सन्तापे" इति धातोः सन्नन्तादुरः । **तु** पुनः । **मयि** अलकापुर्याम् । **वितृषः** विगता तृट् अभिलाषो येषां ते वितृषः । "इच्छा काङ्क्षा स्पृहेहा तृड्वाञ्छा लिप्सा मनोरथः" इत्यमरः । **व्यर्थोद्योगाः** निष्फलव्यापाराः सन्तः । **स्वयम्** आत्मानम् । **क्लेशयन्ति** आयासयन्ति । **तत्** निर्वाणम् । **मत्तः** मत्सकाशात् । **अधिकम्** उत्कृष्टम् **किं नु भवेत्** किंस्वित् । "नु पृच्छायां वितर्के च" इत्यमरः । **इत्याकूतात्** एवमभिप्रायात् । **या** पुरी । **उच्चैर्विमाना** । उन्नतसप्तभूमिकभवना । "विमानं त्रिदिवे याने सप्तभूमौ च सद्मनि" इति यादवः । मेघवाहस्थान सूचनार्थमिदं विशेषणम् । **अम्भोमुचां** मेघानाम् । **वः** पयोधरात्मनां । युष्माकं योगिनाम् । **काले** वर्षाकाल इत्यर्थः । **विहसितमिव** विहासमिव । **इन्दुशुभ्रं** चन्द्रवद् गौरम् । **सलिलोद्गारं** सलिलानादिगरणम् **वहति** धरति ॥८३॥

अन्वय—या उच्चैर्विमाना निर्वाणार्थं तितपसिषवः व्यर्थोद्योगाः अमी स्वयं क्लेशयन्ति, मयि तु वितृषः, किं नु तत् मत्तः अधिकम् ? इति आकूतात् व अम्भोमुचां काले इन्दुशुभ्रं सलिलोद्गारं विहसितं इव वहति ।

अर्थ—सात मञ्जिल वाले ऊँचे भवनों से युक्त जो अलकानगरी निर्वाण के लिए तप करने के इच्छुक विफल प्रयत्न वाले ये पार्श्व आदि योगी अपने को कष्ट पहुँचाते हैं, मेरे प्रति अभिलाषा से रहित हैं क्या वह निर्वाण मुझसे उत्कृष्ट है' ? इस प्रकार के अभिप्राय से आपके (मेघों के) वर्षाकाल में चन्द्रमा के समान सफेद जलवर्षा को उपहास के समान धारण करती है ।

भावार्थ—ये पार्श्वादियोगी मुझसे भी अधिक उत्कृष्ट निर्वाण की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हैं, इस प्रकार के अभिप्राय को मन में रखकर जो अलका चन्द्रमा के समान सफेद जल की वर्षा के बहाने मानों उन पर हँसती है ।

सौधेयाग्रैर्गगनपरिषत्केतुमालाबलाकं,
रत्नोदग्रद्युतिविरचितेन्द्रायुधं प्रावृषेण्यम् ।
धत्ते यासौ सजलकणिकासारमभ्रंलिहैः स्वै-
र्मुक्ताजालग्रथितमलकं कामिनीवाभ्रवृन्दम् ॥८४॥

सौधेयाग्रैरिति । **यासौ** अलकापुरी । **अभ्रंलिहैः** आकाशस्पृष्टैः । "वहाभ्राल्लिहः इति खश् । "खित्युकः" इति मम् । **स्वैः** स्वकीयैः । **सौधेयाग्रैः** सौधानामिमानि सौधेयानि तानि च तानि अग्राणि च तैः । "अग्रं पुरः शिखामान-

श्रेष्ठाधिकफलादिषु'' इति भास्करः। **गगनपरिसत्केतुमालाबलाकं** गगने परितः सीदन्तीति गगनपरिषन्तः "षदल्ट धातोर्गत्यर्थत्वात्" विचलन्तः ते च **केतवश्च** तथो-क्तास्तेषाम् मालापङ्क्तिरिव बलाकाः पक्षिविशेषाः यस्य तत्। **रत्नोदग्रद्युतिः विर-चितेन्द्रायुधम्**। रत्नानामुदग्रया उन्नितया द्युत्या कान्त्या विरचितं निर्मितम्। **इन्द्रायुधं** सुरधनुर्यस्य तत्। "इन्द्रायुधं शक्रधनुः" इत्यमरः। **सजलकणिकासारं** जलानां कणिकाः जलकणिकाः जलबिन्दवः जलकणिकानामासारेण वेगवद्वर्षेण सहितं सजलकणिकासारम्। **प्रावृषेण्यं** प्रावृषि भवं प्रावृषेण्यं "प्रावृषेण्यः" इति ण्य प्रत्ययः। **अभ्रवृन्दं** मेघजालम्। **कामिनी** प्रमदा। **मुक्ताजालग्रथितं** मुक्ताजालैः मौक्तिकजालकैः ग्रथितं प्रत्युप्तम्। "पुंस्त्वल्यां मौक्तिके मुक्ते इति यादवः। "ग्रथितं ग्रन्थितं दृब्धम्" इत्यमरः। **अलकमिव** चूर्णकुन्तलमिव। जातावेकवच-नम्। "अलकाश्चूर्णकुन्तलाः" इत्यमरः। **धत्ते** धरति। अत्र कालस्य अनुकूलनाय-कत्वमलकायाश्च स्वाधीनपतिकाख्यनायिकात्वं च ध्वन्यते ॥८४॥

अन्वय—या असौ मुक्ताजालग्रथितं अलकं कामिनी इव स्वैः अभ्रंलिहैः सौधेयाग्रैः गगनपरिषत्केतुमालाबलाकं रत्नोदग्रद्युतिविरचितेन्द्रायुधं प्रावृषेण्यं सजलकणिकासारं अभ्रवृन्दं धत्ते।

अर्थ—जिस प्रकार कोई स्त्री मोतियों के समूह से ग्रथित (गुम्फित) घुंघराले बालों को धारण करती है उसी प्रकार अलकापुरी आकाश को छूने वाले प्रासादों के अग्रभागों से आकाश में फहराने वाले ध्वजाओं की पंक्ति ही है बगुला जिसके तथा रत्नों की ऊपर जाती हुई कान्ति से जिसमें इन्द्रधनुष की रचना की गई है ऐसे रत्नों को वर्षाकालीन जलकणों की वर्षा वाले मेघसमूह को धारण करती है।

भावार्थ—वर्षाकाल में बलाका तथा इन्द्र धनुष होता है। अलका में वर्षा के समय बलाका क्या हैं तथा इन्द्रधनुष किस प्रकार का है, यह बत-लाया गया है।

यत्रानीलं हरिमणिमयाः क्षुद्रशैलानभोगं,
प्रोद्यद्देवद्रुमपरिसरद्धूपधूमानुबन्धाः ।
प्रासादाश्च प्रथयितुमलं सर्वदा मेघकालं,
विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः ॥८५॥

यत्रेति। **यत्र** पुर्याम्। **हरिमणिमयाः** इन्द्रनीलरत्नरूपाः। "यमानिलेन्द्र-चन्द्रार्क विष्णुसिंहांशुवाजिषु। शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु" इत्यमरः। **क्षुद्रशैलाः** क्रीडाद्रयः। **प्रोद्यद्देवद्रुमपरिसरद्धूपधूमानुबन्धाः** धूपस्य धूमः धूपधूमः

परितः सरतीति परिसरन् देवदारुद्रुमाणां परिसरः, तथोक्तः देवदारुद्रुमपरिसरश्चासौ धूमधूमश्च तथोक्तः प्रोद्यन् प्रोद्गच्छंश्चासौ स चेति पुनः कर्मधारयः। तस्यानुबन्धः सम्बन्धो येषां ते तथोक्ताः। **ललितवनिताः** ललिता रम्या वनिताः स्त्रियो येषु ते। **सचित्राः** सह चित्रैर्वर्तन्ते सचित्राः। **प्रासादाश्च** हर्म्याणि च। **आनीलम्** आसमन्तान्नीलवर्णम्। **नभोगम्** आकाशगतम्। "गमः खड्डा" इति डप्रत्ययः। **विद्युत्वन्तं** क्षणरुचिमन्तम्। "स्तं मत्वर्थे" इति पदत्वाभावान्न जश्त्वम्। **सेन्द्रचापं** सेन्द्रायुधम्। **मेघकालं** वर्षाकालम्। **सर्वदा** अनवरतम्। **प्रथयितुं** प्रकाशयितुम्। **अलं** समर्था भवन्तीति शेषः। अत्र कर्तृकर्मविशेषणानां परस्परसाम्यबिम्बप्रतिबिम्बभावेन तद्रोपमा दृश्यते ॥८५॥

अन्वय—यत्र हरिमणिमयाः, भूधराः, ललितवनिताः, सचित्राः, प्रोद्यद्देवद्रुमपरिसरद्धूपधूमानुबन्धाः प्रासादाः आनीलं, नभोगं, विद्युत्वन्तं, सेन्द्रचापं मेघकालं सर्वदा प्रथयितुं अलम्।

अर्थ—जिस अलका नगरी में नीलमणियों से रचित क्रीड़ा पर्वतों से युक्त, सुन्दर स्त्रियों सहित, चित्रकारी सहित, देवदारु वृक्षों से ऊपर की ओर निकलते हुए धूप के धुएँ से संयुक्त भवन चारों ओर से कृष्णवर्ण, आकाश में स्थित बिजली से युक्त तथा इन्द्रधनुष सहित वर्षा ऋतु को सदैव प्रकट करने में समर्थ हैं।

भावार्थ—अलका नगरी के भवन वर्षाऋतु को सदैव प्रकट करने में समर्थ हैं। जिस प्रकार वर्षाऋतु चारों ओर से कृष्णवर्ण होती है, उसी प्रकार भवन नीलमणियों से रचित हैं। जिस प्रकार मेघकाल आकाश में स्थित होता है उसी प्रकार भवन भी क्रीड़ाशैलों से युक्त हैं, जैसे वर्षाकाल में बिजली होती है उसी प्रकार भवन में सुन्दर-सुन्दर स्त्रियाँ हैं, जैसे वर्षाकाल में इन्द्रधनुष दिखाई पड़ते हैं उसी प्रकार भवन भी सचित्र हैं।

प्रोच्चैः केकारवमुखरितान्नर्तयन्तो मयूरान्,
हंसानुत्कण्ठितान्मानसे ग्लानयन्तः।
यत्राकाले विदधतितरां देवधिष्ण्येषु सन्ध्या,
सङ्गीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धपर्जन्यघोषम् ॥८६॥

प्रोच्चैरिति। **यत्र** नगर्याम्। **देवधिष्ण्येषु** चैत्यालयेषु। "धिष्ण्यं स्थाने गृहे भेऽग्नौ" इत्यमरः। **सन्ध्यासङ्गीताय** सन्ध्यासु यद्गीयते सङ्गीतं तस्मै। **प्रहतमुरजाः** ताडितमृदङ्गाः। **केकारवमुखरितान्** केकारवेण मयूरध्वनिना मुखरितान् वाचालितान्। **मयूरान्** बर्हिणः। "मयूरो बर्हिणो बर्ही" इत्यमरः। **प्रोच्चैरतिशयं**

नर्तयन्तः नाटयन्तः । मानसे मानसरोवरे । उद्यत्करुणविरुतान् निर्गच्छत्करुण-कूजितान् । हंसान् मरालपक्षिणः ग्लानयन्तः ग्लानयन्तः । अकाले अनियतावसरे । स्निग्धपर्जन्यघोषं स्निग्धो मसृणः पर्जन्यघोषो मेघध्वनिस्तम् । "पर्जन्यौरस-दब्देन्द्रौ" इत्यमरः । स्निग्धगम्भीर घोषमिति वा पाठः । विदधतितरां कुर्वन्ति-तराम् ॥८६॥

अन्वय—यत्र केकारवमुखरितान् मयूरान् प्रोच्चैः नर्तयन्तः, उद्यत्करुण-विरुतान् हंसान् मानसे ग्लानयन्तः देवधिष्ण्येषु सन्ध्यासङ्गीताय, प्रहतमुरजाः स्निग्धपर्जन्यघोषं अकाले विदधतितराम् ।

अर्थ—जिस अलकानगरी में मयूर ध्वनि से वाचालित मयूरों को अत्यधिक रूप से नचाते हुए, करुणाजनक शब्दों को बोलते हुए हंसों को मानसरोवर में जाने के लिए दुःखी करते हुए, देवमन्दिरों में सन्ध्याकालीन संगीत के लिए बजाये गये मृदङ्ग मेघ की गम्भीरध्वनि के समान ध्वनि को वर्षाकाल से भिन्न काल में (भी) अत्यधिक रूप से करते हैं।

यत्राकीर्णं विततशिखराः सानका मन्द्रघोषं,
विद्युद्भासा विरचिततनु रत्नदीपानुयाताः ।
सौधाभोगास्तुलयितुमलं शश्वदोघं घनाना-
मन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः ॥ ८७ ॥

यत्रेति । यत्र यक्षपुर्याम् । विततशिखराः विस्तृतशृङ्गाः । सानकाः आनकेन पटहेन सहितास्तथोक्ताः 'आनकः पटहोऽस्त्री स्यात्' इत्यमरः । रत्नदीपानुयाताः रत्नदीपैरनुगताः । मणिमयभुवः मणिमय्यः मणिविकाराः भुवो येषु ते । 'नामक्या-च्छादने मयट्' इति मयट् । अभ्रंलिहाग्राः अभ्रं लिहाग्राः अभ्रं लिहन्तीति अभ्रं-लिहानि अभ्रंकषाणि । 'वहाभ्रेलिहः' इति खच् । 'खित्यनः' इत्यादिना मुम् अभ्रंलिहान्यग्राणि येषां ते तथोक्ताः । सौधाभोगाः प्रासादसर्वदेशाः । 'आभोगः परिपूर्णता' इत्यमरः । आकीर्णं प्राप्तम् । मन्द्रघोषं गम्भीरध्वनिम् । 'मन्द्रस्तु गम्भीरे' इत्यमरः । विद्युद्भासा तडित्कान्त्या । विरचिततनु विहितशरीरम् । अन्त-स्तोयं अन्तर्गतं तोयं यस्य तम् । तुङ्गम् उन्नतम् । घनानाम् मेघानाम् । ओघं समूहम् । 'स्तोमौघनिकरव्रातवारसङ्घातसञ्चयाः' इत्यमरः । शश्वत् चिरम् । तुलयितुं समीकर्तुम् । अलं समर्था भवन्तीति शेषः । अत्र कर्तृकर्मणोः प्रतिपदं बिम्ब-प्रतिबिम्ब भावेन साम्यं लक्ष्यते ॥ ८७ ॥

अन्वय—यत्र विततशिखराः सानकाः रत्नदीपानुयाताः, मणिमयभुवः, अभ्रं-लिहाग्राः, सौधाभोगाः आकीर्णं मन्द्रघोषं विद्युतभासा विरचिततनु अन्तस्तोयं तुङ्गं घनानां ओघं शश्वत् तुलयितुं अलम् ।

अर्थ—जिस अलका नगरी में विस्तृत अग्रभागों वाले, मृदङ्ग की ध्वनियों से युक्त, रत्नमय दीपकों सहित मणिमय भूमियों वाले तथा जिनके अग्रभाग आकाश को छूते हैं ऐसे बड़े विस्तृत प्रासाद वर्षाकाल में चारों ओर फैले हुए, गम्भीर गर्जना करने वाले, बिजली के प्रकाश से शरीर को अलंकृत किये हुए, अंदर जल के समूह को धारण करने वाले मेघों के समूह की निरन्तर बराबरी करने के लिए समर्थ हैं।

कूटोच्छ्रायैस्तुहिनविशदैः शारदानम्बुदौघान्,
मन्द्रातोद्यध्वनिभिरुदधीनुच्चलद्वारिवेलान् ।
रत्नोदंशुप्रसररुचिरैर्भित्तिभागैः कुलाद्रीन्,
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः ॥ ८८ ॥

कूटोच्छ्रायैरिति । यत्र धनदनगर्याम् । प्रासादाः सौधाः । तुहिनविशदैः तुहिनं हिममिव विशदैः निर्मलैः । कूटोच्छ्रायैः शिखरोन्नतिभिः । शारदान् शरत्कालभवान् । अम्बुदौघान् मेघसमूहान् । मन्द्रातोद्यध्वनिभिः मन्द्रैर्गम्भीरैरातोद्यानां वाद्यानां ध्वनिभिः शब्दैः । उच्चलद्वारिवेलान् उच्चलत्कम्पमानं वारि यस्याः सा उच्चलद्वारिः सा वेला येषां तानीति पुनर्बहुव्रीहिः । बहुव्रीहेराभ्यलिङ्गत्वादिभलिङ्ग्यां क्वं नीयते । उदधीन् समुद्रान् । रत्नोदंशुप्रसररुचिरैः रत्नानामुदंशूनामुद्गतकिरणानां प्रसरेण प्रवाहेण रुचिरैर्मनोहरैः । भित्तिभागैः कुड्यपार्श्वैः । 'भित्तिः स्त्रीकुड्यमेडुकम्' इत्यमरः । कुलाद्रीन् कुलपर्वतान् । तैस्तैर्विशेषैः धर्मैः । त्वां भवन्तम् । तुलयितुम् उपमां कर्तुम् । अलं समर्था भवन्ति ॥८८॥

अन्वय—तुहिनविशदैः कूटोच्छ्रायैः शारदान् अम्बुदौघान मन्द्रातोद्यध्वनिभिः उच्चलद्वारिवेलान् उदधीन्, रत्नोदंशु प्रसररुचिरैः भित्तिभागैः कुलाद्रीन्, तैः तैः विशेषैः त्वां तुलयितुं प्रासादाः अलम् ।

अर्थ—जिस अलका नगरी में हिम के समान सफेद शिखरों की ऊँचाई से शरत् कालीन मेघों के समूहों को वाद्य की गम्भीर ध्वनियों से जिनके तटों से पानी ऊपर की ओर उठ रहा है ऐसे समुद्रों को, रत्नों से निकली हुई किरणों के विस्तार से मनोहर भित्तिभागों से पर्वतों को तथा अनेक की विशेषताओं से तुम्हें अपने बराबर करने में प्रासाद समर्थ हैं।

पङ्कीभूताः श्रमजलकणैरार्द्रितप्रस्तरान्ता,
बद्धोत्कण्ठस्तनतटपरामृष्टवर्णाविशीर्णाः ।
सम्भोगान्ते श्रममुपचितं सूचयन्त्यङ्गरागाः,
यत्र स्त्रीणां प्रियतमभुजोच्छ्वासितालिङ्गितानाम् ॥ ८९ ॥

पङ्कीभूता इति । यत्र अलकापुर्याम् । सम्भोगान्ते सुरतावसाने । प्रियतमभुजो-च्छ्वासितालिङ्गिताम् । प्रियतमानां प्राणनाथानां भुजैः उच्छ्वसितानि श्लथानि जलसेकाय वा प्रशिथिलतान्यालिङ्गितानि यासां ता सास् । स्त्रीणां नारीणाम् । श्रमजलकणैः सुरतश्रमजनितजलबिन्दुभिः । पङ्कीभूताः प्रागपङ्का इदानीं पङ्का भवन्ति स्मेति तथोक्ताः । 'कर्मकर्तर्यां प्रागतत्त्वेच्विः' । च्वौ चास्यानव्यय स्येः' इतीकारः । आर्द्रितप्रस्तरान्ताः आर्द्रीभूतशय्यावसानाः । वक्षोत्कम्पस्तन तटपरामृष्ट-वर्णाः रचितरोमाञ्चितस्तनतटेन संमृष्टवर्णाः । विशीर्णाः शिथिलताः । अङ्गरागाः अङ्गवेषाः । 'समालम्भोंगरागस्त प्रसादनविलेपनम्' इति धनञ्जयः । उपचितं सञ्चितम् । श्रमम् आयासम् । सूचयन्ति प्रकाशयन्ति ॥ ८९ ॥

अन्वय—यत्र प्रियतमभुजोच्छ्वासितालिङ्गितानां स्त्रीणां श्रमजलकणैः पङ्की-भूताः आर्द्रितप्रस्तरान्ताः वक्षोत्कम्पस्तनतटपरामृष्टवर्णाविशीर्णाः अङ्गरागाः सम्भोगान्ते उपचितं श्रमं सूचयन्ति ।

अर्थ—जिस अलकापुरी में अपने प्रियतमों की बाहुपाश से जिनका गाढ़ आलिंगन किया गया है ऐसी स्त्रियों के (रतिक्रीड़ा के) परिश्रम से उत्पन्न जल कणों से पङ्कभाव को प्राप्त हुए, जिन्होंने शय्या प्रदेश को गीला कर दिया है, दबाने से ऊपर आये हुए समीपवर्ती स्तन तटों से रगड़ खाए हुए मोतियों के कारण चारों ओर विकीर्ण प्रसाधन के विलेपन (अंगराग) सम्भोग के अन्त में वृद्धिगत थकावट को सूचित करते हैं।

यस्यामिन्दोरनतिचरितो नातिसान्द्रं पतन्तो,
गौरीभर्तुर्विरचितजटामौलिभाजो मयूखाः ।
नेतुं सद्यो विलयममलाः शक्नुयुर्दम्पतीनां-
मङ्गग्लानिं सुरतजनितां तन्तुजालावलम्बाः ॥ ९० ॥

यस्यामिति । यस्याम् अलकायाम् । गौरीभर्तुः ईशानस्य । विरचितजटामौलि-भाजः । विरचिता ग्रथिता जटैव मौलिस्तं भजतीति विरचितजटामौलिभाक् तस्य लाञ्छनात्मकस्येत्यर्थः । अनतिचरतः अतिचरतीत्यतिचरन् न अतिचरन् अनतिचरन् तस्य अनतिचरन् तस्य अनतिक्रामतः । इन्दोश्चन्द्रमसः । नातिसान्द्रम् । अलुक् समासः । विरलं यथा तथा । पतन्तः पतन्तीति पतन्तः निर्गच्छन्तः । अमलाः न विद्यते मलः कलङ्कः स्पर्शो येषां ते तथोक्ताः । तन्तुजालावलम्बाः दिनालम्बि सूत्रपुञ्जाधारा । तुदगुणगुम्फिता इत्यर्थः । मयूखाः । 'मयूखस्त्विट्करज्वालासु' इत्यमरः । दम्पतीनां दयितदयितानाम् । सुरतजनितां निधुवनसंभूताम् । अङ्ग-ग्लानिं शरीर श्रमम् । सद्यः तत्काल एव । विलयं नाशम् । नेतुं प्रापयितुम् । शक्नुयुः समर्था भवेयुः ॥ ९० ॥

अन्वय—यस्मां गौरीभर्तुः विरचितजटामौलिभाजः अनतिचरतः इन्दोः नातिमान्द्यं पतन्तः अमलाः तन्तुजालावलम्बाः मयूखाः दम्पतीनां सुरतजनितां अङ्गग्लानिं सद्यः विलयं नेतुं शक्नुयुः।

अर्थ—जिस अलकानगरी में जो निशा का नाथ है, जो विशेष रूप से रचित जटा के समान मुकुट को धारण किए हुए है अथवा वृक्षों की शाखाओं के आकार वाले सिरों से युक्त मुकुट को धारण किये हुए है तथा जो अपने मार्ग का अतिक्रमण नहीं करता है अथवा बहुत शीघ्र नहीं जाता है ऐसे चन्द्रमा की अत्यधिक घनी न पड़ती हुई निर्मल तन्तु समूह से विरचित आगमन द्वार से प्रवेश करती हुई किरणें दम्पतियों के सम्भोग जनित शारीरिक थकान को शीघ्र ही नष्ट करने में समर्थ होंगी।

एकाकिन्यो मदनविवशा नीलवासोऽवगुण्ठाः,
प्राप्ताकल्पा रमणवसतीर्यातुकामास्तरुण्यः।
यत्रापास्ते तमसि विपणीराश्रयन्त्युत्पथेभ्य-
स्त्वत्संरोधापगमविशदैरिन्दुपादैर्निशीथे ॥ ९१ ॥

एकाकिन्य इति। यत्र यक्षधामनि। निशीथे अर्द्धरात्रे। 'अर्धरात्रनिशीथौ द्वौ यामप्रहरौ' इत्यमरः। त्वत्संरोधापगमविशदैः। त्वत्संरोधस्य मेघावरणस्यापगमेन विशदैर्निर्मलैः इन्दुपादैः चन्द्ररश्मिभिः। 'पादा रश्म्यङ्घ्रितुर्यांशाः' इत्यमरः। तमसि तिमिरे। 'तमिस्रं तिमिरं तमः' इत्यमरः। अपास्ते निराकृते। एकाकिन्यः असहायाः। मदनविवशाः मन्मथवशंगताः नीलवासोऽवगुण्ठाः नीलैर्वासोभिः वस्त्रैरवगुण्ठा अन्तर्हिताः। 'वस्त्रमाच्छादनं वासः' इत्यमरः। प्राप्ताकल्पाः लब्धभूषणाः। 'आकल्पवेषौ नेपथ्यम्' इत्यमरः। रमणवसतीः प्रियवासान् यातुकामाः गन्तुकामाः। तरुण्यः युवतयः। 'तरुणी युवतिसमे' इत्यमरः। उत्पथेभ्यः उद्गतमार्गेभ्यः। विपणीः पण्यः वीथिकाः। 'विपणिः पण्यवीथिका' इत्यमरः। आश्रयन्ति प्राप्नुवन्ति ॥ ९१ ॥

अन्वय—यत्र निशीथे त्वत्संरोधापगमविशदैः इन्दुपादैः तमसि अपास्ते एकाकिन्यः मदनविवशाः नीलवासोऽवगुण्ठाः प्राप्ताकल्पाः रमणवसतीः यातुकामाः तरुण्यः उत्पथेभ्यः विपणीः आश्रयन्ति।

अर्थ—जिस अलका नगरी में आधी रात के समय तुम्हारे द्वारा कोई प्रतिबन्ध न रहने से निर्मल चन्द्रमा की किरणों से अन्धकार के दूर हो जाने पर अकेली, काम से विवश, नीलवस्त्र से शरीर को ढके हुए और आभूषणों को पहिने हुए प्रियतम के निवासस्थान को जाने की इच्छुक

युवतियाँ गलत मार्गों को छोड़कर पण्य वीथिकाओं (बाजार की सड़कों) को पाती हैं।

भावार्थ—मेघ के हट जाने से चन्द्रमा के द्वारा प्रकाश होने पर युवतियाँ गलत मार्ग को छोड़कर अपने इच्छित मार्ग को प्राप्त कर लेती हैं। उन्हें भटकना नहीं पड़ता है।

तासां पाद्यं वितरितुमिवोपह्वरे निष्कुटानां,
धौतोपान्ता भवनवलभैरिन्दुपादाभिवर्षात् ।
यस्यां रात्रौ श्रममपथके प्रस्तुता: कामुकीनां
व्यालुम्पन्ति स्फुटजललवस्यन्दिनश्चन्द्रकान्ता: ॥ ९२ ॥

तासामिति । **यस्यामलकायाम्** । **रात्रौ** निशायाम् । **तासां** तरुणीनाम् । **पाद्यं** पादोदकम् । 'पाद्यं पादाय वारिणि' इत्यमरः । **वितरितुमिव** वितरणायेव । **निष्कुटानां** गृहारामाणाम् । 'गृहारामास्तु निष्कुटा:' इत्यमरः । **उपह्वरे** अन्तर्भागे समीपे वा । उपह्वरं समीपे स्यादेकान्ते चाप्युपह्वरम्' इति विश्वः । 'उपह्वरमविधाने समीपे चापि कथ्यते' इत्यभिधानात् । **धौतोपान्ता:** प्रक्षालितसमीपप्रदेशाः **इन्दुपादाभिवर्षात्** चन्द्ररश्म्यभिसेचनात् । **स्फुटजललवस्यन्दिन:** उल्वणाम्बुकणास्राविण: । **भवनवलभै:** गृहवक्रदारुण: । 'गोपानसी तु वलभी छादने वक्रदारुणि' इत्यमरः । **चन्द्रकान्ता:** चन्द्रकान्त शिला: । **अपथके** अमार्गे । 'अपन्थास्त्वपथं तुल्ये' इत्यमरः । **प्रस्तुता:** प्रकृता: । **कामुकीनां** कामिनीनाम् । 'वृषस्यन्ती तु कामकी' इत्यमरः । **श्रमम्** आयासम् । **व्यालुम्पन्ति** अपहरन्ति ॥९२॥

अन्वय—यस्यां तासां उपह्वरे पाद्यं वितरितुं इव इन्दुपादाभिवर्षात् स्फुटजललवस्यन्दिनः, निष्कुटानां धौतोपान्ता:, भवनवलभै: प्रस्तुता: चन्द्रकान्ता: रात्रौ अपथके कामुकीनां श्रमं व्यालुम्पन्ति ।

अर्थ—जिस अलका नगरी में युवतियों को एकान्त में पादोदक देने के लिए ही चन्द्रमा की किरणों की वर्षा के कारण निर्मल जल बिन्दुओं को टपकाने वाली, जिनके द्वारा गृह उद्यानों के समीपवर्ती प्रदेशों का प्रक्षालन किया गया है ऐसी गृहोद्यान के भवनों के ऊपरी भाग की प्रशस्त चन्द्रकान्तमणियाँ रात्रि में राजमार्ग से भिन्न पथों में भी कामी स्त्रियों की मार्ग की थकान को दूर करती हैं।

संलक्ष्यन्ते चिरयति मनोवल्लभे कामिनीनां,
गच्छन्तीनां स्खलितविषमं रात्रिसम्भोगहेतो: ।

सौभाग्याङ्कैरिव विलसितैराततां राजमार्गा,
गत्युत्कम्पादलकपतितैर्यत्र मंदारपुष्पैः ॥ ९३ ॥

संलक्ष्यन्त इति। यत्र अलकानगर्याम्। मनोवल्लभे प्राणकान्ते। चिरयति विलम्बयति सति। रात्रिसम्भोगहेतोः रात्रौ सुरतक्रीडानिमित्तम्। स्खलितविषमं स्खलितेन पादस्खलितेन विषमं यथा भवति तथा गच्छन्तीनां यान्तीनाम्। कामिनीनां वामलोचनानाम्। विशेषास्त्वङ्गनाभीरुः कामिनी वामलोचना' इत्यमरः। विलसितैः रचितैः सौभाग्याङ्कैरिव सुभगत्वस्य चिह्नैरिव। 'कलङ्काङ्कौ लाञ्छनं च चिह्नं लक्ष्म च लक्षणम्' इत्यमरः। गत्युत्कम्पात् गत्या गमनेनोत्कम्पश्चलनं तस्मात् हेतोः। अलकपतितैः अलकेभ्यः पतितैः। मन्दार पुष्पैः सुरतरुकुसुमैः। आतताः विकीर्णाः। राजमार्गाः जनपतिपथाः संलक्ष्यन्ते संदृश्यन्ते ॥ ९३ ॥

अन्वय—यत्र मनोवल्लभे चिरयति रात्रिसंभोगहेतोः स्खलितविषमं गच्छन्तीनां कामिनीनां गत्युत्कम्पात् अलकपतितैः, विलसितैः सौभाग्याङ्कैः इव मन्दार पुष्पैः राजमार्गाः आतताः संलक्ष्यन्ते।

अर्थ—जिस अलकापुरी में प्रियतम के देर करने पर रात्रि संभोग के लिए जाते समय लड़खड़ाने के कारण विषम रूप से जाती हुई स्त्रियों के गमन में कम्पन होने के कारण अलकों (घुँघराले बालों) से गिरे हुए मानों शोभायमान सौभाग्य के चिह्न मन्दार के फूलों से राजमार्ग (सड़कें) व्याप्त दिखाई देते हैं।

यत्रोद्याने कुसुमितलतामण्डपेषु स्थितानां,
शय्योपान्तैर्विततमधुपैराप्तसम्भोगगन्धैः।
नीलोत्तंसैर्निधुवनपदं सूच्यते दम्पतीनां,
क्लृप्तच्छेदैः कनककमलैः कर्णविभ्रंशिभिश्च ॥ ९४ ॥

यत्रेति। यत्र नगर्याम्। उद्याने आक्रीडे। 'पुमानाक्रीड उद्यानम्' इत्यमरः। कुसुमितलतामण्डपेषु कुसुमानि सञ्जातान्यासां इति कुसुमिताः 'सञ्जातं तारकादिभ्यः' इति इतच्। ताश्च ता लताश्च तासां मण्डपास्तेषु। स्थितानां वसताम् दम्पतीनाम् मिथुनानाम्। आप्तसम्भोगगन्धैः सम्भृतभोगगन्धैः। विततमधुपैः आवृतमधुकरैः। शय्योपान्तैः शयनोपान्तप्रदेशैः। क्लृप्तच्छेदैः रचितखण्डैः। नीलोत्तंसैः नीलोत्पलललामैः। कर्णविभ्रंशिभिः कर्णाभ्यां विभ्रश्यन्तीति कर्णविभ्रंशीनितैः। कनककमलैः कनकवर्णैः कमलैश्च। षष्ठ्या विवक्षितार्थलाभे सति मयदिवग्रहेऽध्याहारः शेषः। एवमन्यत्राप्यनुसन्धेयम्। निधुवनपदं सुरतस्थानम्। सूच्यते ज्ञाप्यते ॥ ९४ ॥

अन्वय—यत्र उद्याने कुसुमितलतामण्डपेषु स्थितानां दम्पतीनां आत्तसम्भोगगन्धैः विततमधुपैः नीलोत्तंसैः शय्योपान्तैः कर्णविभ्रंशिभिः कलुप्तच्छेदैः कनककमलैः च निधुवनपदं सूच्यते ।

अर्थ—जिस अलकानगरी में उद्यान में पुष्पित लतामण्डपों में स्थित दम्पतियों के मैथुन सेवन का स्थान निम्न कारणों से जाना जाता है—फैले हुए भ्रमरों से, सम्भोग काल में प्रयुक्त गन्ध द्रव्यों के ग्रहण करने से, नील कमलों से रचित शिरोभूषण जहाँ है ऐसी शय्या के समीपवर्ती स्थानों से तथा कानों से गिरने के कारण खण्ड खण्ड हुए स्वर्णकमलों (सोने के समान कमलों) से ।

मन्दाकिन्यास्तटवनमनु क्रीडतां दम्पतीनां,
पुष्पास्तीर्णाः पुलिनरचिता यत्र सम्भोगदेशाः ।
संसूच्यन्ते बहुतरफलैः कुङ्कुमारक्तशोभै-
र्मुक्ताजालैस्तनपरिसरच्छिन्नसूत्रैश्च हारैः ॥ ९५ ॥

मन्दाकिन्या इति । **यत्र** अलकायाम् । **मन्दाकिन्याः** गङ्गायाः । 'मन्दाकिनी वियद्गङ्गा' इत्यमरः । **तटवनमनु** तीरवनं प्रति । **क्रीडतां** विहरतां । **दम्पतीनां** मिथुनानाम् । **पुष्पास्तीर्णाः** पुष्पैर्विकीर्णाः । **पुलिनरचिताः** सिकतानिर्मिताः । **सम्भोगदेशाः** कामकेलिप्रदेशाः । **कुङ्कुमारक्तशोभैः** कुङ्कुमेन लोहितमनोहरैः । **बहुतरफलैः** बहुक्रमुकादिफलैः । **मुक्ताजालैः** मौक्तिकसरैः । शिरोनिवेशितैरिति शेषः । **स्तनपरिसरच्छिन्नसूत्रैः** स्तनयोः परिसरः प्रदेशस्तत्र छिन्नं सूत्रं येषां तैः । 'स्मृतः परिसरो मृत्यौ देवोपान्तप्रदेशयोः' इति विश्वः । स्तनपरिचितच्छिन्नसूत्रैरिति पाठे । स्तनयोः परिचितेनाभ्यासेन छिन्नं सूत्रं येषां तैः । **मौक्तिकहारैश्च** मुक्ताहारयष्टिभिरपि । **संसूच्यन्ते** सुष्ठु ज्ञाप्यन्ते ॥ ९५ ॥

अन्वय—यत्र कुङ्कुमारक्तशोभैः बहुतरफलैः मुक्ताजालैः, स्तनपरिसरच्छिन्नसूत्रैः हारैः च मन्दाकिन्याः तटवनं अनुक्रीडतां दम्पतीनां पुष्पास्तीर्णाः पुलिनरचिताः सम्भोगदेशाः संसूच्यन्ते ।

अर्थ—जिस अलका नगरी में कुङ्कुम के समान लाल शोभा से युक्त विपुलतर फलों से, मोतियों से निर्मित हारों से तथा कुचप्रदेश द्वारा टूटे हुए धागोंवाले हारों से गंगा के तटवर्ती वन के समीप क्रीड़ा करते हुए दम्पतियों के फूलों से आच्छादित रेत में निर्मित संभोग सेवन के स्थान अच्छी तरह जाने जाते हैं ।

गत्यायासाद्गलितकबरीबन्धमुक्तैः सभृङ्गैः,
कीर्णैः पुष्पैः कुसुमधनुषो बाणपातायमानैः ।
लाक्षारागैश्चरणनिहितैरप्यधिक्षोणि यस्यां,
नैशो मार्गः सवितुरुदये सूच्यते कामिनीनाम् ॥ ९६ ॥

गत्यायासादिति । **यस्याम्** अलकायाम् । **सवितुः** सूर्यस्य । **उदये** उद्गमे सति । **अधिक्षोणि** क्षोणिमधिकृत्याधिक्षोणि तस्मिन् भूतले । **कामिनीनाम्** स्त्रीणाम् । **गत्यायासात्** गमनाज्जातश्रमात् । **गलितकबरीबन्धमुक्तैः** गलितात् शिथिलात् कबरीबन्धात् केशबन्धात् मुक्तानि च्युतानि तैः । 'कबरी केशवेशे' इत्यमरः । **सभृङ्गैः** भृङ्गसहितैः । **कुसुमधनुषः** कुसुमान्येव धनुर्यस्य तस्य कामस्य । **बाणपातायमानैः** शरपातसदृशैः । **कीर्णैः** आस्तीर्णैः । **पुष्पैः** कुसुमैः । **चरणनिहितैः** पादविन्यस्तैः । **लाक्षारागैश्च** लाक्षारञ्जनैरपि । 'लाक्षाराक्षाजतुक्लीबे यावोऽलक्तो द्रुमामयः' इत्यमरः । **नैशः** निशि भवो नैशः । **मार्गः** पन्थाः । **सूच्यते** ज्ञाप्यते । मार्गपतित मन्दारकुसुमादिलिङ्गैरयमभिसारिकाणां पन्था इत्यनुमीयत इति भावः ॥ ९६ ॥

अन्वय—तस्यां गत्यायासात् गलित कबरीबन्धमुक्तैः कीर्णैः सभृङ्गैः कुसुमधनुषः बाणपातायमानैः पुष्पैः अधिक्षोणि चरणनिहितैः लाक्षारागैः अपि कामिनीनां नैशः मार्गः सवितुः उदये सूच्यते ।

अर्थ—जिस अलका नगरी में गमन से उत्पन्न परिश्रम के कारण शिथिल केशवेश की रचना से गिरे हुए, भौंरों से सहित, गिरते हुए काम के बाण के समान फूलों से तथा पृथ्वी पर पैर रखने से अंकित महावर के रंग से कामिनी स्त्रियों का रात्रिकालीन मार्ग सूर्योदय होने पर सूचित होता है ।

भावार्थ—कामिनियों के गमनजन्य परिश्रम के कारण उनका कबरीबन्ध शिथिल हो जाने से उनसे गिरे हुए फूल मार्ग पर गिर पड़े थे । फूलों के साथ उन पर बैठे हुए भौंरे भी गिर पड़े थे । वे गिरे हुए फूल ऐसे लग रहे थे जैसे गिरते हुए काम के बाण हों । जहाँ जहाँ स्त्रियों ने पैर रखे थे वहाँ उसके महावर का रंग अंकित हो गया था । इन सब कारणों से सूर्योदय के समय स्त्रियों का रात्रिकालीन मार्ग सूचित हो रहा था ।

मन्ये यस्या जगति सकलेऽप्यस्ति नौपम्यमन्य-
स्सर्वौपम्यप्रणिहितधिया वेधसा निर्मितायाः ।

यामध्यास्ते कमलनिलया सम्पदश्च प्रजाना-
मानन्दोत्थं नयनसलिलं यत्र नान्यैर्निमित्तैः ॥ ९७ ॥

मन्य इति । **सर्वौपम्यप्रणिहितधिया** सर्वोपमानत्वसावधानधिषणेन । **वेधसा** ब्रह्मणा । **निर्मितायाः** रचितायाः । **यस्याः** अलकायाः पुरः । **सकलेऽपि** सर्वस्मिन्नपि । **जगति** लोके । **अन्यत्** अपरम् । **औपम्यम्** उपमेयवस्तु । **नास्ति मन्ये** न विद्यत इत्येवमहं जाने । **कमलनिलया** लक्ष्मीः । 'लक्ष्मीः पद्मालया पद्मा' इत्यमरः । **याम्** अलकाम् । **अध्यास्ते** अधिवसति । **प्रजानां** जनानाम् । **सम्पदश्च** श्रियश्च । **याम्** अलकापुरम् । अध्यासते । अर्थवशाद्विभक्त्यादि परिणामः । 'शीङ्स्थासोराधारः' इत्याधारे द्वितीया । मन्ये इति पदमत्र वा सम्बन्धनीयम् । **यत्र** अलकायाम् । **नयनसलिलं** नेत्राम्बु । **आनन्दोत्थं** आनन्दजन्यमेव । **अन्यैर्निमित्तैः** अपरैः शोकादिहेतुभिः न न भवति ॥ ९७ ॥

अन्वय—सर्वौपम्य प्रणिहितधिया वेधसा निर्मितायाः यस्याः सकले अपि जगति औपम्यं नास्ति (इति) मन्ये । यां कमलनिलया अध्यास्ते । (यां) च प्रजानां सम्पदः (अध्यासते) यत्र नयन सलिलं आनन्दोत्थं, न अन्यैः निमित्तैः ।

अर्थ—सभी उपमानों को ध्यान में रखकर ब्रह्मा से निर्मित जिस अलका नगरी का समस्त संसार में भी कोई अन्य उपमान नहीं है ऐसा मैं मानता हूँ। जिसमें लक्ष्मी निवास करती है तथा जिसमें प्रजाओं की सम्पत्ति निवास करती है, जहाँ पर आंसू आनन्द से ही गिरते हैं, अन्य निमित्तों से नहीं गिरते हैं।

यत्रस्थानां न परवशता चित्तभर्तुः परत्र,
नान्यो भङ्गः प्रणयिनि जने मानभङ्गं विहाय ।
नान्यो बन्धः प्रियजनतया सङ्गमाशानुबन्धा-
न्नान्यस्तापः कुसुमशरजादिष्टसंयोगसाध्यात् ॥ ९८ ॥

यत्रस्थानामिति । **यत्रस्थानां** यत्र भवा यत्रत्यास्तेषाम् अलकापुरजनानाम् । **चित्तभर्तुः** प्राणनाथात् । **परत्र** अन्यत्र । चित्तभर्तारं विहायान्यत्रेत्यर्थः **परवशता** परवशता । **न** नास्ति । **प्रणयिनि जने** प्रणयवज्जने । **मानभङ्गम्** अभिमानच्युतिम् । **विहाय** मुक्त्वा । **अन्यो भङ्गः** । **नास्ति प्रियजनतया** प्रियजनसम्बन्धेन । **संगमाशानुबंधात्** संसर्गाभिलाषानुबन्धात् **अन्यो बंधः** अन्यद्बंधनं नास्ति **इष्टसंयोगसाध्यात्** इष्ट संयोगेन प्रियजनसमागमेन साध्यान्निवर्तनीयात् । तत्प्रतिकार्यादित्यर्थः । **कुसुमशरजात्** मदनेन जन्यात्तापात् । **अन्यस्तापोऽपरस्तापः** । **नास्ति** ॥ ९८ ॥

---

१. तापो न कुसुमशरादिति पाठांतरं ।

अन्वय—यत्रत्यानां चित्तभर्तुः परत्र परवशता न, प्रणयिनि जने, मानभङ्गं विहाय अन्यः भङ्गः न, प्रियजनतया सङ्गमाशानुबन्धात् अन्यः बन्धः न, इष्ट संयोगसाध्यात् कुसुमशरजात् अन्यः तापः न।

अर्थ—जिस अलकापुरी में निवास करने वाले लोगों को मनोहर वस्तु के अतिरिक्त दूसरी जगह परवशता नहीं है अर्थात् मनोहर पुरुष और मनोहारिणी स्त्री को छोड़कर अन्यत्र परवशता नहीं है। प्रियतमों के प्रति मानभङ्ग के अतिरिक्त अन्य मान भंग नहीं है। प्रियजनों के मिलन की आशा के बन्ध से भिन्न बन्ध नहीं है। इष्ट व्यक्ति का संयोग सिद्ध न होने के कारण जो काम संताप होता है, उससे भिन्न कोई संताप नहीं है।

यत्राकल्पान्निधिषु सकलानेव सम्पादयत्सु,
नार्थी कश्चिन्न खलु कृपणो नापि निःस्वो जनोस्ति।
धर्मः साक्षान्निवसति सतीं यामलङ्कृत्य यस्मा-
[1]न्नाप्यन्यत्र प्रणयकलहाद्विप्रयोगोपपत्तिः॥ ९९॥

यत्रेति। यस्मात्कारणात्। धर्मः नीतिधर्मः। सतीं यां पुरीम्। आलङ्कृत्य विभूष्य। साक्षात् प्रत्यक्षेण। निवसति वर्तते। तस्मात्कारणात्। यत्र अलकापुर्याम्। निधिषु निधानेषु। सकलानेव आकल्पान् भूषणानि। 'आकल्पवेषौ नेपथ्यम्' इत्यमरः। सम्पादयत्सु ददानेषु। कश्चिदर्थी याचकः। न नास्ति। कृपणः क्षुद्रः। 'कदर्ये कृपणक्षुद्रकिम्पचानमितम्पचाः' इत्यमरः। न खलु नास्ति हि। निःस्वोपि जनो दरिद्रजनश्च। 'निःस्वस्तु दुर्विधो दीनो दरिद्रो दुर्गतोऽपि सः' इत्यमरः। नास्ति प्रणयकलहात् प्रणयजात कलहात्। अन्यत्र परतः। विप्रयोगोपपत्तिरपि विरहप्राप्तिरपि नास्ति॥ ९९॥

अन्वय—यत्र निधिषु सकलान् एव आकल्पान् सम्पादयत्सु कश्चित् जनः अर्थी नास्ति, न खलु (कश्चित्) कृपणः अस्ति, नाऽपि (कश्चित्) निःस्वः (अस्ति) यस्मात् यां सतीं अलङ्कृत्य धर्मः साक्षात् निवसति (तस्मात् तत्र) प्रणयकलहात् अन्यत्र विप्रयोगोपपत्तिः अपि नाऽस्ति।

अर्थ—जहाँ नवनिधियों से समस्त संकल्पों के पूरा हो जाने के कारण कोई भी व्यक्ति याचक नहीं है, न कोई दीन है और न कोई निर्धन है, क्योंकि उस शोभित अलका को अलङ्कृत कर धर्म प्रत्यक्ष रूप से निवास करता है अतः वहाँ प्रणय कलह से भिन्न किसी अवस्था में विरह की प्राप्ति भी नहीं है।

---

१. नाप्यन्यस्माद्विरत्यपि पाठः।

यस्यै शक्रः स्पृहयतितरामिष्टसर्वर्द्धिभाजे,
यत्रासीनाः शतमखपुरीं विस्मरन्त्येव सद्यः ।
नान्यच्चिन्त्यं विहरणभयाद्यत्र मृत्युञ्जयानां,
वित्तेशानां न च खलु वयो यौवनादन्यदस्ति ॥ १०० ॥

यस्या इति । **इष्टसर्वर्द्धिभाजे** इष्टाः सर्वर्द्धीः समस्तसम्पदो भजतीति तथोक्ता तस्यै । **यस्यै** अलकायै । **शक्रः** इन्द्रः । 'शक्रः शतमन्युः' इत्यमरः । **स्पृहयतितरां** वाञ्छतितराम् । 'स्पृहेर्वेति' चतुर्थी । **यत्र** यस्याम् । **आसीनाः** स्थिताः जनाः । **शतमखपुरीम्** अमरावतीम् । **सद्यः** सपदि । **विस्मरन्त्येव** न स्मरन्त्येव । ततोऽप्यधिकेति भावः । **यत्र** पुरि । **विहरणभयात्** । विहारभीतेः । **अन्यच्चिन्त्यम्** अपरं चिन्तनीयम् । न-नास्ति । **मृत्युञ्जयानां** मृत्युञ्जयन्तीति मृत्युञ्जयास्तेषाम् । **वित्तेशानां** यक्षाणाम् । 'वित्ताधिपः कुबेरः स्यात्प्रभौ धनिकयक्षयोः' इति शब्दार्णवे । **यौवनात्** तारुण्यात् । **अन्यद्वयश्च** वार्द्धक्य वयस्च । 'खगबाल्यादिनोर्वयः' इत्यमरः **नास्ति खलु** न भवति हि ॥ १०० ॥

अन्वय—इष्टसर्वर्द्धिभाजे यस्यै शक्रः स्पृहयतितरां यत्र आसीनाः सद्यः एव शतमखपुरीं विस्मरन्ति, यत्र विहरणभयात्, अन्यत् न चिन्त्यं, यत्र मृत्युंजयानां वित्तेशानां यौवनात् अन्यत् वयः न खलु अस्ति ।

अर्थ—अभिलषित समस्त ऐश्वर्य से युक्त जिसके लिए इन्द्र अत्यधिक अभिलाषा करता है जहाँ पर ठहरने वाले शीघ्र ही इन्द्रपुरी को भूल जाते हैं। जहाँ अन्यत्र जाने के भय से अन्य कुछ भी चिन्ता योग्य नहीं है अर्थात् अलका को छोड़कर अन्यत्र जाने में दुःख का अनुभव होने से लोग दूसरी जगह जाने में डरते हैं, अलका को छोड़कर अन्य किसी की याद नहीं करते हैं। जहाँ मृत्यु को जीतने वाले यक्षों की यौवन से भिन्न बुढ़ापा आदि अवस्था नहीं है।

नूनं कल्पद्रुमसहचरास्तत्सधर्माण एते,
सञ्जाताः स्युः षडृतुकुसुमान्येकशो यत्प्रदद्युः ।
अक्षीणर्द्धि ध्रुवमुपगताः पल्लवोल्लासिता ये,
यत्रोन्मत्तभ्रमरनिकराः[1] पादपा नित्यपुष्पाः ॥ १०१ ॥

नूनमिति । **यत्र** नगर्याम् । **अक्षीणर्द्धि** सम्पूर्णसम्पत्तिम् । तपोविशिष्ट्यगुण विशेषणम् । **ध्रुवं** निश्चयेन । **उपगताः** उपयाताः । **पल्लवोल्लासिता** किसलयैः

1. भ्रमरमुखरा इत्यपि पाठः ।

शोभिताः। उन्मत्तभ्रमरनिकराः उन्मत्ताः सन्तुष्टाः भ्रमरनिकराः भृङ्गनिवहाः येषाम् ते। नित्यपुष्पाः नित्यं पुष्पाणि येषां ते तथोक्ताः। निवृत्तकालनियमादित्यर्थः। ये पादपाः वृक्षाः। 'पादपौगोवनस्पतीः' इति धनञ्जयः। षड्ऋतुकुसुमानि षट्सु ऋतुषु जातानि कुसुमानि तथोक्तानि। यत् यस्मात्। एकशः एकदैव। प्रदद्युः वितरेयुः। तत् तस्मात्कारणात्। एते वृक्षाः। कल्पद्रुमसहचराः सुरद्रुमसहकारिणः। तत्सधर्माणः 'धर्मः पुण्ययमन्यायस्वभावाचारसोमपाः' इत्यभिधानात्। 'सः समानस्य' इति समावः। 'धर्मादिन्' इति बहुव्रीहावत्य। तत्समानस्वरूपाः। नूनं निश्चयेन सञ्जाताः समुद्भूताः। स्युः भवेयुः॥ १०१॥

अन्वय—यत्र अक्षीर्णार्द्ध ध्रुवं उपगताः पल्लवोल्लासिताः उन्मत्तभ्रमरमुखराः नित्यपुष्पाः ये पादपाः यत् षड्ऋतुकुसुमानि एकशः प्रदद्युः (तत्) एते कल्पद्रुमसहचराः नूनं तत्सधर्माणः सञ्जाताः स्युः।

अर्थ—जिस अलकापुरी में अक्षीणऋद्धि को निश्चय से प्राप्त हुए, कोमल पत्तों में उत्पन्न सौन्दर्य से युक्त, भ्रमरों से वाचालित सदा फूलों से युक्त जो वृक्ष यतः छह ऋतुओं के फूलों को एक ही समय में देते हैं अतः ये कल्पवृक्षों के साथ निवास करने वाले उनके (कल्पवृक्षों के) समान स्वभाव वाले होने चाहिए।

> **तत्सान्निध्यादिव वनलताः शिक्षितास्तन्नियोगं,**
> **नानाभेदं विवरितुमलं ताश्च दिव्यं प्रसूनम्।**
> **ताभिः स्पर्धामिव च गमिता यत्र भृङ्गोपगीता,**
> **हंसश्रेणीरचितरशना[2] नित्यपद्मा नलिन्यः॥ १०२॥**

तत्सान्निध्यादिति। यत्र अलकायाम्। वनलताः विपिनवल्लर्यः तत्सान्निध्यात् तद्वृक्षसामीप्यात्। शिक्षिता इव अभ्यासविशिष्टा इव। नानाभेदं बहुविधम्। तन्नियोगं तत्कैङ्कर्यम्। विवरितुं विवरणाय कर्तुमित्यर्थः। अलं समर्थाः। ताभिः वनलताभिः। स्पर्धां विवादम्। गमिता इव प्रापिता इव। ताश्च नलिन्यः पद्मिन्यः। 'बिसिनीपद्मिनीमुखाः' इत्यमरः। भृङ्गोपगीताः भृङ्गैरुपकूजिताः। हंसश्रेणीरचितरशनाः हंसश्रेणीभिः मरालराजिभिः रचिता रशना यासां ताः रचितरशना इत्यपि पाठः श्रेयान्। तत्र हंसश्रेण्या रचिता रशना काञ्चीदाम यासां ताः 'स्त्रीकट्यां मेखला काञ्ची सप्तकी रशना तथा' इत्यमरः। नित्यहंसपरिवेष्टिता इत्यर्थः। नित्यपद्माः नित्यं पद्मानि यासां ताः। नित्या पद्मा लक्ष्मीर्यासां ता इति च तथोक्ताः। दिव्यं मनोहरम्। प्रसूनं कुसुमम्। विवरितुमलमित्यत्राप्यन्वयः॥ १०२॥

---

१. वितरितुमलं। २. रशनाः।

अन्वय—यत्र तरुसान्निध्यात् स्वनियोगं शिक्षिताः इव ताः च वनलताः नाना-भेदं दिव्यं प्रसूनं वितरितुं अलम्। यत्र च भृङ्गोपगीताः हंसश्रेणीरचितरशनाः नित्यपद्माः नलिन्यः ताभिः स्पर्द्धा इव गमिताः।

अर्थ—जिस अलका नगरी में कल्पवृक्ष की समीपता से मानों अभिल-षित प्रदानरूप कर्त्तव्य की शिक्षा प्राप्त हुई वे (कल्पवृक्षों से आलिङ्गित) वन लताएँ अनेक प्रकार के दिव्य पुष्प प्रदान करने में समर्थ हैं तथा जहाँ भौरों की गुञ्जन से युक्त, हंसों की पक्तियों द्वारा जिनमें रशना (मण्ड-लाकार रचना) बनाई गई है ऐसी सदैव कमल से युक्त कमलिनियाँ वन लताओं के साथ मानों स्पर्धा को प्राप्त कराई गईं।

भावार्थ—हंसों द्वारा बनाई गई मण्डलाकार रचना कमलिनियों की करधनी के समान प्रतीत होती थी।

यस्यां नित्यप्रहतमुरजाम्भोदनादैः प्रतीता,
नृत्यन्त्युच्चैर्विरचितलयं ताण्डवैश्चित्रपिच्छाः।
नानारत्नैरिव च निधयो निर्मिता जङ्गमास्ते,
केकोत्कण्ठाः भवनशिखिनो नित्यभास्वत्कलापाः॥ १०३॥

यस्यामिति। **यस्यां** पुरि। **नित्यप्रहतमुरजाम्भोदनादैः** नित्यप्रहतानां मुरजाणां पणवानाम् अम्भोदानामिव नादैर्ध्वनिभिः। **प्रतीताः** प्रथिताः। 'प्रतीते: प्रथितख्यात वित्तविज्ञातविश्रुताः' इत्यमरः। **नानारत्नैः** विविधमणिभिः। **निर्मिताः** रचिताः। **जङ्गमाः** सञ्चारिणः। **निधय इव** निधानवत्। 'निधिर्नाशेवधिः' इत्यमरः। **चित्रपिच्छाः** चित्रं पिच्छं बर्हं येषां ते तथोक्ताः **केकोत्कण्ठाः** केकाभिः उद्गतः कण्ठो येषां ते तथोक्ताः। **नित्यभास्वत्कलापाः** नित्यं भास्वन्तः कलापाः बर्हाणि येषां ते तथोक्ताः। 'कलापो भूषणो बर्हे तूणीरे संहतौ करे' इत्यमरः। **ते भवन-शिखिनः** क्रीडामयूराः **ताण्डवैः** नर्तनैः। 'ताण्डवं नटनं नाट्यम्' इत्यमरः **विरचितलयं** विरचितो लयस्तालसाम्यं यस्मिन्कर्मणि तत्। 'तालः कालक्रियामानं लयः साम्यम्' इत्यमरः। **उच्चैः** परम्। **नृत्यन्ति** नर्तनं कुर्वन्ति॥ १०३॥

अन्वय—यस्यां नित्यप्रहत मुरजाम्भोदनादैः प्रतीताः, चित्रपिच्छाः, नानारत्नैः निर्मिताः जङ्गमाः निधयः इव च ते नित्यभास्वत्कलापाः केकोत्कण्ठाः भवन-शिखिनः ताण्डवैः विरचितलयं उच्चैः नृत्यन्ति।

अर्थ—जिस अलकानगरी में नित्य बजाए गए मेघ के समान नाद वाले मृदङ्गों की ध्वनियों से आनन्दित अद्भुत अथवा अनेक रंगों के पिच्छों से युक्त अनेक प्रकार के रत्नों से निर्मित जङ्गम निधियों के समान

सतत प्रकाशमान पंखों से शोभित तथा ध्वनि करने के लिए गर्दन को ऊँचा करने वाले गृहमयूर लय (नृत्य, गीत आदि का साम्य) उत्पन्न कर अत्यधिक रूप से नृत्य करते हैं।

ज्योत्स्नंमन्येष्वमरवसतिं व्याहसत्सु स्वभूत्या,
हर्म्येषूच्चवलभिषु सुधापङ्कधौतेषु यस्याः ।
निर्विश्यन्ते निधिभुगधिपैः स्त्रीसहायैर्वितन्व-
न्नित्य ज्योत्स्नाप्रतिहततमोवृत्तिरम्याः प्रदोषाः ॥ १०४ ॥

ज्योत्स्नंमन्येष्विति । **यस्याः** अलकायाः । **ज्योत्स्नंमन्येषु** ज्योत्स्नां मन्यन्ते इति ज्योत्स्नंमन्यानि तेषु । 'कर्तुः खश्' इति खश्प्रत्ययः । ज्योत्स्नापुञ्जायमानेष्वित्यर्थः । **स्वभूत्या** निजैश्वर्येण । **अमरवसतिं** देववासम् । **व्याहसत्सु** हासं कुर्वत्सु । **उच्चवलभिषु** उन्नतवलभिषु । **सुधापङ्कधौतेषु** सुधापङ्केन क्षालितेषु । **हर्म्येषु** **वितन्वन्नित्यज्योत्स्ना प्रतिहततमोवृत्तिरम्याः** वितन्वन्नित्यज्योत्स्नया प्रसर्पन्त्या सार्वकालिक चन्द्रिकया प्रतिहतानां तमसां वृत्तिर्व्याप्तिस्तया रम्याः सुभगाः । अत्र ज्योत्स्नाया नित्यत्वं महेशस्य तदा स्थितत्वादिति भावः । **प्रदोषाः** रात्रिप्रवेशकालाः । 'प्रदोषो रजनी-मुखम्' इत्यमरः । **स्त्रीसहायैः** वनितासहचरैः । **निधिभुगधिपैः** निधीन् भुञ्जन्तीति निधिभुजस्तेषामधिपैः यक्षनायकैः । **निर्विश्यन्ते** अनुभूयन्ते ॥ १०४ ॥

अन्वय—सुधापङ्कधौतेषु ज्योत्स्नमन्येषु स्वभूत्या अमरवसतिं व्याहसत्सु उच्चवलभिषु यस्याः हर्म्येषु वितन्वन्नित्यज्योत्स्ना प्रतिहततमोवृत्तिरम्याः प्रदोषाः स्त्रीसहायैः निधिभुगधिपैः निर्विश्यन्ते ।

अर्थ—चूना से सफेद पुते हुए, अपने आपको चाँदनी के समान मानने वाले, अपने ऐश्वर्य से देवों के निवास स्थान स्वर्गभूमि पर हँसते हुए, ऊँचे ऊपरी भागों से युक्त जिस अलकानगरी के भवनों में प्रसरणशील नित्य चाँदनी के द्वारा अन्धकार के नष्ट हो जाने से रमणीय रातों का अनुभव नारीरूप सहचरियों से युक्त यक्षपति करते हैं।

भावार्थ—रातों का अनुभव अपनी रमणियों के साथ यक्षों के अधिपतियों द्वारा किया जाता है।

दृष्ट्वा यस्याः प्रकृतिमधुरामाकृतिं सुन्दरीणां,
त्रैलोक्येऽपि प्रथमगणनामीयुषां जातलज्जा ।
मन्ये लक्ष्मीः सपदि विसृजेदेव संलुच्यकेशान्,
हस्ते लीलाकमलमलके बालकुन्दानुविद्धम् ॥ १०५ ॥

दृष्ट्वेति । यस्याः पुर्याः । सुन्दरीणां रमणीनाम् । 'सुन्दरी रमणी रामा' इत्यमरः । त्रैलोक्येऽपि त्रिलोका एव त्रैलोक्यं तस्मिन्नपि 'भेषजादि' इति ष्यञ् । प्रथमगणनां प्रथमोपमानाम् । मुख्यतामित्यर्थः । ईयुषीं गतवतीम् । 'लिटः क्वसुकानौ' इति क्वसुः । 'नुगम्' इति ङी । प्रकृतिचतुरां प्रकृत्या चतुरां निपुणाम् । आकृतिम् आकारम् । दृष्ट्वा वीक्ष्य । जातलज्जा उत्पन्नव्रीडा । 'मन्दाक्षं ह्रीस्त्रपा व्रीडा' इत्यमरः । लक्ष्मीः श्रीः । सपदि शीघ्रेण । 'द्राङ् मङ्क्षु सपदि द्रुते' इत्यमरः । केशान् शिरोरुहान् । संलुच्य उत्पाट्य । हस्ते पाणौ । लीलाकमलं लीलार्थं कमलम् । लीलारविन्दं हस्ते स्थितमित्यर्थः । 'अलकाश्चूर्णकुन्तलाः' इत्यमरः । जातावेकवचनम् । बालकुन्दानुविद्धं बालकुन्दैः प्रत्यग्रमाघ्यकुसुमैः अनुविद्धम् अनुवेधो ग्रथनम् । नपुंसके भावे क्तः । अलकमिति पाठे बालकुन्दानुविद्धम् अभिनवमाघ्यकुसुमग्रथितम् । अलकाश्चूर्णकुन्तलम् । कर्मणि क्तः । विसृजेदिव परिहरेदिव । मन्ये जाने ॥ १०५ ॥

अन्वय—यस्याः त्रैलोक्ये अपि प्रथमगणनां ईयुषीं सुन्दरीणां प्रकृतिचतुरां आकृतिं दृष्ट्वा जातलज्जा लक्ष्मीः केशान् संलुच्य हस्ते लीलाकमलं, अलके बालकुन्दानुविद्धं सपदि विसृजेत् एव (इति) मन्ये ।

अर्थ—जिस अलकापुरी की तीनों लोकों में भी उत्कृष्ट गणना को प्राप्त हुई स्त्रियों की स्वभाव से मनोहर आकृति को देखकर जिसे लज्जा उत्पन्न हो गई है ऐसी लक्ष्मी केशों का लोंच कर हाथ में शोभायुक्त कमल तथा अलकों में अर्धविकसित कुन्दपुष्पों का गुम्फन अवश्य ही छोड़ देगी, ऐसा मैं मानता हूँ ।

> **यत्र स्त्रीणां स्मितरुचिलसज्ज्योत्स्नया बद्धशोभा[1],**
> **प्रालेयांशोः श्रियमुपहसत्यस्तदोषाऽकलङ्का ।**
> **भूयो लक्ष्मीं हिममहिमजां मानयन्तीभिराभि-**
> **र्नीता लोध्रप्रसवरजसा पाण्डुतामाननश्रीः ॥ १०६ ॥**

यत्रेति । यत्र अलकायाम् । स्त्रीणां वनितानाम् । स्मितरुचिलसज्ज्योत्स्नया स्मितस्य ईषद्धास्यस्य रुचिः कान्तिः विलसन्ती चासौ ज्योत्स्ना च स्मितरुचिरिव विलसज्ज्योत्स्नातया । बद्धशोभा रचितद्युतिः । अस्तदोषा अस्तो नष्टो दोषो अस्तंगमनोपरागादिदूषणं यस्याः सा दिनष्टरात्रिश्च । 'सायं निशायां दोषोऽस्त्री वा ना दूषणाख्ययोः' इत्युभयत्रापि भास्करः । अकलङ्का कलङ्करहिता । एतद्विशेषणद्वयं चन्द्रादप्यधिकगुणत्वं साधयति । भूयः पुनः । हिममहिमजां हिमस्य हेमन्तर्तोर्महिम्ना

---

१. ऽनद्धशोभा ।

सामर्थ्येन जाताम् । लक्ष्मीम् उद्यानशोभाम् । मानयन्तीभिः सत्कुर्वन्तीभिः । आभिः स्त्रीभिः । लोध्रप्रसवरजसा लोध्रप्रसवानां लोध्रपुष्पाणां रजसा परागेण । लोध्रप्रसवरजसा लोध्रप्रसवानां लोध्रपुष्पाणां रजसा परागेण । 'गालवः शाबरो लोध्रः' स्यादुत्पादे फले पुष्पे प्रसवो गर्भमोचने 'पांसुर्ना न द्वयो रजः' इत्यमरः । पाण्डुतां गौरत्वम् । नीता प्रापिता । आननश्रीः मुखलक्ष्म्याः । प्रालेयांशोः चन्द्रमसः । 'हिमांशुश्चन्द्रमाश्चन्द्रः' इत्यमरः । श्रियं सम्पत्तिम् । उपहसति परिहरति ॥१०६॥

अन्वय—यत्र स्मितरुचिलसज्ज्योत्स्नया आबद्धशोभा, अस्तदोषा, अकलङ्का, हिममहिमजां लक्ष्मीं मानयन्तीभिः आभिः लोध्रप्रसवरजसा भूयः पाण्डुतां नीता, स्त्रीणां आननश्रीः प्रालेयांशोः श्रियं उपहसति ।

अर्थ—जिस अलका में मृदु हास्य की कान्तिरूप शोभायमान चाँदनी से विरचित, सौन्दर्य से युक्त, दोष रहित, (चन्द्रश्री रात्रि के सम्बन्ध से सहित है ।), निष्कलङ्क (चन्द्रश्री सकलंक है), हेमन्त ऋतु की महिमा प्रकर्ष से उत्पन्न उद्यान की शोभा का सम्मान करती हुई उस नगरी में रहने वाली स्त्रियों के द्वारा लोध्र पुष्पों के पराग से पुनः पुनः श्वेतवर्ण को प्राप्त कराई गई (स्त्रियों के) मुख की शोभा चन्द्रमा की शोभा (चाँदनी) पर हँसती है ।

यत्राकल्पे स्वरुचिरचिते कल्पवृक्षप्रसूते,
सत्येव स्यात्प्रियमभिनवप्रीतिमादृत्य किञ्चित् ।
यक्षस्त्रीणां यदुपनिहितं ताभिरात्तानुरागं
चूडापाशे नवकुरवकं चारु कर्णे शिरीषम् ॥ १०७ ॥

यत्राकल्प इति । यत्र अलकापुरि । स्वरुचिरचिते स्वच्छन्दकृते । कल्पवृक्षप्रसूते कल्पवृक्षेषु जाते । आकल्पे आभरणे । सत्येव विद्यमान एव । ताभिः यक्षस्त्रीभिः । चूडापाशे केशपाशे । नवकुरवकं इत्यग्रकुरवकप्रसूनम् । 'अम्लानस्तु महासहा' तत्र शोणे कुरवकम्' इत्यमरः । कर्णे श्रोत्रे । जात्यैकवचनम् । चारु पेशलम् । 'सुन्दरं रुचिरं चारु' इत्यमरः । शिरीषं पुष्पविशेषम् । 'शिरीषस्तु कपीतनः । भण्डिलोऽपि इत्यमरः । आत्तानुरागं आत्तानुरागं आत्तः प्राप्तोऽनुरागो यस्मिन् कर्मणि तत् । यत् यस्मात् कारणात् । उपनिहितं संधृतम् । तस्मात् कारणात् । अभिनवप्रीतिम् अभिनवस्य प्रीतिस्ताम् । आदृत्य गृहीत्वा । यक्षस्त्रीणां यक्षनारीणाम् । किञ्चित् ईषद्वस्तु तुच्छमित्यर्थः । प्रियं प्रीतिकरम् । यक्षस्त्रीणां कल्पवृक्षदत्तानर्घ्यां भरणे सत्यपि लोकोऽभिनवप्रियः' इति वचनात् पुष्पाण्यपि प्रमोदकराणि भवेयुरिति भावः ॥ १०७ ॥

अन्वय—यत्र स्वरुचिरचिते कल्पवृक्षप्रसूते आकल्पे सति एव ताभिः चूडापाशे आत्तानुरागं नवकुरबकं, कर्णे चारु शिरीषं यत् उपनिहितं तत् यक्षस्त्रीणां अभिनवप्रीति आदृत्य किञ्चित् प्रियं स्यात्।

अर्थ—यत्र जिस अलका नगरी में अपनी रुचि से रचित और कल्पवृक्ष से उत्पन्न आभूषण होने पर भी [अलकानगरी की] स्त्रियों के द्वारा केशपाश में लालिमा को प्राप्त किया हुआ नया कुरबक का फूल है, कान में मनोहर शिरीष का फूल स्थापित किया गया है अतः यक्षस्त्रियों को अभिनव पदार्थ में प्रीति की अपेक्षा से कोई शिरीष पुष्प आदि तुच्छ वस्तु भी प्रिय होती है।

भावार्थ—वहाँ की स्त्रियों की नूतन पदार्थ में प्रीति लक्षित होती है।

सम्प्रति सर्वदा सर्वर्तुसम्पत्तिमाह—

पाणौ पद्मं कुरबकयुतं स्वोचिते धाम्नि कुन्दं,
लौध्रो रेणु स्तनपरिसरे हारि कर्णे शिरीषम्।
व्यक्तिव्यक्तं व्यतिकरमहो तत्र षण्णामृतूनां,
सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम्॥ १०८॥

पाणाविति। **यत्र पुरि**। **वधूनां** नारीणाम्। **पाणौ** हस्ते। 'पञ्चशाखः शयः पाणिः' इत्यमरः। **पद्मं** पङ्कजम्। शरल्लिङ्गमेतत्। **स्वोचिते** स्वयोग्ये। **धाम्नि** स्थाने केशपाश इत्यर्थः। **कुरबकयुतं** कुरबकपुष्पसहितम्। वसन्तलिङ्गमेतत्। **कुन्दं** कुन्दकुसुमम्। कुन्दानां यद्यपि 'माघ्यं कुन्दम्' इत्यभिधानात्। शिशिरत्वमस्ति तथापि हेमन्ते प्रादुर्भावः। शिशिरे प्रौढत्वमित्यवस्थाभेदेन हेमन्त कार्यत्वम्। कुन्दपुष्पमपि केशपाशे। **स्तनपरिसरे** पयोधरप्रदेशे। 'स्मृतः परिसरो मृत्युदेशोपान्तप्रदेशयोः' इति विश्वः। **लौध्रः** लोध्रसम्बन्धी। **रेणुः** धूलिः। 'रेणुर्द्वयोः स्त्रियां धूलिः' इत्यमरः। शिशिरलिङ्गमेतत्। **कर्णे** श्रोत्रे। **हारि** रम्यम्। **शिरीषं** शिरीषकुसुमम्। ग्रीष्मलिङ्गमेतत्। **सीमन्ते च** शिरोरुहपद्धतौ। 'स्त्रीणां पुंसि च सीमन्तः' इत्यमरः। **त्वदुपगमजं** तवोपगमनेन मेघागमनेन जायते इति तथोक्तम्। **नीपं** कदम्बप्रसूनम्। 'अथ स्थलकदम्बके। नीपः स्यात्पुलकः श्रीमान्प्रावृषेण्यो हलिप्रियः' इति शब्दार्णवे। वर्षालिङ्गमेतत्। **तत्र** अलकापुरि। **षण्णां ऋतूनां** षट्कालानाम्। **व्यतिकरं** परस्परस्यानुप्रवेशनम्। 'व्यतिकरः समाख्यातो व्यसनव्यतिषङ्गयोः' इति विश्वः। **व्यक्तिव्यक्तं** प्रकाशेन प्रकटितम्। **अहो** आश्चर्यं भवेदिति शेषः॥ १०८॥

अन्वय—यत्र वधूनां पाणौ पद्मं, स्वोचिते धाम्नि कुरबकयुतं कुन्दं, स्तन-

परिसरे लोध्रो रेणुः कर्णे हारि शिरीषं, सीमन्ते च त्वदुपगमजं नीपं, तत्र षण्णां ऋतूनां व्यतिकरमहः व्यक्तिमभ्यगात् ।

अर्थ—जहाँ पर (जिस अलकापुरी में) स्त्रियों के हाथों में कमल है, अपने योग्य स्थान (केशकलाप) में कुरबक के फूलों से युक्त कुन्दपुष्प है, स्तनप्रदेश में लोध्र पुष्पों का पराग है, कान में मनोहर शिरीष का फूल है तथा माँग में तुम्हारे आगमन से उत्पन्न कदम्ब पुष्प है। उस अलका नगरी में छहों ऋतुओं का पारस्परिक मिलन उत्सव स्पष्ट रूप से व्यक्त हो गया।

शक्रंमन्याः परिणतशरच्चन्द्रिकानिर्मलानि,
प्रोत्तुङ्गानि प्रणयविवशाः स्वापतेयोष्मवन्ति ।
आक्रीडन्ते प्रिययुवतिभिः सर्वकामाभितृप्ता,
यस्यां यक्षाः सितमणिमयान्येत्य हर्म्यस्थलानि ॥१०९॥

शक्रंमन्या इति यस्याम् अलकायाम् । शक्रंमन्याः इन्द्रंमन्याः शक्रंमन्यते आत्मनः शक्रंमन्याः । 'कर्तुः खशः' इति खश्। प्रणयविवशाः प्रीतिविवशाः । सर्वकामाभितृप्ता सर्वाभिलाषैस्तृप्ताः । यक्षाः वित्तेशाः । परिणतशरच्चन्द्रिका-निर्मलानि सम्पूर्णशरत्काल ज्योत्स्नेव निर्मलानि । प्रोत्तुङ्गानि उन्नतानि । स्वापते-योष्मवन्ति स्वापतेयस्य उष्मवन्ति उष्णवन्ति । 'द्रव्यं वित्तं स्वापतेयं' इत्यमरः । सितमणि मयानि स्फटिकमयानि चन्द्रकान्तमणिमयानि च हर्म्यस्थलानि एत्य गत्वा प्रिययुवतिभिः स्त्रीभिः सह । आक्रीडन्ते रमन्ते ॥ १०९ ॥

अन्वय—यस्यां शक्रंमन्याः प्रणयविवशाः सर्वकामाभितृप्ता यक्षाः प्रिययुवतिभिः परिणतशरच्चन्द्रिकानिर्मलानि प्रोत्तुङ्गानि स्वापतेयोष्मवन्ति सित-मणिमयानि हर्म्यस्थलानि एत्य संक्रीडन्ते ।

अर्थ—जिस अलकानगरी में अपने आपको इन्द्र मानने वाले, प्रणय से विवश तथा समस्त अभिलाषाओं को सफल करने वाले यक्ष प्रिय अङ्गनाओं के साथ, पूर्णता को प्राप्त शरत्कालीन चाँदनी से निर्मल, अत्यधिक ऊँचे, धन की ऊष्मा (गर्मी) से सम्पन्न, स्फटिकमणियों से बनाए हुए भवनों में आकर क्रीड़ा करते हैं।

यत्र ज्योत्स्नाविमलिततलान्याश्रिताः कुट्टिमानि,
प्रासादानां हरिमणिमयान्यासवामोदवन्ति ।
रंरम्यन्ते द्रविणपतयः पूर्णकामा निकामं,
ज्योतिश्छायाकुसुमरचनान्युत्तमस्त्रीसहायाः ॥ ११० ॥

यत्रेति । यत्र अलकायाम् । प्रासादानां हर्म्याणाम् । ज्योत्स्नाविमलतलानि चन्द्रिकया निर्मलितं स्थलानि । हरिमणिमयानि इन्द्रनीलरत्ननिर्मितानि । आसवामोदवन्ति आसवेन पुष्परसेन आमोदवन्ति परिमलवन्ति । ज्योतिश्छायाकुसुमरचितानि ज्योतिषां ज्योतिष्काणां छाया: प्रतिबिम्बान्येव कुसुमानि तैः रचितानि परिष्कृतानि । 'ज्योतिष्काराग्निभाज्वलार्कपुत्राधीन्द्वालसु' इति वैजयन्ती । कुट्टिमानि बद्धभूमिकानि । आश्रिताः संश्रिताः । उत्तमस्त्रीसहायाः ललिताङ्गना सहचराः । पूर्णकामाः सम्पूर्णाभिलाषाः 'कामोऽभिलाषस्तर्षश्च' इत्यमरः । द्रविणपतयः यक्षाः । निकामं यथेष्टम् । रंरम्यन्ते भृशं रमन्ते ।। ११० ।।

अन्वय—यत्र ज्योत्स्नाविमलिततलानि हरिमणिमयानि आसवामोदवन्ति ज्योतिश्छायाकुसुमरचितानि प्रासादानां कुट्टिमानि आश्रिता पूर्णकामाः उत्तमस्त्रीसहायाः द्रविणपतयः निकामं रंरम्यन्ते ।

अर्थ—जिस अलका नगरी में चाँदनी से निर्मल तलभाग वाले, इन्द्रनीलमणि से निर्मित, उत्तेजक सुगन्ध द्रव्यों से युक्त अथवा फूलों के रस से सुगन्धित (या मद्य की गन्ध से युक्त) ताराओं के प्रतिबिम्ब रूप पुष्पों से अलंकृत भवनों के आँगनों का आश्रय लेकर बढ़ी हुई कामवासना से युक्त, यक्ष उत्तम स्त्रियों के साथ अपनी इच्छानुसार अत्यधिक रूप से रमण करते हैं ।

लोलापाङ्गाः सुरसरसिकाः प्रोन्नतभ्रूविकाराः,
प्राणेशानां रहसि मदनाचार्यकं कर्त्तुमीशाः ।
स्वाधीनेऽर्थेविफलमिति वा वामनेत्रा न यस्या-
मासेवन्ते मधु रतिफलं कल्पवृक्षप्रसूतम् ।। १११ ।।

लोलापाङ्गा इति । यस्यां नगर्याम् । लोलापाङ्गाः चञ्चलापाङ्गाः । 'लोलश्चल सतृष्णयोः' 'अपाङ्गौ नेत्रयोरन्तौ' इत्यमरः । सुरसरसिकाः सुरसेन शृङ्गारादिरसेन रसिकाः । प्रोन्नतभ्रूविकाराः प्रोच्चलद्भ्रूभङ्गाः । प्राणेशानां प्राणनाथानाम् । रहसि रहस्ये । 'विविक्तविजनच्छन्ननिःशलाकास्तथा रहः । रहश्चोपांशुचालिङ्गे' इत्यमरः । अर्थे प्रयोजने । स्वाधीने साधिते सति । विफलं न निष्फलं न भवति । इति वा एवमेव । 'उपमायां विकल्पे वा' इत्यमरः । मदनाचार्यकं मन्मथाचार्यत्वम् । 'योपधाद्गुरूपोत्तमाद्वुञ्' इति वुञ् 'वोरकः' इत्यकः । कामरहस्योपदेशमित्यर्थः । कर्त्तुं विधातुम् । ईशाः समर्थाः । वामनेत्राः कामिन्यः । 'कामिनी वामलोचना' इत्यमरः । कल्पवृक्षप्रसूतं पानाङ्गसुरद्रुमसम्भूतम् । रतिफलं रतेः कामकेल्याः फलम् । मधु वृक्षरसम् । आसेवन्ते आदृत्यानुभवन्तीत्यर्थः ।।१११।।

अन्वय—यस्यां लोलापाङ्गा सुरसरसिकाः प्रोन्नतभ्रूविकाराः रहसि प्राणे-

णानां मदनाचार्यकं कर्तुं ईशाः वामनेत्राः अर्थे स्वाधीने [सति मदनाचार्यकं]; विफलं इति वा कल्पवृक्षप्रसूतं रतिफलं मधु न आसेवन्ते ।

अर्थ—जिस अलकानगरी में चंचल नेत्र प्रान्त वाली, संभोग शृंगार रस की ज्ञाता, उन्नति को प्राप्त भौंहों के विकार से युक्त, एकान्त में अथवा रतिक्रीड़ा के समय प्राणनाथों के कामशास्त्र के आचार्यों के कर्म को करने में समर्थ सुन्दर नेत्रों वाली स्त्रियाँ 'काम सेवन रूप फल में स्वाधीन होने पर कामाचार्य का काम विफल हो जाएगा' इस कारण से ही कल्पवृक्ष से उत्पन्न और कामोत्तेजक मद्य का सेवन नहीं करती हैं ।

गेहे गेहे धनदसचिवैर्यत्र धर्मानुरागा-
द्दिव्यैर्गन्धैः सुरभिकुसुमैः साक्षतैर्धूपदीपैः ।
सङ्गीताद्यैरपि जिनमहो वर्त्यते पुण्यकामै-
स्त्वद्गम्भीरध्वनिषु मधुरं[1] पुष्करेष्वाहतेषु ॥ ११२ ॥

गेहे गेहे इति । यत्र यक्षधामनि । गेहे गेहे गृहे गृहे । वीप्सायां द्विः । धर्मानुरागात् सद्धर्मभक्त्या । पुण्यकामैः पुण्याभिलाषिभिः । धनदसचिवैः कुबेरमन्त्रिभिः । दिव्यैः दिवि भवैः स्वर्गस्थैरित्यर्थः । गन्धैः मलयजैः । साक्षतैः अक्षतसहितैः । सुरभिकुसुमैः सुरभियुक्तैः कुसुमैः । धूपदीपैः धूपाश्च दीपाश्च तथोक्तास्तैः । सङ्गीताद्यैरपि सङ्गीत प्रभृतिभिश्च । त्वद्गम्भीरध्वनिषु । तव गम्भीरध्वनिरिव ध्वनिर्येषां तेषु पुष्करेषु वाद्यभाण्डमुखेषु । 'पुष्करं करिहस्ताग्रे वाद्यभाण्डमुखे जले' इत्यमरः । मधुरं श्रुतिसुभगं यथा तथा । आहतेषु प्रहतेषु सत्सु । जिनमहः अर्हत्पूजा । वर्त्यते विधीयते ॥ ११२ ॥

अन्वय—यत्र गेहे गेहे धर्मानुरागात् पुण्यकामैः धनदसचिवैः त्वद्गम्भीरध्वनिषु पुष्करेषु मधुरं आहतेषु दिव्यैः गन्धैः सुरभिकुसुमैः साक्षतैः धूपदीपैः सङ्गीताद्यैः अपि जिनमहः वर्त्यते ।

अर्थ—जहाँ पर घर घर में धर्म के अनुराग के कारण पुण्य की अभिलाषा करने वाले कुबेर के सचिवों [मन्त्रियों] अथवा भृत्यों द्वारा तुम्हारे समान गम्भीर शब्द वाले पुष्कर वाद्यों के कर्णप्रियरूप से बजाए जाने पर दिव्य गन्ध, सुगन्धित फूल, चावल, धूप, दीप तथा संगीत आदि (नृत्य, गीत, वादित्र) से जिनपूजा का उत्सव किया जाता है ।

वासः क्षौमं जिगलिषु शनैर्नूनमादेष्टुकामं,
यूनां कामप्रसवभवनं हारि नाभेरधस्तात् ।

---

१. शनकैरित्यपि पाठः ।

काञ्चीदाम्ना किमपि विधृतं लक्ष्यते कामिनीनां,
नीवीबन्धोच्छ्वसितशिथिलं यत्र बिम्बाधराणाम् ॥११३॥

वास इति । **यत्र** कुबेरपुरि । **बिम्बाधराणां** बिम्बमिव अधरः ओष्ठो यासां ताः तासाम् । 'प्रतिबिम्बे प्रतिकृती प्रतिकृत्या च मण्डले । लाञ्छनेऽपि च बिम्बोऽस्त्रीन द्वयोर्बिम्बकाफले' इति भास्करः । **कामिनीनां** कान्तानाम् । **नीवीबन्धोच्छ्वसितशिथिलं** नीवीबन्धस्य उच्छ्वसितेन त्रुटितेन शिथिलं स्रस्तम् । 'नीवी पणे ग्रन्थिभेदे स्त्रीणां जघनवाससि' इति विश्वः । **काञ्चीदाम्ना** रशनया । **किमपि** कियत् । **विधृतम्** अवलम्बितम् । **क्षौमं वासः** दुकूलं वस्त्रम् । 'क्षौमं दुकूलम्' 'वस्त्रमाच्छादनं वासः' इत्युभयत्राप्यमरः । **नाभेरधस्तात्** नाभेरधोभागे । **हारि** सुभगम् । 'हृद्यं हारि मनोहरं च रुचिरम् ।' इति हलायुधः । **कामप्रसवभवनं** कामोत्पत्तिस्थानम् । **नूनं** निश्चयेन । **यूनां** तरुणानाम् । 'वयस्थस्तरुणो युवा' इत्यमरः । **आदेष्टुकामम्** उपदेष्टुकामम् । **शनैः** मन्दम् । **जिगलिषु** गलितुमिच्छु **लक्ष्यते** विषयीक्रियते ॥ ११३ ॥

अन्वय—यत्र बिम्बाधराणां कामिनीनां नीवीबन्धोच्छ्वसितशिथिलं, यूनां हारि कामप्रसवभवनं नूनं आदेष्टुकामं नाभेः अधस्तात् शनैः जिगलिषु क्षौमं वासः काञ्चीदाम्ना किमपि विधृतं लक्ष्यते ।

अर्थ—जिस अलकानगरी में बिम्बाफल के समान (लाल) अधर वाली स्त्रियों का नीवी की गाँठ के टूटने से शिथिल तरुणों के मन को हरण करने वाला और काम के उत्पत्ति स्थान को निश्चित रूप से प्रदर्शन करने की इच्छा से नाभि के नीचे धीरे-धीरे गिरने का इच्छुक रेशमी वस्त्र करधनी के द्वारा किसी प्रकार धारण किया हुआ दिखाई देता है ।

यस्यां कामद्विपमुखपटच्छायमास्रस्तनीवि,
श्रीमच्छ्रोणीपुलिनवरणं वारि काञ्चीविभङ्गम् ।
पूर्वं लज्जा विगलति ततो धर्मतोयं वधूनां,
क्षौमं रागादनिभृतकरेष्वाक्षिपत्सु प्रियेषु ॥ ११४ ॥

यस्यामिति । **यस्यां** राजराजपुर्याम् । **वधूनां** सीमन्तिनीनाम् । **कामद्विपमुखपटच्छायं** कामगजमुखवस्त्रसदृशम् । 'छाया प्रतिबिम्बमनाकान्तिः प्रतिबिम्बमनातपः । इत्यमरः । **आस्रस्तनीवि** ईषच्छिथिलिता नीवी यस्य तत् । 'नीवी परिपणे ग्रन्थौ स्त्रीणां जघनवाससि' इति विश्वः । **श्रीमच्छ्रोणिपुलिनवरणं** शोभावन्नितम्बमेव पुलिनं तस्याऽऽवरणम् । **काञ्चीविभङ्गं** काञ्ची रशनैव विभङ्गस्तरङ्गो यस्य तत् । 'भङ्गः खण्डे पराजये । तरङ्गे रोगभेदे च' इति भास्करः । **वारि** वारीव वारि जलोपमम् । **क्षौमं** दुकूलम् । **अनिभृतकरेषु** मदनपारवश्येन चपलहस्तेषु ।

प्रियेषु प्राणकान्तेषु । रागात् मोहात् । आक्षिपत्सु आहरत्सु सत्सु । पूर्वं प्राक् । लज्जा व्रीडा । विगलति । ततः पश्चात् । घर्मतोयं स्वेदाम्बु । विगलति निपतति ॥ ११४ ॥

अन्वय—यस्यां कामद्विपमुखपटच्छायं, आत्तस्तनीवि श्रीमत् श्रोणीपुलिनवरणं काञ्चीविभङ्गं वारि, क्षौमं अनिभृतकरेषु प्रियेषु रागात् आक्षिपत्सु वधूनां लज्जापूर्वं विगलति, ततः घर्मतोयम् ।

अर्थ—जिस अलकानगरी में कामरूपी हाथी के मुख के (अलंकार स्वरूप) वस्त्र के समान कान्ति युक्त, खुली हुई गाँठ वाला, शोभायुक्त, (ऊँचा होने के कारण) जघन के समान तट का आवरक (ढँकने वाला) करधनी के आकार के समान वर्तुलाकार अनेक प्रकार की तरंगों से युक्त (अथवा जहाँ पर करधनी की विशेष रचना है) जल के समान रेशमी वस्त्र चंचल हाथों वाले प्रियतमों के द्वारा अनुरागपूर्वक खींचे जाने पर स्त्रियों की लज्जा के पहले ही विलय को प्राप्त हो जाता है, अनन्तर पसीने का जल विलय को प्राप्त होता है।

आक्षिप्तेषु प्रियतमकरैरंशुकेषु प्रमोदा[1]-
दन्तर्लीलातरलितदृशो यत्र नालं नवोढाः ।
शय्योत्थायं वदनमरुताऽपासितुं धावमाना,
अर्चिस्तुङ्गानभिमुखमपि प्राप्य रत्नप्रदीपान् ॥ ११५ ॥

आक्षिप्तेष्विति । यत्र ऐलबिल धामनि । प्रमोदात् प्रकृष्टो मोदः प्रमोदस्तस्मात् । प्रियतमकरैः प्राणेशपाणिभिः । अंशुकेषु वस्त्रेषु । 'चैलं वसनमंशुकम्' इत्यमरः । आक्षिप्तेषु अपहृतेषु सत्सु । नवोढाः नवपरिणीताः स्त्रियः । अन्तर्लीलातरलितदृशः अन्तर्विलासेन चञ्चला दृशो यासां ताः । अर्चिस्तुङ्गान् अर्चिर्भिमूर्खैस्तुङ्गान् । 'अर्चिर्मयूखशिखयोः' इति विश्वः । रत्नप्रदीपान् रत्नान्येव प्रदीपान् । शय्योत्थायं शय्याया उत्थाय शय्योत्थायम् । यत्पूर्णपाद्यानेमेतिणमन्तत्वादव्ययम् । अभिमुखं सम्मुखम् यथा तथा । धावमानाः पलायमानाः । प्राप्यापि लब्ध्वापि । वदनमरुता मुखवायुना । अपासितुं नाशयितुम् । नालं समर्था न भवन्ति । अत्राङ्गानानां रत्नप्रदीप निर्वापणप्रवृत्त्या मौग्ध्यं व्यज्यते ॥११५॥

अन्वय—यत्र प्रियतमकरैः प्रमोहात् अंशुकेषु आक्षिप्तेषु अन्तर्लीलातरलितदृशः नवोढाः शय्योत्थायं धावमानाः अर्चिस्तुङ्गान् रत्नप्रदीपान् अभिमुखं प्राप्य अपि (तान्) वदनमरुता अपासितुं न अलम् ।

---

१. प्रमोहात् ।

अर्थ—जिस अलकानगरी में प्रियतमों के हाथों द्वारा मोह के कारण महीन रेशमी वस्त्र हटाए जाने पर लीला के कारण अन्दर जिनकी आँखें चंचल हो गई हैं ऐसी नववधुएँ शय्या से उठकर दौड़ती हुई ऊँची लौ वाले रत्नदीपकों को सामने आकर भी (उन्हें) मुख की वायु से बुझाने में समर्थ नहीं हैं।

वस्त्रापाये जघनमभितो दृष्टिपातं निरोद्धुं,
यूनां क्लृप्ता सुरभिरचिता यत्र मुग्धाङ्गनानाम्।
कम्पायत्तात्करकिसलयादन्तराले निपत्य,
ह्रीमूढानां भवति विफलप्रेरणा चूर्णमुष्टिः॥ ११६॥

वस्त्रापाय इति। यत्र धनदनगर्याम्। **वस्त्रापाये** वसनापगमे सति। **ह्रीमूढानां** लज्जया मूढानाम्। **मुग्धाङ्गनानां** मुग्धस्त्रीणाम्। **जघनमभितः** जघनस्य सर्वतः। **यूनां** तरुणानाम्। **दृष्टिपातं** दृग्व्यापृतिम्। **निरोद्धुम्** आवरणाय। **क्लृप्ता** कल्पिता। **सुरभिचरिता** सुरभिनिर्मिता। **चूर्णमुष्टिः** चूर्णस्य कुङ्कुमादेर्मुष्टिः। **कम्पायत्तात्**। 'अधीनो निघ्न आयत्तः' इत्यमरः। कम्पवशादित्यर्थः। **करकिसलयात्** हस्तपल्लवात्। 'पल्लवोऽस्त्री किसलयम्' इत्यमरः। **अन्तराले** मध्ये। **निपत्य** पतित्वा। **विफलप्रेरणा** व्यर्थव्यापारा **भवति**॥ ११६॥

अन्वय—यत्र वस्त्रापाये ह्रीमूढानां मुग्धाङ्गनानां जघनं अभितः यूनां दृष्टिपातं निरोद्धुं क्लृप्ता सुरभिरचिता चूर्णमुष्टिः कम्पायत्तात् करकिसलयात् अन्तराले निपत्य विफलप्रेरणा भवति।

अर्थ—जहाँ पर कटि वस्त्र के हटाए जाने पर लज्जा से किंकर्तव्यविमूढ़ भोली भाली स्त्रियों के कटि प्रदेश के चारों ओर युवकों का दृष्टिपात रोकने के लिए फेंके गये सुगन्धित द्रव्यों से निर्मित मुट्ठी भर चूर्ण कम्पनयुक्त किसलय के समान कोमल हाथ से बीच में ही पड़कर दृष्टिपात रोकने रूप काम में विफल हो जाता है।

प्रत्यासन्नैः शिखरखचितैरुन्मयूखैर्विचित्रै-
श्चित्रा रत्नैर्नभसि विततः शक्रचापानुकारैः।
बिभ्रत्युच्चैः सजलजलदा सहितानस्य लीलां,
नेत्रा नीता सततगतिना यद्विमानाग्रभूमीः॥११७॥

प्रत्यासन्नैरिति। **प्रत्यासन्नैः** समीपस्थैः। **शिखरखचितैः** शृङ्गेषु खचितैः। **उन्मयूखैः** उद्गता मयूखा येषां तैः। उद्गतकिरणैः। **विचित्रैः** बहुविधैः। **रत्नैः**

मणिभिः । चित्राः आश्चर्यभूताः । नभसि सुखवर्त्मनि । शक्रचापानुकारैः इन्द्रायुधानुकरणैः । वितताः विस्तृताः । यद्विमानाग्रभूमिः यस्या अलकाया विमानानाम् अग्रभूमिः उपरिभूतलानि । नेत्रा नयतीति नेता तेन प्रेरकेण । सततगतिना सततं गतिर्यस्य तेन वायुना । 'मातरिश्वा सदागतिः' इत्यमरः । नीताः प्रापिताः । सजलजलदाः जलसहितमेघाः । सद्वितानस्य समीचीनस्य उल्लोचस्य । 'अस्त्री वितानमुल्लोचः' इत्यमरः । लीलां विलासम् । उच्चैः परम् । बिभ्रति दधन्ति ॥११७॥

अन्वय—नेत्रा सततगतिना यद्विमानाग्रभूमीः नीताः, शिखरखचितैः प्रत्यासन्नैः शक्रचापानुकारैः रत्नैः विचित्रैः उच्चमयूखैः वितताः चित्राः सजलजलदाः नभसि सद्वितानस्य लीलां बिभ्रति ।

अर्थ—प्रेरक वायु के द्वारा जिस अलका नगरी के सात खण्डों वाले भवनों के अग्रभागों में पहुँचाए गए मेघ भवनों के अग्रभाग में निबद्ध, अग्रभाग में वर्तमान मेघ के समीप में स्थित इन्द्रधनुष का अनुकरण करने वाले, नाना रंग वाले और ऊपर की ओर जाने वाली किरणों से युक्त रत्नों द्वारा व्याप्त और विविध रंग वाले जल युक्त बादल आकाश में समीचीन वितान की शोभा को धारण करते हैं।

अध्यासीना भवनवलभिं शारदी मेघमाला,
यत्रामुक्तप्रतनुविसरच्छीकरासारधारा ।
भीत्येवालं व्रजति विलयं पश्यतामेव साक्षा-
दालेख्यानां सजलकणिकादोषमुत्पाद्य सद्यः ॥११८॥

इत्यमोघवर्षपरमेश्वरपरमगुरुश्रीजिनसेनाचार्यविरचितमेघदूतवेष्टितवेष्टिते पार्श्वाभ्युदये भगवत्कैवल्यवर्णनंनाम द्वितीयः सर्गः ॥२॥

अध्यासीना इति । यत्र अलकानगर्याम् । भवनवलभिं गृहोपरिष्ठ वक्र दारुणि । अध्यासीना अधिष्ठिता । 'शीङ्स्थासोऽधेराधारः'[1] इति आधारे द्वितीया । आमुक्तप्रतनुविसरच्छीकरासारधारा विसरंतश्च ते शीकराश्च तेषामासारो वेगवद्वर्षं तस्य धारा तथोक्ता आमुक्ता प्रतन्वी विसरच्छीकरासारधारा यस्याः सा तथोक्ता । 'आसारः स्यात्प्रसरणे वेगवृष्टौ सुहृद्बले' इति वैजयन्ती । शारदी शरदि भवा शरत्कालसम्बन्धिनी । मेघमाला जीमूतपद्धतिः । आलेख्यानां सचित्राणाम् । 'चित्रं लिखितरूपाद्यं स्यादालेख्यं प्रयत्नतः । निर्मितास्तस्य' इति शब्दार्णवे । सजलकणिकादोषम् सजलजलकणिकाभिः । दोषं वर्णमिश्रत्वादिदोषम् । उत्पाद्य जन-

---

1. अनादरणे पश्यत अनाकुलमेव इत्यर्थः ।

पयित्वा । अलं परम् । भीत्वेव भयमाश्रित्येव । पश्यतामिव प्रेक्षतां जनानामिव । साक्षात् प्रत्यक्षतः । विलयं नाशम् । सद्यः तत्क्षण एव । व्रजति गच्छति ॥११८॥

इत्यमोघवर्षपरमेश्वरपरमगुरुश्रीजिनसेनाचार्यविरचितमेघदूतवेष्टित वेष्टिते पार्श्वाभ्युदये तद्व्याख्यायां च सुबोधिन्याख्यायां द्वितीयः सर्गः ॥२॥

अन्वय—यत्र भवनवलभि अध्यासीना आमुक्त प्रतनुविसरच्छीकरासारधारा शारदी मेघमाला साक्षात् पश्यतां एव आलेख्यानां स्वजलकणिका दोषं उत्पाद्य अलं भीत्वा इव सद्यः विलयं व्रजति ।

अर्थ—जहाँ पर भवन की छत पर स्थित छोड़ने पर स्वल्पप्रमाण में फैलते हुए जल कणों को निरन्तर गिरती हुई धारा वाली शरत्कालीन मेघों की पंक्ति लोगों के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से देखे जाने पर भी रजनों की भित्तियों पर बने हुए चित्रों को अपने जल के बिन्दुओं से दूषित कर मानों अत्यधिक डरकर शीघ्र ही विनाश को प्राप्त होती है।

इति द्वितीय सर्गः

अथ तृतीयः सर्गः

इतोऽर्ध्ववेष्टितानि—

वेगादन्तर्भवनवलभेः सम्प्रविष्टाः कथञ्चित्,
सूक्ष्मीभूताः सुरतरसिकौ दम्पती तत्र दृष्ट्वा ।
शङ्कास्पृष्टा इव जलमुचस्त्वादृशा यत्र जालै-
र्धूमोद्गारानुकृतिनिपुणा जर्जरा निष्पतन्ति ॥ १ ॥

वेगादिति । **यत्र** राजपुर्याम् । **त्वादृशाः** भवादृशाः । त्वमिव दृश्यन्ते ते त्वादृशाः । त्वत्सदृशा इत्यर्थः । **जलमुचः** मेघाः । **भवनवलभे** गृहवलदारुणः सकाशात् । **अन्तः** गृहान्तरम् । **वेगात्** शैघ्र्येण । **सूक्ष्मीभूताः** स्तोकीभूताः । **कथञ्चित्** केनापि प्रकारेण । **संप्रविष्टाः** कृतप्रवेशास्सन्तः । **तत्र** गृहान्तरे । **सुरतरसिकौ** निधुवनप्रियौ । **दम्पती** स्त्रीपुरुषौ । **दृष्ट्वा** विलोक्य । **शङ्कास्पृष्टा इव** [illegible] इति शब्दार्णवे । **धूमोद्गारानुकृतिनिपुणाः** धूमोद्गारस्य धूपधूमनिर्गतस्यानुकृतावनुकरणे निपुणाः कुशलाः । **जर्जराः** विशीर्णाः सन्तः । **जालैः** गवाक्षैः । "जालं समूह आनायो गवाक्षक्षारकावपि" इत्यमरः ; **निष्पतन्ति** निष्क्रामन्ति ॥ १ ॥

अन्वय—यत्र वेगात् भवनवलभेः अन्तः सम्प्रविष्टाः कथञ्चित् सूक्ष्मीभूताः धूमोद्गारानुकृति निपुणाः तत्र (भवनवलभौ) सुरतरसिकौ दम्पती दृष्ट्वा शङ्का-स्पृष्टाः इव त्वादृशः जलमुचः जालैः जर्जराः (सन्तः) निष्पतन्ति ।

अर्थ—जिस अलका नगरी में शीघ्रता से भवन की अटारी के अन्दर प्रविष्ट होकर जिस किसी प्रकार सूक्ष्म आकार धारण किए हुए जालमार्ग (झरोखों) से निकलते हुए धुयें का अनुकरण करने में कुशल तुम्हारे समान मेघ वहाँ पर (भवन की अटारी पर) रति क्रीड़ा में मग्न दम्पति को देखकर मानों शङ्कित से होते हुए गवाक्षों से टुकड़े-टुकड़े होकर बाहर निकल जाते हैं ।

स्त्रीभिः सार्धं कनककदलीषण्डभाजामुपान्ते,
क्रीडाद्रीणां निधिभुमधिपा यत्र दीव्यन्त्यभीक्ष्णम् ।
मन्दाकिन्याः सलिलशिशिरैः सेव्यमाना मरुद्भि-
र्मन्दाराणां तटवनरुहां छायया वारितोष्णाः ॥ २ ॥

स्त्रीभिरिति । **यत्र** अलकायाम् । **मन्दाकिन्याः** गङ्गायाः । **सलिलशिशिरैः** उदकेन शीतैः । **मरुद्भिः** मारुतैः । **सेव्यमानाः** सेव्यन्त इति सेव्यमानाः । **तटवनरुहां** तटवनेषु रोहन्तीति तटवनरुहास्तेषाम् । क्विप् । **मन्दाराणां** सुरद्रुमाणां । **छायया** अनातपेन । **वारितोष्णाः** शमिततापाः । **निधिभुगधिपाः** यक्षेन्द्राः । **कनककदलीषण्डभाजां** सुवर्णकदलीषण्ड युतानाम् । **क्रीडाद्रीणां** कृतकाचलानाम् । **उपान्ते** समीपे । **स्त्रीभिः** स्ववनिताभिः । **सार्धं** साकम् । **अभीक्ष्णं** अनवरत् । **दीव्यन्ति** क्रीडन्ति ।। २ ।।

अन्वय— यत्र मन्दाकिन्याः सलिलशिशिरैः मरुद्भिः सेव्यमानाः तटवनरुहां मन्दराणां छायया वारितोष्णाः निधिभुगधिपाः स्त्रीभिः सार्धं कनककदलीषण्ड-भाजां क्रीडाद्रीणां उपान्ते अभीक्ष्णं दीव्यन्ति ।

अर्थ— जिस अलका नगरी में गंगा के जल से शीतल वायुओं द्वारा सेवित और तटवर्ती वन के मन्दार वृक्षों की छाया के द्वारा जिनका आतप दूर किया गया है ऐसी यक्ष स्त्रियों के साथ स्वर्ण के समान रंग वाली कदलियों के समूह से युक्त क्रीड़ापर्वतों के समीपवर्ती प्रदेश में निरन्तर क्रीड़ा करते हैं ।

सौन्दर्यस्य प्रथमकलिकां स्त्रीमयीं सृष्टिमन्यां,
व्यातन्वाना जयकदलिका मीनकेतोर्जिगीषोः ।
अन्वेष्टव्यैः कनकसिकतामुष्टिनिक्षेपगूढैः,
सङ्क्रीडन्ते मणिभिरमरप्रार्थिता यत्र कन्याः ।। ३ ।।

सौन्दर्यस्येति । **यत्र** अलकापुर्याम् । **जिगीषोः** जेतुमिच्छुर्जिगीषुः तस्य जय-शीलस्य । **मीनकेतोः** मकरध्वजस्य जयकदलिका जयपताकिकाः । **अमर प्रार्थिताः** अमरैर्दिविजैः प्रार्थिताः काङ्क्षिताः सुन्दर्य इत्यर्थः । **कन्याः** यक्षकुमार्यः । "कन्या कुमारिका नार्यः" इति विश्वः । **सौन्दर्यस्य** सुभगत्वस्य । **प्रथमकलिकां** प्रथमकोरकभूताम् । "कलिका कोरकः पुमान्" इत्यमरः । **स्त्रीमयीं** रमणीरूपाम् । **अन्याम्** अपूर्वाम् । **सृष्टि** सर्जनम् । **व्यातन्वानाः** प्रकटीकुर्वन्त्यस्सत्यः । **कनक-सिकतामुष्टिनिक्षेपगूढैः** कनकस्य सिकतासु मुष्टीनां निक्षेपणेन संवृतैः । अथवा कनकसिकतानां मुष्टिषु विक्षेपेण गूढैः । अतएव **अन्वेष्टव्यैः** मृग्यैः । **मणिभिः** रत्नैः । **सङ्क्रीडन्ते** रमन्ते । "क्रीडोऽनुसम्परिभ्यश्च" इति तङ् । गूढमणि-सञ्ज्ञया देशिकक्रीडया सम्यक् क्रीडन्त इत्यर्थः । "रत्नादिभिर्वालुकादौ गुप्तिदृष्टव्यकर्मभिः । बालिकाभिः कृता क्रीडा नाके गूढमणिः स्मृता" कामक्रीडा गूढमणिगुप्तिकेलिस्तुलायनम् । पिण्डं कन्दुक दण्डार्थैः स्मृतादितिकर्त्त्व्यः" इति शब्दार्णवे ।।३।।

अन्वय—यत्र सौन्दर्यस्य प्रथमकलिकां स्त्रीमयीं अन्यां सृष्टिं व्यातन्वानाः जिगीषोः मीनकेतोः जयकदलिकाः अमरप्रार्थिताः कन्याः कनकसिकतामुष्टि-निक्षेपगूढैः अन्वेष्टव्यैः मणिभिः सङ्क्रीडन्ते ।

अर्थ—जिस अलकापुरी में सौन्दर्य की अद्वितीयकली स्त्री रूप अपूर्व सृष्टि को प्रकट करते हुए, जीतने के इच्छुक कामदेव की जयपताकायें, देवताओं से प्रार्थित यक्ष कन्यायें स्वर्णमय बालुकाओं की मुट्ठियों के निक्षेप (फेंकने) से गूढ़ (ढँके या छिपे) होने के कारण ढूंढ़ने योग्य मणियों से क्रीड़ा करती हैं ।

भावार्थ—पहले मणियों पर कई मुट्ठी भर बालू फेंक दी जाती थी, जिससे वे ढँक जाती थीं । तब उनको खोजा जाता था । इस प्रकार वे गुप्तमणि नामक क्रीड़ा किया करती थीं ।

इष्टान्कामानुपनयति यः प्राक्तनं पुण्यपाकं,
तं शंसन्ति स्फुटमनुचरा राजराजस्य तृप्ताः ।
अक्षय्यान्तर्भवननिधयः प्रत्यहं रक्तकण्ठै-
रुद्गायद्भिर्धनपतियशः किन्नरैर्यत्र सार्धम् ॥ ४ ॥

इष्टानिति । **यत्र** अलकायाम् । **अक्षय्यान्तर्भवननिधयः** भवनस्यान्तरन्तर्भवनं अक्षय्याः क्षयरहिताः अन्तर्भवननिधयो येषां ते तथोक्ताः । यथेष्टभोग सम्भावनार्थ-मिदं विशेषणम् । **प्रत्यहं** प्रतिदिनम् । **तृप्ताः** सर्वविषय सन्तृप्ताः । **राजराजस्य** ऐलविलस्य । **अनुचराः** भृत्याः । "भृत्योनुजीव्यनुचरः" इति धनञ्जयः । **धन-पतियशः** एकपिङ्गस्य कीर्तिम् । **उद्गायद्भिः** उच्चैर्गायद्भिः । देवगानस्य गान्धार-ग्रामत्वात्तारतरं गायद्भिरित्यर्थः । **रक्तकण्ठैः** रक्तो मधुरः कण्ठध्वनिर्येषां तैः । **किन्नरैः** देवविशेषैः । **सार्धं** सत्रा । "सार्धं तु साकं सत्रा समं सह" इत्यमरः । यः **पुण्यपाकः** । **इष्टान्** अभीष्टान् । **कामान्** कामभोगान् । **उपनयति** प्रापयति । **प्राक्तनं** प्राग्भवम् । **पुण्यपाकं** सुकृतपरिपाकम् । **स्फुटं** प्रस्फुटम् । **शंसन्ति** स्तुवन्ति ॥ ४ ॥

अन्वय—यत्र अक्षय्यान्तर्भवनिधयः तृप्ताः राजराजस्य अनुचराः रक्तकण्ठैः धनपतियशः उद्गायद्भिः किन्नरैः सार्धं यः इष्टान् कामान् उपनयति तं प्राक्तनं पुण्यपाकं स्फुटं शंसन्ति ।

अर्थ—जिस अलका नगरी में भवन के भीतर अक्षयनिधियों से सम्पन्न, सन्तोषयुक्त कुबेर के सेवक मधुर स्वर से कुबेर के यश को ऊँचे स्वर से गाते हुए किन्नरों के साथ जो इष्ट कामभोग प्राप्त कराता है उस पूर्व जन्म में उत्पन्न पुण्य के फल की स्पष्ट रूप से प्रशंसा करते हैं ।

यस्यां मन्द्रानकपटुरवैर्बोधिता वित्तभर्तु-
र्भृत्या भृङ्गैः सममुपहितप्रीतयः कामदायि ।
वैभ्राजाख्यं विबुधवनितावारमुख्यासहायाः,
बद्धालापा बहिरुपवनं कामिनो निर्विशन्ति ॥ ५ ॥

यस्यामिति । **यस्याम्** अलकायाम् । **मन्द्रानकपटुरवैः** आनकानां पटुरवाः यथोक्ता मन्द्रैः गम्भीरैः आनकपटुरवैः **बोधिताः** ज्ञापिताः । **उपहितप्रीतयः** विधृत सन्तोषाः । **विबुधवनितावारमुख्या सहायाः** विबुधवनिताः अप्सरसः ता एव वारमुख्याः वेश्याविशेषाः सहायाः येषां ते यथोक्ताः । "वारस्त्री गणिका वेश्या रूपाजीवाऽथ सा जनैः । सत्कृता वारमुख्या स्यात्" इत्यमरः । **बद्धालापाः** सम्भावित संल्लापाः । "बद्धापाङ्गाः" इति वा पाठः । **कामिनः** कामुकाः । **वित्तभर्तुः** धनपतेः । **भृत्याः** अनुचराः । **कामदायि** मनोरथप्रदम् । **वैभ्राजाख्यं** चैत्ररथस्य नामान्तरम् । **बहिरुपवनं** बाह्योपवनम् । **भृङ्गैः** भ्रमरैः । **समं** सह । **निर्विशन्ति** प्रविशन्ति । सुगन्धदेहस्य भ्रमर मुह्यन्तीति भावः ।

अन्वय—यस्यां मन्द्रानकपटुरवैः बोधिताः, भृङ्गैः समं उपहित प्रीतयः विबुधवनितावारमुख्यासहायाः, बद्धालापाः, कामिनः वित्तभर्तुः भृत्याः कामदायि वैभ्राजाख्यं बहिरुपवनं निर्विशन्ति ।

अर्थ—जिस अलका नगरी में मृदङ्गों की गम्भीर और तीक्ष्ण ध्वनियों से जगाए गए, भौंरों के साथ मित्रता को प्राप्त हुए देवस्त्रियों रूप गणिकाओं को साथ लिए हुए और बातचीत करते हुए कामुक कुबेर के सेवक कामवासना को प्रकट करने वाले अथवा अभीष्ट वस्तु को प्रदान करने वाले वैभ्राज नामक बाह्य उद्यान का अनुभव करते हैं ।

अन्वय—यस्याम् मन्द्रानकपटुरवैः बोधिताः उपहितप्रीतयः विबुधवनितावारमुख्यासहायाः बद्धालापाः कामिनः वित्तभर्तुः भृत्याः कामदायि वैभ्राजाख्यं बहिरुपवनं भृङ्गैः समम् निर्विशन्ति ।

अर्थ—जिस अलका नगरी में गम्भीर मृदङ्गों की समर्थ ध्वनियों से ज्ञापित सन्तोष को धारण किये हुए, अप्सरा रूप वेश्यायें जिनकी सहायक हैं ऐसे बातचीत करते हुए कामी कुबेर के अनुचर चैत्ररथ नाम वाले बाहरी उद्यान में भौंरों के साथ प्रवेश करते हैं ।

यस्मिन्कल्पद्रुमपरिकरः सर्वकालोपभोग्या-
निष्टान्भोगान्सुकृतिनि जने शफलान्पम्फुलीति[1] ।

---

1. पम्फुलीति ।

वासश्चित्रं मधु नयनयोर्विभ्रमादेशदक्षं,
पुष्पोद्भेदं सह किसलयैर्भूषणानां विकल्पम् ॥ ६ ॥

यस्मिन्निति । **यस्मिन्** विभ्राजवनोद्देशे । **कल्पद्रुमपरिकरः** सुरद्रुमनिवहः । "वृन्दप्रारम्भयोश्चैव पर्यङ्कपरिवारयोः । आगमे च परिस्तारे भवे परिकरस्तथा" इत्यभिधानात् । **चित्रं** नानावर्णम् । क्षौममिति वा पाठः । **वासो** वसनम् । **नयनयोः** अक्ष्णोः । **विभ्रमादेशदक्षं** विभ्रमाणामादेशे दक्षं समर्थम् । विभ्रमदायक-मित्यर्थः । **पुष्पोद्भेदं** पुष्पोद्भवम् । **मधुपुष्परसम्**[1] । विभ्रमादान द्वारा **मधुनो** मण्डनत्वं किसलयैः पल्लवैस्सह अमा भूषणानां विकल्पं विशेषं इष्टान् एवंरूपान-भिलषितान् । **सर्वकालोपभोग्यान्** सर्वकालेषूपभोक्तुं योग्यान् । **शंफलान्** शंसुखमेव फलं येषां तान् । **भोग्यान्** इन्द्रियविषयान् । **सुकृतिनि** सुकृतमस्यास्तीति सुकृती तस्मिन् पुण्यवति । **जने** लोके । **सम्फलीति** भृशं फलति "चर्करीतं" इति सम् ॥

अन्वय—यस्मिन् कल्पद्रुमपरिकरः चित्रं वासः, नयनयोः विभ्रमादेशदक्षं मधु, किसलयैः सह पुष्पोद्भेदं, भूषणानां विकल्पं, इष्टान् सर्वकालोपभोग्यान् सम्फलान् भोगान् सुकृतिनि जने सम्फलीति ।

अर्थ—जिस वैभ्राज नाम वाले वन प्रदेश में कल्पवृक्षों का समूह मनोहर वस्त्र को, दोनों नेत्रों को विलास का उपदेश देने में चतुर मदिरा को, किसलयों के साथ पुष्पों के आविर्भाव को, अनेक अलङ्कारों को, अभिलषित, सब समयों में उपभोग के योग्य और सुखजनक भोगों को पुण्यवान् व्यक्ति के लिए अत्यधिक रूप से निष्पन्न करता है।

भावार्थ—जहाँ कल्पवृक्षों के द्वारा वस्त्र, अलंकार आदि समस्त वस्तुयें प्राप्त होती हैं।

रुच्याहारं रसमभिमतं स्रग्विकल्पं विपञ्चो-
माहार्याणि स्वरुचिरचितान्यंशुकान्यङ्गरागम् ।
लाक्षारागं चरणकमलन्यासयोग्यं च यस्मिन्,
एकः सूते सकलमबलामण्डनं कल्पवृक्षः ॥ ७ ॥

रुच्याहारमिति । **यस्मिन्** वैभ्राजवने । **एकः कल्पवृक्षः** एकः सुरद्रुमः । **रुच्याहारं** स्वाद्यमाहारम् । **अभिमतं** सम्मतम् । **रसं** रसविशेषम् । प्राणधार्यमेतत् । **स्रग्विकल्पं** मालाप्रभेदम् । कण्ठधार्यमेतत् । **विपञ्चीं** वीणाम् । कर्णं श्राव्यमेतत् । **स्वरुचिरचितानि** स्वेच्छाकल्पितानि । **आहार्याणि** मनोहराणि । **अंशुकानि** वस्त्राणि कटिधार्यमेतत् । **अङ्गरागं** लेपनम् अङ्गधार्यमेतत् । **चरणकमलन्यास योग्यं** चरण-

[1] पुष्परस इत्युक्ते मदजनकपानमित्यर्थः ।

कमलयोर्न्यासस्य समर्पणस्य योग्यम्। **लाक्षारागं** रज्यतेऽनेनेति रागो रञ्जनद्रव्यं लाक्षैव रागस्तम्। इदं च पादानुलेपनमण्डनोपलक्षणमिति। **सकलं च** समस्तमपि। **अबलामण्डनम्** वनिताप्रसाधनम्। **सूते** जनयति ॥ ७ ॥

अन्वय—यस्मिन् एकः कल्पवृक्षः स्वाद्याहारं, अभिमतं रसं, स्रग्विकल्पं, विपञ्चीं स्वरुचिरचितानि आहार्याणि अंशुकानि, अंगरागं, चरणकमलन्यासयोग्यं लाक्षारागं सकलं च अबलामण्डनं सूते।

अर्थ—जिस वैभ्राज वन में एक कल्पवृक्ष स्वाद के योग्य आहार को, इष्ट रस को, अनेक प्रकार की मालाओं को, वीणा को, स्वेच्छा से निर्मित मनोहर वस्त्रों को, सुगन्धित विलेपन को, चरण कमलों में समर्पण करने के योग्य महावर को तथा स्त्रियों के समस्त अलङ्कारों को उत्पन्न करता है।

भूमिं स्प्रष्टुं द्रुतमुखखुराःगर्ह्यमाणा इवामी,
पत्रश्यामा दिनकरहयस्पर्धिनो यत्र वाहाः।
मन्दाक्रान्ता दिग्गिभविभुभिः स्पर्धमाना इवोच्चैः
शैलोदग्रास्त्वमिव करिणो वृष्टिमन्तः प्रभेदात् ॥ ८ ॥

भूमिमिति। **यत्र** राजधान्याम्। **पत्रश्यामाः** पत्रमिव श्यामला हरिद्वर्णा इत्यर्थः। **दिनकरहयस्पर्धिनः** सूर्यस्य हयैरश्वैः स्पर्धिनः सूर्यस्य हयैरश्वैः स्पर्धिनः स्पर्धाशीलाः। **अमी वाहाः** अश्वाः। "वाहोऽश्वस्तुरगो वाजी" इति धनञ्जयः। **भूमिं** भुवम्। **स्प्रष्टुं** स्पर्शनाय। **गर्ह्यमाणा इव** गर्ह्यन्ते इति गर्ह्यमाणाः जुगुप्सावन्त इव। **द्रुतमुखखुराः** मुखं च खुराश्च मुखखुराः द्रुताः तस्य परस्य वेगिनो मुखखुरा येषां ते तथोक्ताः। शीघ्रगामिनः भवन्तीति शेषः। **त्वमिव** भवानिव। **वृष्टिमन्तः** वर्षन्तः। **शैलोदग्राः** पर्वत इवोन्नताः। **करिणः** गजाः। **प्रभेदात्** प्रकृष्टोभेदः प्रभेदस्तस्मात्। महतीन्तरात् तैभ्योप्यति शयात् इत्यर्थः। **दिग्गिभविभुभिः** दिग्गजेन्द्रैः। **उच्चैरधिकम्**। **स्पर्धमाना इव** स्पर्धन्ते इव स्पर्धमानाः स्पर्धा कुर्वन्त इव। **मन्दाक्रान्ताः** मन्दमाक्रमन्ति स्म तथोक्ताः मन्दगामिनः। भवन्तीति शेषः। [1]वृत्तनामापि ध्वन्यते।

अन्वय—यत्र द्रुतमुखखुराः भूमिं स्प्रष्टुं गर्ह्यमानाः इव पत्रश्यामाः अमी वाहाः दिनकरहयस्पर्धिनः, प्रभेदात् त्वं इव वृष्टिमन्तः शैलोदग्राः मन्दाक्रान्ताः करिणः दिग्गिभविभुभिः उच्चैः स्पर्धमानाः इव।

अर्थ—जिस अलकानगरी में चंचल शरीर और वेगवान् खुरों से युक्त, मानों भूमि को छूने की निन्दा करते हुए पत्तों के समान श्यामवर्ण वाले ये सूर्य के घोड़ों के साथ स्पर्धा करने वाले घोड़े हैं। मद के उद्रेक के

१. मुद्रालंकारः।

कारण तुम्हारे समान वर्षा करने वाले (परस्पर में एक दूसरे के प्रतिघात से मेघ वर्षा करते हैं), पर्वत के समान ऊँचे और मन्द गति वाले हाथी दिग्गज श्रेष्ठों से स्पर्धा करते हुए विद्यमान हैं।

मन्ये तेपि स्मरपरवशाः कामिनीदृष्टिबाणै-
र्जायेरन्ये त्वमिव मुनयो धीधना यत्र केऽमी।
योधाग्रण्यः प्रतिदशमुखं संयुगे तस्थिवांसः,
प्रत्याविष्टाभरणरुचयश्चन्द्रहासव्रणाङ्कैः ॥ ९ ॥

मन्य इति। **यत्र** अलकायाम्। **त्वमिव** भवानिव। **ये** केचित्। **धीधना**. धीरेव धनं येषां ते तथोक्ताः। **मुनयः** यतयः। **तेऽपि** तादृशा अपि। **कामिनीदृष्टिबाणैः**। कान्ताजननयनशरैः। **स्मरपरवशाः** मन्मथवशगताः। **जायेरन्** भवेयुः। **मन्ये इति** बुध्ये। **संयुगे** सङ्ग्रामे। **प्रतिदशमुखं** प्रतिदशग्रीवम्। **तस्थिवांसः** तस्थुरिति तस्थिवांसः। रावणस्य पुरस्तात् स्थितवन्त इत्यर्थः। **चन्द्रहासव्रणाङ्कैः** चन्द्रायुधव्रणचिह्नैः। "चन्द्रहासासिरिष्टयः" इत्यमरः। **प्रत्याविष्टाभरणरुचयः** प्रत्याहृतभूषणकान्तयः। **अमी योधाग्रण्यः** एते भटाग्रेसरा। **कि** कियन्तः। इति कुत्सोक्तेः। **स्मरपरवशाः कथं न भवेयुरित्यर्थः** ॥ ९ ॥

अन्वय—यत्र अन्ये मुनयः ये त्वं इव धीधनाः ते अमी कामिनीदृष्टिबाणैः स्मरपरवशाः जायेरन् (तत्र) चन्द्रहासव्रणाङ्कैः प्रत्याविष्टाभरणरुचयः संयुगे प्रतिदशमुखं तस्थिवांसः अमी योधाग्रण्यः के ?

अर्थ—जिस अलकापुरी में दूसरे मुनि जो तुम्हारे समान ज्ञान सम्पत्ति से युक्त हैं, वे कामिनी स्त्रियों के दृष्टिबाणों से कामदेव के वशीभूत हो जाते हैं। [वहाँ] चन्द्रहास नामक (रावण की) तलवार के घावों के चिह्नों के कारण आभूषणों की इच्छा का त्याग करने वाले तथा युद्ध में रावण के सम्मुख ठहरने वाले इन श्रेष्ठ योद्धाओं की तो बात ही क्या करना है ?

भावार्थ—जब ज्ञानधन सम्पन्न मुनि भी कामवासना से व्याकुल हो जाते हैं तब कषाययुक्त योद्धाओं की तो बात ही क्या है ?

कामस्यैवं प्रजननभुवं तां पुरीं पश्य गत्वा,
मिथ्यालोको वदति जडधीर्नन्विदं लोकमूढम्।
मत्वा देवं धनपतिसखं यत्र साक्षाद्वसन्तं,
प्रायश्चापं न वहति भयान्मन्मथः षट्पदज्यम् ॥ १० ॥

कामस्येति । **यत्र** राजधान्याम् । **साक्षात्प्रत्यक्षेण** । **वसन्तं** विद्यमानम् । **धनपति-सखं** धनपतेः कुबेरस्य सखा तम्, "राजन्सखेः" इति टच् । **देवम्** ईश्वरम् । **मत्वा** अवबुध्य । **मन्मथः** कामः । **भयात्** भयोत्पादकत्वाद्भीतेः । **षट्पदज्यं** षट्पदा एव ज्या मौर्वी यस्य तम्" । षट्पदभ्रमरालयः । "मौर्वीज्या सिञ्जिनी गुणः ।" इत्युभयत्राप्यमरः । **चापं** धनुर्दण्डम् । **प्रायः** बाहुल्येन । **न वहति** न धरति । **इति** **जडधीः** मन्दबुद्धिः । **मिथ्यालोकः** मिथ्यादृष्टिजनः । **वदति** ब्रूते । **इदं** मिथ्यादृग्वचः । **लोकमूढं** ननु लोकमूढ एव हि । **एवम्** इति । **कामस्य** मन्मथस्य । **प्रजननभुवं** जन्मभूमिम् । "जनुर्जननजन्मानि" इत्यमरः । **तां** पुरीम् । अलकापुरीम् । **गत्वा** । **पश्य** प्रेक्षस्व ॥ १० ॥

अन्वय—यत्र धनपतिसखं देवं साक्षात् वसन्तं मत्वा भयात् मन्मथः षट्पदज्यं चापं प्रायः न वहति (इति) जडधीः **मिथ्यालोकः** वदति । ननु इदं लोकमूढम् । एवं कामस्य प्रजननभुवं तां पुरीं गत्वा पश्य ।

अर्थ—जिस अलकापुरी में कुबेर के मित्र रुद्र को साक्षात् रहता हुआ जानकर कामदेव भय से भौरों की प्रत्यञ्चावाले अपने धनुष को प्रायः धारण नहीं करता है, ऐसा जड़बुद्धि मिथ्यादृष्टि व्यक्ति कहता है (अथवा लोकः मिथ्या वदति–लोग असत्य कहते हैं) निश्चित रूप से यह लोगों की मूढ़ता है । इस प्रकार काम की उत्पत्ति स्थली उस अलकानगरी को प्राप्त कर (जाकर) प्रत्यक्ष देखो ।

स्याद्वाऽसत्यं कुकविरचितं काव्यधर्मानुरोधात्,
सत्यप्येवं सकलमुचितं जाघटीत्येव यस्मात् ।
सभ्रूभङ्गप्रहितनयनैः कामिलक्ष्येष्वमोघै-
स्तस्यारम्भश्चतुरवनिताविभ्रमैरेव सिद्धः ॥११॥

स्यादिति । **कुकविरचितं** कुत्सितकविकल्पितम् । **असत्यं** वा मिथ्या वा । **स्याद्**भवेत् । **एवं सत्यपि** तथा चेदपि । **काव्यधर्मानुरोधात्** काव्यधर्मस्य कविता-समयस्य अनुरोधानुकूल्यात् । **सकलं** सर्वम् । **उचितम्** उदयितम् वर्णनाधिक मित्यर्थः । **यस्मात्** कारणात् । **जाघटीत्येव** भृशं घटत एव । **तस्मात्** कारणात् । **तस्य** मन्मथस्य **आरम्भः** कामिजनविजयप्रारम्भः । **सभ्रूभङ्गं** **प्रहितनयनैः** सभ्रूभङ्ग भ्रूभङ्गेण सहितं यथा तथा । प्रहितनयनैः प्रहितानि प्रयुक्तानि नयनानि येषु तैः । **कामिलक्ष्येषु** कामिन एव लक्ष्याणि तेषु । **अमोघैः** सफलैः सार्थकप्रयोगैरित्यर्थः । चापं कदाचिन्मोघमपि स्यादिति भावः । **चतुरवनिताविभ्रमैरिव** चतुराश्च वनिताश्च तासां विभ्रमैर्विलासैरेव । **सिद्धः** निष्पन्नः । यदनर्थकरं चैहिकफलं

तदप्रयोगो वरम् निश्चित साधनप्रयोगः वरं निश्चितसाधनप्रयोगः कर्तव्य इत्यर्थः ॥११॥

अन्वय—या सभ्रूभङ्गं प्रहितनयनैः कामिलक्ष्येषु अमोघैः चतुरवनिताविभ्रमैः एव तस्य आरम्भः सिद्धः इति एवं अपि यस्मात् कुकविरचितं सकलं उदितं काव्यधर्मानुरोधात् जाघटीति एव (तस्मात् तत्) सत्यं स्यात् ।

अर्थ—अथवा भ्रूभङ्गों के साथ दृष्टिपातों से युक्त, और कामुक रूपी लक्ष्यों की प्राप्ति में सफल ऐसे विदग्ध सुन्दरियों के विलासों से ही उस काम का व्यापार सिद्ध है। ऐसा होने पर भी चूंकि कुकवि (अल्पज्ञ कवि) के द्वारा रचित समस्त वर्णन काव्यशास्त्र के नियमों की अनुकूलता से अत्यधिक रूप से घटता ही है अतः काम के अभाव का प्रतिपादन कथञ्चित् सत्य ही है (सर्वथा सत्य नहीं है) ।

भावार्थ—अलका में जो कामदेव का अभाव बतलाया है, वह काव्य-शास्त्र के सिद्धान्तों की अपेक्षा से ही है, परमार्थ से नहीं। । काव्यशास्त्र में काम की सत्ता को सिद्ध करने वाली बातें अलका में नहीं हैं। जिन कवियों ने अलका में मदन का अभाव बतलाया है उनको इस बात का ज्ञान नहीं है कि काम के अभाव में पुरुषों में कामित्व कैसे सम्भव है। अतः वहाँ वास्तव में मदन ही है।

स्यादारेका बहुनिगदितं कस्तवेदं प्रतीयात्,
सद्वाऽसद्वा तदिति ननु भोः प्रत्ययं ते करोमि ।
तत्रागारं धनपतिगृहादुत्तरेणास्मदीयं,
दूराल्लक्ष्यं सुरपतिधनुश्चारुणा तोरणेन ॥१२॥

स्यादिति । तव भवतः । तवेदं पुरवर्णनमित्यर्थः । **बहुनिगदितं** बहुना भाषितम् । **सद्वाऽसद्वा** सत्यं वा असत्यं वा । **कः प्रतीयादिति** । **आरेका** आशङ्का । **स्यात्** भवेत् । **ननु भोः** ननु भवन् । "भो शनोशन्" इत्यादिना भवच्छब्दस्य भोरादेशः । **ते** भवतः । **प्रत्ययं** विश्वासम् । "प्रत्ययोऽधीन शपथज्ञानविश्वास-हेतुषु" इत्यमरः । **करोमि** विदधामि । **तत्र** अलकायाम् । **धनपतिगृहात्** राजराजा-निलयात् । **उत्तरेण** उत्तरस्मिन्नदूरप्रदेशे । "एनोऽदूरे" इति एनत्यः । अव्यय-मिदम् । **अस्मदीयम्** अस्माकमिदम् अस्मदीयम् । "दोश्छः" इति छः । **अगारं** गृहम् । **सुरपतिधनुश्चारुणा** मणिमयत्वादनेकवर्णत्वाच्चेन्द्रचापसुन्दरेण त्वदमर-स्यनिरिसि वा पाठः । तदेन्द्रधनुरिव सुन्दरेण । **तोरणेन** लम्बमानतोरणेन । **दूरात्** अतिदूरात् । **लक्ष्यं** प्रेक्ष्यम् । अनेनाभिज्ञानेन दूरत एव ज्ञातुं शक्यमित्यर्थः ॥१२॥

अन्वय—'इदं तव बहुनिगदितं कः प्रतीयात् ? तत् सत् वा असत् वा ?'

इति आरेका स्यात्। ननु भोः ते प्रत्ययं करोमि। तत्र सुरपतिधनुश्चारुणा उत्तरेण तोरणेन धनपतिगृहात् दूरात् लक्ष्यं अस्मदीयं अगारं (वर्तते)।

अर्थ—इस तुम्हारे बहुत कहे हुए पर कौन विश्वास करेगा ? वह सच है अथवा झूठ ? इस प्रकार का सन्देह आपके मन में उत्पन्न हो सकता है। निश्चय से हे मुनि ! तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ। उस अलकापुरी में इन्द्रधनुष के समान सुन्दर एवं अत्यधिक ऊँचे बाहरी द्वार के कारण कुबेर के घर से दूर से देखने योग्य हमारा घर है।

पुष्पोद्गन्धिर्मृदुकिसलयो भृङ्गसङ्गीतहारी,
सान्द्रच्छायः सलिलधरणोपान्तपुस्तैणशावः।
यस्योद्याने कृतकतनयो वर्द्धितः कान्तया मे,
हस्तप्राप्यस्तबकनमितो बालमन्दारवृक्षः ॥१३॥

पुष्पोद्गन्धिरिति। **यस्य** अस्मदीयगृहस्य। **उद्याने** उपवने। **पुष्पोद्गन्धिः** पुष्पाणामुद्गतो गन्धो यस्य सः। **भृङ्गसङ्गीतहारी**। **सान्द्रच्छायः**। **मृदुकिसलयः** मृदूनि कोमलानि किसलयानि पल्लवानि यस्य सः। "घनं निरन्तरं सान्द्रम्" इत्यमरः। **सलिलधरणोपान्तपुस्तैण शावः** सलिल धरणस्य जलाधारस्य उपान्ते स्थितः पुस्तैणशावः प्रतिमारूपो मृगशिशुर्यस्य सः। "पुस्तं लेप्यादिकर्मणि" इति। "पृथुकः शावकः शिशुः" इति चामरः। **हस्तप्राप्यस्तबकनमितः** हस्ते प्राप्यैः हस्तापचेयैः स्तवकैः गुच्छैः नमितः नम्रीकृतः। "स्याद्गुच्छकस्तु स्तबकः" इत्यमरः। **मे** मम। **कान्तया** कामिन्या। **वर्धितः** पोषितः। **कृतकतनयः** कृत्रिमपुत्रः पुत्रत्वेनाभिमन्यमान इत्यर्थः। **बालमन्दारवृक्षः** बालकल्पवृक्षः। अस्तीति शेषः।

अन्वय—यस्य उद्याने पुष्पोद्गन्धिः, मृदुकिसलयः, भृङ्गसङ्गीतहारी सान्द्रच्छायः, सलिलधरणोपान्तपुस्तैणशावः, मे कान्तया वर्द्धितः कृतकतनयः हस्तप्राप्यस्तबक नमितः बालमन्दारवृक्षः (अस्ति)।

अर्थ—जिस हमारे घर के उद्यान में फूलों की गन्ध से युक्त, कोमल किसलय वाला, भौंरों के सङ्गीत से मनोहर, घनी छाया वाला क्यारी के समीपवर्ती प्रदेश में लेप्य कर्म से निर्मित (प्रतिमारूप) मृग के शिशु से युक्त मेरी प्रिया से पुत्र के समान बढ़ाया गया और हाथों से तोड़े जाने वाले गुच्छों से झुका हुआ छोटा सा मन्दार का वृक्ष (कल्पवृक्ष) है।

नाहं दैत्यो न खलु दिविजः किन्नरः पन्नगो वा,
वास्तव्योऽहं धनदनगरे गुह्यकोऽयं मदीया।
वापी चास्मिन्मरकतशिलाबद्धसोपानमार्गा,
हैमैः स्फीता विकचकमलैर्दीर्घवैदूर्यनालैः ॥१४॥

नाहमिति । **अहम्** **दैत्यः** राक्षसः । **न** न भवामि । **दिविजः** स्वर्गजः । **किन्नरः** किन्नरदेवः । **पन्नगो वा** नागदेवो वा । न **खलु** न भवामि । **धनदनगरे** अलकापुरि । **वास्तव्यः** वस्तुं योग्यो वास्तव्यः स्थानस्थः । **अयमहम्** एषोऽहम् । "स्वस्मिन्परोक्ष-निर्देशोऽयमको मदर्थयोः" इति वचनात् । स्वस्मिन्नदेनायमिति प्रयोगः । **गुह्यकः** यक्षदेवः । **अस्मिन्** गृहोपवने । **मरकतशिलाबद्धसोपानमार्गा** मरकतमणिभिः आबद्धः सोपानमार्गो यस्याः सा तथोक्ता । **दीर्घवैडूर्यनालैः** विडूरे भवो वैडूर्यः इति साधुः । वैडूर्याणां विकाराणि वैडूर्याणि । "विकारे" इत्यण् । दीर्घाणि स्निग्धानि वैडूर्याणि नालानि येषां तैः । **हैमैः** हेम्नो विकाराणि हैमानि तैः कनकमयैरित्यर्थः । **विकचकमलैः** विकसितसरसिजैः । **स्फीता** छन्ना वा । **मदीया** ममेदं मदीया । "दोश्छः" **वापी** च दीर्घिकापि । "वापी तु दीर्घिका" इत्यमरः । अस्तीति शेषः ॥१४॥

अन्वय—अहं न दैत्यः, न खलु दिविजः, किन्नरः पन्नगः वा, अयं अहं धनदनगरे वास्तव्यः गुह्यकः अस्मिन् च मरकतशिलाबद्धसोपानमार्गा, दीर्घवैडूर्यनालैः हैमैः विकचकमलैः स्फीता मदीया वापी (अस्ति) ।

अर्थ—मैं दैत्य नहीं हूँ, न देव, किन्नर अथवा नागदेव । यह मैं कुबेर की राजधानी का निवासी यक्ष हूँ । हमारे घर के उद्यान में मरकतमणि के पत्थरों से बनाए गए सोपान वाली, दीर्घ वैडूर्यमणि (बिल्लौर) के नालों वाले विकसित स्वर्ण कमलों से व्याप्त मेरी बावड़ी है ।

तां जानीयाः कमलरजसा ध्वस्ततापां ततापां,
मत्पुण्यानां सृतिमिव सतीं वापिकां विस्तृतोर्मिम् ।
यस्यास्तोये कृतवसतयो मानसं सन्निकृष्टं,
न ध्यास्यन्ति[1] व्यपगतशुचस्त्वामपि प्रेक्ष्य हंसाः ॥१५॥

तामिति । **यस्याः** वाप्याः । **तोये** सलिले । "अम्भोर्णस्तोयपानीयम्" इत्यमरः । **कृतवसतयः** कृतनिवासाः । **त्वामपि** मेघमपि । **प्रेक्ष्य** दृष्ट्वा । **व्यपगतशुचः** व्यपगताः शुचः शोकाः येषां ते । "मन्युशोकौ तु शुक् स्त्रियाम्" इत्यमरः । वर्षाकालेऽपि अकलुषजलत्वादि राहाद्यद्विगतदुःखाः सन्तः । **हंसाः** मराळाः । **सन्निकृष्टं** सन्निहितं सुगममित्यर्थः । **मानसं** मानसरोवरम् । **न ध्यास्यन्ति** न स्मरिष्यन्ति । **कमलरजसा** पद्मरेणुना । **ध्वस्ततापाम्ततापां** ध्वस्तो नष्टः तापान्तस्य ग्रीष्मस्य तापस्तपनं यस्यास्ताम् । **विस्तृतोर्मिं** विस्तृता ऊर्मयो यस्यास्ताम् । "भङ्गस्तरङ्ग ऊर्मिर्वा" इत्यमरः । **सतीं** समीचीनाम् । **तां वापिकां**

1. नाध्यास्यन्ति ।

दीर्घिकाम्। मत्पुण्यानां मम सुकृतानाम्। सृतिमिव सरणमिव "सृतिस्तु गतिमार्गयोः" इति भास्करः। जानीयाः जानीहि ॥१५॥

अन्वय—यस्याः तोये कृतवसतयः व्यपगत शुचः हंसाः त्वां प्रेक्ष्य अपि सन्निकृष्टं मानसं न अध्यास्यन्ति तां कमलरजसा ध्वस्ततापां विस्तृतोर्मि नतीं वापिकां मत्पुण्यानां सृतिं इव जानीयाः।

अर्थ—जिस बावड़ी के जल में निवास करने वाले तथा शोक रहित हंस तुम्हें देखकर भी निकट स्थित मानसरोवर को याद नहीं करेंगे। कमल के पराग से ग्रीष्मातप को नष्ट करने वाली विस्तृत जल से युक्त, विशाल तरंगों के समूह से व्याप्त और शोभित उस वापिका को मेरे पुण्यों की परम्परा के समान जानो।

अन्यच्चास्मिन्नुपवनघने मद्गृहोपान्तदेशे,
स्यादाख्येयं मयकि सुतरां प्रत्ययो येन ते स्यात्।
तस्यास्तीरे विहितशिखरः पेशलैरिन्द्रनीलैः,
क्रीडाशैलः कनककदलीवेष्टनप्रेक्षणीयः ॥१६॥

अन्यच्चेति। अस्मिन्नेतस्मिन्। **उपवनघने** उपवननिरन्तरे **मद्गृहोपान्तदेशे** मम गृहपार्श्वप्रदेशे। **येन** केनचित्। **मयकि** मय्येव मयकि कुत्सिते मयि मयकि। **ते** तव। **सुतराम्** अत्यर्थम्। **प्रत्ययः** विश्वासः। **स्याद्भवेत्**। **तत् अन्यच्च** अपरमपि चिह्नम्। **आख्येयं** भाषणीयम्। **स्याद्भवेत्**। **तस्याः** वापिकायाः। **तीरे** तटे। **पेशलैः** चारुभिः। **इन्द्रनीलैः** रत्नैः। **विहितशिखरः** कृतशृङ्गः। इन्द्रनीलमणिमय इत्यर्थः। **कनककदलीवेष्टनप्रेक्षणीयः** कनककदलीनांवेष्टनेन आवरणेन प्रेक्षणीयः दर्शनीयः मनोहर इत्यर्थः। **क्रीडाशैलः** कृतकगिरिः। **अस्तीति** शेषः ॥१६॥

अन्वय—अस्मिन् उपवनघने मद्गृहोपान्तदेशे अन्यत् च आख्येयं स्यात् येन मयकि ते सुतरां प्रत्ययः स्यात्। तस्याः तीरे पेशलैः इन्द्रनीलैः विहितशिखरः कनककदलीवेष्टनप्रेक्षणीयः क्रीडाशैलः (अस्ति)।

अर्थ—इस कृत्रिम वृक्ष समूहों से घने मेरे घर के समीप के प्रदेश के विषय में एक दूसरी बात भी कहने योग्य है जिससे अज्ञात मेरे विषय में तुम्हारा अत्यधिक विश्वास होगा। उस बावड़ी के किनारे सुन्दर इन्द्रनील मणियों से बनी हुई चोटियों से सम्पन्न और सुनहली कदलियों के आवरण से दर्शनीय एक क्रीड़ा पर्वत है।

रत्याधारो रतिकर इवोत्तुङ्गमूर्त्तिर्विनीलः,
शैलो मूले कनकपरिधिर्मे मनोऽद्यानुशास्त्।

मद्गेहिन्या प्रिय इति सखे चेतसा कातरेण,
प्रेक्ष्योपान्तस्फुटिततडितं त्वां तमेव स्मरामि ॥१७॥

रत्याधार इति । सखे भो मित्र । **रत्याधारः** क्रीडाधारः । **रतिकर इव** रतिकरपर्वत इव । **उत्तुङ्गमूर्तिः** उन्नतमूर्तिः । **विनीलः** नीलवर्णः । **मूले** तले । **कनकपरिधिः** सुवर्णप्राकारः "परिधिर्यज्ञियकाष्ठे स्यात्प्राकारेपरिवेषणे" इति वैजयंती । **शैलः** क्रीडाद्रिः । **अद्य** इदानीम् । **मे** मम । **मनः** चित्तम् । **अनुगाहत्** पक्षोभयन् । मद्गेहिन्याः मद्भार्यायाः । प्रियः इष्टः । **इति** हेतोः । **कातरेण** भ्रान्तेन । **चेतसा** मनसा । उपान्तस्फुटिततडितम् उपान्तेषु स्फुटिता उज्ज्वलिता तडितो यस्य तम् । **त्वां** मेघम् । **प्रेक्ष्य** दृष्ट्वा । **तमेव** क्रीडाशैलमेव । **स्मरामि** चिन्तयामि । एवकाराद्विषयान्तरव्यवच्छेदः । सदृशस्त्वनुभवादिष्टार्थस्मृतिर्जायत इत्यर्थः । अत्र गिरेः कनकपरिधित्वविनीलमूर्तित्वाभ्यां स्फुटिततडितो मेघस्य साम्यमुत्प्रेक्षते ॥१७॥

अन्वय—सखे ! उपान्तस्फुरिततडितं त्वां प्रेक्ष्य (यः) रत्याधारः रतिकरः इव उत्तुङ्गमूर्तिः, विनीलः, मूले कनक परिधिः, मे मनः अद्य अनुगाहत् तं एव मद्गेहिन्यः प्रियः इति कातरेण चेतसा स्मरामि ।

अर्थ—हे मित्र ! प्रान्त प्रदेश में चमकने वाली बिजली से युक्त तुम्हें देखकर (जो) रतिक्रीड़ा के स्थान रतिकर नामक पर्वत के समान अत्यन्त ऊँचा है, जिसके मूल में सोने की परिधि है, जो विशेष नीला है तथा मेरे मन को आज खींच रहा है वह क्रीड़ा पर्वत मेरी गृहिणी का प्रिय है इस कारण मैं कातरचित्त से उसी का स्मरण करता रहता हूँ ।

अथ तस्याः साभिज्ञानं वक्तुमुपक्रमते—

तन्मे वाक्यादपगतभयस्त्वं व्यवस्यात्मनीनं,
तीर्थे ध्वाङ्क्षं स्थितमपनुदंस्याः स्थिरास्था मदुक्ते ।
तत्रैवास्ते तव च दयिता लप्स्यते लब्धजन्मा,
तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी ॥१८॥

तदिति । **तत्** तस्मात् कारणात् । **मे** मम । **वाक्यात्** । **त्वं** भवान् । **अपगतभयः** रहितभीतिः सन् । **आत्मनीनम्** आत्मने हितमात्मनीनम् । "भोगोत्तरपदाभ्यां खः" । **व्यवस्य** निश्चित्य । मदुक्ते मयोक्ते मया प्रणीते । **तीर्थे** तीर्थस्थाने । "तीर्थं प्रवचने पात्रे लब्धाम्नाये विदांवरे । पुण्यारण्ये जलोत्तारे महासत्त्वां महामुनौ" इति धनञ्जयः । **स्थितं** तिष्ठति स्मस्थितस्तम् । **ध्वाङ्क्षं** वायसं बकं वा । "ध्वाङ्क्षः काकबकौ" इति नानार्थरत्नमालायाम् । **अपनुदन्** तिरस्कुर्वन् ।

स्थिरात्मा निश्चलात्मा । **स्याः** भवेः । **तव** ते । **दयिता च** वसुन्धरा नाम पूर्वभव-कान्ताऽपि । **तत्रैव** अलकायामेव । **लप्स्यसे** प्राप्तजनना । **तन्वी** कृशाङ्गी । "श्लक्ष्णं दभ्रं कृशं तनु" इत्यमरः । "असहनञ्विद्यमानात्" इत्यादिना ङी । **श्यामा** युवतिः । "श्यामा यौवनमध्यस्था" इत्युपलमालायाम् । **शिखरिदशना** शिखराण्येषां सन्तीति शिखरिणः कोटिमन्तः । "शिखरं शैल वृक्षाग्रकक्षापुलिन कोटिषु" इत्यमरः । शिखरिणो दशना यस्याः सा शिखरिदशना । एतेनास्या भाग्यवत्त्वं पत्युरायुष्मत्त्वं च सूच्यते । तदुक्तं सामुद्रिके "स्निग्धाः समानरूपाः स्युः पङ्क्तयः शिखरिणः श्लिष्टाः । दन्ता भवन्ति यासां तासां पादे जगत्सर्वम् । ताम्बूलरसरक्तोपि स्फुटभासः समोदयाः । यस्याः शिखरिणो दन्ता दीर्घं जीवति तत्पतिः" इति । **पक्वबिम्बाधरोष्ठी** पक्वं परिणतं बिम्बं बिम्बफलमिवा धरोष्ठी अधस्तनोपरितन-दन्तच्छदौ यस्याः सा तथोक्ता सती । "असहनञ्" इत्यादिना ङी । **आस्ते** विद्यते । **लप्स्यते** त्वया प्राप्स्यते । "डुलभष्-प्राप्तौ" कर्मणि लृट् ॥१८॥

अन्वय—तत् मे वाक्यात् अपगतभयः त्वं आत्मनीनं व्यवस्य तीर्थे स्थितं ध्वाङ्क्षं अपनुदन् मदुक्ते स्थिरात्मा स्याः । तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बा-धरोष्ठी तव दयिता तत्र एव आस्ते (त्वया तत्र एवसा) लप्स्यते च ।

अर्थ—इस कारण मेरे वाक्य से नष्टभयवाले तुम अपना हित निश्चित कर तीर्थ रूपी मन में स्थित कौए के समान संशय का निराकरण करते हुए मेरे वचनों में स्थिर मन वाले होओ । कृश शरीर वाली, युवती, पके हुए दाडिम के बीजों की आभा वाले माणिक्य के टुकड़ों जैसे अथवा नुकीले दाँत वाली, पके बिम्बफल (कुँदरू) के समान लाल अधरोष्ठ से शोभित तुम्हारी प्रिया वहीं (अलकापुरी में) तुम्हें प्राप्त होगी ।

यस्या हेतोस्तव च मम च प्राग्भवेऽभूद्विरोध-
स्तत्रोत्पन्ना निवसति सती साधुना किन्नराणाम् ।
दृष्ट्वा सौम्यं सजलनयना त्वां स्मरन्ती स्मरार्त्ता,
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः ॥१९॥

यस्या इति । **यस्याः** वसुन्धराना मकान्तायाः । **हेतोः** कारणात् । **प्राग्भवे** कमठमरुभूति भवे । **तव च** भवतोऽपि । **मम च** ममापि । **विरोधः** विद्वेषः । **अभूत्** अभवत् । **सा** वसुन्धरा । **अधुना** इदानीम् । **किन्नराणां** यक्षाणाम् । **तत्र निवासे** अलकापुरि । **उत्पन्ना सती** जाता सती । **निवसति** वर्तते । **त्वां** भवन्तम् । **स्मरन्ती** चिन्तयन्ती प्राग्भवस्मरणेत्यर्थः । **स्मरार्त्ता** कामार्त्ता । **मध्येक्षामा** मध्ये कट्यां क्षामा कृशीभूता तथोक्ता । अलुक्समासः । **चकितहरिणीप्रेक्षणा** भयकम्पि-तायाः हरिण्याः प्रेक्षणे इव प्रेक्षणे दृष्टी यस्याः सा तथोक्ता । एतेनास्याः

पद्मिनीत्वं सूच्यते। तदुक्तं पद्मिनीलक्षण प्रस्तावे—"चकितमृगदृशाभे प्रान्तरक्ते च नेत्रे" इति। निम्ननाभिः गम्भीरनाभिः अनेन नारीणां—'नाभिर्गम्भीरः कामरसातिरेकः' इति कामसूत्रार्थः सूच्यते। सजलनयना साश्रुनेत्रा। सौम्यं शान्तं यथा तथा। दृष्टा दृशेर्लुट् (प्रेक्षिता) भविष्यति ॥१९॥

अन्वय—प्राग्भवे यस्याः हेतोः तव च मम च विरोधः अभूत्। सा अधुना किन्नराणां सतो उत्पन्ना तत्र निवसति। मध्ये क्षामा, चकितहरिणी प्रेक्षणा, निम्ननाभिः, स्मरार्ता सौम्यं त्वां स्मरन्ती सा सजलनयना दृष्टा।

अर्थ—पूर्व जन्म में जिस (वसुन्धरा) के लिए तुम्हारा और मेरा विरोध हुआ था वह अब किन्नर देवों की जाति में उत्पन्न होकर अलका-नगरी में निवास कर रही है। पतली कमरवाली, डरी हुई मृगी के समान चंचल नेत्रों से शोभित, गहरी नाभि वाली, काम से पीड़ित, तुम्हें स्मरण करती हुई वह सजल नयनों वाली मेरे द्वारा देखी गई है।

दृष्टा भूयः स्मरपरवशा चन्द्रकान्तोपलान्ते,
ध्यायन्ती त्वां सहसहचरं संदिदृक्षुर्लिखित्वा।
यान्ती तस्मान्नयनसलिलैर्दृष्टिमार्गे निरुद्धे-
च्छ्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्याम् ॥२०॥

दृष्टेति। भूयः पुनः। स्मरपरवशा मन्मथपीडिता। त्वां भवन्तम्। सहसहचरं सहचरेण सहवर्तते इति सहसहचरस्तम्। "वान्यस्य" इति विकल्पितः सकारादेशः। संदिदृक्षुः सम्यक् दृष्टिमिच्छुः। चन्द्रकान्तोपलान्ते चन्द्रकान्तशिलातले। "अन्तोऽस्त्री निश्चये नाशे स्वरूपेऽन्तरेऽन्तकः" इति भास्करः। लिखित्वा विलिख्य। ध्यायन्ती पश्यन्ती। नयनसलिलैः नेत्राश्रुभिः। दृष्टिमार्गे दर्शनमार्गे। निरुद्धे आवृते सति। श्रोणीभारात् नितम्बभारात्। अलसगमना सु जड्घादोषात्। स्तनाभ्यां पीनोत्तुङ्ग पयोधराभ्याम्। स्तोकनम्रा ईषदवनता। न तु अवलग्नदोषात्। तस्मात् चन्द्रशिलातलात्। यान्ती गच्छन्ती। दृष्टा दृशेर्लुट्। प्रेक्षिता भविष्यति ॥२०॥

अन्वय—श्रोणीभारात् अलसगमना, स्तनाभ्यां स्तोकनम्रा, स्मरपरवशा सहसहचरं त्वां सन्दिदृक्षुः चन्द्रकान्तोपलान्ते लिखित्वा ध्यायन्ती नयनसलिलैः दृष्टि मार्गे निरुद्धे तस्मात् यान्ती (सा) भूयः दृष्टा।

अर्थ—नितम्ब के भार से धीरे-धीरे चलने वाली, (उन्नत) स्तनों से कुछ झुकी हुई, कामसेवन के अधीन, सहचर (मित्र) के साथ तुम्हें देखने की इच्छुक और चन्द्रकान्त मणि के पृष्ठभाग पर तुम्हारे आकार की रचना कर ध्यान करती हुई, नेत्रों के जल से नेत्रों का मार्ग रुक जाने

पर वहाँ से (चन्द्रकान्त पाषाण से) निकलती हुई वह पुनः पुनः देखी गई।

कामावस्थामिति बहुतिथीं धारयन्ती त्वयासौ,
ज्ञेया साक्षाद्रतिरिव मनोहारिणी तत्र गत्वा।
नानावेषे बहुविलसिते किन्नरस्त्रीसमाजे,
या तत्र स्याद्युवतिविषया सृष्टिराद्येव धातुः ॥२१॥

कामावस्थामिति। **तत्र** निवासे। **नानावेषे** नाना विविधा वेषा अलङ्कारा यस्य तस्मिन्। **बहुविलसिते** बहुविलासे। **किन्नरस्त्रीसमाजे** किन्नरस्त्रीणां समूहे। **या** कामिनी। **धातुः** ब्रह्मणः। **युवतिविषया** युवतय एव विषयो यस्याः सा। **आद्या** आदौ भवा आद्या प्रथमभूता। **सृष्टिरिव** सर्जनमिव। **स्याद्भवेत्**। **इति** उक्त वक्ष्यमाण प्रकारेण। **बहुतिथीं** बहुप्रकाराम्। "बहुगणपूः सङ्घात् तिथुक्" "टिड्ढाणञ्" इति ङी। **कामावस्थां** मन्मथावस्थाम्। **धारयन्ती** बिभ्रती। **साक्षात् रतिरिव** प्रत्यक्षभूता रतिदेवीव। **मनोहारिणी** मनोहरा। **असौ** एषा कन्या। **त्वया** भवता। **तत्र** तत्पुरम्। **गत्वा** प्राप्य। **ज्ञेया** ज्ञातव्या ॥२१॥

अन्वय—तत्र नानावेषे बहुविलसिते किन्नरस्त्रीसमाजे या धातुः युवतिविषया आद्या सृष्टिः इव स्यात् सा असौ इति बहुतिथीं कामावस्थां धारयन्ती साक्षात् रतिः इव मनोहारिणी तत्र गत्वा त्वया ज्ञेया।

अर्थ—अलका नगरी में अनेक प्रकार की वेशभूषा से भूषित अनेक प्रकार के हावभावों से युक्त किन्नर स्त्रियों के समाज में जो (वसुन्धराचरी) ब्रह्मा की तरुणी सम्बन्धी प्रथम रचना के समान है, वह यह इस कारण अत्यधिक रूप से काम की अवस्था को धारण किए हुए साक्षात् रति के समान मनोहारिणी है, अलका नगरी में जाकर तुम्हें (यह) जानना चाहिए।

साध्वीं चित्ते विधिनियमितामन्यपौंस्ने निराशां,
कन्यावस्थां त्वदुपगमने बद्धकामां सखीनाम्।
भ्रातुर्वाक्यात्प्रणयविवशां त्वं वितर्क्यान्यथालं,
तां जानीयाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयम् ॥२२॥
सख्यानीतैः सरसकदलीगर्भपत्रोपवीज्यै-
र्लब्धाश्वासां किमपि किमपि श्लिष्टवर्णं लपन्तीम्।

1. श्लिष्टवर्णं।

शीर्णप्रायां विरहविधुरामावयोर्बद्धसाम्या-
दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम् ॥२३॥ युग्मम्॥

साध्वीमिति। **साध्वीं** पतिव्रताम्। "सती साध्वी पतिव्रता" इत्यमरः। **अन्य-पौंस्ने** अन्यपुरुषसमूहे। अन्ये च ते पुमांसश्च अन्यपुमांसः तेषां समूहः अन्यपौंस्नं तस्मिन्। "स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्" इति स्नञ् प्रत्ययः। **निराशाम्** आशारहिताम्। **कन्यावस्थां** कुमार्यवस्थाम्। **सखीनां** वयस्यानां मध्ये इति शेषः। "आलिः सखी वयस्या च" इत्यमरः। **त्वदुपगमने** तवागमने। **बद्धकामां** रचिताभिलाषाम्। **प्रणयविवशां** प्रीत्यधीनां। **चित्ते** अन्तरङ्गे। **विधिनियमितां** व्रतरूपविधाननिर्मिताम्। **परिमितकथां** स्तोकवाक्यामित्यर्थः। **तां** वसुन्धराम्। **सखीनां** वयस्यानाम्। **अन्यथा** अन्येन प्रकारेण। **वितर्क्य** विचार्य। **अलं** पर्याप्तम्। **भ्रातुः** सहोदरस्य कमठचरस्य। **वाक्यात्** वचनप्रामाण्यात्। **मे** मम द्वितीयं द्विपूरणम्। **जीवितं** प्राणान्। **त्वं** भवान्। **जानीयाः** जानीहि ॥२२॥ सख्यानीतैरिति। **आवयोः** तव ममापि। **बद्धसाम्यात्** विहितसमानत्वात्। **सहचरे** सहाये। **मयि** मक्षे। **दूरीभूते** दूरदेशस्थिते सति। **विरहविधुरां** विरहपीडिताम्। **शीर्णप्रायां** जर्जराङ्गयष्टिम्। **सख्यानीतैः** सखीभिर्वयस्याभिरानीतैः। **सरसकदलीगर्भपत्रोपवीज्यैः** सरसरम्भान्तर्गत पत्ररचितव्यजनैः। **लब्धाश्वासां** प्राप्तजीविताम्। **किमपि किमपि** किमपि किमपि। **क्लिष्ट वर्णं** क्लिष्टाक्षरं यथा तथा। **लपन्तीं** ब्रुवतीम्। **चक्रवाकीमिव** सहचर-चक्रवाके दूरीभूते चक्रवाककान्तामिव। "जातेरस्त्रियशूद्रात्" इति ङी। **एकाम्** एकाकिनीम्। **तां त्वं जानीया** इति कर्तृकर्मक्रियाणामत्राप्यन्वयः। युग्मम्॥२३॥

अन्वय—साध्वीं चित्ते विधिनियमितां, अन्यपौंस्ने निराशां सखीनां कन्यावस्थां, त्वदुपगमने बद्धकामां, प्रणयविवशां, परिमितकथां, सख्यानीतैः सरसकदलीगर्भपत्रोपवीज्यैः लब्धाश्वासां, किमपि किमपि क्लिष्ट वर्णं लपन्तीं, शीर्णप्रायां, आवयोः बद्धसाम्यात् सहचरे दूरीभूते एकां चक्रवाकीं इव मयि दूरीभूते विरहविधुरां एकां तां त्वं जानीयाः। 'जीवितं मे द्वितीयं' इति भ्रातुः वाक्यात् अन्यथा वितर्क्य अलम्।

अर्थ—साध्वी, मन में शास्त्रोक्त विधि से विकारों पर नियन्त्रण करने वाली, अपने पति से भिन्न पुरुष के प्रति निराश, सखियों में कुमारी अवस्था से युक्त, तुम्हारे आगमन पर अभिलाषा युक्त, प्रणय से विवश (प्रीति के अधीन) अल्पभाषिणी, सखियों के द्वारा लाए हुए नूतन कदली के गर्भ (भीतरी भाग) के पत्तों से हवा करने पर प्राप्त चैतन्य वाली, कुछ कुछ अव्यक्त वर्ण बोलती हुई, दुर्बलशरीर को धारण की हुई, तुम्हारे और मेरे आकार में सादृश्य होने से सहचर के दूरवर्ती होने पर अकेली चकवी

की तरह मुझ शम्बरासुर के दूर होने पर विरह से दुःखी अकेली तुम उसे जानो । (वह) मेरा दूसरा जीवन है । इस प्रकार के भाई के वाक्य से भिन्न प्रकार मत सोचो । अर्थात् उसे व्यभिचारिणी स्त्री मत मानो ।

मय्यायाते करकिसलयन्यस्तवक्त्रेन्दुमुग्धा,
त्वामेवाहर्निशमभिमनाश्चिन्तयन्ती वियोगात् ।
याता नूनं बत तव दशामाशु मर्तव्यशेषां,
गाढोत्कण्ठा गुरुषु दिवसेष्वेषु गच्छत्सु बाला ॥२४॥

मयीति । **मयि** यक्षे । **आयाते** आगते सति । **तव** भवतः । **वियोगात्** विरहात् । **एषु विरहगुरुषु** विरहमहत्सु । **दिवसेषु** दिनेषु । **गच्छत्सु** अतीतेषु । **बाला** सा कामिनी । **करकिसलयन्यस्तवक्त्रेन्दुमुग्धा** पाणिपल्लवो परिन्यस्त मुखेन्दुः सा चासौ मुग्धा च तथोक्ता । **अहर्निशम्** अहोरात्रम् । **अभिमनाः** उन्मनाः । **त्वामेव** भवन्तमेव । **चिन्तयन्ती** ध्यायन्ती । **गाढोत्कण्ठा** प्रबलविरहवेदना । **मर्तव्यशेषां** मरणावशिष्टाम् । **दशाम्** अवस्थाम् । **आशु** शीघ्रेण । **नूनं** निश्चयेन । **याता** गता । **बत** हन्त । "खेदानुकम्पासन्तोषविस्मयामन्त्रणे बत इत्यमरः ॥२४॥

अन्वय—मयि आयाते एषु गाढोत्कण्ठागुरुषु दिवसेषु गच्छत्सु करकिसलयन्यस्तवक्त्रेन्दुमुग्धा, अभिमनाः त्वां एव अहर्निशं चिन्तयन्ती बाला तव वियोगात् बत मर्तव्यशेषां दशां नूनं याता (भवेत्) ।

अर्थ—मेरे अलका को छोड़कर यहाँ आने पर गाढ़ उत्कण्ठा के कारण भारी ये दिन बीत जाने पर किसलय के समान कोमल हाथों में रखे हुए मुखरूपी चन्द्र के कारण मनोहर, उत्कण्ठायुक्त मन वाली तुम्हारे विषय में ही सोचती हुई (वह) युवती तुम्हारे वियोग के कारण खेद है कि जिसमें मरना ही शेष है ऐसी अवस्था को निश्चितरूप से प्राप्त हो जायगी ।

तस्याः पीनस्तनतटभरात्सामिनम्राग्रभागा,
निश्वासोष्णप्रदवितमुखाम्भोजकान्तिर्विरूक्षा ।
चिन्तावेशात्तनुरपचिता सालसापाङ्गवीक्षा,
जाता मन्ये शिशिरमथिता पद्मिनीवान्यरूपा ॥२५॥

तस्या इति । **पीनस्तनतटभरात्** पीनयोः स्तनयोस्तटस्य भरात् भारात् । "भरोतिशय भारयोः" इति भास्करः । **सामिनम्राग्रभागा** सामि ईषत् "सामि त्वर्धे जुगुप्सिते" इत्यमरः । नम्रः नमनशीलः "नम्रकम्पजस्कम्प्यः" इत्यादिना रः । अग्रभागो यस्याः सा तथोक्ता । **निश्वासोष्ण प्रदवितमुखाम्भोजकान्तिः** निश्वास-

स्योष्णेन प्रदविता ग्लाना मुखकमलस्य कान्तिर्यस्याः सा तथोक्ता । **विरूक्षा** अप्रगल्भा । "रूक्षस्त्वप्रेमण्यचिक्कणे" इत्यमरः । **चिन्तावेशात्** चिन्ताक्रान्तेः । **अपचिता** विशिलष्टा कृशीभूतेत्यर्थः । **सालसापाङ्गवीक्षा** अलससहिता सोपेक्षा अपाङ्गस्य वीक्षा वीक्षणं यस्याः सा तथोक्ता । **तस्याः** वनितायाः । **तनुः** मूर्त्तिः । **शिशिरमथिता** शिशिरेण शिशिरकालेन मथिता पीडिता । **पद्मिनीव** नलिनीव । **अन्यरूपा** पूर्वाकाररहिता । **जाता** जायते स्म । **मन्ये** एवमहं बुध्ये । हिमेन पद्मिनीव विरहेण तस्यास्तनुर्निर्विलासेति तर्कयामीति भावः ॥२५॥

अन्वय—पीनस्तनतटभरात् स्तिमितमध्यभागा, निश्वासोष्णप्रदवित मुखाम्भोजकान्तिः चिन्तावेशात् अपचिता सालसापाङ्गवीक्षा विरूक्षा तस्याः तनुः शिशिरमथिता पद्मिनी इव अन्यरूपा जाता (भवेत् इति) मन्ये ।

अर्थ—पुष्ट स्तन रूप तट के भार से कुछ झुके हुए ऊर्ध्व भाग वाला, लम्बी साँस की गर्मी से जिसके मुखकमल की शोभा दाह से युक्त है, चिन्ता में मग्न होने के कारण दुर्बल, आलस्य से युक्त कटाक्षनिक्षेप युक्त नष्ट सौन्दर्य वाला उसका शरीर पाले से पीड़ित कमलिनी के समान दूसरे ही रूप को प्राप्त हो गया होगा, ऐसा मैं तर्क करता हूँ ।

इतोऽर्धवेष्टितानि—

निद्रापायाद्रजनिषु मुहुस्तावकं सम्प्रयोगं,
दिध्यासोः स्याद्वदनमपरं त्विन्दुबिम्बानुकारि ।
नूनं तस्याः प्रबलरुदितोच्छूननेत्रं बहूनां,
निश्वासानामशिशिरतया भिन्नवर्णाधरोष्ठम् ॥२६॥

निद्रेति । **रजनिषु** रात्रिषु । **निद्रापायात्** निद्राविरहात् । **मुहुः** पुनः पुनः । **तावकं** त्वदीयं तावकस्तं तव सम्बन्धम् । "युष्मदस्मदोरञ्जशो वाकञ्चैकस्मिंस्तवक-ममकम्" इत्यण् तवकादेशश्च । **सम्प्रयोगं** सङ्गमम् । **दिध्यासोः** ध्यातुमिच्छोः । **तस्याः** वनितायाः । **इन्दुबिम्बानुकारि** चन्द्रमण्डल सदृशम् । **वदनं** आननम् । **प्रबलरुदितोच्छूननेत्रं** प्रबलरुदितेन बहुलरोदनेन उच्छूने स्वगुंठिते नेत्रे यस्य तत् तथोक्तम् । लशोच्छूनेतिश्वयतेः" कर्तरि क्तः । "रदाद्यो:" इति तस्य नः । "पश्यादिति" यज इक् । "भुञ्ज्योनुनासिके चेत्वा च ।" **बहूनांनिश्वासानाम्** अधिकानां **अशिशिरतया** अन्तस्तापोष्णत्वेन **भिन्नवर्णाधरोष्ठं** भिन्नवर्णौ निच्छायौ अधरोष्ठौ ऊर्ध्वाधोदन्तवाससी यस्य तत् तथोक्तम् । **नूनं** निश्चयेन । **अपरम्** अन्यरूपम् । **स्यात्** ।

अन्वय—रजनिषु मुहुः तावकं सम्प्रयोगं दिध्यासोः निद्रापायात् इन्दुबिम्बा-

नुकारि, प्रबलरुदितोच्छूननेत्रं, बहूनां निश्वासानां अशिशिरतया भिन्नवर्णा-विशीर्णं नु तस्याः वदनं नूनं अन्यत् स्यात् ।

अर्थ—रात्रियों में पुनः पुनः तुम्हारे संयोग को ध्यान करने का इच्छुक निद्रा विलीन हो जाने के कारण चन्द्रबिम्ब का अनुकरण करने वाला, अधिक रोने से सूजे हुए नेत्रों से युक्त और निःश्वासों की उष्णता से कान्तिहीन अधर और ओठ वाला अथवा भिन्न वर्ण के अधर और ओष्ठ वाला उस किन्नरी का मुख निश्चित रूप से दूसरा हो गया होगा ।

त्वां ध्यायन्त्या विरहशयनाभोगमुक्ताखिलाङ्ग्याः,
शङ्के तस्या मृदुतलमवष्टभ्य गण्डोपधानम् ।
हस्तन्यस्तं मुखमसकलव्यक्ति लंबालकत्वा-
दिन्दोर्दैन्यं त्वदुपसरणक्लिष्टकान्तेर्बिभर्ति ॥२७॥

त्वामिति । **विरहशयनाभोगमुक्ताखिलाङ्ग्याः** विरहशयनाभोगात् विरहो-चित शयनस्थानात् मुक्तमखिलाङ्गं यस्यास्तस्याः । **त्वां** **भवन्तम्** । **ध्यायन्त्याः** स्मरन्त्याः । **तस्याः** कामिन्याः । "अमहनम्" इति ङी । **मृदुतलं** **कोमलतलम्** । **गण्डोपधानं** **गण्डोपबर्हम्** । "उपधानं तूपबर्हम्" इत्यमरः । **अवष्टभ्य** अवलम्ब्य । **हस्तन्यस्तं** हस्ते करे न्यस्यते स्म तथोक्तम् । **लम्बालकत्वात्** संकाराभावेन लम्ब-मानकुन्तलत्वात् । **असकलव्यक्ति** असंपूर्णा व्यक्तिः यस्य तत् । **मुखं** वदनम् । **त्वदुपसरणक्लिष्टकान्तेः** तवानुसरणेन मेघाश्रयेण क्लिष्टाऽक्षीणा कान्तिः यस्य तस्य । **इन्दोः** चन्द्रस्य । **दैन्यं** शोच्यताम् । **बिभर्ति** । **शङ्के** एवं शङ्कयामि ॥२७॥

अन्वय—विरहशयनाभोगमुक्ताखिलाङ्ग्याः मृदुतलं गण्डोपधानं अवष्टभ्य त्वां ध्यायन्त्याः तस्याः लम्बालकत्वात् असकलव्यक्ति हस्तन्यस्तं मुखं त्वदुपसरण-क्लिष्टकान्तेः इन्दोः दैन्यं बिभर्ति [इति] शङ्के ।

अर्थ—विरह (से उत्पन्न दुःख) के कारण शय्या पर शरीर के समस्त अंगों को रखने वाली कोमल तल वाले तकिये का गाढ़ आलिङ्गन कर तुम्हारा ध्यान करती हुई उसका लम्बे बाल होने के कारण अपूर्ण दर्शन वाला हथेली पर रखा हुआ मुख तुम्हारे आवरण से क्षीण कान्ति वाले चन्द्रमा की दीनता को धारण कर रहा होगा, ऐसी मैं सम्भावना करता हूँ ।

तस्याः पीडां रहयितुमलं तौ च मन्ये मृगाक्ष्या,
मद्गेहिन्याः सह सहचरी सेवते यौ द्वितीया ।

रक्ताशोकश्चलकिसलयः केसरश्चात्र कान्तः,
प्रत्यासन्नौ कुरबकवृतेर्माधवीमण्डपस्य ॥२८॥

तस्या इति। **अत्र** गृहोपवने। **सहसहचरी** विकल्पितः समासः। "वयस्याली सहचरी" इति धनञ्जयः। **द्वितीया** द्वयोः पूरणी द्वितीया। **यौ** वृक्षौ। **सेवते** भजते। **कुरबकवृतेः** कुरबक एव वृतिरावरणं यस्य तस्य। "सैरेयकस्तु झिंटी स्यात्तस्मिन्कुरबकोऽरुणे" इत्यमरः। **माधवीमण्डपस्य** मधौ वसन्ते भवा माधवी तस्याः मण्डपस्तस्य अतिमुक्तलतागृहस्य। "अतिमुक्तः पुण्ड्रकः स्याद्वासन्ती माधवीलता" इत्यमरः। **प्रत्यासन्नौ** सन्निकृष्टौ। **चलकिसलयः** चलानि किसलयानि यस्य सः। अनेन वृक्षस्य पादताडनेषु प्राञ्जलित्वं व्यज्यते। **रक्ताशोकः** रक्तश्चासावशोकश्च सः। रक्तविशेषणमस्य स्मरोद्दीपकत्वात्कृतम्। "अशोकस्तु श्वेतरक्त इति द्विधा। बहुसिद्धिकरः श्वेतो रक्तः स्मरविवर्धनः।" इत्यशोककल्पे दर्शनात्। **कान्तः** कमनीयः। "कान्तं मनोहरं रुच्यं मनोज्ञम्" इत्यमरः। **केसरश्च** बकुलश्च। "अथ केसरे बकुलः" इत्यमरः। **तौ च वृक्षौ** च। **मद्गेहिन्याः**। "कलत्रं गेहिनी गृहम्" इति धनञ्जयः। **मृगाक्ष्याः** मृगस्येव अक्षिणी यस्याः सा तथोक्तायाः। **तस्याः** वनितायाः। **पीडां** दुःखम्। "पीडा बाधा व्यथा दुःखम्" इत्यमरः। **रहयितुं** निवारयितुम्। "रह त्यागे"। **अलं** शक्तौ भवत **इति मन्ये** जाने।

अन्वय—अत्र चलकिसलयः रक्ताशोकः कान्तः केसरः च [इति] यौ कुरबकवृतेः माधवीमण्डपस्य प्रत्यासन्नौ मद्गेहिन्याः सहचरी [तव च] द्वितीया सह सेवते तौ च तस्याः मृगाक्ष्याः पीडां रहयितुं अलं [इति] मन्ये।

अर्थ—यहाँ (घर के उद्यान में) चञ्चल पल्लवों से युक्त लाल अशोक और सुन्दर बकुल (मौलसिरी) ये दो वृक्ष हैं। जिन्हें कुरबक वृक्षों के आवरण से युक्त वासन्ती लतागृह के समीप मेरी गृहिणी की सहचरी (सखी) और तुम्हारे पूर्वजन्म की स्त्री वसुन्धरा (जो कि इस समय किन्नरी रूप में है), के साथ सेवन करती है। वे दोनों अशोक और बकुल मृगनयनी के दुःख का परिहार करने में समर्थ हैं। ऐसी मैं संभावना करता हूँ।

कामस्यैकं प्रसवभवनं विद्धि तौ सन्निवेशौ,
मद्गेहिन्या विरचिततलौ सेवनीयौ प्रियायाः।
एकः सख्यास्तव सह मया वामपादाभिलाषी,
काङ्क्षत्यन्यो वदनमदिरां दोहदच्छद्मनास्याः ॥२९॥

कामस्येति। **मन्निवेशे** मम सदने। **मद्गेहिन्या** मद्भार्यया। **विरचिततलौ** संस्कृताधिष्ठानौ। **प्रियायाः** भार्यायाः। **सेवनीयौ** श्रयणीयौ। **तौ** रक्ताशोककुरबकौ। **कामस्य** मन्मथस्य। **एकं** मुख्यम्। "एके मुख्यान्यकेवलाः" इत्यमरः। **प्रसवभवनम्** उत्पत्तिसदनम्। "प्रसवो जननानुज्ञापुत्रेषु फलपुष्पयोः" इति वैजयन्ती। **विद्धि** जानीहि। "विद ज्ञाने" लट्। एकः तयोरन्यतरः अशोकः। **मया सह तव सख्याः** कान्तायाः। **वामपादाभिलाषी** वामपादमभिलषति इत्येवंशीलः तथोक्तः। दोहदच्छद्मनोऽप्यस्य मदीयमिव पादाभिलाषस्तदर्थः। **अन्य** केसरः। **दोहदच्छद्मना** दोहदं वृक्षादीनां प्रसवकारणं संस्कारद्रव्यं तरुगुल्मादीनामकाले। "पुष्पाद्युत्पादकं द्रव्यं दोहदं स्यात्तु तत्क्रिया" इति शब्दार्णवात्। तस्य छद्मना व्याजेन। "कपटोऽस्त्री व्याजदम्भोपधयश्छद्मकैतवे" इत्यमरः। **अस्याः** सख्याः। **वदनमदिरां** गण्डूषवृषरसम्। **काङ्क्षति** वाञ्छति। मया सहेत्यत्रापि सम्बन्धनीयम्। अशोक बकुलयोः स्त्री पादताडनगण्डूषमदिरे दोहद इति प्रसिद्धम् ॥२९॥

अन्वय—मन्निवेशे मया सह मद्गेहिन्या विरचिततलौ, तव प्रियायाः सख्याः सेवनीयौ तौ कामस्य एकं प्रसवभवनं विद्धि। [तयोः] एकः दोहदच्छद्मना अस्याः वामपादाभिलाषी, अन्यः [अस्याः] वदन मदिरां काङ्क्षति।

अर्थ—मेरे घर के उपवन में मेरे साथ मेरी स्त्री के द्वारा जिनके तलभाग (वेदिका) की रचना की गई है और जो तुम्हारी प्रिया की सखी के द्वारा सेवनीय हैं ऐसे उन अशोक और बकुल के वृक्षों को काम का एकमात्र उत्पत्तिस्थल जानो। उनमें से एक (लाल अशोक) दोहद (वृक्ष आदि में पुष्पों की उत्पत्ति का कारण संस्कारक द्रव्य) के बहाने इस किन्नर कन्या के बायें पैर के ताड़न का अभिलाषी है। दूसरा बकुल का वृक्ष इसके मुख की मदिरा को चाहता है।

व्याख्या—अशोक दो प्रकार का होता है—एक सफेद फूल वाला और दूसरा लाल फूल वाला। इनमें से सफेद फूल वाला बहुत सिद्धि करने वाला और लाल फूल वाला कामवर्द्धक होता है।

निम्नलिखित श्लोक से इस बात की पुष्टि होती है—

प्रसूनकैरशोकस्तु श्वेतो रक्त इति द्विधा।
बहुसिद्धिकरः श्वेतो रक्तोऽत्र स्मरवर्द्धनः॥

असमय में वृक्षों के पुष्प विकास के विषय में काव्य जगत् में ऐसी प्रसिद्धि है—

स्त्रीणां स्पर्शात्प्रियङ्गुर्विकसति, बकुलः सीधुगण्डूषसेकात्,
पादाघातादशोकस्तिलककुरबकौ वीक्षणाऽलिङ्गनाभ्याम्॥

मन्दारोनर्मवाक्यात्, पटुमृदुहसनाच्चम्पको वक्त्रवाता-
च्चूतो गीतान्नमेरुर्विकसति च पुरो नर्तनात्कर्णिकारः ।

अर्थात् प्रियङ्गु वृक्ष सुन्दरी स्त्रियों के स्पर्श से बकुल (मौलसिरी) सुन्दरी के मुख स्थित मद्य के सेचन से, अशोक वृक्ष (बायें) चरण के आघात से, तिलक सुन्दरी के देखने, कुरबक आलिङ्गन से, मन्दार हँसी-मजाक के वाक्य से, चम्पक सुन्दर तथा कोमल हास्य से, आम का पेड़ मुख की हवा से, नमेरु गाना से और कर्णिकार वृक्ष सामने सुन्दरी स्त्री के नृत्य करने से विकसित होता है ।

मूलं चोच्चैर्मनसि निहितं लक्ष्यते त्वद्वियोगा-
त्तस्या साद्याध्यवसितमृतेर्बर्हिणाधिष्ठिताग्रा ।
तन्मध्ये च स्फटिकफलका काञ्चनी वासयष्टि-
र्मूले बद्धा मणिभिरनतिप्रौढवंशप्रकाशैः ॥२०॥

मूलमिति । **किञ्च तन्मध्ये** तयोर्वृक्षयोर्मध्ये । **बर्हिणा** मयूरेण । **अधिष्ठिताग्रा** अधिष्ठितमग्रं यस्याः सा । **स्फटिकफलका** स्फटिकमयं फलकं पीठं यस्याः सा तथोक्ता । **अनतिप्रौढवंशप्रकाशैः** अनतिप्रौढानाम् अनतिकठोराणां वंशानां प्रकाश इव प्रकाशो येषां तैः । तरुणवेणुसमच्छायैः । **मणिभिः** मरकतशिलाभिः । **मूले बद्धा कुल-वेदिकेत्यर्थः । काञ्चनी** काञ्चनस्य विकारः काञ्चनी सौवर्णी । **सा** प्रसिद्धा । **वासयष्टिः** निवासदण्डः । "यष्टिर्ध्वजे हारभेदे मधुकीयाऽथ्वान्तरे" इति भास्करः । **अद्य** इदानीम् । **तस्याः** कामिन्याः । **मनसि** चित्ते । **त्वद्वियोगात्** तव विरहात् । **अध्यवसितमृतेः** अध्यवसिता निश्चिता मृतिर्मरणं यया तस्याः । **निहितं** प्रतिष्ठितम् । **उच्चैः** महत् । **मूलं वा** मूलमिव **लक्ष्यते** दृश्यते ॥२०॥

अन्वय—तन्मध्ये च [या] त्वद्वियोगात् तस्याः मनसि अद्य उच्चैः निहित अध्यवसितमृतेः मूलं वा सा अनतिप्रौढवंशप्रकाशैः मणिभिः मूले बद्धा, बर्हिणा अधिष्ठिताग्रा स्फटिकफलका काञ्चनी वासयष्टिः लक्ष्यते ।

अर्थ—अशोक और बकुलवृक्ष के मध्यभाग में तुम्हारे वियोग के कारण उस किन्नरी के मन में आज मरने के निश्चय के मूल (जड़ या वेदिका) के समान स्थापित की गई या गाड़ी गई कोमल बाँस के समान कान्ति से युक्त (पन्ना नामक) मणियों की वेदिका वाली, मोर के द्वारा अधिष्ठित ऊर्ध्वभागों से युक्त और स्फटिक मणिमय पीठ सहित स्वर्णमयी वासयष्टि (निवासस्थान का दण्ड) दिखती है ।

तां कामिन्यः कुसुमधनुषो वैजयन्तीमिवैकां,
मत्त्वार्चन्ति प्रबलरुचिता सापि साध्वी तदाप्त्यै ।

तालैः शिञ्जावलयसुभगैः कान्तया नर्तितो मे,
यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद्वः ॥३१॥

तामिति । **मे** मम । **कान्तया** भार्यया । **शिञ्जावलयसुभगैः** शिञ्जा भूषणध्वनिः ''भूषणानां तु शिञ्जितम्'' इत्यमरः । ''भिदादयः क्वचित्'' इत्यङ् । शिञ्जाप्रधानि वलयानि तैः सुभगाः रम्यास्तैः । **तालैः** करतालैः करतलताडनैः । ''तालः कालक्रियामानम्'' इत्यमरः । **नर्तितः** नाटितः । **वः** युष्माकम् । **सुहृद्** सखा । **नीलकण्ठो** मयूरः । ''नीलकण्ठो भुजङ्गभुक्'' इत्यमरः । **दिवसविगमे** सायंकाले । **यां** या सयष्टिम् । **अध्यास्ते** वासयष्ट्या मध्यास्त इत्यर्थः । शीङ्स्थासोधेराधारः'' इत्याधारे द्वितीया । **तां** निवासयष्टिम् । **कुसुमधनुषः** कामस्य । **एकां** मुख्याम् । **वैजयन्तीमिव** पताकामिव । **मत्वा** बुद्ध्वा । **कामिन्यः** वनिताः । **अर्चन्ति** पूजयन्ति । **प्रबलरुदिता** प्रबलदुःखिता । **साध्वी** सती । ''सती साध्वी पतिव्रता'' इत्यमरः । **सापि** प्रियापि । **त्वावाप्त्यै तव** प्राप्त्यै । **अर्चति** अपिशब्देन अर्थवशाद्विभक्तिपरिणामः इति न्यायादर्चतीति क्रियाध्याहारः ॥३१॥

अन्वय—मे कान्तया शिञ्जावलयसुभगैः तालैः नर्तितः वः सुहृदनीलकण्ठः दिवसविगमे याम् अध्यास्ते तां कुसुमधनुषः एकां वैजयन्तीं इव मत्वा कामिन्यः अर्चन्ति । प्रबलरुदिता सा साध्वी अपि त्वदाप्त्यै (तां अर्चति) ।

अर्थ—मेरी कान्ता के द्वारा शब्द करने वाले कङ्कणों से मनोहर करताल बजाकर नचाया हुआ तुम्हारा मित्र मयूर सायंकाल जहाँ बैठता है, उस वासयष्टि को कामदेव की अद्वितीय पताका के समान मानकर कामाकुल स्त्रियाँ अर्चना करती हैं। बहुत रोने वाली वह [वसुन्धरा के जीव को धारण करने वाली किन्नरकन्या] साध्वी [पतिव्रता] भी तुम्हें पाने के लिए उस वासयष्टि को पूजती है।

प्रीतिस्तस्या मम च युवतेर्निर्विवेका ततोऽहं,
जानाम्येनां व्यसनपतितां मद्गृहे तच्चरोऽहम् ।
एभिः साधो हृदयनिहितैर्लक्षणैर्लक्षयेथाः,
द्वारोपान्ते लिखितवपुषौ शङ्खपद्मौ च दृष्ट्वा ॥३२॥

प्रीतिरिति । **तस्याः युवतेः** यौवनस्त्रियः । ''यूनस्तिः'' इति तिप्रत्ययः । **मम च** ममापि । **प्रीतिः** स्नेहः । **निर्विवेका** निर्विभिन्ना विवेकशून्येति ध्वन्यते । तस्याः मम युवतेश्च । निर्विवेका प्रीतिरिति वा सम्बध्यते । तत् तस्मात् । **एनाम्** एताम् । अन्वादेशे ''इदमः'' इत्येनदादेशः'' । **मद्गृहे** मम सदने । **व्यसनपतिताम्** दुःखेन निपतिताम् । **अहं जानामि** अहमवैमि । **अहं** तच्चरः अहं तस्याः भृत्यः । अतिस्नेहिन इति यावत् । **भो साधो** हे निपुण । ''साधुः समर्थे निपुणे च'' इति

काशिकायाम् । हे मुने इति वा । "तपस्वी संयमी योगी वर्णी साधुश्च" इति धनञ्जयः । **हृदयनिहितैः** अतिस्मृतैरित्यर्थः । **एभिः लक्षणैः** पूर्वोक्तलक्षणैः । तोरणादिभिरभिज्ञानैः । **द्वारोपान्ते** । एकवचनमविवक्षितम् । द्वारोपान्तयोरित्यर्थः । **लिखितवपुषौ** लिखितं वपुषी आकृती ययोस्तौ तथोक्तौ । **शङ्खपद्मौ** शङ्खश्च पद्मश्च तौ तन्नामनिधिविशेषौ । "निधिर्ना शेवधिर्भेदाः पद्मशङ्खादयो निधेः" इत्यमरः । **दृष्ट्वा लक्षयेथाः** निश्चिनुयाः । तत्रागारमित्यादि ध्वतिसमृद्ध वस्तुवर्णनादुदात्तालङ्कारः ॥३२॥

अन्वय—तस्याः मम च युवतेः निर्विवेका प्रीतिः [अस्ति], ततः अहं एनां मद्गृहे व्यसन पतितां जानामि, तच्चरः अहम् [ततः भो] साधो एभिः हृदयनिहितैः लक्षणैः, द्वारोपान्ते लिखितवपुषौ शङ्खपद्मौ च दृष्ट्वा (मद्गृहं) लक्षयेथाः ।

अर्थ—वसुन्धरा के जीव को धारण करने वाली उस किन्नर कन्या की और मेरी भार्या की अभिन्न प्रीति (मित्रता) है । अतः मैं इस किन्नर कन्या को अपने (मेरे) में दुःख निमग्न जानता हूँ । मैं उस घर का निवासी हूँ (अतः) अपनी पत्नी के कहने के अनुसार मैं उसकी दुःखी अवस्था को जानता हूँ । अतः हे मेघ के आकार को धारण करने वाले मुनि ! चित्त में रखे गए उपर्युक्त तोरण आदि लक्षणों से और द्वार के दोनों ओर लिखे गए शङ्ख और पद्म नाम वाली निधियों को देखकर मेरे घर को पहचान लोगे ।

तस्या दुःखप्रशमनविधौ व्यापृते मत्कलत्रे,
मूकीभूतेऽप्यनुचरजने मन्दमन्दायमाने ।
क्षामच्छायं भवनमधुना मद्वियोगेन नूनं,
सूर्यापाये न खलु कमलं पुष्यति स्वामभिख्याम् ॥३३॥

तस्या इति । तस्याः प्रियायाः । **दुःखप्रशमनविधौ** दुःखोपशमनकार्ये । मत्कलत्रे । मम प्रियायां **व्यापृतायां** सत्याम् । **अनुचरजनेऽपि** परिचारकजनेऽपि । **मूकीभूते** संलापरहिते । **मन्दमन्दायमाने** मन्द व्यापारवति सति । **अधुना** इदानीम् । "एतर्हि सम्प्रतीदानीमधुना साम्प्रतं तथा" इत्यमरः । **मद्वियोगेन** मम प्रवासेन । **भवनं** गृहम् । **क्षामच्छायम्** उत्सवोपरमात् क्षीणकान्ति । **नूनं** निश्चयेन स्यादिति शेषः । तथाहि । **सूर्यापाये** अरुणविगमे । **कमलं** पद्मम् । **स्वाम्** आत्मीयाम् । **अभिख्यां** शोभाम् । "उपसर्गादातः" इत्यङ् । **न पुष्यति खलु** नोपचिनोति हि । सूर्यविरहितं पद्ममिव । गृहपतिरहितं गृहमपि न शोभते इति तात्पर्य्यम् ॥३३॥

अन्वय—मत्कलत्रे तस्याः दुःखप्रशमनी व्यापृते, मन्दमन्दायमाने अनुचरजने अपि मूकीभूते अधुनाभवनं मद्वियोगेन नूनं क्षामच्छायं [स्यात्], सूर्यापाये कमलं स्वां अभिख्यां न खलु पुष्यति ।

अर्थ—मेरी स्त्री के उस किन्नरी की दुःख की शान्ति के व्यापार में लगे रहने पर (तथा) अत्यधिक मन्द के समान आचरण करने वाले अर्थात् अति मन्द गति से काम करने वाले अनुचर जनों के मौन हो जाने पर इस समय (मेरा) भवन मेरे वियोग से क्षीण कान्तिवाला होगा क्योंकि सूर्य के अस्त हो जाने पर कमल भी अपनी शोभा को नहीं बढ़ाता है ।

पश्यामुष्यामुपवनभुवि प्रेयसीं तां दधाना-
माधिं त्वत्तो विरहविधुरां मद्वचः प्रत्ययेन ।
गत्वा सद्यः कलभतनुतां शीघ्रसम्पातहेतोः,
क्रीडाशैले प्रथमकथिते रम्यसानौ निषण्णः ।।३४।।

पश्येति । **शीघ्रसम्पात हेतोः** शीघ्रसम्पात एव हेतुस्तस्य शीघ्रप्रवेशार्थमित्यर्थः । "हेतौ हेत्वार्थैः सर्वाः प्रायः" इति षष्ठी । "सम्पातिनः पतिते योगेप्रवेशेभेदसंविदोः" इति शब्दार्णवे । **सद्यः** सपदि । **कलभतनुतां** कलभस्य करिपोतस्य तनुरिव तनुर्य-स्यतस्य भावस्तनुता ताम् अल्पशरीरताम् । **गत्वा** गमित्वा । **प्रथमकथिते** तस्यास्तीर इत्यादिना पूर्वोपदिष्टे । **रम्यसानौ** निषदनयोग्य इत्यर्थः । **क्रीडाशैले** कृतकगिरौ । **निषण्णः** उपविष्टः सन् । **अमुष्याम्** अस्याम् । **उपवनभुवि** उद्यानभूमौ । **त्वत्तः** भवतः । **विरहविधुरां** वियोगदुःखिताम् । **आधिं** मनःपीडाम् । "पुंस्याधिर्मानसी व्यथा" इत्यमरः । **दधानां** धारयन्तीम् । **तां प्रेयसीं** प्रकृष्टप्रियाम् । **मद्वचःप्रत्ययेन** मम वचनविश्वासेन । **पश्य** प्रेक्षस्व ।।३४।।

अन्वय—शीघ्रसम्पातहेतोः सद्यः कलभतनुतां गत्वा प्रथमकथिते रम्यसानौ क्रीडाशैले निषण्णः विरहविधुरां त्वत्तः आधिं दधानां तां प्रेयसीं मद्वचः प्रत्ययेन अमुष्यां उपवनभुवि पश्य ।

अर्थ—शीघ्र गमन करने के लिए तत्क्षण हाथी के बच्चे के समान शरीर को धारण कर पूर्वोक्त रमणीय शिखर वाले क्रीड़ापर्वत पर बैठे हुए, विरह से दुःखी तुम्हारे कारण मानसिक पीड़ा को धारण करती हुई उस किन्नर कन्या रूप प्रेयसी को मेरे वचनों पर विश्वास कर इस उद्यान-भूमि में देखो ।

नो चेदन्तर्गृहमधिवसेत्सा दशामुद्वहन्ती,
गूढं दृष्टुं समभिलषितां तां तदा तत्स्थ एव ।

अर्हस्यन्तर्भवनपतितां कर्तुमल्पाल्पभासं,
खद्योतालीविलसितनिभां विद्युदुन्मेषदृष्टिम् ॥३५॥

नोचेदिति । **नो चेत्** अथवा उपवने नास्ति चेदित्यर्थः । **सा** प्रिया । **दशां** विरहावस्थाम् उद्वहन्ती बिभ्रती । अन्तर्गृहं गृहस्याभ्यन्तरम् । **अधिवसेत्** तिष्ठेत् । "वसोनूपाध्याङ्" इति द्वितीया । **तदा** तर्हि । **तत्स्थ** एवक्रीडाशैलस्थ एव । **समभिलषिताम्** अभिकाङ्क्षिताम् । **तां** प्रियाम् । **गूढं** गुप्तं यथा तथा । **द्रष्टुं** दर्शनाय । **अल्पाल्पभासम्** अल्पाल्पा अल्पप्रकारा भाः प्रकाशोयस्यास्ताम् । तद्गुणसदृशेनेति द्विरुक्तिः । **खद्योतालीविलसितनिभां** खद्योतानामालिस्तस्या विलसितेन स्फुरितेन निभां सदृशाम् । **विद्युदुन्मेषदृष्टिं** विद्युदुन्मेषस्तडित्प्रकाशः स एव दृष्टिस्ताम् । **अन्तर्भवनपतितां** भवनस्यान्तरन्तर्भवनं तत्र पतितां प्रविष्टाम् । **कर्तुं** करणाय । **अर्हसि** योग्यो भवसि । विद्युद्दृष्टिं गृहान्तर्व्यापारयेत्यर्थः । यथा कश्चित् किञ्चिदन्विष्यन् क्वचिदुन्नते स्थित्वा शनैः शनैः दृष्टिमिष्टदेशे पातयति तद्वदित्यर्थः ॥३५॥

अन्वय—नो चेत्, तदा दशां उद्वहन्ती सा अन्तर्गृहं अधिवसेत् । समभिलषितां तां गूढं द्रष्टुं तत्स्थः एव अल्पाल्पभासं खद्योतालीविलसितनिभां विद्युदुन्मेषदृष्टिम् अन्तर्भवनपतितां कर्तुं अर्हसि ।

अर्थ—यदि वह उद्यानभूमि में न हो, तो विरह की अवस्था को धारण करती हुई वह किन्नरकन्या घर के भीतर स्थित होगी । अभिलषित (अभीष्ट) उसे प्रच्छन्नरूप देखने के लिए वहीं क्रीडापर्वत पर ठहरकर अल्पप्रकाश वाली तथा जुगनुओं की पंक्ति के प्रकाश के समान बिजली की विलास रूप-चमकनेरूप दृष्टि को भवन के अन्दर डालो ।

इतः षड्भिः कुलकम् द्व्यन्तरितार्धवेष्टितम्—

आलोके ते निपतति पुरा सा बलिव्याकुला वा,
त्वत्सम्प्राप्त्यै विहितनियमान्देवताभ्यो भजन्ती ।
बुध्यारूढं चिरपरिचितं त्वद्गतं ज्ञातपूर्वं,
मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती ॥३६॥

अर्धवेष्टितम्—

आलिख्यातो भवदनुकृतिं चक्षुरुन्मील्य कृच्छ्रा-
त्पश्यन्ती वा सजलनयनं प्राक्तनीं मन्यमाना ।
पृच्छन्ती वा मधुरवचनां सारिकां पञ्जरस्थां,
कच्चिद्भर्तुः स्मरसि रसिके त्वं हि तस्य प्रियेति ॥३७॥

एकान्तरितम्—

उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां,
गाढोत्कण्ठं करुणविरुतं विप्रलापायमानम् ।
मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा,
त्वामुद्दिश्य प्रचलदलकं मूर्च्छनां भावयन्ती ॥३८॥

द्व्यन्तरितम्—

तन्त्रीरार्द्राः नयनसलिलैः सारयित्वा कथञ्चित्,
स्वाङ्गुल्यग्रैः कुसुममृदुभिर्वल्लकीमास्पृशन्ती ।
ध्यायं ध्यायं त्वदुपगमनं शून्यचित्तानुकण्ठी-
भूयो भूयः स्वयमपि कृता मूर्च्छनां विस्मरन्ती ॥३९॥

एकान्तरितम्—

शेषान्मासान् विरहदिवसस्थापितस्यावधेर्वा,
जन्मान्यत्वेऽप्यधिगतिमितान्देवभावानुभावात् ।
विन्यस्यन्ती भुवि गणनया देहलीमुक्तपुष्पैः,
स्मृत्यारूढान्स्फुटयितुमिव स्वात्मनो मृत्युसन्धीन् ॥४०॥
मद्व्यध्यासात्स्वपन इव विस्पष्टभूयं त्वया मा,
संभोगं वा हृदयरचितारम्भमास्वादयन्ती ।
मूर्छासुप्ता समयमथवाऽश्वास्यमाना सखीभिः,
प्रायेणैते रमणविरहेष्वङ्गनानां विनोदाः ॥४१॥

सर्वविरहिणी साधारण लक्षणानि सम्भावयति-आलोक इति । वा अथवा । "उपमायां विकल्पे वा" इत्यमरः । त्वत्सम्प्राप्त्यै तव सम्प्राप्तिनिमित्तम् । विहितनियमान् विशिष्टव्रतविशेषान् । "नियमस्तु स यत्कर्म नित्यम् गन्तुसाधनम्" इत्यमरः । भजन्ती सेवमाना । वेश्मसाभ्यः बलिव्याकुला बलिषु नित्यं प्रोषितागमनेषु च देवताराधनेषु च व्याकुला आपृता । वा अथवा कुर्वत्याहृतं चित्तालिखम् । परिचितं चिराभ्यस्तम् । ज्ञातपूर्वं पूर्वं ज्ञातं तथोक्तम् । क्ता इति बहुव्रीहौ पूर्वनिपातः । विरहतनु विरहेणतनूकृतम् । भावगम्यं ज्ञानज्ञेयम् । तत्कार्यस्यादृष्टतरत्वा-दस्य भावनैवावगम्यत इत्यर्थः । त्वद्गतं त्वां गतम् । त्वयि विद्यमानमित्यर्थः । मत्सादृश्यं मदाकारसाम्यम् मत्प्रतिकृतिमित्यर्थः । लिखन्ती फलकादौ रचयन्ती । सा वनिता । तव आलोके दर्शने । पुरा पूर्वम् अग्रे वा । "स्यात्प्रबन्धे चिरातीते निकटागामिके पुरा" इत्यमरः । निपतति दृष्टिगोचरा भविष्यतीत्यर्थः-द्व्यन्तरिता-र्थवैशिष्ट्यमिदम् ॥३९॥

आलिख्येति । वा अथवा । मत्तः अनन्तरम् । भवदनुकृतिम् तवानुकृतिम् क्वचित् फलकादौ । आलिख्य लिखित्वा । प्राक्तनीं प्रागनुभूतविषयाम् । मन्यमाना मन्यत इति मन्यमाना बुध्यमाना । कृच्छ्रात् कष्टात् । चक्षुः नयनम् । जात्येकवचनम् । उन्मील्य उत्पाट्य । सशलनयनं साश्रुनेत्रम् । पश्यन्ती अवलोकयन्ती । वा अथवा । रसिके भो सरले । त्वं भवतो । तस्य भर्तुः । प्रवासिनः स्वामिनः । प्रिया हि इष्टा खलु स्मरसि कच्चित् बुध्यसे । कच्चित्कामप्रवेदने" इत्यमरः । "स्मृत्यर्थदयेशां कर्म" इति कर्मणि षष्ठी । भर्तारं स्मरसि किमित्यर्थः । इति एवम् । पञ्जरस्थां हिंस्रेभ्यो विहितरक्षणामित्यर्थः । सारिकां स्त्री पक्षिविशेषाम् । मधुरवचनं मञ्जुलभाषणं यथा तथा । पृच्छन्ती याचयन्ती सति । आलेबैःपुरा निपततीत्यत्रोत्तर-माप्यन्वीयते ॥३७॥

उत्सङ्ग इति । वा अथवा । हे सौम्य हे साधो । मलिनवसने मलीमसवस्त्रे । "प्रोषिते मलिनाकृतिः" इति शास्त्रादित्यर्थः उत्सङ्गे ऊरौ । वीणां निक्षिप्य । त्वां भवन्तम् । उद्दिश्य सङ्कील्य । विरचितपदं विरचितानि पदानि यस्य तत्तथोक्तम् । मद्गोत्राङ्कं मम गोत्रंनाम अङ्कः चिह्नं यस्मिन् तन्मद्गोत्रांकं मन्नामाक्षरचिह्नं मदन्वयाङ्कं वा । "गोत्रं तु नाम्नि च" इत्यमरः । गेयं गीतार्ह प्रबन्धम् । गीतमिति वा पाठः । गाढोत्कण्ठं गाढा उत्कण्ठा यस्मिन्कर्मणि तत् । करुणविरुतं करुणस्वरं यथा तथा । विप्रलापायमानं प्रलापं समानम् । उद्गातुकामा उच्चैर्गातुं कामोऽभि-लाषो यस्याः सा तथोक्ता । देवयोनित्वाद्गान्धारग्रामम् । गातुकामेत्यर्थः । तदुक्तम्—षड्जमध्यमनामानौ ग्रामौ गायन्ति मानुषाः । न तु गान्धारनामानं स लभ्यो देवयोनिभिः इति । प्रचलदलकं प्रचलन्तोऽलका यस्मिन्कर्मणि तत् । मूर्छनां क्रम-विशेषविशिष्टस्वरस्थापनाम् । "क्रमेषु विलोमेन स्वाद्यस्वरपूर्वगाः । पुराणा-स्थापनी स्याताम्मूर्छनाः सप्त सप्तहि" इति गीतरत्नाकरे । भावन्ती ध्यायन्ती । अन्यान्वयः प्राग्वदेव । एकान्तरितमिदम् ॥३८॥

तन्त्रीरिति । अथवा । नयनसलिलैः प्रियतमस्मृतिजनितैः नेत्राश्रुभिः । आर्द्राः सार्द्राः । "आर्द्र क्लिन्नम्" इत्यर्थः । तन्त्रीर्वीणातन्तून् । कुसुममृदुभिः पुष्प-वन्मृदुभिः । स्वाङ्गुलग्रैः निजाङ्गुलीनामग्रतलैः । कथञ्चित् कृच्छ्रेण । सारयित्वा प्रमृज्य अन्यथा क्वणितासम्भवादित्यर्थः । वल्लकीं वीणाम् । आस्पृशन्ती स्पर्शनं कुर्वन्ती । त्वदुपगमनं तवागमनम् । ध्यायं ध्यायं ध्यात्वा ध्यात्वा । "पूर्वाग्रे प्रथमाभीक्ष्ण्ये खमुञ्" इत्याभीक्ष्ण्ये खमुञ् । शून्यचिन्तानुकण्ठी नष्टचिन्तया अनुकूलः कण्ठो यस्याः सा । भूयो भूयः पुनः पुनः । स्वयमभिकृतां स्वयम् आत्मनाऽभि-कृतामारब्धाम् । मूर्छनां कर्मविशेषविशिष्ट स्वरस्थापनाम् । विस्मरन्ती स्खलन्ती अन्योन्वयः प्राग्वत् । विस्मरणं चात्र दयितगुणस्मृतिजनितमूर्छावेशादेव । तथा रत्नाकरे "वियोगायोग योरिष्ट गुणानां सदा कीर्तनात्स्मृतिः । साक्षात्कारोऽथवा

मूर्च्छा जायते दशधा'' इति। मत्सादृश्यमित्यादिना मनःसङ्कृतिः सूचिता। द्रुतविलम्बितमिदम् ॥३९॥

शेषानिति। वा अथवा। जन्मान्तरेऽपि। अतीतवर्तमानभाविभवेऽपि। विरहदिवसस्थापितस्य विरहस्य प्रथमदिवसात् दिवसे वा स्थापितस्य निश्चितस्य। अवधेः प्रमाणकालस्य। देवभावानुभावात् देवभावो देवत्वं तस्य अनुभावः प्रभावस्तस्मात्। ''अनुभावः प्रभावे च सतां च मतिनिश्चयः'' इत्यमरः। अविगणितमितानपरिमितान्। शेषान् मासान् गतावशिष्टान्। सर्वान्मासान्। देहलीमुक्तपुष्पैः देहली द्वार शाखायाः दारु ''गृहावग्रहणी देहली'' इत्यमरः। तत्र दत्तानि राशित्वेन निहितानि तैः पुष्पैः कुसुमैः। स्मृत्याल्हादान् स्मरणाल्हादान्। स्वात्मनः स्वजीवस्य। मृत्युसन्धीन् मरणस्य सन्धीन्। ''रन्ध्रसंश्लेषयोः सन्धिः'' इति धनञ्जयः। स्फुटयितुमिव व्यक्तीकर्तुमिव गणनया एको द्वावित्यादिसङ्ख्यानेन। भुवि भूमितले। विन्यस्यन्ती विक्षिपन्ती। कुसुमविन्यासैर्विरहावधेर्मासान् गणयन्तीत्यर्थः ॥४०॥

बद्धव्यध्यासादिति। वा एवं नास्ति चेत्। स्वपने स्वप्ने। विस्पष्टभूयमिव स्पष्टतरत्वमिव। ''हत्याभूयं भावे'' इति साधुः। बुद्धध्यध्यासात् मतिनिश्चयात्। त्वयामा त्वया सह। ''अमा सह समीपे च'' इत्यमरः। हृदयरचितारम्भं हृदये मनसि निहितः सङ्कल्पितः आरम्भः उपक्रमः यस्य तम्। यद्वा हृदये निहिताश्चुम्बनालिङ्गनादयो व्यापारा यस्मिन् तम्। सम्भोगं रतिम्। आस्वादयन्ती अनुभवन्ती। अथवा वा। मूर्च्छासुप्ता मूर्च्छया शयिता। सखीभिः वयस्याभिः सभयं भयसहितं यथा तथा। आश्वास्यमाना विश्रम्भ्यमाणा सा वनिता। ते तव। आलोके दर्शने। निपतति गोचरा भवतीति पूर्वेणान्वयः। अर्थान्तरन्यासेन परिहरति। प्रायेणेति। अङ्गनानां स्त्रियाम्। रमणविरहेषु। एते कथितार्थाः। प्रायेण प्राचुर्येण। विनोदाः कालयापनोपायाः। एतेन सङ्कल्पावस्थोक्ता। तथोक्तम्—सङ्कल्पोनाभविषयो मनोरथ उदाहृतः।'' इति षड्भिः कुलकम् ॥४१॥

अन्वय—सौम्य! बलिव्याकुला, त्वत्समप्राप्त्यै देवताभ्यः विहितनियमान् भजन्ती वा, वपुष्यालेख्यं चिरपरिचितं ज्ञातपूर्वं त्वद्गतं विरहतनु भावगम्यं मत्सादृश्यं लिखन्ती वा, अतः भवदनुकृतिं आलिख्य चक्षुः उन्मील्य सजलनयनं पश्यन्ती वा, पञ्जरस्थां सारिकां प्राक्तनीं मन्यमाना रसिके! भर्तुः कच्चित् स्मरसि, त्वं हि तस्य प्रिया' इति मधुरवचनं प्रच्छन्ती वा, मलिनवसने उत्सङ्गे वीणां निक्षिप्य गाढोत्कण्ठं करुणविरुतं विप्रलापायमानं विरचितपदं गेयं मद्गोत्राङ्कं त्वां उद्दिश्य उद्गातुकामा मूर्च्छनां प्रचलदलकं भावयन्ती, कुसुममृदुभिः स्वाङ्गुल्यग्रे नयनसलिलैः आर्द्राः तन्त्रीः कथञ्चित् सारयित्वा वल्लकीं आस्पृशन्ती, तदुपगमनं ध्यायं ध्यायं शून्यचित्तानुकण्ठी स्वयं कृतां अपि मूर्च्छनां भूयः भूयः विस्म-

रन्ती, देवभावादुद्भवात् जन्मान्तरे अपि अधिगति इतान् विरहदिवसस्थापितस्य अवधेः शेषान् मासान् स्मृत्यारूढान् स्वात्मनः मृत्युमन्थीन् स्फुटयितु इव देहली-मुक्तपुष्पैः गणनया भुवि विन्यस्यन्ती वा, स्वप्ने हृदयरचितारम्भं सम्भोगं बुद्ध्य-भ्रमात् त्वया समा विस्पष्टभूयं इव आस्वादयन्ती वा अथवा मूर्च्छासुप्ता सखीभिः सभयं आश्वास्यमाना पुरा ते आलोके निपतति। रमण विरहेषु अङ्गनानां प्रायेण एते विनोदाः।

अर्थ—हे सौम्य ! देवपूजाओं में लगी हुई अथवा आपको पाने के लिए देवताओं को प्राप्त करके शास्त्रोक्त व्रतों का सेवन करती हुई अथवा मन में स्थित चिरपरिचित, पहले से ज्ञात आप सम्बन्धी वियोग के कारण दुर्बल और अभिप्राय से जानने योग्य मेरी प्रतिकृति के समान तुम्हारी प्रतिकृति को बनाती हुई अथवा आपकी अनुकृति को बनाकर नेत्र खोलकर अश्रुपूर्ण नेत्रों से देखती हुई पिंजड़े में स्थित मैना को वसुन्धरा के समय की मानती हुई। हे रसिके ! क्या तू स्वामी का स्मरण करती है ? क्योंकि तू उनकी प्यारी थी। इस प्रकार मधुर वचन से पूछती हुई अथवा मलिन वस्त्रयुक्त अपनी गोद में वीणा को रखकर गाढ़ उत्कण्ठा सहित करुण स्वर को करुण रस प्रधान गीत के समान बनाती हुई तुमको लक्ष्य कर ऊँचे स्वर से गाने की इच्छा करती हुई, मूर्च्छना (स्वरों के उतार और चढ़ाव के क्रम वाले गीत) को अलकों के चलन पूर्वक अन्दर ही अन्दर उच्चारण करती हुई, फूल के समान सुकोमल अपनी अँगुलियों के अग्रभागों से नेत्रों के जल से गीले वीणा तन्तुओं को जिस किसी प्रकार पोंछकर वीणा का कुछ स्पर्श करती हुई, तुम्हारे आगमन का निरन्तर ध्यान कर निस्सार मानसिक सन्ताप से युक्त कण्ठ स्वर वाली स्वयं रची हुई भी मूर्च्छना को पुनः-पुनः भूलती हुई, अथवा देवत्व से उत्पन्न माहात्म्य से अन्य जन्म में भी जाने गए वियोग के दिन निश्चित (स्थापित) अवधि के अवशिष्ट महीनों को, अपने शरीर के स्मृति में स्थित मरण काल को मानों प्रकट करने के लिए देहली पर रखे हुए फूलों को गणना के लिए जमीन पर रखती हुई अथवा स्वप्न में मन के सङ्कल्प से प्रारम्भ किए हुए सम्भोग को बुद्धि से उत्पन्न भ्रान्ति के कारण आपके साथ मानों स्पष्टता के साथ अनुभव करती हुई अथवा मूर्च्छा से सोई हुई सखियों के द्वारा भयपूर्वक विश्वास दिलाई जाती हुई पहले तुम्हारे दृष्टि पथ को प्राप्त होगी, क्योंकि प्रियतम के वियोग में स्त्रियों के विरहजनित दुःख को दूर करने के लिये ये उपाय हैं।

सख्यालापैः सुखविरतिभिस्तद्विनोदैस्तथाऽन्यैः,
सव्यापारामहनि न तथा पीडयेद्विप्रयोगः ।
स्वापापायाद्हृदयनिहितं त्वामजस्रं स्मरन्तीं,
शङ्के रात्रौ गुरुतरशुचं निर्विनोदां सखीं ते ॥ ४२ ॥

सख्यालापैरिति । रात्रौ निशायाम् । स्वापापायात् निद्राया अपायात् अभावात् । हृदयनिहितं हृदये स्मृतम् । त्वां भवन्तम् । अजस्रम् अनवरतम् । 'नित्यानवरताजस्रम्' इत्यमरः । स्मरन्तीम् । ते तव । सखीं प्रियाम् । गुरुतरशुचं गुरुतरा शुक् यस्याः सा तां बहुशोकाम् । निर्विनोदां निर्व्यापाराम् । शङ्के तर्कयामि । 'शङ्काभयवितर्कयोः' इति शब्दार्णवे । अहनि दिवा । सख्यालापैः सख्या भाषणैः । सुखविरतिभिः सुखकथाभिः । तद्विनोदैः मालाविनोदैः । तथा अन्यैः विलासैः । सव्यापारां पूर्वोक्तचित्रलेखनादिव्यापार सहिताम् । विप्रयोगः विरहः । तथा रात्राविव न पीडयेत् न बाधेत् ॥ ४२ ॥

अन्वय—[यथा] रात्रौ स्वापापायात् हृदयनिहितं त्वां अजस्रं स्मरन्तीं गुरुतरशुचं निर्विनोदां ते सखीं [विप्रयोगः पीडयेत्] तथा अहनि सुखविरतिभिः सख्यालापैः तथा अन्यैः तद्विनोदैः सव्यापारां विप्रयोगः न पीडयेत् [इति] शङ्के ।

अर्थ—जैसा रात में नींद के न आने से हृदय में स्थापित तुमको निरन्तर स्मरण करती हुई दुःसह शोकवाली और विरहजनित दुःख को दूर करने के विनोद से रहित तुम्हारी सखी को वियोग पीड़ित करेगा वैसा दिन में सुखोत्पादक शब्दों से युक्त सखियों की बातचीत से तथा अन्य विनोदों से विरहजनित दुःख को दूर करने के काम में व्यस्त उसको वियोग पीड़ित नहीं करेगा, मैं ऐसी सम्भावना करता हूँ।

एवं प्रायैस्त्वयि सुभगतां व्यञ्जयद्भिर्यथार्थं-
र्मत्सन्देशैः सुखयितुमतः पश्य साध्वीं निशीथे ।
पर्यस्ताङ्गीं कुसुमशयने निस्सुखामाधिरुद्धां,
तामुन्निद्रामवनिशयनां सद्मवातायनस्थः ॥ ४३ ॥

चित्रन्यस्तामिव सवपुषं मन्मथीयामवस्था-
माविक्षामां विरहशयने सन्निषण्णैकपार्श्वाम् ।
तापापास्त्यै हृदयनिहितां हारयष्टिं दधानां,
प्राचीमूले तनुमिव कलामात्रशेषां हिमांशोः ॥ ४४ ॥

---
१. स्मरन्ती ।

मत्कामिन्या प्रणयरसिकैः सन्निधौ त्वत्प्रियाया,
नीता रात्रिः क्षणमिव मया सार्धमिच्छारतैर्या ।
निद्राच्छिद्रेष्वभिमुहुरुपचितैः पक्ष्मरुद्भिर्गलद्भिः,
स्तामेवोष्णैर्विरहमहतीमश्रुभिर्यापयन्तीम् ॥ ४५ ॥

अन्तस्तापं प्रपिशुनयता स्वं कवोष्णेन भूयो,
निःश्वासेनाधरकिसलयक्लेशिना विक्षिपन्तीम् ।
शुद्धस्नानात्परुषमलकं नूनमागण्डलम्बं,
विश्लिष्टं वा हरिणरचित लाञ्छनं [illegible]न्दोः ॥ ४६ ॥

मद्विश्लेषादुपहितशुचो दूरदेशस्थितस्य,
प्राणेशस्य स्वयमनुचिताऽनङ्गबाधस्य जातु ।
मत्संयोगः कथमुपनयेत्स्वप्नजोऽपीति निद्रा-
माकाङ्क्षन्तीं नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशाम् ॥४७॥

आद्ये बद्धा विरहदिवसे या शिखा दाम हित्वा,
जन्मन्यस्माद्व्यवहिततरे वेणिका स्मर्यमाणा ।
शापस्यान्ते विगलितशुचा तां मयोद्वेष्टनीयां
स्वां निन्दन्तीं विरहवपुषां सङ्गमं वा विधाय ॥४८॥

तां वक्त्रेन्दुग्रसनरसिकां राहुमूर्तिं श्रितां वा,
व्योमच्छायां मदनशिखिनो धूमयष्टीयमानां ।
स्पर्शक्लिष्टामयमितनखेनासकृत्सारयन्तीं,
गण्डाभोगात्कठिनविषमामेकवेणीं करेण ॥४९॥

पादानिन्दोरमृतशिशिराञ्जालमार्गप्रविष्टा-
न्निष्टान्बन्धूनिव मृगयितुं संश्रितान् संग्रहीतुम् ।
पूर्वप्रीत्या गतमभिमुखं सन्निवृत्तं तथैव,
प्रत्याहृत्य स्वनयनयुगं चेतसा धूयमानाम् ॥५०॥

भूयोभूयः शिशिरकिरणे स्वान्कराञ्जालमार्गै-
रालम्बाने पुनरपि गताभ्यागतैः क्लिश्यमानम् ।
सेदाच्चक्षुः सलिलगुरुभिः पक्ष्मभिश्छादयन्तीं,
साभ्रेऽह्नीव स्थलकमलिनीं नप्रबुद्धां नसुप्ताम् ॥ ५१ ॥

एवमिति । अतः कारणात् । त्वयि भवति । सुभगतां रम्यताम् । व्यञ्जयद्भिः प्रकटयद्भिः । एवं कथितरीत्या । प्रार्थैर्बहुभिः । यथार्थैः तथ्यभूतैः । मत्सन्देशैः मम वाचिकैः । सुखयितुम् आनन्दयितुम् । निशीथे अर्धरात्रे । 'अर्धरात्रनिशीथौ द्वौ' इत्यमरः । सवृक्षवातायनस्थः सौधगवाक्षस्थेन । कुसुमशयने पुष्पशय्याम् । पर्यस्ताङ्गीम् पातितशरीराम् । निःसुखां सुखरहिताम् । आधिक्षामां मनःपीडार्त्ताम् । पुंस्याधि मनसो व्यथा' इत्यमरः । उन्निद्राम् उत्सृष्टस्वापाम् । अवनिशयनाम् अवनिरेव शयनं यस्यास्तां नियमार्थं भूशायिनीम् । साध्वीं पतिव्रताम् । तां त्वत्सखीम् । पश्य प्रेक्षस्व । तदुक्तं रत्नाकरे–सुखायन्ते च पितरौ कौ भिषद्वत् शुकादयः । सुखयन्तौ कनमुखोपायैर्वियोगिनाम्' इति । अनेन जागरावस्थोक्ता ।। ४३ ।।

चित्रन्यस्तामिति । चित्रन्यस्तां चित्रलिखिताम् । स्ववपुषं शरीरसहिताम् । मन्मथीयां मदनसम्बन्धाम् । अवस्थामिव दशामिव । आधिक्षामां मनोव्यथाम् कृशीभूताम् । व्यावृतैः कर्त्तरिक्तः । क्षः इति क्तस्य मः । विरहशयने विरहोचित शय्याम् । पल्लवादिरचित तल्प इत्यर्थः । सन्निषण्णैकपार्श्वाम् सन्निषण्णं न्यस्तम् एकं पार्श्वं यस्यास्ताम् । अतएव । तापापास्त्यै तापनिवारणाय । हृदयनिहितां हृदये निक्षिप्तां । हारयष्टिं हारलताम् । 'यष्टिर्दण्डे हारभेदे मधुकेप्यादुधान्तरे' इति भास्करः । वमानां वहन्तीम् । प्राचीमूले प्राच्याः पूर्वदिशो मूले । उदयगिरिप्रान्त इत्यर्थः । प्राचीग्रहणं क्षीणत्वस्याद्योतनार्थम् । मूलग्रहणं दृश्यत्वार्थं । कलामात्रशेषां कलैवशेषो यस्यास्ताम् । सुधांशोश्चन्द्रस्य । तनुमिव मूर्तिमिव । स्थिताम् । तां पश्येति पूर्वेणैवान्वयः । अनेन काश्यावस्थोक्ता ।। ४४ ।।

मत्कामिन्या इति । त्वत्प्रियायाः तव भार्यायाः । सन्निधौ समीपे । मया सार्धम् । मत्कामिन्या मद्वल्लभया । प्रणयरसिकैः प्रीतिरसविशेषैः । इच्छारतैः अभीष्टनिधुवनैः । या रात्रिः निशा । क्षणमिव समयमिव । नीता यापिता । तामेव तद्रात्रिमेव । विरहमहतीं विरहेण पृथुभूताम् । महत्त्वेन प्रतीयमानामित्यर्थः । निद्राविद्भिः निद्राविरोधिभिः । मुहुः पुनः पुनः । उपचितैः अवतीर्णैः । पक्ष्मरुद्भिः पक्ष्मरोधयद्भिः । 'पक्ष्माक्षिलोम्नि किञ्जल्के तन्त्वाद्यंशेऽप्यणीयसि' इत्यमरः । गलद्भिः स्रवद्भिः । उष्णैः अशिशिरैः । अश्रुभिः अस्रैः । 'नेत्राम्बुरोदने चास्रमस्रु च' इत्यमरः । यापयन्तीं गमयन्तीम् । 'यातेर्यन्तात्कलनृत्यः' लीक्लीरिङ्नापि' इत्यादिनाम् । तां पश्येरन्वयः । स एव कालः सुखिनामल्पः प्रतीयते दुःखिनां तु विपरीत इति भावः । एतेन लज्जात्यागो व्यज्यते ।। ४५ ।।

अन्तस्तापमिति । एवं स्वकीयम् । अन्तस्तापम् विरहताम् । प्रपिशुनयता प्रकर्षेण सूचयता । कवोष्णेन मन्दोष्णेन । 'कोष्णं कवोष्णं मन्दोष्णम्' इत्यमरः । अधरकिसलयक्लेशिना अधरपल्लवनिबाधिना । भूयः मुहुः । निश्वासेन

निश्वसनेन । तन्मुखेन्दोः तस्याः वदनचन्द्रमसः । हरिणचरितं मृगविहितम् । विश्लिष्टं शिथिलितम् । लाञ्छनं वा चिह्नमिव । शुद्धस्नानात् विरहिणीत्वाद्गन्ध-स्नेहादिरहितस्नानात् । परुषं कर्कशम् । गंडलंबम् 'सुप्सुपा' इति समासः । गण्ड-पर्यन्तावलम्बि । अलकं चूर्णकुन्तलम् । नूनम् अवश्यम् । विक्षिपन्तीं चालयन्तीम् । तां पश्येत्यन्वयः ॥ ४६ ॥

मद्विश्लेषादिति । मद्विश्लेषात् मम वियोगात् । दूरीभूतस्य प्राप्तदुःखस्य । दूरदेशस्थितस्य दविष्ठदेशस्थस्य । अनुचितानङ्ग बाधस्य अनुचिता अयोग्या अनङ्गस्य मदनस्य बाधा यस्य तस्य । प्राणेशस्य दयितस्य । स्वप्नजोऽपि स्वप्नावस्था-जन्योऽपि साक्षात्सम्भोगासम्भवादिति भावः । मत्संयोगः मम सम्भोगः । स्वयं जातुस्वकीयम् । कथं केन प्रकारेण । उपनयेदिति आगच्छेदिति आशयेति शेषः । 'प्रार्थनायां लिङ्' । नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशां नयनसलिलोत्पीडनात् अश्रु-वत्या सद्धावकाशाम् आक्रान्तावस्थां दुर्लभामित्यर्थः । निद्रां स्वापम् । 'स्यान्निद्रा-शयनं स्वापः' इत्यमरः । आकाङ्क्षन्तीम् अभिलषन्तीम् । स्वप्नहेतुत्वादिति भावः तां पश्य ॥ ४७ ॥

आद्य इति । आद्ये प्राक्तने । विरहदिवसे वियोगदिने । दाम पुष्पमाल्यम् । हित्वा त्यक्त्वा । या शिखा चूडा । 'शिखा चूडा केशपाशः' इत्यमरः । बद्धा ग्रथिता । अस्माद्वैतस्माज्जन्मनः । व्यवहिततरे अन्तरिततरे । जन्मनि भवे । स्मर्य-माणा चिन्त्यमाना । या वेणिका प्रवेणी । 'वेणिः प्रवेणी शीर्षण्यशिरस्यौ विशदे कचे' इत्यमरः । शापस्य अरविन्दराजकृतधिक्कारस्य । अन्ते अवसाने । विगलित-शुचा व्यपगतशुचेति वा पाठः । वीतशोकेन मया । उद्वेष्टनीयाम् उद्वेष्टुं योग्याम् । तां शिखां वेणिकां च । वा अथवा विरहवपुषां वियोगमूर्तीनाम् । सङ्गमं संसर्गम् । विधाय कृत्वा । स्वाम् आत्मानम् । निन्दन्तीं कुत्सयन्तीम् । तां पश्य ॥ ४८ ॥

तामिति । वक्त्रेन्दुग्रसनरसिकां वक्त्रमिवेन्दुस्तस्य ग्रसने स्वीकारे रसिकां प्रीताम् । श्रिताम् आगताम् । राहुमूर्ति राहुदेहम् । वा इव व्योमच्छायाम् आकाश-च्छविम् श्यामलामित्यर्थः । मदनशिखिनः मन्मथज्वलनस्य । 'शिखिनौ वह्निबर्हिणौ' इत्यमरः । धूमयष्टीयमानां धूमयष्टीयतेऽसौ तथोक्ताम् धूमदण्डोपमामित्यर्थः । स्पर्श-क्लिष्टां स्नेहद्रव्यायोगात् स्पर्शे सति क्लेशमूलेषु सदयामित्यर्थः । कठिनविषमां कठिना चासौ विषमा च निम्ने नता ताम् । 'खञ्जकुब्जादिवदन्यतरस्य प्राधान्य-विवक्षायां' विशेषणं व्यभिचार्येकार्थं कर्मधारयश्च' इति समासः । ताम् एकवेणीम् एकीभूतप्रवेणीम् । 'पूर्वकाले' इत्यादिना तत्पुरुषः । तथाभूतां शिखाम् । अयमित-नखेन 'यम उपरमे' यम्यन्ते स्म यमिताः शमिता इत्यर्थः । न यमिताः इति नञ् समासः । अयमिताः अकर्तितोपान्ता नखा यस्य तेन । करेण हस्तेन । गण्डाभोगात्

कपोलप्रदेशात्। 'गण्डौ कपोलविस्फोटौ' इत्यमरः। **असकृत्** मुहुर्मुहुः। **सारयन्तीम्** अपसारयन्तीम्। **तां पश्य**। असकृत्सारणेन चित्तविभ्रमदशा सूच्यते ॥४९॥

पादानिति। **इष्टान्** अभिमतान्। **बन्धून्** बान्धवान्। **मृगयितुम्** अन्वेषयितुम्। **संश्रितामिव** आश्रितामिव। **जालमार्गप्रविष्टान्** गवाक्षविवरागतान्। **अमृतशिशिरान्** अमृतमिव शिशिरान्। [illegible]हिमस्पर्शान्। **इन्दोः** सुधांशोः। **पादान्** रश्मीन्। 'पादा रश्म्यङ्घ्रितुर्यांशाः' इत्यमरः। **पूर्वप्रीत्या** पूर्ववदानन्दकरा भविष्यन्तीत्यर्थः। **सङ्ग्रहीतुं** सङ्ग्रहणाय। **अभिमुखं** सम्मुखं यथा तथा। **गतं** यातम्। **तथैव** तत्प्रकारेणैव। **सन्निवृत्तं** प्रत्यागतम्। **स्वनयनयुगं** निजनेत्रद्वयम्। **प्रत्याहृत्य** अपहृत्य। **चेतसा** मनसा। **धूयमानां** कम्पमानाम्। **तां** पश्य। **चन्द्ररश्मि**-स्पर्शो विरहिणां दुःखमेवेति भावः ॥ ५० ॥

भूय इति। **शिशिरकिरणे** शिशिराः तुषाराः किरणाः यस्य तस्मिन् चन्द्रे। **भूयो भूयः** पुनः पुनः। **स्वान्** स्वकीयान्। **करान्** किरणान्। **जालमार्गैः** गवाक्षविवरैः। **पुनरपि आतन्वाने** पुनरपि विस्तार्यमाणे सति। **गताभ्यागतैः** याताभ्यागतैः। **क्लिश्यमानं** विबाध्यमानम्। **चक्षुः** दृष्टिः। **खेदात्** विषादात्। **सलिलगुरुभिः** अश्रुभरितैः। **पक्ष्मभिः** नेत्रलोमभिः। **छादयन्तीं** धारयन्तीम्। अतएव। **साभ्रे** मेघसहिते। **अह्नि** दिवसे। **दुर्दिन** इत्यर्थः। **न प्रबुद्धां न** विकसिताम् **न सुप्तां** न मुकुलिताम्। उभयत्रापि नञ्। न शब्दस्य 'सुप्सुपा' इति समासः। **स्थलकमलिनीमिव** स्थलपद्मिनीमिव। **स्थिताम्**। **तां** त्वत्सखीम्। **पश्य** प्रेक्षस्वेति पूर्वेणान्वयः। एतेन विषयद्वेषाख्यं सूचितम्। नवभिः कुलकम् ॥ ५१ ॥

अन्वय—अतः पर्यस्ताङ्गीं, कुसुमशयने निःसुखां, आधिरुद्धां, अवनिशयनां, छिन्नन्यस्तां इव, मन्मथीयां सवपुर्ष अवस्थां, आधिक्षामां, विरहशयने सन्निषण्णैकपार्श्वां प्राचीमूले हिमांशोः कलामात्रशेषां तनुं इव, तापापास्त्यै हृदयनिहितां हारयष्टिं दधानां, त्वत्प्रियायाः सन्निधौ मया सार्द्धं प्रणयरसिकैः इच्छारतैः या रात्रिः मत्कामिन्या क्षणं इव नीता तां एव विरहमतीं [रात्रिं] निद्राद्विड्भिः मुहुः उपचितैः पक्ष्मरुद्भिः गलद्भिः उष्णैः अश्रुभिः यापयन्तीं, स्वं अन्तस्तापं प्रपिशुनतया कवोष्णेन अधरकिसलयक्लेशिना निःश्वासेन तन्मुखेन्दोः हरिणरचितं विश्लिष्टं लाञ्छनं वा शुद्धस्नानात् परुषं आगण्डलम्बं अलकं नूनं भूयः विक्षिपन्तीं, मद्विश्लेषात् उपहितशुचः दूरदेशास्थितस्य अनुचितानङ्गबाधस्य प्राणेशस्य स्वप्नजः अपि मत्संयोगः कथं जातु स्वयं उपनमेत् इति नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशां निद्रां आकाङ्क्षन्तीं, या अस्मात् व्यवहिततरे जन्मनि आद्ये विरहदिवसे दामहित्वा वेणिका शिखा बद्धा (इति) मया स्मर्यमाणा तां स्वां शापस्य अन्ते विगतवपुषा वः सङ्गमे विधाय विगलितशुचा (त्वया) उद्वेष्टनीयां निन्दन्तीं घनेन्दुग्रसनरसिकां श्रितां राहुमूर्तिं वा, व्योमच्छायां, मदनशिखिनः धूमयष्टीम्-

मानां, स्पर्शक्लिष्टां कठिनविषमां तां एकवेणीम् अयमितनखेन करेण गण्डाभोगात् असकृत् सारयन्तीं, संश्रितान् इष्टान् बन्धून् मृगयितुं इव जालमार्गप्रविष्टान् अमृतशिशिरान् इन्दोः पादान् पूर्वं प्रीत्या सङ्ग्रहीतुं अभिमुखं गतं तथैव निवृत्तं सत् स्वनयनयुगं प्रत्याहृत्य चेतसा घूर्णमानां, शिशिरकिरणे स्वान् करान् जालमार्गैः भूयोभूयः आलम्बाने गतागतैः खेदात् पुनः अपि क्लिश्यमानं चक्षुः सलिलगुरुभिः पक्ष्मभिः छादयन्तीं [अतएव] साभ्रे अह्नि स्थलकमलिनीं इव नप्रबुद्धां नसुप्तां तां साध्वीं एवम्प्रायैः त्वयि सुभगतां व्यञ्जयद्भिः यथार्थैः मत्संदेशैः सुखयितुं निशीथे सद्मवातायनस्थः पश्य ।

अर्थ—अतः फैले हुए (अव्यवस्थित रूप से रखे गए) अंग वाली फूलों की शय्या पर सुख रहित दुःखी मन से युक्त हो भूमि पर सोने वाली, चित्रलिखित के समान कामदेव की सशरीरी अवस्था को [अर्थात् साक्षात् शरीर धारण करने वाला काम की अवस्था को] धारण करने वाली, मन की वेदना से क्षीण, विरह की शय्या पर एक ही करवट से लेटने वाली, उदय पर्वत के समीप में चन्द्रमा के अवशिष्ट एक कला वाले शरीर के सदृश, विरहजनित देह के दाह को दूर करने के लिए वक्षस्थल में स्थापित हार को धारण करती हुई तुम्हारी (मरुभूति के जीव पार्श्व की) प्रिया के समीप में मुझ शम्बरासुर के साथ प्रेम के रस से युक्त इच्छानुसार रति सेवन से जो रात्रि मेरी (कामाकुलचित्त) भार्या के द्वारा क्षण भर के समान बिताई गई थी, उसी विरह के कारण दीर्घ रात्रि को निद्रा के द्वेषी, बार बार वृद्धि को प्राप्त नेत्र की बरौनियों को रोकने वाले, गिरते हुए गर्म आँसुओं से युक्त होकर बिताती हुई, अपने हृदयगत संताप की सूचना देने वाले कुछ गरम अधर पल्लवों को क्लेश पहुँचाने वाले निःश्वास से उस किन्नरी के मुखचन्द्र की हरिण के शरीर के आकार वाली रचना विशेष से युक्त पृथक् रूप से अवस्थित लाञ्छन (चिह्न) के समान शुद्ध स्नान (तैलादि से रहित स्नान) के कारण कठोर स्पर्श वाले तथा कपोलों पर फैले हुए अलकों को अवश्य ही पुनः पुनः दूर करती हुई, मुझसे वियोग होने के कारण बढ़े हुए दुःख से युक्त दूरदेश में स्थित अप्रशस्त कामवासना के उद्रेक से उत्पन्न पीड़ा वाले प्राणनाथ का स्वप्न में होने वाला भी मेरे साथ संयोग कैसे सम्पन्न होगा, इस कारण आँसुओं के निकलने से अवरुद्ध (रोकी गई) निद्रा को चाहती हुई, जो इस दिन से दूरवर्ती पूर्वजन्म में वियोग के प्रथम दिन पुष्पमाला को उतार कर एक वेणी के आकार की चोटी बाँधी गई थी तथा मुझ कमठ के जीवधारी शम्बरासुर के द्वारा स्मरण करायी गई, शाप के अन्त में वियोग की मूर्ति

तुम्हारे साथ संयोग कर शोक दूर होने के कारण तुम्हारे द्वारा खोली जाने वाली, उस अपनी शिखा की निन्दा करती हुई, मुख चन्द्र को ग्रसने के रसिक (मुख चन्द्र के समीप में आए हुए) राहु के समान, आकाश की कान्ति के समान (श्यामल) कान्ति वाली, कामाग्नि की दण्डाकार धूमरेखा के समान, बार बार छूने से अव्यवस्थित कठोर और विषम (नीची, ऊँची) एक ही चोटी के रूप में विद्यमान उस वेणी को बिना कटे नाखून से युक्त हाथ से कपोल स्पर्श से बार बार हटाती हुई, आश्रित इष्ट बन्धुओं को मानों खोजने के लिए खिड़कियों से प्रवेश करती हुई अमृत के सदृश ठण्डी चन्द्रमा की किरणों का पहले की प्रीति से स्वागत करने के लिए सामने गये हुए किन्तु तत्क्षण ही लौटे हुए अपने दोनों नेत्रों को हटाकर मन से काँपती हुई, चन्द्रमा के द्वारा अपनी किरणें झरोखों के मार्गों से पुनः पुनः विस्तार करने पर गमनागमन के दुःख से पुनः पीड़ित होते हुए नेत्र को अश्रुरूपी जल से भारी बरौनियों से ढँकती हुई, मेघों से ढँके हुए दिन में स्थलकमलिनी के समान न जागती हुई और न सोती हुई उस साध्वी (शीलवती) को इस प्रकार के आपके विषय में सौभाग्य को प्रकट करने वाले यथार्थ मेरे सन्देशों से सुख पहुँचाने के लिए आधी रात्रि में प्रासाद की खिड़की पर रहकर देखो।

सा संन्यस्ताभरणमबला पेलवं धारयन्ती,
वीताहारा नयनसलिलैराप्लुतापाण्डुगण्डम्।
शय्योत्सङ्गे निहितमसकृद्दुःखदुःखेन गात्रं,
त्वामप्यन्तर्विचलितधृतिं तां दशां नेतुमर्हेत् ॥५२॥

सेति। अबला न विद्यते बलं यस्याः सा दुर्बला। **वीताहारा** त्यक्तजेमना। 'जेमनं लेह आहारः' इत्यमरः। **संन्यस्ताभरणं** त्यक्ताभरणम्। **पेलवं** कृशम्। 'पेलवं विरलं तनु' इत्यमरः। पेशलमिति वा पाठः। **पेशलं** कोमलम्। 'कोमलं मृदु पेशलम्' इति धनञ्जयः। **नयनसलिलैः** अश्रूदकैः। **आप्लुतापाण्डुगण्डम्** आप्लुता-वार्द्रितौ आपाण्डू ईषत्पाण्डू गण्डौ यस्य तत् तथोक्तम्। 'आप्लुतः स्नातके स्नाते' इति विश्वः। **शय्योत्सङ्गे** शयनतले। **दुःखदुःखेन** दुःखप्रकारेण। 'द्विगुणस्सदृशः' इत्यादिना द्विरुक्तिः। **असकृत्** अनेकशः। **निहितं** विन्यस्तम्। **गात्रं** शरीरम्। **धारयन्ती** वहन्ती। **सा** त्वत्सखी। **अन्तर्विचलितधृतिम्** अन्तः प्रकम्पित धैर्यम् 'धृतिर्धारणधैर्ययोः' इत्यमरः। **त्वामपि** भवन्तमपि। **तां दशां** तदवस्थाम्। **नेतुं** प्रापयितुम्। **अर्हेत्** योग्या भवेत्। तां दृष्ट्वा त्वमपि दुःखितो भवसीत्यर्थः ॥५२॥

अन्वय—वीताहारा, संन्यस्ताभरणं पेलवं नयनसलिलैः आप्लुतापाण्डुगण्डं,

दुःखदुःखेन शय्योत्सङ्गे असकृत् निहितं गात्रं धारयन्ती सा अबला अन्तर्विचलित-धृतिं त्वां अपि तां दशां नेतुम् अर्हेत् ।

अर्थ—आहार का त्याग करने वाली, अलङ्कारों से रहित, कृश, आँसुओं से गीले तथा कुछ पाण्डुवर्ण के गालों से युक्त, अत्यधिक दुःख से शय्या के ऊपर अनेक बार रखे हुए शरीर को धारण करती हुई वह अबला अंदर से विचलित धैर्यवाले तुम्हें भी उसी (किन्नर कन्या के समान) दशा को प्राप्त कराने में समर्थ होगी ।

अथात्यन्ताशक्तया मूर्च्छावस्था सूच्यते—

शय्योपान्ते भृशमपसुखा मत्स्यलोलं लुलन्ती,
बद्धोत्कम्पश्वसितविवशा कामपाशायिता सा ।
त्वामप्यस्रं नवजलमयं मोचयिष्यत्यवश्यं,
प्रायः सर्वो भवति करुणावृत्तिरार्द्रान्तरात्मा ॥५३॥

शय्योपान्त इति । शय्योपान्ते शय्यापार्श्वे । अपसुखा दुःखिता । मत्स्यलोलं मत्स्यानां लोलं चञ्चलं यथा तथा । 'लोलश्चलसतृष्णयोः' इत्यमरः । भृशम् अत्यन्तम् । लुलन्ती लुठन्ती । बद्धोत्कम्पश्वसितविवशा सम्बद्धोत्कम्पनश्वासयोरधीना । कामपाशायिता कामपाशायते स्म तथोक्ता मन्मथावस्थास्पदा । सा दयिता । त्वमपि भवन्तमपि । नवजलमयं नवाम्बुरूपम् । अस्रं बाष्पम् । 'अस्र' आस्रश्च पुंल्लिङ्गौ क्लेशे च रुधिरेऽश्रुणि' इति वैजयन्ती । अवश्यम् सर्वदा । मोचयिष्यति मुञ्चयिष्यति । मुचेः द्विकर्मकत्वम् । तथाहि । प्रायः प्रायेण । 'प्रायो भूम्नि' इत्यमरः । आर्द्रान्तरात्मा मृदुहृदयः । मेघस्तु द्रवान्तः शरीरः । सर्वः सर्वजनोऽपि । करुणावृत्तिः करुणामया वृत्तिरन्तःकरणवर्तनं यस्य सः । भवति । अस्मिन्नवसरे सर्वथा त्वया शीघ्रमनन्तरवधपरिहाराय गन्तव्यमित्यभिप्रायः । सम्भोगो विप्रयोगश्चेति शृंगारो द्विधा । विप्रलम्भे स्त्रीणामवस्था दश । तदुक्तं शृंगारमञ्जर्याम्-दृक् प्रीतिश्च मनस्सक्तिः सङ्कल्पो जागरस्तथा । अरतिर्लज्जात्यागो मोहो मूर्च्छा मृतिर्दश' इति । अत्र चित्रलेखनतदीक्षणाद्यभिप्रायेषु चक्षुः प्रीत्याद्यवस्थाभेदो बुद्धिमद्भिरवसेयः ॥५३॥

अन्वय—भृशं अपसुखा शय्योपान्ते मत्स्यलोलं लुलन्ती बद्धोत्कम्पश्वसित-विवशा कामपाशायिता सा नवजलमयं अस्रं त्वां अपि अवश्यं मोचयिष्यति । करुणा-वृत्ति सर्वः प्रायः आर्द्रान्तरात्मा भवति ।

अर्थ—अत्यधिक दुःखी, शय्या के पार्श्वभाग में मछली के समान लोटती हुई, जिसमें कँपकपी उत्पन्न हुई है ऐसी श्वाँस से विवश और कामपाश के

समान आचरण करने वाली वह नये जल से युक्त आँसुओं को तुमसे भी अवश्य छुड़ाएगी अर्थात् उसे देखकर तुम भी नूतन जलरूप आँसू अवश्य गिराओगे क्योंकि दयालुचित्त वाले प्रत्येक जन का अन्तःकरण प्रायः आर्द्र (सजल) होता है अर्थात् करुणा सहित होने के कारण उसकी वैसी अवस्था को देखकर तुम्हारी आँखों से अश्रुधारा निकलेगी।

नन्वीदृशीं दशां प्राप्तेति कथं त्वया निर्णीतमित्याशयेनाह—

बन्धुप्रीतिं गुरुजन इवादृत्य कान्ताद्वितीये,
जाने सख्यास्तव मयि मनः सम्भृतस्नेहमस्मात्।
संवासाच्च व्यतिकरमिमं तत्त्वतो वेद्मि तस्मा-
दित्थंभूतां प्रथमविरहे तामहं तर्कयामि ॥५४॥

बन्धुप्रीतिमिति। **गुरुजन इव।** मातृपित्रादाविव। **कान्ताद्वितीये** द्वितयकान्ताजने। **अस्या** स्त्रीजने इत्यर्थः। **बन्धुप्रीतिं** बान्धवानुरागम्। **जाने** जानामि। **अस्मात्** कारणात्। **संवासाच्च** संवसनं संवासस्तस्मादपि। इमं **व्यतिकरं** व्यसनमिदम्। व्यतिकरः समाख्यातो व्यसनव्यतिषङ्गयोः' इति विश्वः। **तत्त्वतः** परमार्थतः। **वेद्मि** जाने। **तस्मात्** कारणात्। अहम्। **प्रथमविरहे** आद्ये विप्रलम्भे। प्रथमग्रहणं दुःखातिशय द्योतनार्थम्। **तां** त्वत्सखीम्। **इत्थंभूतां** पूर्वोक्तावस्थावस्थाम्। **तर्कयामि** निश्चिनोमि ॥५४॥

अन्वय—कान्ताद्वितीये मयि गुरुजने बन्धुप्रीतिं इव आदृत्य तव सख्याः मनः सम्भृतस्नेहं जाने। अस्मात् संवासात् च इमं व्यतिकरं तत्त्वतः वेद्मि; तस्मात् प्रथमविरहे तां अहं इत्थम्भूतां तर्कयामि।

अर्थ—कान्ता के साथ मुझ ज्येष्ठ जन के प्रति बन्धु की प्रीति की भाँति आदर करके तुम्हारी सखी (प्रेयसी) का मन (मेरे प्रति) स्नेह से भरा हुआ है, ऐसा मैं जानता हूँ। इस कारण (स्नेह की जानकारी के कारण) तथा साथ में रहने से (मैं) इस विपत्ति को यथार्थ रूप से जानता हूँ अतः अद्वितीय विरह में उस किन्नर कन्या को ऐसी (पूर्वोक्त) अवस्था वाली मानता हूँ।

ननु सुभगमानिनामेष स्वभावः यदात्मनि स्त्रीणामनुरागप्रकटनं तत्राह—

तन्मे सत्यं सकलमुदितं निश्चिनु स्वार्थसिद्ध्यै,
स्निग्धां वृत्तिं मनसि घटयन् येन साध्यानुविद्धम्।
वाचालं मा न खलु सुभगं मन्यभावः करोति,
प्रत्यक्षं ते निखिलमचिराद् भ्रातरुक्तं मया यत् ॥५५॥

तदिति । भ्रातः भो महोदर । यत् यस्मात् कारणात् । मया यक्षेण । उक्तं कथितम् । निखिलं सकलम् । अचिरात् क्षिप्रमेव । प्रत्यक्षं दृष्टिविषयम् । भविष्य-सौनिश्चेयः । येन कारणेन । ध्रुवं निश्चयभावः सुभगंमन्यभावः सुभगमात्मानं मन्यते इति सुभगंमन्यः । 'कर्तुः खशः' इति खश्। 'खित्यन' इत्यादिना मुम् । तस्य भावः तथोक्त. । सुन्दरम्मानित्वम् । साध्यानुविद्धम् साध्यानुस्यूतम् । मां यक्षम् । वाचालं बहुभाषिणम् । 'वाचालाटौ' इत्यालच्यः । 'स्याज्जल्पाकस्तु वाचालो वाचाटो बहुगर्ह्यवाक्' इत्यमरः । न करोति खलु न विदधाति हि । वृथासौन्दर्याभिमानात् स्वलापिनं न करोतीत्यर्थः । ततस्माद्धेतोः स्वार्थसिद्ध्यै स्वार्थस्य दिव्यभोगानुभवस्य सिद्ध्यै साधनाय । मनसि चित्ते । स्निग्धां विश्वस्ताम् । वृत्तिं वर्तनाम् । घटयन् रचयन् । मे मम सकलमुदितं समस्तं वचनम् । 'उक्तं भाषितमुदितम्' इत्यमरः । सत्यं तथ्यम् । निश्चिनु निश्चिनुयाः ॥५५॥

अन्वय—[हे] भ्रातः यत् साध्यानुविद्धं निखिलं मया ते प्रत्यक्षं स्वार्थसिद्ध्यै अचिरात् उक्तं तत् मे सकलं उदितं मनसि स्निग्धां वृत्तिं घटयन् सत्यं निश्चिनु येन सुभगम्मन्यभावः मां वाचालं न करोति ।

अर्थ—हे भाई ! जो साध्य से ओतप्रोत सम्पूर्ण मेरे (मुझ यक्ष के) द्वारा तुम्हारे समक्ष अपने इष्ट प्रयोजन (दिव्य भोगों के अनुभव) की सिद्धि के लिए अभी-अभी कहा है उस मेरे समस्त कथन को मन में स्नेहमयी प्रवृत्ति रखते हुए सत्य का निश्चय करो; जिससे कि निश्चित रूप से अपने को सौभाग्यशाली मानने का भाव मुझे वाचाल नहीं बनाता है। अर्थात् मैं महान् हूँ, ऐसा भाव मुझे वाचाल (अधिक बोलने वाला) बनने से रोक रहा है। अधिक बोलने से मेरे माहात्म्य की हानि संभव है।

भूयः प्रीत्यै भवतु सुदती सा मदाज्ञाकृतस्ते,
स्निग्धं चक्षुस्त्वयि निदधती दृष्टमात्रे पुरा यत् ।
रुद्धापाङ्गप्रसरमलकैरञ्जनस्नेहशून्यं,
प्रत्यादेशादपि च मधुनो विस्मृतभ्रूविलासम् ॥५६॥

भूय इति । यत् यस्मात् । पुरा पूर्वम् । दृष्टमात्रे आलोकितमात्रे । त्वयि भवति । अलकैश्चूर्णकुन्तलैः । रुद्धापाङ्गप्रसरं रुद्धोऽपाङ्गयो प्रसरो विस्तारो यस्य सः तथोक्तम् । अञ्जनस्नेहशून्यम् अञ्जनस्य स्नेहः स्निग्धत्वम् तेन शून्यं विकलम् । अपि च किञ्च । मधुनः पुष्परसस्य । प्रत्यादेशात् प्रतिषेधात् । "प्रत्यादेशो निराकृतिः" इत्यमरः । विस्मृतभ्रूविलासं विस्मृतो भ्रुवोर्विलासो येन तथोक्तम् । स्निग्धं स्नेहयुतम् । चक्षुः नयनम् । निदधती निक्षिपन्ती । सा सुदती शोभनादन्ता यस्याः सा सुदती । "वयसि दन्तस्य दतृ" इति दत्रादेशः । मदाज्ञाकृतः मदाज्ञो

करोतीति मदाज्ञाकृत् तस्य सन्देशहरस्येत्यर्थः। ते तव। भूयः पुनः। प्रीत्यै सन्तोषाय। भवतु अस्तु इत्याशीः ॥५६॥

अन्वय—त्वयि दृष्टिमात्रे पुरा यत् अलकैः रुद्धापाङ्गप्रसरं, अञ्जनस्नेहशून्यं अपि च, मधुनः प्रत्यादेशात् विस्मृतभ्रूविलासं [तत् स्निग्धं] चक्षुः निदधती सा सुदती मदाज्ञाकृत: ते भूयः प्रीत्यै भवतु।

अर्थ—मरुभूति के जीव को धारण करने वाले तुम पार्श्व को देखने मात्र से ही पहले जिसका चूर्ण कुन्तलों से कटाक्ष व्यापार रुका गया है, अञ्जन की स्निग्धता से शून्य, मद्य का त्याग करने के कारण भ्रूविलास को भूलने वाला ऐसे प्रेम से युक्त नेत्र को निश्चल करती हुई वह सुन्दर दाँतों को धारण करने वाली किन्नरी (सन्देश ले जाने रूप) मेरी आज्ञा को (पूरी) करने वाले तुम्हारे पुनः प्रेम या आनन्द के लिए होवे।

मत्प्रामाण्यादसुनिरसने निश्चितात्मा त्वमेनां,
भोक्तुं याया धनदनगरीं तत्प्रमाणाय सज्जे।
त्वय्यासन्ने नयनमुपरिस्पन्दि शङ्के मृगाक्ष्या,
मीनक्षोभाच्चलकुवलयश्रीतुलामेष्यतीति ॥५७॥

इत्यमोघवर्षपरमेश्वर परमगुरु श्रीजिनसेनाचार्यविरचितमेघदूतवेष्टित-वेष्टिते श्रीपार्श्वाभ्युदये शठकमठकृतभगवदुपसर्गवर्णनं नाम तृतीयः सर्गः ॥३॥

मत्प्रामाण्यादिति। **मत्प्रामाण्यात्** अहमेव प्रामाण्यं तस्मात् मद्वचनप्राधान्या-दित्यर्थः। **असुनिरसने** प्राणनिराकृतौ। "पुंसि भूम्न्यसवः प्राणाः"। "प्रत्याख्यानं निरसनम्" इत्युभयत्राप्यमरः। **निश्चितात्मा** निर्णीतस्वरूपः। **त्वं** भवान्। **एनां** प्रियाम्। **भोक्तुं** अनुभवनाय। **धनदनगरीं** अलकापुरीम्। **यायाः** गच्छेः। त्वयि भवति। **तत्प्रमाणाय** तस्य वचनस्य निश्चयनिमित्तम्। **सज्जे** सन्नद्धे। "सन्नद्धो वर्मितः सज्जः" इत्यमरः। **आसन्ने** समीपगते सति। स्वकुशलवार्ताशंसिनि सतीतिशेषः। **उपरिस्पन्दि** उपरि ऊर्ध्वभागे स्पन्दते स्फुरतीत्युपरिस्पन्दि। तथा च निमित्तनिधाने। "स्पन्दान्मूर्ध्नि नृपत्वलाभः" सातिपट्टशुभं भूयिष्ठ प्राप्तिः। दृशोरूर्ध्वमपाङ्गे हानिमादिशेत् इति। **मृगाक्ष्याः** एणलोचनायाः। **नयनं** लोचनम्। वाममिति शेषः। वामभागश्च नारीणां श्रेष्ठः पुंसश्च दक्षिणः। दाने देवादिपूजायां स्पन्देऽलङ्करणेऽपि च" इति वामभाग प्रशंसनात्। **मीनक्षोभात्** शफराघट्टनात्। **चलकुवलयश्रीतुलां** चलस्य कुवलयस्य श्रिया शोभया तुलां सादृश्यम्। **एष्यति** गमिष्यत्येव **शङ्के** शङ्कयामि। तुलार्थै हि तुलो पमानाभ्यामित्यत्र सदृशपर्यायस्यैव तुलाशब्दस्य प्रतिषेधात्। असादृश्यवाचित्वात्तद्योगेऽपि तृतीयासमासः ॥५७॥

इत्यमोघवर्षपरमेश्वरपरमगुरु श्रीजिनसेनाचार्यविरचिते मेघदूतवेष्टित-वेष्टिते पार्श्वाभ्युदये तद्व्याख्यायां च सुबोधिकाख्यायां शठकमठकृतभवदुपसर्गवर्णनं नाम तृतीयः सर्गः ॥३॥

अन्वय—असुनिरसने निश्चितात्मा त्वं एनां भोक्तुं मत्प्रामाण्यात् धनद-नगरीं यायाः, तत्प्रमाणाय सज्जे त्वयि आसन्ने [सति] मृगाक्ष्याः उपरिस्पन्दि-नयनं मीनक्षोभात् चलकुवलयतुलां एष्यति इति शङ्के ।

अर्थ—अपने प्राणों का वियोग करने का निश्चय किए हुए तुम इस किन्नर कन्या का भोग करने के लिए मेरे वचनों को प्रमाण मानकर कुबेर की नगरी अलका को जाओ । मेरे वचनों की सत्यता का निर्णय करने के लिए तैयार तुमको समीप में पाकर मृगनयनी का ऊपर की ओर फड़कता हुआ नेत्र मछलियों के द्वारा किए गए क्षोभ के कारण चंचल नील-कमल की शोभा की समानता प्राप्त कर लेगा, मैं ऐसी सम्भावना करता हूँ ।

इति तृतीयः सर्गः

अथ चतुर्थः सर्गः

इतः पादवेष्टितानि—

संदिष्टं च प्रणयमधुरं कान्तया मे द्वितीयैः,
प्राणैः प्राणा नवनवचरः सन्निति त्वां प्रतीदम् ।
तत्कर्तुं त्वं त्वरय लघु नः किं किमेवं न कुर्या,
वामश्चास्याः कररुहपदैर्मुच्यमानो मदीयैः ॥१॥

संदिष्टमिति । **मे** मम । **द्वितीयैः** द्वयोः पूरणैः । **प्राणैः** असुभिः नियत-लिङ्गत्वात्प्राणभूतयेत्यर्थः । **कान्तया** च प्रियया‌पि । **प्राणाः** असवः । प्राणा इति सर्वत्र पुस्त्वं बहुत्वं प्राणभूत इत्यर्थः । **नवनवचरः** अभिनवप्रियः । भीष्मायां द्विः । **सन्निति** सत्पुरुष **इति** । **त्वां** प्रति । **इदम्** एतत् । **प्रणयमधुरं** प्रीतिसुभगं यथा तथा । **संदिष्टं** संदिश्यते स्म संदिष्टं भाषितम् । न केवलमहमेव ब्रवीमि कान्त-यापि इदं संदिष्टमिति भावः । **तत्** कार्यम् । **कर्तुं** विधातुम् । **त्वम्** आत्मानम् । **लघुनः** शीघ्रात् । "लघुक्षिप्रमरं द्रुतम्" इत्यमरः । इति नपुंसकत्वात् । पञ्चम्ये-कवचनरूपमिदम् । **त्वरय** सम्भ्रमय । **मदीयैः** मत्सम्बद्धैः । **कररुहपदैः** नखपदैः । "पुनर्भवः कररुहो नखोऽस्त्री नखरोऽस्त्रियाम्" पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रि-वस्तुषु" इत्युभयत्राप्यमरः । **मुच्यमानः** परिह्रियमाणः युद्धे अव्यापन्नः इत्यर्थः । **अस्याः** प्रियायाः । **वामश्च** मनोहरोऽपि सन् । "वामो वक्रं मनोहरे" इति धनञ्जयः । तामपि प्राप्येत्यर्थः । **एवम्** उक्तरीत्या । **किं किं न कुर्याः** किं किं कार्यं न कुर्वीथाः । सर्वं कुर्या एवेति यावत् ॥१॥

अन्वय—मे द्वितीयैः प्राणैः कान्तया (त्वं अस्याः) प्राणाः नवनवचरः सन् इति त्वां प्रति इदं प्रणयमधुरं सन्दिष्टं । तत् कर्तुं त्वं त्वरय । मदीयैः कररुहपदैः मुच्यमानः वामः [त्वं] नः अस्याः किं किं एवं लघु न कुर्याः ।

अर्थ—मेरे दूसरे प्राणों के तुल्य कान्ता के द्वारा [तुम इस वसुन्धरा के जीव को धारण करने वाली किन्नरी के] प्राण [के रूप में माने गये] हो, तुम्हें नई-नई वस्तु प्रिय है तथा तुम सज्जन हो, अतः तुम्हें यह प्रणय से युक्त होने के कारण मधुर सन्देश कहा गया था । उसे तुम करने की शीघ्रता करो । मेरे नख पदों से शरीर से रहित किए गए अथवा तलवार के द्वारा किए गए घावों के द्वारा शरीर से पृथक् किये गये मेघ का शरीर धारण किये हुए मरुभूति के जीव तुम हमारा हमारी सम्बन्धी इसका

(वसुन्धरानगरी का) क्या-क्या कार्य उक्त प्रकार से शीघ्र नहीं करोगे अर्थात् सभी कार्य अवश्य ही करोगे।

एतावज्जल्पमानोऽपि ध्यानैकतानं योगिनं प्रति पुनारटति--

भो भो भिक्षो मयि सहरुषि क्व प्रयास्यस्यवश्यं,
त्वामुद्धेतिप्रणिपतनकैः सारयिष्ये तदग्रम्।
न प्राणान्स्वान्घटयितुमलं तावको निर्णयो वा,
मुक्ताजालं चिरपरिचितं त्याजितो दैवगत्या ॥२॥

भो भो इति। **भो भोः भिक्षो** हे यते। "भृशाभीक्ष्ण्ये" इति द्विः। **मयि** यक्षे। **सहरुषि** रोषसहिते सति। "वान्यार्थे" इति विकल्पेन सहस्य सभावः। **क्व** कुत्र। **प्रयास्यसि** एष्यसि। **त्वां** भवन्तम्। **उद्धेतिप्रणिपतनकैः** उद्गतखड्गपातनैः। **तदग्रम्** खड्गाग्रम्। **अवश्यं** निश्चयेन। **सारयिष्ये** यापयिष्यामि। **चिरपरिचितं** चिराभ्यस्तम्। **मुक्ताजालं** मौक्तिकभूषणम्। **दैवगत्या** दैववशेन। **त्याजितः**। त्यजधातोर्ण्यन्तात्कर्मणि क्तः। परिहारितः। **तावकः** तव सम्बन्धी। युष्मदस्मदे यञ् तवकादेशश्च। **निर्णयो वा** निश्चयो वा। अहं मुक्ताजालादिविभूषणरहित इत्यर्थः। **स्वान्** निजान्। **प्राणान्** असून्। **घटयितुं** सम्बन्धयितुम्। **नालं** न शक्तः ॥२॥

अन्वय—भो भो भिक्षो मयि सहरुषि [सति] क्व प्रयास्यसि उद्धेतिप्रणिपतनकैः तदग्रं त्वां अवश्यं सारयिष्ये। चिरपरिचितं मुक्ताजालं दैवगत्या त्याजितः तावकः निर्णयः स्वान् प्राणान् घटयितुं न वा अलम्।

अर्थ—हे भिक्षु ! मेरे साथ कोप होने पर कहाँ जाओगे ? उठाये हुए शस्त्र के प्रहारों से उन शस्त्रों के अग्रभाग को तुम्हारे पास अवश्य भेजूंगा अर्थात् तुम्हारे अन्दर शस्त्रों का प्रवेश अवश्य ही कराऊँगा। चिरपरिचित मोतियों से रचे गये आभूषण को भाग्य की अवस्था विशेष से त्यागने का तुम्हारा निर्णय (तुम्हारे) अपने प्राणों को शरीर में एक जगह स्थापित करने में समर्थ नहीं है।

व्याख्या—हे भिक्षु ! मेरे क्रुद्ध होने पर तुम कहाँ जाओगे ? मैं तुम्हें अपनी तलवार की नोंक का शिकार अवश्य बनाऊँगा। चिरकाल से अभ्यस्त मौक्तिक आभूषणों को दैववश छोड़ देने का तुम्हारा निर्णय भी तुम्हारे प्राणों को बनाए नहीं रख सकता।

किं ते वैरिद्विरदनघटाकुम्भसम्भेदनेषु,
प्राप्तस्थेमा समरविजयी वीरलक्ष्म्याः करोऽयम्।

नास्मत्खड्गः श्रुतिपथमगाद्रक्तपानोत्सवानां,
सम्भोगान्ते मम समुचितो हस्तसंवाहनानाम् ॥३॥

किमिति । **वैरिद्विरदनघटाकुम्भसम्भेदनेषु** वैरिगजानां समूहस्य कुम्भस्थल-विदारणेषु । **प्राप्तस्थेमा** लब्धस्थिरभावः । "वर्णदृढादिभ्यष्ष्यञ् च" इति भावे इमन् । "प्रियस्थिर" इत्यादिना स्थादेशः । **समरविजयी** युद्धविजय-शीलः । "अस्त्रियां समरानीकरणाः" इत्यमरः । **सम्भोगान्ते** अनुभवनावसाने । **मम** यक्षस्य । **हस्तसंवाहनानां** करमर्दनानां । "संवाहनं मर्दनं स्यात्" इत्यमरः । **समुचितः** सुयोग्यः । **वीरलक्ष्म्याः करः** जयलक्ष्मीहस्तभूतः । **अयमस्मत्खड्गः** एषोऽस्मत्करवालः । **ते** तव । **श्रुतिपथं** श्रुतिरन्ध्रम् । **नागात्किम** नायासीत्किम् । तन्महिमानं नाऽश्रृणोः किमिति प्रश्नः ॥३॥

अन्वय—वैरिद्विरदनघटाकुम्भसम्भेदनेषु प्राप्तस्थेमा, समरविजयी वीरलक्ष्म्याः करः, रक्तपानोत्सवानां सम्भोगान्ते मम हस्त संवाहनानां समुचितः अयं अस्मत्-खड्गः ते श्रुतिपथं न अगात किम् ।

अर्थ—वैरियों के हाथियों के गण्डस्थलों के भेदने में स्थिरता को प्राप्त, युद्ध विजयी, वीर लक्ष्मी के हाथ रूप, रक्तपान के इच्छुक लोगों के शरीर का नाश होने पर (मरने पर) मेरे हाथों से मर्दन के योग्य यह मेरी तलवार क्या तुम्हारे कर्णपथ में नहीं आई अर्थात् उपर्युक्त गुणों से युक्त मेरी तलवार के विषय में क्या तुमने नहीं सुना ।

भावार्थ—हे भिक्षो ! वैरियों के हाथियों के कुम्भस्थल को विदीर्ण करने में अभ्यस्त, समरविजयी, युद्धकार्य करने के उपरान्त मेरे हाथों द्वारा संवहन करने योग्य तथा वीर लक्ष्मी की बाहुस्वरूप इस खड्ग का तुमने नाम नहीं सुना है ?

अस्युद्गीर्णे मयि सुरभटास्तेऽपि बिभ्यत्यसभ्यः,
कस्त्वं स्थातुं भण मम पुरः किं न जिह्रेषि भिक्षो ।
भावत्कोऽयं मदसिविततात्खण्डनात्तत्पुरस्ता-
द्यास्यत्यूरुः सरसकदलीस्तम्भगौरश्चलत्वम् ॥ ४ ॥

अस्युद्गीर्णं इति । **मयि** यक्षे । **अस्युद्गीर्णे** उद्गीर्णः निष्कोशीकृतः उद्गीर्णोऽसिर्यस्य येन सोऽस्युद्गीर्णस्तस्मिन् । "प्रहरणात्सप्तमी" इति विकल्पात् पूर्व निपातः । अस्युद्गीर्णः उद्गीर्णासिरित्यपि भवतीत्यर्थः । खड्गे मयि नीते सति । **ते सुरभटा अपि** प्रसिद्धाः देवयोधाश्च । **बिभ्यति** भयस्था भवन्ति । **असभ्यः** सभायामसाधुः सभाभीरुरित्यर्थः । **मम पुरः** ममाग्रे । **स्थातुं** स्थानाय । **कः** किया-

नित्यर्थः । त्वं भवान् । भण ब्रूहि । भिक्षो भो मुमुक्षो । "भिक्षुः परिव्राट्" इत्यमरः । किं न जिह्रेषि लज्जां किं न वेत्सि । "ह्री लज्जायां" सम्बन्धात्लट् । मदसिविततखण्डनात् मम खड्गविस्तृतावि धारणात् । सरसकदलीस्तंभगौरः परिपक्वो न शुष्कश्च स विवक्षितः तर्वत्र पाण्डिममद्भावात् स चासौ कदली स्तम्भश्च स इव गौरः । "गौरः शरीरे सिद्धार्थे शुक्लपीते सितेरुणे" इति मालायाम् । भावत्कः भवदीयः । "भवतष्ठण्छसि" इति ठण् । "दोसिसुस्" इत्यादिना कादेशः । ऊरुः । "सक्थि क्लीबे पुमानूरुः" इत्यमरः । तत्पुरस्तात् तस्य खड्गस्य पुरस्तात् अग्रतः । चलत्वं कम्पनम् । यास्यति एष्यति ॥ ४ ॥

अन्वय—अस्युद्गीर्णे मयि ते सुरभटाः अपि बिभ्यतिः असभ्यः कः भिक्षो ! भण, मम पुरः स्थातुं त्वं न जिह्रेसि किम् ? मद सिविततखण्डनात् अयं सरस-कदलीस्तम्भगौरः भावत्कः ऊरुः तत्पुरस्तात् चलत्वं यास्यति ।

अर्थ—मेरी तलवार के द्वारा किए गए विदीरण से वे देवयोद्धा भी भयभीत होते हैं, निर्वीर्यों की तो बात ही क्या है ? हे भिक्षु ! कहो मेरे सामने ठहरने पर क्या तुम्हें लज्जा नहीं आती है ? मेरी तलवार के द्वारा किए जाने वाले खण्डन से यह रस से आर्द्र केले के स्तम्भ के समान सफेद तुम्हारी तलवार के आगे कम्पन को प्राप्त होगी या फड़क उठेगी ।

यस्मिन्पुंसा परिभवकलङ्काङ्कनं स्याद्विपक्षा-
द्वीरालापे सति मदवतो वीरगोष्ठीसु वक्त्रम् ।
विद्वन्मन्यो भणतु स भवानेव मानोन्नतानां,
तस्मिन्काले जलद यदि सा लब्धनिद्रासुखा स्यात् ॥ ५ ॥

यस्मिन्निति । जलद भो मेघ । यस्मिन् यस्मिन्काले । वीरगोष्ठीषु शूर-गोष्ठीषु । वीरालापे सति वीरकथाभाषणे सति । "स्यादाभाषणमालापः" इत्यमरः । मदवतः गर्वयुतात् । विपक्षात् प्रतिपक्षजनात् । पुंसां पुरुषाणाम् । वक्त्रं मुखम् । परिभवकलङ्काङ्कनं तिरस्कारकलङ्क चिह्नम् । स्याद्भवेत् । तस्मिन्काले तदवसरे । सा लब्धनिद्रा लब्धा निद्रा ययेति बहुव्रीहिः । प्राप्तस्वापा । असुखा अहिता । यदि स्यात् भवेच्चेत्तर्हि । मानोन्नतानां मानेन अभिमानेन उन्नतानां उत्कृष्टानाम् । "मानश्चित्त समुन्नतिः" इत्यमरः । मध्ये इति शेषः । विद्वन्मन्यः विद्वांसमात्मानं मन्यते इति तथोक्तः । स भवानेव त्वमेव । भणतु ब्रूहीत्यर्थः । भवच्छब्दप्रयोगे प्रथमपुरुषः ।

अन्वय—यस्मिन् वीरगोष्ठीषु वीरालापे सति मदवतः विपक्षात् पुंसां वक्त्रं परिभवकलङ्काङ्कनं स्यात् तस्मिन् काले जलद । विद्वन्मन्यः भवान् एव भणतु यदि मानोन्नतानां सा लब्धनिद्रा सुखा स्यात् ।

अर्थ—जिस समय वीर गोष्ठियों में वीर विषयक कथायें होने पर मदयुक्त शत्रु से पुरुषों का मुख तिरस्कार के कलङ्क से चिह्नित हो उस समय हे मेघ! अपने आपको विद्वान् मानने वाले आप ही कहिए, यदि अभिमान से उन्नत चित्त वाले (घमण्डी) लोगों की वह वीर लक्ष्मी निद्रा-सुख को प्राप्त हो। [तो इसमें क्या आश्चर्य है]।

भावार्थ—जो वीर वार्तालाप में तिरस्कृत हो जाय उसे युद्ध करके अपनी सामर्थ्य दिखलाना चाहिए। मैंने तुम्हारी भर्त्सना की है। अतः मेरे साथ युद्ध करने के लिए तुम्हें तैयार हो जाना चाहिए।

या ते बुद्धिर्मदुपचरिताद्बिभ्यती लुप्तसञ्ज्ञा,
मूकावस्थां त्वयि विदधती रुन्धती सत्त्ववृत्तिम्।
सावष्टम्भं भव भटतरो वार्धयुद्धेस्थिरः स-
न्न्वास्यैनां स्तनितविमुखो याममात्रं सहस्व॥ ६॥

येति। ते तव। **या बुद्धिः** यज्ज्ञानम् मदुपचरितात् ममोपसरणात्। कर्तरिक्तः। **बिभ्यती** भयमाप्नुवन्ती। **लुप्तसञ्ज्ञा** नष्टचैतन्या। "सञ्ज्ञा स्याच्चेतना नाम हस्ताद्यैश्चार्थसूचने" इत्यमरः। **त्वयि** भवति। **मूकावस्थाम्** अवाग्दशाम्। "अवाचि मूकः" इत्यमरः। **विदधती** विदधातीति तथोक्ता। शतृत्वः। "नुदुक्" इति ङी। **सत्त्ववृत्ति** बलवद्दर्शनम्। **रुन्धती** आवारयन्ती। स्यादितिशेषः। **एनां** **बुद्धिम्**। स्तनित विमुखः गर्जितपराङ्मुख सन् भयादकूजन्निति व्यज्यते। **याममात्रं** प्रहरमात्रम्। "द्वौ यामप्रहरौ समौ" इत्यमरः। **सहस्व** क्षमस्व। प्रार्थनायां लोट्। याममात्रादेव युद्धपूर्तिर्भविष्यतीति भावः। **अर्धयुद्धे** वा अर्द्धसङ्ग्रामे वा। **स्थिरः सन्** दृढो भवन्। **सावष्टम्भम्** अवष्टम्भेन सहवर्तनं यस्मिन्कर्मणि तत्। **अन्वास्य** स्थित्वा। **भटतरः** प्रकृष्टभटः। **भव** रणभीरुर्माभूरित्यर्थः॥ ६॥

अन्वय—मदुपचरितात् बिभ्यती, लुप्तसंज्ञा, त्वयि मूकावस्थां विदधती, सत्त्ववृत्ति रुन्धती या ते बुद्धिः [तां] एनां सावष्टम्भं अन्वास्य स्तनितविमुखः अर्धयुद्धे स्थिरः सन् भटतरः भव, वा याममात्रं सहस्व।

अर्थ—तुम्हारे समीप में मेरे आने से डरती हुई, नष्ट चेतना, तुम्हारी मौनावस्था को करती हुई प्राणों के व्यापार को रोकती हुई जो तुम्हारी बुद्धि है उस बुद्धि को धैर्य से त्यागकर गर्जना को छोड़कर संग्राम के मध्यवर्ती काल में निश्चल होते हुए उत्कृष्ट वीर होओ अथवा एक प्रहर तक प्रतीक्षा करो।

मा भूद्भीतिस्तव सुरभटत्रासिगर्जोर्जितेऽसि,
प्राप्ते योद्धुं मयि किमभियाने मृतिर्वीरलक्ष्म्याः ।
वीरंमन्ये त्वयि मयि तथाऽन्यत्र वा प्रेमभङ्गो,
मा भूदस्याः प्रणयिनिजने स्वप्नलब्धे कथञ्चित् ॥७॥

मा भूदिति । **सुरभटत्रासिगर्जोर्जिते** देवभटानां भीतिकरगर्जनेन ऊर्जिते बलिष्ठे **मयि** । **योद्धुं** योधनाय । **असिप्राप्ते** प्राप्तोऽसिः येन सोऽसिप्राप्तस्तस्मिन् । अत्रापि वा पूर्वनिपातः 'सप्तम्यां विभक्ति' सति । तव ते । भीतिः भयम् । **मा भूत्** मा स्म जनि । **वीरलक्ष्म्याः** जयश्रियः । **अभियाने** अभिगमने सति । **मृतिः** मरणम् **किम्** । मरणं सम्भवतीत्यर्थः । **वीरंमन्ये** वीरमात्मानं मन्यते तस्मिन् **त्वयि** मेघे । मयि यक्षे तथा । **अन्यत्र वा** पुरुषान्तरे वा । कथञ्चित् कृच्छ्रेण । **स्वप्नलब्धे** स्वप्नप्राप्ते । **प्रणयिनि** प्रेमवति । **जने** लोके । **अस्याः** वीरलक्ष्म्याः । **प्रेमभङ्गः** प्रीतिभञ्जनम् । **मा भूत्** । "माङि लुङ्" इति माङ् योगे लुङ् ॥७॥

अन्वय—सुरभटत्रासिगर्जोर्जिते मयि योद्धुम् असिप्राप्ते तव भीतिः मा भूत । अभियाने वीरलक्ष्म्याः मृतिः किम् । वीरम्मन्ये त्वयि तथा मयि अन्यत्र वा प्रणयिनि जने स्वप्नलब्धे अस्या प्रेमभङ्ग कथञ्चित् मा भूत् ।

अर्थ—देव योद्धाओं को डराने वाली गर्जनाओं के बल से युक्त मेरे युद्ध करने के लिए तलवार ले लेने पर तुम्हें भय न हो । आक्रमण के समय क्या वीरलक्ष्मी की मृत्यु होती है ? अपने आपको वीर मानने वाले तुम्हारे तथा मेरे अथवा अन्य किसी प्रेमी व्यक्ति के स्वप्न में आ जाने पर वीरलक्ष्मी की प्रीति का विनाश किसी भी प्रकार न हो ।

निस्सङ्गस्त्वं नहि भुवि भयस्याङ्गमङ्गाङ्गसङ्गात्,
किं वा जीवन्मतक भवतोऽप्यस्ति भीरङ्गनानाम् ।
कृत्वा युद्धे विदधति मतिं नान्विमे योधमुख्याः,
सद्यः कण्ठच्युतभुजलताग्रन्थि गाढोपगूढम् ॥८॥

निस्सङ्ग इति । **जीवन्मतक** इति जीवन्मतः अज्ञातो जीवन्मतो जीवन्मतकः तत्सम्बोधनं हे अस्पष्टचैतन्य । "कुत्सिताल्पाज्ञाते" इति कप्प्रत्ययः । **त्वं** भवान् । **निस्सङ्गः** संसर्गरहितः । **भुवि** भूमौ । **भयस्य** भीतेः । **अङ्गम्** अवयवः । **नहि** न भवसि । **अङ्गाङ्गसङ्गात्** परस्पराङ्गसंसर्गात् । **भीः** भीतिः । **अङ्गनानां** स्त्रीणाम् । **अस्ति** विद्यते । भवतोऽपि तथाऽपि । अस्ति किं वा विद्यते किमु । यद्वत्स्त्रीणां सङ्गभीतिर्भवति तद्वत् । **इमे** प्रत्यक्षभूताः । **योधमुख्याः** भटाग्रण्यः । "भटा योधाश्च योद्धारः" इत्यमरः । **युद्धे** आयोधने । **मतिं** बुद्धिम् । **कृत्वा** विधाय ।

सद्यः तदैव । **कण्ठच्युतभुजलताग्रन्थि** कण्ठाच्च्युतः स्रस्तो भुजलतयोर्ग्रन्थिबन्धो यस्य तथोक्तम् । **गाढोपगूढं** गाढालिङ्गनम् । "नपुंसके भावे क्तः ।" **ननु** निश्चयेन **विदधति** कुर्वन्ति ॥८॥

अन्वय—अङ्ग ! त्वं निस्सङ्गः । भुवि (ते) भयस्य अङ्गं न हि । वा जीवन्मतक ! अङ्गनानां अङ्गसङ्गात् भवतः अपि भीः अस्ति किम् ? इमे योधमुख्याः युद्धे मतिं कृत्वा कण्ठच्युतभुजलताग्रन्थि गाढोपगूढं सद्यः ननु विदधति ।

अर्थ—अच्छा श्रीमान् जी तुम आसक्ति रहित हो । पृथ्वी में तुम्हारे भय का उपाय नहीं है । अथवा हे प्राणियों के द्वारा आदर को प्राप्त ! स्त्रियों के शरीर स्पर्श से भी क्या तुम्हें भय है ? ये श्रेष्ठवीर युद्ध में विजय प्राप्त करने का निर्णय कर (अपनी प्रियाओं के) कण्ठ में बाहु लता के बन्धन से युक्त गाढ़ आलिंगन निश्चय से शीघ्र ही कर रहे हैं ।

भावार्थ—युद्ध करने का निश्चय करने वाले श्रेष्ठ योद्धा युद्ध में मरणभय को छोड़कर भी स्त्रियों के आलिंगनादि से युक्त मानसिक भाव रूपी तरंगों में आसक्त रहते हैं । हे पार्श्व ! यदि आप मृत्यु को प्राप्त करते हैं तो मरणोत्तरकाल में सुन्दर स्त्रियों के आलिंगन की प्राप्ति अवश्य होगी, अतः मरणभय का परिहार हो गया । यदि आप ऐसा नहीं करते हैं तो निरासक्त होने पर भी आपको अङ्गनाओं के अङ्गों के प्रति आसक्ति का भय है, इस प्रकार का दोष प्राप्त होगा । अतः आपको अवश्य ही युद्ध के लिए तैयार हो जाना चाहिए ।

> **लक्ष्मीं क्षीणां स्वयुधि सतीमुद्यमाख्येन दोष्णा,**
> **प्रोत्थाप्यालं भव युधि सतामाश्रितानुग्रहोऽर्थः ।**
> **शंसन्तीवं ननु नवघना घर्मतप्तक्षतां क्ष्मां,**
> **प्रोत्थाप्यैनां स्वजलकणिकाशीतलेनानिलेन ॥९॥**

लक्ष्मीमिति । **स्वयुधि** स्वशरीरे । **सतीं** विद्यमानां साध्वीं वा । **क्षीणां** कृशाम् । तां **लक्ष्मीं** श्रियम् । **उद्यमाख्येन** उद्यम एव आख्या यस्य तेन प्रयत्नाख्येन । **दोष्णा** भुजेन । "भुजबाहू प्रवेष्टो दोः" इत्यमरः । **प्रोत्थाप्य** प्रबोध्य । **युधि** युद्धे । "समित्याजिसमिद्युधः" इत्यमरः । **अलं** समर्थः । **भव** तथाहि । **सतां** सत्पुरुषाणाम् । **आश्रितानुग्रहः** आश्रितजनरक्षणम् । **अर्थः** प्रयोजनम् । स्यादिति शेषः । "अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु" इत्यमरः । **नवघनाः** नवीनमेघाः । **घर्मतप्तक्षतां** घर्मेण तप्ता सा चासौ क्षता च ताम् । **एनां क्ष्मां** तां भूमिम् । "क्ष्मावनिर्मेदिनी मही" इत्यमरः । **स्वजलकणिकाशीतलेन** स्वजलबिन्दु-

शीतलेन। **अनिलेन** वायुना। **प्रोत्थाप्य** आह्लाद्य। **इदं** सदुक्तं कार्यम्। **ननु** स्फुटम्। **शंसन्ति** सूचयन्ति।

अन्वय—स्ववपुषि सतीं क्षीणां लक्ष्मीं उद्यमाख्येन दोषा प्रोत्थाप्य युधि अलं भव। नवघनाः घर्मतप्तक्षतां एनां क्ष्मां स्वजलकणिका शीतलेन अनिलेन प्रोत्थाप्य 'आश्रितानुग्रहः सतां अर्थः। [इति] इदं ननु शंसन्ति।

अर्थ—अपने शरीर में विद्यमान अथवा समीचीन क्षीण लक्ष्मी को उद्यम नामक बाहु से जगाकर युद्ध में समर्थ होओ। नए मेघ घाम से तपने के कारण सन्त्रस्त इस पृथ्वी को अपने जलकणों से शीतल वायु के द्वारा आनन्दित कर "आश्रित व्यक्तियों पर अनुगृह करना सज्जनों का कर्तव्य है" यही सूचित करते हैं।

कीर्तिं च स्वां कुरु कुसुमितां स्वोद्यमाम्बुप्रसेकैः,
सद्वल्लीं वा प्रधनविषयैरुन्नतानां क्रमोऽयम्।
कुर्यात्किन्नो नवजलमुचां कुं क्षतान्तामनेहा,
प्रत्याश्वस्तां सममभिनवैर्जालकैर्मालतीनाम् ॥१०॥

कीर्तिमिति। **प्रधनविषयैः** सङ्ग्रामविषयैः। "युद्धमायोधनं जन्यं प्रधनं प्रविदारणाम्" इत्यमरः। **स्वोद्यमाम्बुप्रसेकैः** स्वप्रयत्नजलसेचनैः। **स्वां** निजाम्। **कीर्तिं** यशः। **सद्वल्लीं वा** सल्लतामिव। **कुसुमितां** कुसुमानि सञ्जातानि अस्यामिति कुसुमिता ताम्। "सञ्जातं तारकादिभ्यः" इतीतच्। **कुरु** विधेहि। **अयम्** एषः। **उन्नतानां** महताम्। **क्रमः** परिपाटी। **स्यादिति** शेषः। **नवजलमुचां** नूतननीरदानाम्। **अनेहा** कालः। "कालो दिष्टोऽप्यनेहाऽपि" इत्यमरः। **क्षतान्तां** शान्तस्वभावाम्। "अन्तोऽस्त्री निश्चये नाशे स्वरूपेऽप्यन्तरेऽन्तिके" इति वैजयन्ती। **कुं** भुवम्। "क्ष्मा धरित्रीक्षितिश्च कुः" इति धनञ्जयः। **मालतीनां** जातीनाम्। "सुमना मालती जातिः" इत्यमरः। **अभिनवैः** प्रत्यग्रैः। "प्रत्यग्रोऽभिनवो नव्यः" इत्यमरः। **जालकैः** मुकुलैः। "क्षारको जालकं क्लीबे कलिका कोरकः पुमान्" इत्यमरः। **साकं** समम्। **प्रत्याश्वस्तां** स्वशिशिरानिलसम्पत्पुनरुज्जीविताम्। इतरेः कर्तरिक्तः। **ननु** निश्चयेन। **आधत्ते** धरति। **कुर्यात्किं नो** इति वा पाठः। किं न करोति ॥१०॥

अन्वय—स्वां कीर्तिं च सद्वल्लीं वा प्रधनविषयैः स्वोद्यमाम्बुप्रसेकैः कुसुमितां कुरु उन्नतानां क्रमः। नवजलमुचां अनेहा क्षतान्तां कुं मालतीनां अभिनवैः जालकैः समं प्रत्याश्वस्तां नो कुर्यात् किम्?

अर्थ—अपनी कीर्ति को समीचीन लता के समान युद्ध सम्बन्धी अपने

प्रयत्न रूपी जल से सींचकर पुष्पित करो। "यह ऊर्ध्वगामियों की परिपाटी है। नए मेघों का समय अर्थात् वर्षा ऋतु का प्रारम्भिक काल जिसका मनोहर रूप नष्ट हो गया है ऐसी पृथ्वी को चमेली की नवीन कलियों के साथ क्या पुनरुज्जीवित नहीं करता है?

मत्प्रातीप्यं समशिरसि प्राप्य दृष्टावधान:[1],
क्षीणायुस्त्वं कुरु सुरवधूं काञ्चिदापूर्णकामाम्।
द्यामारोहन्सहजमणिभाभूषितोऽम्भोद याने,
विद्युद्गर्भे स्तिमितनयनां त्वत्सनाथे गवाक्षे ॥११॥

मत्प्रातीप्यमिति। **समशिरसि** सङ्ग्रामे। **मत्प्रातीप्यं** मम प्रतिकूल्यम्। **प्राप्य** लब्ध्वा। **दृष्टावधान:** आलोकितसाहस:। "अवधानं तु साहसम्" इति धनञ्जय:। **त्वं क्षीणायु:** क्षीणमायुर्यस्य स मृत: सन्नित्यर्थ:। **विद्युद्गर्भे** विद्युदेव गर्भोऽन्त:-स्थो यस्य तस्मिन्नन्तर्लीनविद्युतीत्यर्थ:। "गर्भोऽपवरकेऽन्तस्थे नौकुक्षिस्थार्भकोत्तमे" इति शब्दार्णवे। **अम्भोदयाने** जलवाहने। **द्यां दिवम्**। "द्योदिवौ द्वे स्त्रियामभ्रम्" इत्यमर:। **आरोहन्** उद्गच्छन्। **सहजमणिभाभूषित:** सहजमणीनां भाभि: कान्तिभि: भूषितो मण्डित: सन्। **त्वत्सनाथे** त्वया सहिते "सनाथमभमित्याहु: सहिते चित्ततापिनि" इति शब्दार्णवे। **गवाक्षे** वातायने। **स्तिमितनयनां** कौतुकाविष्ट निस्मितनेत्राम्। **काञ्चित् सुरवधूम्**। काञ्चन देवस्त्रियम्। **आपूर्णकामां** सम्पूर्णा-भिलाषाम्। **कुरु** विधेहि। कृणीष्वेत्यर्थ: ॥११॥

अन्वय—अम्भोद! समशिरसि मत्प्रातीप्यं दृष्टावदान: क्षीणायु: द्यां आरोहन् सहजमणिभाभूषित: त्वं विद्युद्गर्भे याने त्वत्सनाथे गवाक्षे स्तिमितनयनां काञ्चित् सुरवधूं आपूर्णकामां कुरु।

अर्थ—हे मेघ! रण के अग्रभाग में मेरी प्रतिकूलता पाकर मेरी तलवार द्वारा किए जाने वाले खण्डन करने के कार्य का अनुभव कर (मेरा साहस देखकर) क्षीण आयु वाले अर्थात् मृत स्वर्गारोहण करते हुए, जन्म के समय में ही मणियों की आभा से भूषित तुम (पार्श्व) बिजली है गर्भ में जिसके ऐसे विमान में तुम्हारे होने पर, खिड़की में निश्चल नेत्रों (को लगाने) वाली किसी देवाङ्गना को सब प्रकार से सफल इच्छा वाली करो।

यद्येतत्तेऽध्यवसितसतिप्रौढमानोद्धुरस्य,
ध्यानाभ्यासं शिथिलय ततो योद्धुकामो निकामम्।

---

1. दृष्टावदान:।

अस्युत्खातः पटुतरगिरं प्रोज्झ्य वाचंयमत्वं,
वक्तुं धीरं स्तनितवचनो मानिनीं प्रक्रमेथाः ॥१२॥

यदीति । **अतिप्रौढमानोद्धुरस्य** अतिचतुरेण मानेन प्रवृद्धस्य ते भवतः । **एतत्** इदं वचः । **यदि** चेत् । **अध्यवसितं** निश्चितं स्यात् । **ततः** तस्मात् । **निकामं** यथेष्टम् । **योद्धुकामः** योधनाय योद्धुं कामयत इति तथोक्तः । **ध्यानाभ्यासं** ध्यान-परिचयम् । **शिथिलय** शमनं कुरु । **वाचंयमित्वं** मौनित्वम् । ''वाचं यमोव्रती'' इति खजन्तो निपातः । **प्रोज्झ्य** व्युत्सृज्य । **अस्युत्खातः** उत्खन्यते । स्म उत्खातः उद्गीर्णः उत्खातोऽसिर्यस्यासावस्युत्खातः । विकल्पितः पूर्वनिपातः । **धीरस्तनित-वचनः** धीरं स्तनितमेव वचनं यस्य स तथोक्तः सन् । **मानिनीं** मानोऽस्यास्तीति मानिनी तां गर्वशालिनीम् । **पटुतरगिरम्** अतिपटुवाचम् । **वक्तुं** भाषितुम् । **प्रक्रमेथाः** उपक्रमस्व । ''प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम्'' इति तङ् ॥१२॥

अन्वय—यदि अतिप्रौढमानोद्धुरस्य ते एतत् अध्यवसितं ततः निकामं योद्धु-कामः अस्युत्खातः ध्यानाभ्यासं शिथिलय; वाचंयमत्वं प्रोज्झ्य स्तनितवचनः मानिनीं पटुतरगिरं धीरं वक्तुं प्रक्रमेथाः ।

अर्थ—यदि अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त मान से निर्भय तुम्हारा यह निश्चय है तो पर्याप्त युद्ध करने के इच्छुक (तुम) तलवार म्यान से बाहर निकालकर ध्यान शिथिल करो । मौन को छोड़कर गर्जना रूप वचन से युक्त (तुम) प्रणय के कारण कोप करने वाली स्त्री से चतुर भाषण निर्भयता से आरम्भ करो ।

भीते शस्त्रं यदि भटमते वावहीम्यस्त्रशून्ये,
स्त्रीमन्ये वा चरणपतिते क्षीणके वा स कश्चित् ।
पादस्पृष्ट्या शपथयति वा जातु हिंसां भुजिष्यं,
भर्तुर्मित्रं प्रियमविधवे विद्धि मामम्बुवाहम् ॥१३॥

भीत इति । **भटमते** भट श्रेष्ठे । **भीते** बिभेति स्म भीतः तस्मिन् भयमाप्ते । **अस्त्रशून्ये** शस्त्रहीने । ''आयुधं तु प्रहरणं शस्त्रमस्त्रम्'' इत्यमरः । **स्त्रीमन्ये** स्त्रियमात्मानं मन्यते तथोक्तस्तस्मिन् वा अथवा । **चरणपतिते** पादयोः पतिते । **क्षीणके** क्षीणकान्तेः । **वा** अथवा । **पादस्पृष्ट्या** पादस्पर्शेन । **शपथयति** प्रतिज्ञां कुर्वति । **स कश्चित्** कश्चिदहम् । **जातु** कदाचित् । वैर्यं करोतीत्यर्थः । **वा** अथवा । ''कदाचिज्जातु'' इत्यमरः । **यदि चेत् शस्त्रम्** अस्त्रं वावहीमि भृशं वहामि तथोक्तः यङ्लुगन्तः । तर्हि । **हिंसां** प्राणिहिंसादोषम् । **अभिवच्मि** ब्रवीमि । केवलं जीवहिंसैव न शूरत्वमिति भावः । **मां** यक्षम् । **भर्तुः** राजराजस्य । **अम्बुवाहम्**

अम्बुवहतीत्यम्बुवाहस्तम् अम्बुवाहनामानम् । भुजिष्यं भृत्यम् । "नियोज्यकिङ्कर-प्रेष्यभुजिष्य परिचारकाः" इत्यमरः । प्रियं हितम् । मित्रं सहायम् । विद्धि जानीहि । अम्बुवाहाह्वयो धनदानुचरोऽहम् । तथापि प्रियमित्रमिति निश्चिन्विति भावः ॥१३॥

अन्वय—भीते अस्त्रशून्ये भटमने, स्त्रीम्मन्ये आ चरणपतिते, क्षीणके वा, पादस्पृष्ट्या शपथयति वा यदि जातु शस्त्रं स कश्चित् (अहं) बाबहीमि, भर्तुः प्रियं मित्रं मां हिंसा भुजिष्यं विद्धि इति अभिदधे ।

अर्थ—भय से व्याकुल, अस्त्रशून्य होते हुए भी योद्धा के रूप में माने गए अथवा अपने आपको स्त्री मानने वाले, चरणों में पड़े हुए, क्षीण तेज वाले अथवा पैरों को छूकर शपथ खाने वाले के प्रति यदि मैं कदाचित् क्षुद्र मैं शस्त्र को पुनः पुनः धारण करता हूँ तो स्वामी (कुबेर) के प्यारे मेघाकार के धारण करने वाले मुझको हिंसा के दोष का भाजन जानो, मैं ऐसा कहता हूँ अर्थात् शस्त्र रहित मैं तुम्हारे ऊपर प्रहार नहीं करूँगा; क्योंकि मुझे हिंसा का दोष लगेगा, अतः तुम युद्ध के लिए तैयार हो जाओ ।

तन्मा भैषीर्विहृतगरिमा हस्तमुत्क्षिप्य पादा-
वाश्लिष्य त्वं मम यदि च ते जीवनेऽस्त्युत्सुकत्वम् ।
किञ्चित्प्रीत्यै प्रिययुवतितो मान्यथा त्वं गृहीर्मां
तत्सन्देशैर्मनसि निहितैरागतं त्वत्समीपम् ॥१४॥

तदिति । तत् तस्माद्धेतोः । मा भैषीः मा बिभीहि । ते तव । जीवने जीविते । उत्सुकत्वं तत्परत्वम् । यदिचास्ति विद्यते चेत्तर्हि । त्वं भवान् । विहृतगरिमा रहित-गुरुस्वभावः सन् । "वर्णदृढादिभ्यः" इत्यादिना इमनूत्यः । "प्रियस्थिर" इत्या-दिना गुरोर्गरादेशः । हस्तं पाणिम् । उत्क्षिप्य उद्धृत्य । मम मे । पादौ चरणौ । आश्लिष्य आलिङ्ग्य । प्रिययुवतितः प्राणकान्तायाः सकाशात् । किञ्चित् ईषत् । प्रीत्यै प्रेम्णे । मनसि चित्ते । निहितैः स्थापितैः । तत्सन्देशैः युवतिवाचिकैः । त्वत्समीपं । भवन्निकटं प्रति । आगतम् आगच्छति स्म आगतस्तम् । मां यक्षम् । त्वं भवान् । अन्यथा अपरप्रकारेण । मा गृहीः मा गृहाण ! तस्याः सन्देशहरत्वात् न विरोधीति विभावयेत्यर्थः ॥१४॥

अन्वय—प्रिय युवतितः प्रीत्यै यदि जीवने ते किञ्चित् उत्सुकत्वं अस्ति तत् त्वं हस्तं उत्क्षिप्य मम पादौ आश्लिष्य विहृतगरिमा मा भैषीः । मनसि निहितैः तत्सन्देशैः त्वत्समीपं आगतं मां त्वं अन्यथा मा गृहीः ।

अर्थ—प्रिय युवती की प्रीति के लिए यदि जीवन के प्रति तुम्हारी कुछ

उत्सुकता है तो हाथ उठाकर मेरे चरणों का आलिङ्गन कर विनष्ट माहात्म्य वाले तुम मत डरो। मन में स्थित उन सन्देशों के साथ तुम्हारे समीप में आए हुए मुझे तुम अन्यथा मत समझो।

सद्यः क्लृप्तो जलदसमयो यो मया कालमेघै-
रारुद्धद्युर्व्यवधि सहसा सोऽप्यनेनात्मशक्त्या।
ध्वान्तस्यैव प्रतिनिधिरहो योषितां जीवनार्थं,
यो वृन्दानि त्वरयति पथि श्राम्यतां प्रोषितानाम् ॥१५॥

सद्य इति। **मया** मयेण। **कालमेघैः** कृष्णजलदैः। **आरुद्धद्यु** आरुद्धा द्यौर्नभो यस्मिन्कर्मणि तत्। **यः** जलदसमयः। **पथि** मार्गे। **श्राम्यतां** खिद्यमानानाम्। **प्रोषितानां** प्रवासिनाम्। **वृन्दानि** निकुरम्बाणि "स्त्रियां तु संहतिर्वृन्दं निकुरम्बं कदम्बकम्" इत्यमरः। **जीवनार्थं** प्राणधारणार्थम्। **त्वरयति** सम्भ्रमयति। **ध्वान्तस्यैव** अन्धकारस्यैव। **प्रतिनिधिः** प्रतिकृतिः। "प्रतिकृतिरर्चा पुंसि प्रतिनिधिरुपमोपमानं स्यात्" इत्यमरः। **सोऽपि** तादृशोऽपि **जलदसमयः**। **अनेन** मुनिना। **आत्मशक्त्या** निजसामर्थ्येन। **सहसा** शीघ्रेण। "अतर्किते तु सहसा" इत्यमरः। **अहो** आश्चर्यम्। **व्यवधि** अच्छेदि। "विपूर्वस्य वध हिंसायां" धातोर्लुङ् ॥१५॥

अन्वय—अहो! यः योषितां जीवनार्थं पथि श्राम्यतां प्रोषितानां वृन्दानि त्वरयति, यः (च) ध्वान्तस्य एव प्रतिनिधिः आरुद्धद्युः जलदसमयः मया कालमेघैः सद्यः क्लृप्तः सः अपि अनेन आत्मशक्त्या सहसा व्यवधि।

अर्थ—महान् आश्चर्य है कि जो वर्षाकाल स्त्रियों के प्राणधारण के लिए रास्ते में थके हुए प्रवासियों के समूह को (घर जाने के लिए) जल्दी कराता है तथा जो अन्धकार का ही प्रतिनिधि है, मेघों के द्वारा जिसने आकाश को व्याप्त कर दिया है और मुझ शम्बरासुर के द्वारा काले वर्ण वाले मेघों से तत्क्षण रचा गया है वह वर्षाकाल ध्यान में लीन इस मुनि के द्वारा अपनी सामर्थ्य से अचानक विलय को प्राप्त हो गया।

सोऽयं योगी प्रकटमहिमा लक्ष्यते दुर्विभेदो,
विद्यासिद्धो ध्रुवमभिमना यन्मयाध्यात्तनाशा।
कर्तुं शक्ता नवघनघटा या मनांस्यध्वगानां,
मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिरबलावेणिमोक्षोत्सुकानि ॥१६॥

स इति। **या** **अध्वगानां** पथिकानाम्। **मनांसि** चित्तानि। **मन्द्रस्निग्धैः** मन्द्राश्च ते स्निग्धाश्चतैः। खञ्जकुब्जादिवत् अन्यतरप्राधान्येन विशेषणमित्यादिना कर्मधारयः। **ध्वनिभिः** शब्दैः। **अबलावेणिमोक्षोत्सुकानि** अबलानां स्त्रीणां वेणयः

तांसां मोक्षे मोक्षणे मोचन इत्यर्थः । उत्सुकानि **कर्तुं** विधातुम् । **शक्ता** समर्था । **मम** मत्सम्बन्धिनी । **नवघनघटा** प्रत्यग्रमेघमाला । **यत्** यस्मात्कारणात् । **आत्तनाशा** प्राप्तविलयाभूत् । तस्मात् । **सोऽयं** योगी स एष मुनिः **प्रकटमहिमा** प्रथितप्रभावः । **दुर्विभेदः** अभेद्यः । **विद्यासिद्धः** विद्यया सिध्यति स्मतथोक्तः । **अभिमनाः** कर्याचिदप्या सक्तचेताः । **ध्रुवं** निश्चलम् । **लक्ष्यते** दृश्यते ॥१६॥

अन्वय—या अध्वगानां मनांसि मन्द्रस्निग्धैः ध्वनिभिः अबलावेणिमोक्षोत्सुकानि कर्तुं शक्ता (सा) मम अपि नवघनघटा यत् आत्तनाशा (तत्) अयं सः प्रकटमहिमा विद्यासिद्धः ध्रुवं अभिमनाः योगी दुर्विभेदः लक्ष्यते ।

अर्थ—जो नूतनमेघ की घटा पथिकों के मन में गम्भीर और श्रुतिमधुर ध्वनियों से (विरहिणी) स्त्रियों की चोटी को खोलने के लिए उत्कण्ठित करने में समर्थ है, वह मेरे द्वारा रचित घनघटा भी चूँकि विनाश को प्राप्त हुई है, अतः यह वह प्रकटमहिमा वाला, ज्ञानस्वरूप, मोक्ष को प्राप्त करने का इच्छुक योगी कठिनाई से विचलित करने योग्य मालूम पड़ता है ।

इत्याध्यायन्पुनरपि मुनिं सोभणीद्युद्धशौण्डो,
वीरश्रीस्त्वामिह वनतरौ मन्मथाक्लेशमुक्ता ।
पश्यन्त्यास्ते दशमुखपुरोद्यानवृक्षे सति स्या-
दित्याख्याते पवनतनयं मैथिलीवोन्मुखी सा ॥१७॥

इतीति । स दैत्यः । **युद्ध शौण्डः** युद्धे मत्तः । "मत्ते शौण्डोत्कटक्षीबाः" इत्यमरः । **इति** एवंप्रकारेण । **आध्यायन्** चिन्तयन् । पुनरपि । **मुनिं** योगिनम् । **अभणीत्** अब्रवीत् । **इति** कथितरीत्या । **आख्याते** आभाषिते सति । **स्यादिति** यथोक्तं तथैव भवेदिति । **दशमुखपुरोद्यानवृक्षे** दशमुखस्य रावणस्य पुरोद्यानस्य लङ्कोपवनस्य वृक्षे पादपे । विषयसप्तमी "वटे गावः सुशेरते" इतिवत् । **मैथिली** सीता । **पवनतनयमिव** हनूमन्तमिव । **इह** **वनतरौ** वनवृक्षे । **मन्मथाक्लेशमुक्ता** मदनस्याक्लेशेन रहिता । **सा वीरश्रीः** जयलक्ष्मीः । **उन्मुखी** उद्गतमुखी सती । **त्वां** भवन्तम् । **पश्यन्ती** प्रेक्षमाणा । **आस्ते** वर्तते । वीरश्रीप्रेक्षाभिधानात् युद्धसन्नद्धो भवेति व्यज्यते ॥१७॥

अन्वय—(या) मन्मथक्लेशमुक्ता त्वां पश्यन्ती इह वनतरौ आस्ते सा वीरश्रीः आख्याते दशमुखपुरोद्यानवृक्षे पवनतनयं (पश्यन्ती) उन्मुखीसती मैथिली इव स्यात् इति आध्यायन युद्ध शौण्डः सः पुनरपि मुनिं अभणीत् ।

अर्थ—जो (वीरलक्ष्मी) मन की स्थिरता को नष्ट करने वाले दुःख से रहित होकर तुम्हें देखती हुई इस वन के वृक्ष के नीचे स्थित है, वह

वीरलक्ष्मी लौकिक पुराणों में प्रसिद्ध लङ्कानगरी के उद्यान के वृक्ष के नीचे हनुमान को देखकर उत्कण्ठा से युक्त की गई सती सीता के समान हो जायगी इस प्रकार सोचता हुआ युद्ध में प्रवीण वह शम्बरासुर पुनः मुनि (पार्श्व) से बोला।

सङ्ख्ये सङ्ख्यां सुभटविषयां पूरयन्नस्मदीये,
हित्वा भीतिं त्वमधिशयितो वीरशय्यां यदा स्याः।
प्रत्यासीदत्यपिहितरसा वीरलक्ष्मीस्तदैषा,
त्वामुत्कण्ठोच्छ्वसितहृदया वीक्ष्य संभाव्य चैव ॥१८॥

सङ्ख्ये इति। **अस्मदीये** अस्माकमिदमस्मदीयं तस्मिन्। **सङ्ख्ये** युद्धे। ''मृधमास्कन्दनं संख्यम्'' इत्यमरः। **सुभटविषयां** सुयोधृगोचराम्। **सङ्ख्यां** गणनाम्। **पूरयन्** सम्पूर्णं वितन्वन्। **त्वं** भवान्। **भीतिं** भयम्। ''भीतिर्भीः साध्वसं भयम्'' **हित्वा** मुक्त्वा। **यदा** यदवसरे। **वीरशय्यां** वीरशयनम्। **अधिशयितः** सुप्तः। **स्याः** भवेः। **तदा** तत्समये। **एषा वीरलक्ष्मीः** असौ वीरश्रीः। **अपिहितरसा** प्रकटितशृङ्गाररसा। **उत्कण्ठोच्छ्वसितहृदया** उत्कण्ठया औत्सुक्येन उच्छ्वसितं विकसितं हृदयं यस्याः सा तथोक्ता। ''उत्कण्ठोत्कलिके समे'' इत्यमरः। **त्वां** भवन्तम्। **वीक्ष्य** दृष्ट्वा। **सम्भाव्य** चैव सत्कृत्यापि। **प्रत्यासीदति** आसन्न मागच्छति ॥१८॥

अन्वय—अस्मदीये सङ्ख्ये सुभटविषयां सङ्ख्यां पूरयन् त्वं यदा भीतिं हित्वा वीरशय्यां अधिशयितः स्याः तदा त्वां वीक्ष्य सम्भाव्य च उत्कण्ठोच्छ्वसितहृदया अपिहितरसा एषा प्रत्यासीदति।

अर्थ—हमारे युद्ध में शूर सैनिकों सम्बन्धी गणना को पूरी करते हुए तुम जब भय छोड़कर वीरशय्या पर सोओगे तब तुम्हें देखकर और सत्कार कर उत्कण्ठा से विकसित चित्त वाली तथा अनुराग को प्रकट करने वाली यह वीरलक्ष्मी अवश्य ही (तुम्हारे) समीप में आएगी।

अथ मायामयीं स्त्रीसंहतिं कल्पयन् गानमाविर्भावयति—

मन्ये श्रोत्रं परुषपवनैर्दूषितं ते मदुक्तां,
व्यक्ताकूतां समरविषयां संकथां नो शृणोति।
तस्यारुध्यप्रहरणमिदं भेषजं विद्धि गेयं,
श्रोष्यस्यस्मात्परमवहितं सौम्य सीमन्तिनीनाम् ॥१९॥

मन्य इति। **ते** तव **श्रोत्रं** श्रवणम्। **परुषपवनैः** निष्ठुरानिलैः। ''निष्ठुरं परुषम्'' इत्यमरः। **दूषितं** निन्दितं सत्। ''उदृदुषो णौ'' इत्यूत्। **व्यक्ताकूतां**

प्रकटिताभिप्रायाम् । समरविषयां सङ्ग्रामगोचराम् । "अभियोगे समरानीकरणाः" इत्यमरः । मदुक्तां मदोक्ताम् । संकथां वार्ताम् । न शृणोति नाकर्णयति । इति मन्ये जाने । सौम्य भो साधो । अथवा सौम्यसीमन्तिनीनां सौम्याश्च ताः सीमन्तिन्यश्च तासां सुन्दर स्त्रीणाम् । "सौम्यं तु सुन्दरे सौम्यदेवते" "नारी सीमन्तिनी वधूः" इत्यमरः । इदं श्रूयमाणमेतत् । गेयं गानम् । तत्पारुष्य-प्रहरणं पवनपरुषत्व दोषनिवारणम् । भेषजम् औषधम् । "भेषजौषधभैषज्यानि" इत्यमरः । विद्धि जानीहि । अस्मादेतद् गानात् । अवहितम् प्रशस्तं सत् । परं उत्कृष्टम् । श्रोष्यति आकर्णयिष्यति ॥१९॥

अन्वय—सौम्य ! ते श्रोत्रं मदुक्तां व्यक्ताकूतां समरविषयां सङ्कथां नो शृणोति (इति) परुषपवनैः दूषितं मन्ये । सीमन्तिनीनां अवहितं इदं गेयं पारुष्यप्रहरणं परं भेषजं विद्धि; अस्मात् तत् श्रोष्यति ।

अर्थ—हे सौम्य ! तुम्हारा कान मेरे द्वारा कहे गए, विशद अभिप्राय वाले युद्ध सम्बन्धी समीचीन भाषण को नहीं सुनता है, अतः (उसे) निष्ठुर वायुओं से दूषित मानता हूँ। यह स्त्रियों का गान सुनने पर कठोर वायु के आघात से उत्पन्न कानों के पारुष्य (निष्ठुरता) को दूर करने वाली उत्कृष्ट औषधि जानो। इस औषधि से तुम्हारा कान सुनेगा।

श्रव्यं गेयं नयनसुभगं रूपमालोकनीयं,
पेयस्तासां वदनसुरभिः स्पृश्यमाघ्रायमङ्गम् ।
कामाङ्गं ते समुचितमिदं सङ्गमं सानुबन्धं,
कान्तोपान्तात्सुहृदुपगमः सङ्गमात्किञ्चिदूनः ॥२०॥

श्रव्यमिति । तासां सीमन्तिनीनाम् । गेयं गीतम् । ते तव । श्रव्यं श्रवणीयम् । सानुबन्धं सम्बन्धसहितम् । नयनसुभगं नेत्ररमणीयम् । रूपं देह-सौन्दर्यम् । आलोकनीयम् दर्शनीयम् । वदनसुरभिः मुखसुगन्धः । पेयं पातुं योग्यः । अङ्गम् अवयवः । स्पृश्यं स्प्रष्टुं योग्यम् । आघ्राय आघ्रातुं योग्यम् । कामाङ्गं कामावयवभूतम् । सानुबन्धं सम्बन्धसहितम् । अनुकूलमित्यर्थः । इदमेतत् । "सङ्गमं शतमानार्म शंबलाव्ययताण्डवम् ।" इत्यमरः पुन्नपुंसक शेषः । ते तव । समुचितं सुयोग्यम् । भवतीति शेषः । तथाहि कान्तोपान्तात् । कान्तया उपान्तस्तस्मात् । सुहृदुपगमः मित्रागमनम् । "कान्तोदन्तः सुहृदुपनतः" इति वा पाठः । सुहृदुपनतः सुहृन्मुखेन उपनतः प्राप्तः । कान्तोदन्त कान्तया उदन्तो वृत्तान्तस्तत्प्रोक्तः । "वार्ताप्रवृत्तिर्वृत्तान्त उदन्तः स्यात्" इत्यमरः । सङ्गमात् कान्तासम्पर्कात् । किञ्चिदूनः किमप्यूनः । तद्देवानन्दकर इति भावः ॥

अन्वय— तासां श्रव्यं गेयं, नयनसुभगं आलोकनीयं रूपं, पेयः वदनसुरभिः,

स्पृश्यं आघ्राय अङ्गं ते समुचितं कामाङ्गं, इदं सम्मुखम्यं सङ्गमं कान्तोपान्तात् सुहृदुपगमः सङ्गमात् किञ्चित् ऊनः ।

अर्थ—तुम्हारी कान्ता को समीपवर्ती स्त्रियों का सुनने योग्य गान, नेत्रों को सुन्दर लगने वाला दर्शनीय रूप, पान करने के योग्य मुख की सुगन्ध, स्पर्शन करने और सूंघने के योग्य शरीर, तुम्हारा अत्यधिक योग्य कामोत्पत्ति का साधन है। यह गेयादि रूप निरन्तराय परस्पर में मिलन कान्ता के पास मित्रों के आगम रूप है जो कि साक्षात् मिलन से कुछ ही कम है। तात्पर्य यह है कि कान्ता के पास मित्रों के आगम स्वरूप यह जो गेयादि का सुनना आदि है वह साक्षात् मिलन जैसा ही है।

तस्माद्वासः किसलयमृदु स्वं मुखस्थायि दिव्यं,
ताम्बूलं च प्रणयमचिराद्योषितां मानयोच्चैः ।
व्यर्थक्लेशां विसृज विरसामार्यवृत्तिं मुनीनां,
तामायुष्मन्मम च वचनादात्मनश्चोपकर्तुम् ॥ २१ ॥

तस्मादिति । तस्मात् कारणात् । आर्य भो पूज्य । आयुष्मन् । प्रशंसायां मनुः । हे परोपकारश्लाघ्य जीवन इत्यर्थः । मम वचनाच्च मे प्रार्थनायाश्च । आत्मन स्वस्य । उपकर्तुं च परोपकारेणात्मानं कृतार्थयितुमपीत्यर्थः । उपकार-क्रियायां प्रतिकर्मत्वेऽपि शेषत्वविवक्षायामात्मनेति षष्ठीवचनं न विरुध्यते । व्यर्थक्लेशां निष्फला यासाम् । विरसां रसरहिताम् । तां मुनीनां वृत्तिं तपश्चर्यावर्तनम् । विसृज त्यज । किसलयमृदु पल्लवकोमलम् । वासः वस्त्रम् । 'वस्त्रमाच्छादनं वासः' इत्यमरः । मुखस्थायि वदनस्थायि । मुखे स्थाप्यते इत्येवं शीलम् । दिव्यम् अनर्घम् । ताम्बूलं वीटिकाम् । योषितां स्त्रीणाम् । प्रणयं च प्रीतिमपि । अचिरात् शीघ्रेण । स्वं भवान् । उच्चैरधिकम् । मानय सम्भावय ॥ २१ ॥

अन्वय—आयुष्मन् ! मम वचनात् च आत्मनः उपकर्तुं च तस्मात् योषितां किसलयमृदु वासः मुखस्थायि दिव्यताम्बूलं, प्रणयं च अचिरात् उच्चैः मानय, मुनीनां व्यर्थक्लेशां तां विरसां आर्यवृत्तिं विसृज।

अर्थ—हे आयुष्मन् ! मेरे वचन के कारण तथा अपना उपकार करने के कारण (कान्ता के समीप मित्रों के आगमन रूप साक्षात् समागम से कुछ कम होने के कारण) स्त्रियों का किसलय के समान कोमल वस्त्र, मुख में सतत विद्यमान दिव्य ताम्बूल तथा प्रणय का शीघ्र ही अत्यधिक रूप से

आदर करो। मुनियों की उस लोक प्रसिद्ध व्यर्थ के क्लेश से युक्त आनन्द-रहित आर्यवृत्ति (सदाचरण-तपस्या आदि) को छोड़ दो।

श्रेयोमार्गः किल मुनिवरैः सेव्यते सौख्यहेतोः,
सौख्यं द्वेधा सुरयुवतिजं मुक्तिलक्ष्म्याश्रयं च।
दूरे मुक्तिः सुलभमितरत्सेव्यमन्योऽपि विद्वान्,
ब्रूयादेवं तव सहचरो रामगिर्याश्रमस्थः॥ २२ ॥

श्रेय इति। **मुनिवरैः** यतिश्रेष्ठैः। **सौख्यहेतोः** सुखनिमित्तम्। **श्रेयोमार्गः** मोक्षमार्गः। 'श्रेयो निःश्रेयसामुलम्' इत्यमरः। **सेव्यते** आराध्यते। किल 'वार्ता-सम्भाव्ययोः किल' इत्यमरः। तथाहि। **सौख्यं** सुखमेव सौख्यम्। **सुरयुवतिजं** देववनिताजनितम्। **मुक्तिलक्ष्म्याश्रयं च** मोक्षलक्ष्मीसमाश्रयं चेति। **द्विधा** द्विविधं भवतीति शेषः। **मुक्तिः** [illegible] **दूरे** विप्रकृष्टदेशे। [illegible] इति शेषः। [illegible] अन्यत्। **सुरयुवतिजं** सुखम्। **सुलभं** सुखेन लभ्यते तत्। **सेव्यम्** आराध्यम्। **एवम्** इत्थम्। **तव** भवतः। **सहचरः** सहायः मुनीन्द्र इत्यर्थः। **रामगिर्याश्रमस्थः** राम-गिरेः चित्रकूटस्य आश्रमे निवासे तिष्ठतीति तथोक्तः। **अन्योऽपि** अपरोऽपि। न केवलं अहमेवेत्यपि शब्दार्थः। **विद्वान्** विपश्चित्। **ब्रूयात्** वदेत्॥ २२॥

अन्वय—श्रेयोमार्गः मुनिवरैः सौख्यहेतोः किल सेव्यते। सौख्यं सुरयुवतिजं मुक्तिलक्ष्म्याश्रयं च (इति) द्विधा। दूरे मुक्तिः इतरत् सुलभं सेव्यं (च)। अन्यः अपि रामगिर्याश्रमस्थः तव विद्वान् सहचरः एवं ब्रूयात्।

अर्थ—श्रेयोमार्ग का श्रेष्ठ मुनि सुख के लिए सेवन करते हैं। सुख देवाङ्गनाओं (के साथ सम्भोग) से उत्पन्न तथा मोक्षलक्ष्मी के आश्रय से उत्पन्न (इस तरह) दो प्रकार का होता है। मुक्ति दूर है। दूसरा देवाङ्गनाओं के सम्भोग से उत्पन्न सुख सुलभ और सेवनीय है। रामगिरि पर्वत पर स्थित आश्रम का निवासी तुम्हारा दूसरा विद्वान् मित्र (मुनि) भी यही कहेगा।

विद्युद्वल्लीविलसितनिभाः सम्पदश्चञ्चलत्वात्,
लब्धाभोगाः नियतविपदस्तत्क्षणादेव भोगाः।
तस्माल्लोकः प्रणयिनि जने स्यास्नुभावव्यपाया-
वव्यापन्नः कुशलमबले पृच्छति त्वां वियुक्तः॥ २३ ॥

विद्युदिति। **सम्पदः** श्रियः। **चञ्चलत्वात्**। **विद्युद्वल्लीविलसितनिभाः** तडि-ल्लता विलासमानाः। **लब्धाभोगाः** लब्धः आभोगो येषां ते। 'आभोगः परिपूर्णता'

इत्यमरः । भोगाः इन्द्रियविषयाः । तत्क्षणादेव तत्समयादेव । नियतविपदः नियता निश्चितविपत्तिर्येषां ते तथोक्ताः भवन्ति । तस्मात् कारणात् । अबले न विद्यते बलं यस्य तस्मिन् दुर्बले । प्रणयिनि प्रणयोऽस्यास्तीति प्रणयी तस्मिन् प्रेमवति । जने लोके । स्थास्नुभाव व्यपायात् स्थिरतरभावस्य व्यपगमात् । तिष्ठतीत्येवंशीलः स्थास्नुः । 'ग्लास्थस्नुः' इति स्नुप्रत्ययः । 'स्थास्नुः स्थिरतरः स्थेयान्' इत्यमरः । अत्यापन्नः अप्राप्तविपत्तिः । 'आपन्न आपत्प्राप्तः स्यात्' इत्यमरः । वियुक्तः वियोगदुःखी । नियुक्त इति वा पाठः । लोकः जनः । त्वाम् । कुशलं क्षेमम् । 'कुशलं क्षेममस्त्रियाम्' इत्यमरः । पृच्छति शृणोति । 'दुहि याचि रुधि प्रच्छि' इत्यादिना पृच्छतेर्द्विकर्मकत्वम् ॥ २३ ॥

अन्वय—(यस्मात्) चञ्चलत्वात् सम्पदः विद्युद्वल्लीविलसितनिभाः, लब्धभोगाः भोगाः तत्क्षणात् एव नियतविपदः, तस्मात् अबले प्रणयिनि जने स्थास्नुभाव व्यपायात् अत्यापन्नः वियुक्तः लोकः त्वां कुशलं पृच्छति ।

अर्थ—[चूँकि] चंचल होने के कारण सम्पदायें विद्युल्लता के स्फुरण के सदृश हैं, प्राप्त अनुभव वाले भोग उसी क्षण से ही निश्चित विनाश को प्राप्त होते हैं, अतः बलरहित और वसुन्धरा से प्रेम करने वाले आपके चित्त की स्थिरता न होने के कारण (तुम्हारे नाश की आशंका से) अत्यधिक दुःखी, वियोगी व्यक्ति अर्थात् पूर्वजन्म की पत्नी आपसे कुशल पूछती रही है ।

तद्भोक्तव्ये स्वयमुपनते शीतकत्वं समुज्झे-
र्मृत्युर्व्याघ्रो द्रुतमनुपदी वाममन्विच्छतीतः ।
आयुष्मत्त्वं कुशलकलितं नन्विहाशाधि नित्यं,
पूर्वाशास्यं सुलभविपदां प्राणिनामेतदेव ॥ २४ ॥

तदिति । इतः एतस्मात् । मृत्युव्याघ्रः मृत्युरेव व्याघ्रः । द्रुतं शीघ्रम् । अनुपदी अनुपद्यते इत्येवंशीलस्तथोक्तः अनुगामी । वामं प्रतिकूलम् । 'वामं प्रतिकूलेऽपि' इति हलायुधः । 'वामो वक्रे मनोहरे' इति धनञ्जयः । अन्विच्छति अभिलषति । तत् तस्मात् । स्वयमुपनते स्वयमेवाप्ते भोक्तव्ये अनुभवनीये वस्तुनि । शीतकत्वम् औदासीन्यम् । समुज्झेः व्युत्सृज । ननु भो साधो । इह अस्मिन्नवसरे । कुशलकलितं क्षेमयुतम् । नित्यं स्थिरं । आयुष्मत्त्वं दीर्घजीवित्वम् । आशाधि प्रार्थय । तथाहि सुलभविपदां सुलभाविपदो येषां तेषां चलसम्पदाम् इत्यर्थः । प्राणिनाम् असुभृताम् । एतदेव आयुष्मत्त्वमेव पूर्वाशास्यं पूर्वमभिलषणीयम् । स्यादिति शेषः ।

अन्वय—यत् भोक्तव्ये स्वयं उपनते शीतकत्वं समुज्झेः । द्रुतं अनुपदी मृत्यु-

व्याघ्रः वामं अभिवाञ्छति । इतः कुशलकलितं आयुष्मत्त्वं इह ननु आशासि । सुलभविपदां प्राणिनां एतदेव नित्यम् पूर्वाशास्यम् ।

अर्थ—चूँकि भोगने योग्य वस्तु (किन्नरी) स्वयं समीप आ गयी है, अतः आलस्य को छोड़ो। शीघ्र ही पदानुसरण करने वाला मृत्यु रूपी व्याघ्र विपरीत अभिलाषा कर रहा है। इस कारण कुशलता से युक्त दीर्घजीवन की यहाँ निश्चित आशा करो। सुलभ विपत्ति वाले लोगों को नित्य यही सर्वप्रथम आशा करना चाहिए।

मा यया नारीरूपं दर्शयति-इतोऽर्धवेष्टितानि—

सैषा बाला प्रथमकथिता पूर्वजन्मप्रिया ते,
पश्यायाता रहसि परिरभ्यानुमोदं नयेत्त्वाम् ।
अङ्गेनाङ्गं तनु च तनुना गाढतप्तेन तप्तं,
सास्रेणास्रद्रवमविरतोत्कण्ठमुत्कण्ठितेन ॥२५॥

सेति । ते तव । पूर्वजन्मप्रिया प्राग्भवकान्ता । प्रथमकथिता प्रागभाषिता । सैषा सेयम् । बाला युवतिः । 'नितम्बिन्यबला बाला' इति धनञ्जयः । आयाता आगता । पश्य प्रेक्षस्व । 'पाघ्राध्मा' इत्यादिना दृशेः पश्यादेशः । तनुना कृशेन । अङ्गेन देहेन । तनु च कृशं च । अङ्गं देहम् । गाढतप्तेन भृशं संतप्तेन अस्रेण बाष्पाम्बुना । तप्तं विरहदुःखोष्णम् । अस्रद्रवम् अश्रुधाराम् । 'रोदनं चास्रमश्रु च' इत्यमरः । उत्कण्ठितेन उत्कृष्टवेदनया । अविरतोत्कण्ठम् अविच्छिन्नवेदनाम् । अथान्यथान्वयोपायः । तनुना कृशेन । गाढतप्तेन उष्णतरेण । सास्रेण अस्रेण सहितं सास्रं तेन । उत्कण्ठितेन सञ्जातोत्कण्ठेन । अङ्गेन निजदेहेन । तनु च कृशं च । तप्तं विरहदग्धम् । अस्रद्रवम् अश्रुक्लिन्नम् । अविरतोत्कण्ठम् अविच्छिन्नवेदनम् । अङ्गं त्वद्देहम् । रहसि एकान्ते । परिरभ्य आलिङ्ग्य । त्वां भवन्तम् । अनुमोदं आनुकूल्यम् । नयेत् प्रापयेत् । अत्र समानानुरागित्वज्ञापनात् नायके नायिकायाः स्वसमानावस्थात्वम् ॥ २५ ॥

अन्वय—[या] प्रथमकथिता [या] ते पूर्वजन्मप्रिया सा एषा बाला आयाताः पश्य (सा) तनुना गाढतप्तेन सास्रेण उत्कण्ठितेन (स्वेन) अङ्गेन तनु तप्तं अस्रद्रवं अविरतोत्कण्ठं [ते] अङ्गं रहसि परिरभ्य त्वां अनुमोदं नयेत् ।

अर्थ—जिसके विषय में पहले कह चुके हैं तथा जो तुम्हारी पूर्वजन्म की स्त्री है, वह यह नवयौवनवती स्त्री आयी है, देखो ! (वह दुर्बल) गाढ़ सन्तप्त, अश्रुसहित, उत्कण्ठित अपने शरीर द्वारा दुर्बल, तपे हुए, आँसुओं से गीले, निरन्तर तीव्र अभिलाषा से व्याप्त आपके शरीर का एकान्त में आलिङ्गन कर तुम्हें आनन्दित करेगी।

दूरागाढप्रणयदिवसो मन्मथेनातिभूमिं,
नीतो बिभ्यत्त्वदभिसरणादुत्सुकः स्त्रीजनस्त्वाम् ।
उष्णोच्छ्वासं समधिकतरोच्छ्वासिना दूरवर्ती,
सङ्कल्पैस्तैर्विशति विधिना वैरिणा रुद्धमार्गः ॥ २६ ॥

दूरेति । **दूरागाढप्रणयदिवसः** दूरागाढो दृढः प्रणयस्य विश्वासस्य दिवसो यस्य तथोक्तः । **मन्मथेन** मदनेन । **अतिभूमिं** विगलितम् । **नीतः** प्रापितः । **बिभ्यत्** **त्वदभिसरणात्** तवाभिगमनात् । **उत्सुकः** लालसः । **दूरवर्ती** दूरस्थः नवागन्तुं शक्यत इत्यर्थः । **वैरिणा** विरोधिना । **विधिना** दैवेन । 'विधिविधाने दैवेऽपि' इत्यमरः । **रुद्धमार्गः** प्रतिबद्धवर्त्मा । **स्त्रीजनः** अबलालोकः । **समधिकतरोच्छ्वासिना** दीर्घनिश्वासवता । ताच्छीलिको णिन् । **उष्णोच्छ्वासं** तीव्रविरहश्वासम् । 'तिग्मं तीक्ष्णं खरं तीव्रं चण्डमुष्णमशस्मृतिः' इति हलायुधः । **त्वां** भवन्तम् । **तैः सङ्कल्पैः** स्वसंवेद्यैर्मनोरथैः । **विशति** एकीभवतीत्यर्थः ॥ २६ ॥

अन्वय—दूरागाढप्रणयदिवसः समधिकतरोच्छ्वासिना मन्मथेन अतिभूमिं नीतः त्वदभिसरणात् बिभ्यत्, उत्सुकः, दूरवर्ती वैरिणा रुद्धमार्गः स्त्रीजनः उष्णोच्छ्वासं त्वां तैः सङ्कल्पैः विशति ।

अर्थ—जिसका प्रणयदिवस सुदूर अतीत में निमग्न है, अत्यधिक रूप से वृद्धि को प्राप्त काम के द्वारा जो मर्यादा के अतिक्रमण रूप निर्लज्ज अवस्था को पहुँचाया गया है, तुम्हारे प्रति अभिसरण (गमन) करने से डरता हुआ, उत्सुक (विलम्ब को न सहने वाला), दूर विद्यमान तथा वैरी भाग्य के द्वारा जिसका मार्ग रोक दिया गया है ऐसा स्त्रीजन विरह-ज्वर से सन्तप्त होने के कारण उष्ण श्वास वाले तुमको (तुम्हारे अन्दर) उन अनुभूत मनोरथों से प्रवेश करता है ।

सोऽयं त्वत्तः प्रणयकलिकामप्यलब्ध्वा विलक्षो,
दूरात्सेवां तव वितनुते पश्य सार्थो वधूनाम् ।
शब्दाख्येयं यदपि किलते यः सखीनां पुरस्तात्,
कर्णे लोलः कथयितुमभूदाननस्पर्शलोभात् ॥ २७ ॥

स इति । **यः सखीनाम्** वयस्यानां । **पुरस्तादग्रे** । **आननस्पर्शलोभात्** त्वन्मुख-सम्पर्कलोभात् यदपि । **शब्दाख्येयं** शब्देन श्रेणाख्येयम् उच्चैर्वाच्यमपि । यत्तद्वचन-मपीति शेषः । ते तव । **कर्णे** श्रोत्रे । **कथयितुं** वक्तुम् । **लोलः** अलसः । **अभूत्** **किल** अभवत् खलु । 'लोलुपे लोलुभो लोलो लम्पटे चालसेऽपि च' इति यादवः ॥ **सोऽयं वधूनां** स्त्रीणाम् । **सार्थः** समूहः । 'सङ्घसार्थौ तु जन्तुभिः' इत्यमरः

त्वत्तः त्वत्सकाशात् । प्रणयकणिकामपि प्रेमलेशमपि । अलब्ध्वा अनवाप्य । विलक्षः विस्मयोपेतः । 'विलक्षो विस्मयान्वितः' इत्यमरः । तव भवतः । सेवां सेवनम् । दूरात् अविकृष्टात् । वितनुते कुरुते । पश्य प्रेक्षस्व ॥ २७ ॥

अन्वय—यत् किल सखीनां पुरस्तात् शब्दाख्येयं अपि (तत्) आननस्पर्शलोभात् ते कर्णे कथयितुं यः लोलः अभूत् सः अयं वधूनां सार्थः त्वत्तः प्रणयकणिकां अपि अलब्ध्वा विलक्षः दूरात् एव सेवा वितनुते, पश्य ।

अर्थ—जो सखियों के द्वारा शब्दों से कहने योग्य भी है वह मुखस्पर्श के लोभ से तुम्हारे कान में कहने के लिए जो चंचल हुआ वह यह स्त्रियों का समूह तुमसे प्रेम का लेशमात्र भी न पाकर विस्मय से युक्त हो कुछ दूर से तुम्हारी सेवा कर रहा है, देखो ।

योऽसौ स्त्रीणां प्रणयमधुरो भावगम्योऽधिकारः,
कामाभिख्यां दधदविरतं लोकरूढा प्रसिद्धिः ।
सोऽतिक्रान्तः श्रवणविषयं लोचनाभ्यामदृष्ट-
स्त्वामुत्कण्ठाविरचितपदं मन्मुखेनेदमाह ॥ २८ ॥

य इति । योऽसौ । स्त्रीणां वनितानाम् । प्रणयमधुरः प्रणयेन प्रेम्णा मधुरः मनोहरः । कामाभिख्यां मन्मथाभिधानम् । अविरतं सन्ततम् । 'सततानारताश्रान्तसन्तताविरतानिशम्' इत्यमरः । दधत् धरत् । भावगम्यः चित्तज्ञेयः । अधिकारः नियोगः । लोकरूढा लौकिकी प्रसिद्धिः । यथा स्त्रीपुंसयोर्भावविशेषस्यैव कामसञ्ज्ञेति लोकरूढिरित्यर्थः । श्रवणविषयं श्रोत्रगोचरम् । अतिक्रान्तः अतीतः । लोचनाभ्यां नयनाभ्याम् । अदृष्टः अनवलोकितः । अतिदूरत्वाच्छ्रोतुं विलोकितुं वा अशक्य इत्यर्थः । सः अधिकारः । त्वाम् । उत्कण्ठाविरचितपदम् उत्कण्ठाविरचितानि पदानि सुप्तिङन्तशब्दानि वाक्यानि वा यस्य तथोक्तम् । 'पदं शब्दे च वाक्ये च' इति विश्वः । इदं वक्ष्यमाणं श्योगिनीत्यादिकम् । मन्मुखेन मम मुखेन । आह ब्रवीति । स एव मद्व्यवचनैर्ब्रूत इत्यर्थः ॥ २८ ॥

अन्वय—यः असौ स्त्रीणां कामाभिख्यां दधत् श्रवणविषयं अतिक्रान्तः, लोचनाभ्यां अदृष्टः प्रणयमधुरः अधिकारः (यस्य च) भावगम्यः (इति) अविरतं लोकरूढा प्रसिद्धिः सः मन्मुखेन उत्कण्ठाविरचितपदं इदं आह ।

अर्थ—स्त्रियों में जो यह कामदेव इस संज्ञा को धारण करने वाला, कान के विषय से दूर, नेत्रों से नहीं देखा गया और प्रेम से मधुर मानसिक परिणाम है, और जिसके विषय में सदा ऐसी लोकप्रचलित प्रसिद्धि है कि वह कामिनियों के अभिनयों से गम्य (जानने योग्य) है वह मानसिक

परिणाम मेरे मुख द्वारा उत्कण्ठा से रचे गए पदों से युक्त वक्ष्यमाण वाक्य-समूह को कहता है।

योगिन्योगप्रणिहितमनाः कितरां ध्येयशून्यं,
ध्यायस्येवं स्मर ननु धियाध्यक्षवेद्यं मतं नः।
श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षिते दृष्टिपातं,
वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान् ॥ २९ ॥

योगिन्निति। योगिन् भो मुने। योगप्रणिहितमनाः ध्यानैकतानमनाः सन्। एवम् एवंविधम्। ध्येयशून्यं ध्यानविषयशून्यम्। विज्ञानाद्वैतमित्यर्थः। कितराम् ईषदसमाप्तं किं कितराम्। 'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः' इति लिङ्गाम्। तरबन्तस्यादिनाऽव्ययम्। ध्यायसि स्मरसि। सद्वृत्तवस्तुदर्शनमाह। श्यामास्विति श्यामासु प्रियङ्गुलतासु। 'श्यामामहिलवाङ्गना। लतागोविन्दिनीगुन्द्राप्रियङ्गुः फलिनी फली' इत्यमरः। अङ्गं शरीरम्। तथा च। चकितहरिणीप्रेक्षिते भीतैणीप्रेक्षणे। दृष्टिपातं नयनव्यापारम्। 'पातस्तु परिनेतुना' इति भास्करः। शशिनि चन्द्रे। वक्त्रच्छायां मुखकान्तिम्। तथा शिखिनां बर्हभारेषु पिच्छसमूहेषु। केशान् कचान्। धिया बुद्ध्या। ननु निश्चयेन। अध्यक्षवेद्यं प्रत्यक्षविषयम्। नः अस्माकम्। मतं चार्वाकमतमित्यर्थः। स्मर चिन्तय। सौकुमार्यादिकं स्त्रीविषयं ध्यायेत्यर्थः।

अन्वय—योगिन्! योगप्रणिहितमनाः एवं कितरां ध्येयशून्यं ध्यायसि? ननु नः मतं अध्यक्षवेद्यं अङ्गं श्यामासु, दृष्टिपातं चकितहरिणीप्रेक्षिते, वक्त्रच्छायां शशिनि, केशान् शिखिनां बर्हभारेषु धिया स्मर।

अर्थ—हे योगी! ध्यान की एकाग्रता से चित्त को वश में करने वाले तुम इस प्रकार कौन सी ध्येयशून्य वस्तु का ध्यान कर रहे हो? हे योगी! हम दोनों के द्वारा बहुत आदर को प्राप्त और प्रत्यक्ष से जानने योग्य (सुन्दर स्त्री के) शरीर को प्रियङ्गुलताओं में, दृष्टिपात को डरी हुई मृगियों के नेत्र व्यापार में, मुख की कान्ति को चन्द्रमा में और केशों को मयूरों के पंखों में मन से याद करो, ध्यान करो।

इतः पादवेष्टितानि—

पश्याम्यस्मिन्नवकिसलये पाणिशोभां नखानां,
छायामस्मिन् कुरबकवने सप्रसूने स्मितानाम्।
लीलामुग्धकुसुमितलतामंजरीष्वस्मदीया-
मुत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान् ॥३०॥

पश्येति। अमुष्मिन् एतस्मिन्। कुरबकवने। नवकिसलये प्रत्यग्रपल्लवे।

'पल्लवोऽस्त्री किसलयम्' इत्यमरः । पाणिशोभां हस्तकान्तिम् । अस्मिन् सप्रसूने। एतस्मिन् पुष्पसहिते । 'प्रसूनं कुसुमं सुमम्' इत्यमरः । कुरबकवने करण्टकवने । नखानां कररुहाणाम् । छायां द्युतिम् । उद्यत्कुसुमितलतामञ्जरीषु उद्गच्छत्पुष्पितवल्लरीषु । 'वल्लरिमञ्जरी स्त्रियौ' इत्यमरः । अस्मदीयाम् अस्माकं सम्बद्धाम् । स्मितानाम् ईषद्धसितानाम् । लीलां विलासम् । प्रतनुषु स्वल्पासु । नदीवीचिषु नदीतरङ्गेषु । भ्रूविलासान् भ्रभङ्गविवर्तान् । अत्र वीचीनां विशेषणोपादाने अयुक्तगुणग्रहण दोषः । भ्रूसाम्यनिर्वाहायमहत्त्वदोषनिवारणार्थत्वात्तस्य । तदुक्तं रत्नाकरे । 'व्यत्युत्पादे च सौलभ्ये भावोक्ता दोषकारणाः ।' विशेषणाद्विशेषस्य नाम्न युक्तगुणग्रहः' इति । भ्रूपताकानीति पाठे । भ्रुवः पताका इवेत्युपमितसमासः । उत्प्रेक्षामि तर्कयामि । पश्य त्वमपि प्रेक्षस्वेत्यर्थः ॥ ३० ॥

अन्वय—अस्मदीयां पाणिशोभां अमुष्मिन् नवकिसलये (पश्य), नखानां छायां अस्मिन् सप्रसूने नवकुरबकवने (पश्य) स्मितानां लीलां उद्यत्कुसुमितलतामञ्जरीषु (पश्य) भ्रूविलासान् प्रतनुषु नदीवीचिषु पश्य, उत्प्रेक्षामि ।

अर्थ—हमारे हाथ की शोभा को इस नए पल्लव में, नखों की कान्ति को इस पुष्पित नये कुरबक के वन में, मुस्कुराहट की शोभा को उगते हुए फूलों से युक्त लता मंजरियों में और भौंहों के विलास को नदी की स्वल्प तरङ्गों में देखो, ऐसा मैं समझता हूँ।

सादृश्यं नः स्फुटमिति यथा दृश्यते सर्वगामि,
ध्येयं साक्षात्सुखफलमिदं योगिनां कामदायि ।
मिथ्याध्यातेर्मुनिषु विधये हे तपोलक्ष्मि तद्व-
त्तैकस्थं क्वचिदपि न ते चण्डि सादृश्यमस्ति ॥ ३१ ॥

सादृश्यमिति । चण्डि कोपने । गौरादित्वात् ङीष् । 'चण्डी प्रणयिनी तथा' इति धनञ्जयः । 'चण्डी कात्यायनी हिंस्रा कोपना स्त्रीषु सम्मता' इति विश्वः । उपमानकथनमात्रेण न कोपितव्यमित्यर्थः । हे तपोलक्ष्मि तप एव लक्ष्मीस्तत्सम्बुद्धिः योगिनां मुनीनां । कामदायि अभीष्टप्रदम् । साक्षात्सुखफलं प्रत्यक्षसुखफलम् । इदम् एतत् । ध्येयं ध्यातार्हम् । सर्वगामि सर्वजीवगमनशीलम् । इति एवम् । नः अस्माकम् । सादृश्यम् एतद्दार्ष्टान्तिकत्वम् । स्फुटं व्यक्तम् । यथा यद्वत् । दृश्यते तद्वत् तथैव । मुनिषु मिथ्याध्यातेः अतत्त्वध्यानस्य । विधये विधानाय । 'विधिर्विधाने दैवे च' इत्यमरः । क्वचिदपि वस्तुनि । एकस्थम् एकत्रस्थितम् । ते तव । युष्मदस्मदोः लिङ्गत्वादिलिङ्गेषु समानत्वम् । सादृश्यं साम्यम् । नास्ति हन्त । 'हन्त हर्षेऽनुकम्पायां वाक्यारम्भविषादयोः' इत्यमरः । अतो न निवृणोमीत्यर्थः । एतावद्ध्यानविध्नकरणेऽपि तद् ध्यानस्य भङ्गो नास्तीति व्यत्यन्तरेणाहेति भावः ॥३१॥

अन्वय—हे चण्डि तपोलक्ष्मि ! इति ध्येयं साक्षात्सुखफलं योगिनां कामदामि इदं नः सादृश्यं यथा स्फुटं सर्वगामि दृश्यते तद्वत् मुनिषु मिथ्याख्यातेः विधये ते सादृश्यं क्वचित् एकस्यम् अपि हन्त न अस्ति।

अर्थ—हे सन्तापजनिका तपोलक्ष्मी ! (पूर्ववर्ती श्लोक में कहा हुआ) ध्यान के योग्य, साक्षात् सुखरूप फल से युक्त, योगियों को अभीष्ट वस्तु देने वाला यह हमारा सादृश्य जिस प्रकार स्पष्ट रूप से सब जगह (समस्त बाह्य पदार्थों में) दिखाई देता है। वैसा मुनिविषयक ध्यान की विफलता को बतलाने वाला तुम्हारा (तपोलक्ष्मी का) सादृश्य किसी एक भी बाह्य वस्तु में नहीं है।

हा धिग्मूढिं यदयमृषिपः त्वमसाध्वीमजानन्,
त्वय्यासक्तिं मुहुरुपगतोऽस्मास्वनादर्यभूच्च।
चेतोमय्यां यदनुकमितां ध्यायति प्रेयसीं वा,
त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायाम्॥ ३२॥

हेति। **यत्** यस्मात्। **अयम्** एषः। **ऋषिपः** मुनीन्द्रः। 'ऋषिर्यतिमुनिर्भिक्षुः' इति धनञ्जयः। **त्वां** भवन्तीं। **असाध्वीम्** असतीम्। **अजानन्** अनवबुध्यमानः। **त्वयि** भवत्याम्। **आसक्तिं** काङ्क्षाम्। **मुहुः** पुनः पुनः। **उपगतः** उपयातः सन्। **अस्मासु** इष्ट सम्बन्धिषु। **अनादरी** अप्रेमवान्। **अभूत्** आसीत्। **च** पुनः **यत्** यस्मात्। **प्रणयकुपितां** प्रणयकोपिनीम्। **त्वां** भवन्तीम्। **तपोलक्ष्मीं** प्रेयसीं वा। प्रकृष्टप्रियामिव। **अनुकमितां** अनुवाञ्छितां सन्। 'कमुत्' इति तृत्यान्तः। **चेतो-मय्यां** चेतोविकारामाम्। **शिलायां** शिलापट्टे। **धातुरागैः** धातव एव वाद्यादय एव रागा रञ्जनद्रव्याणि। 'धातुर्वातादि शब्दादि गैरिकादित्वगादिषु' इति यादवः। चित्रादिरञ्जकद्रव्ये लाक्षादौ प्रणयेच्छयोः। सारङ्गादौ च रागं स्यादरुणे रञ्जने पुमान्' इति शब्दार्णवे। तैः। **आलिख्य** निर्माय। **ध्यायति** चिन्तयति। **तस्माद्धेतोः**। **मूढिं** मौढ्यम्। **हा धिक्** 'हा विषादशुगर्तिषु' कु धिग्भर्त्सननिन्दयोः' इत्युभय-त्राप्यमरः। चेतः शिलायां कुपितावस्थायुक्तां तपोलक्ष्मीं प्रकृतिं प्राणधातुभिर्विरिच्य ध्यायतीति भावः॥ ३२॥

अन्वय—हा ! मूढिं धिक् ! यत् अयं ऋषिपः त्वां असाध्वीं अजानन् त्वयि मुहुः आसक्तिं उपगतः अस्मासुः च अनादरी अभूत्, यत् (च) अनुकमितां प्रणय-कुपितां प्रेयसीं वा त्वां धातुरागैः चेतोमय्यां आलिख्य ध्यायति।

अर्थ—हाय ! मूर्खता को धिक्कार हो ! जो कि यह ऋषि तुम (तपो-लक्ष्मी) को असाध्वी (हीन आचरण वाली) न जानकर तुम्हारे प्रति पुनः

पुनः आसक्ति को प्राप्त हुआ है तथा हम लोगों (स्त्रियों के समूह) के प्रति आदर से रहित हो गया है; क्योंकि प्रेम में बँधी, प्रणयकुपित प्रेयसी के समान तुम्हारा धातुराग के समान अनुरागयुक्त मानसिक परिणामों द्वारा मनोनिर्मित शिला सदृश मनोभूमिका पर चित्रित कर ध्यान कर रहा है।

इतः कतिचिद्भिः पद्यैर्विरहपरवशायाः स्त्रिया दैन्यं प्रादुर्भावयति—

भो भो साधो मम कुरु दयां देहि दृष्टिं प्रसीद,
प्रायस्साधुर्भवति करुणार्द्रीकृतस्वान्तवृत्तिः।
योगं तावच्छिथिलय मनाक् प्रार्थनाचाटुकारै-
रात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ॥३३॥

भो भो इति। भो भो साधो भो भो मुने। 'भृशाभीक्ष्ण्ययोः' इत्यादिनाद्विः। मम मे। दयां कारुण्यम्। कुरु विधेहि। दृष्टिं दर्शनम्। देहि देयाः। प्रसीद प्रसन्नो भव। साधुः मुनिः सज्जनो वा। प्रायः प्राचुर्येण। करुणार्द्रीकृत स्वान्तवृत्तिः प्रागनार्द्रं इदानीमार्द्रं क्रियते स्म आर्द्रीकृता करुणया कृपया आर्द्रीकृता मृदूभूता स्वान्तस्य चित्तस्य वृत्तिर्वर्तनं यस्य सः। कारुण्यापन्नान्तचित्तवृत्तिरित्यर्थः। भवति यावत् यत्पर्यन्तम्। प्रार्थनाचाटुकारैः प्रियवचनकरणैः। आत्मानं मामबलाम्। ते मुनेः पूर्वबन्धोः। चरणपतितं पादयोर्विनितम्। कर्तुं करणाय। इच्छामि वाञ्छामि। तावत् तावत्कालपर्यन्तम्। मनाक् ईषत्। योगं ध्यानम्। शिथिलय विश्लेषय ॥३३॥

अन्वय—भो भो साधो! प्रसीद, मम दयां कुरु, दृष्टिं देहि। साधुः प्रायः करुणार्द्रीकृतस्वान्तवृत्तिः भवति। यावत् प्रार्थनाचाटुकारैः आत्मानं ते चरणपतितं कर्तुं इच्छामि तावत् योगं मनाक् शिथिलय।

अर्थ—हे साधु! प्रसन्न होओ, मेरे ऊपर दया करो, मेरे ऊपर दृष्टि डालो। साधु प्रायः करुणा से कोमल अन्तःकरण के व्यापारों वाला होता है। जब तक (सुरत कार्य के लिए किए जाने वाले) प्रिय वचन के प्रयोगों से अपने आपको तुम्हारे चरणों में प्रणत करने की इच्छा करती हूँ तब तक ध्यान को थोड़ा शिथिल करो।

त्वत्सादृश्यं मनसि गुणितं कामुकीनां मनोहृत्,
कामाबाधां लघयितुमथो द्रष्टुकामा विलिख्य।
यावत्प्रीत्या किल बहुरसं नाथ पश्यामि कोणै-
रस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे ॥३४॥

त्वदिति। अथो अनन्तरे। नाथ भो प्रिय। यावत् यदवसरे। यावत्तावच्च 'साकल्येऽवधौ मानेऽवधारणे' इत्यमरः। बहुरसं बहवो रसाः शृङ्गारादयो यस्मिन्

तत् । **कामुकीनां** कामिनीनाम् । 'वृषस्यन्ती तु कामुकी' इत्यमरः । **मनोहृत्** मनोहृत्म् । **मनसि** चित्ते । **गुणितम्** अभ्यस्तम् । 'अभ्यस्ते गुणिताहते' इत्यमरः । **त्वत्सादृश्यं** भवत्सादृश्यम् । **द्रष्टुकामा** आलोकितुकामा सती । **कामबाधां** कामपीडाम् । **लघयितुं** लघूकर्तुम् । **विलिख्य** लिखित्वा । **प्रीत्या** सन्तोषेण । **पश्यामि** प्रेक्षे । **तावत्** तदवसरे । **मुहुरुपचितैः** पुनः पुनः प्रवृद्धैः । **कोष्णैः** ईषदुष्णैः । 'कोष्णं कवोष्णं मन्दोष्णं कदुष्णं त्रिषु तद्वति' इत्यमरः । **अस्रैः** अश्रुभिः । अस्रमश्रुणि शोणिते' इति विश्वः । **मे** मम । **दृष्टिः** चक्षुः । **आलुप्यते** किल आव्रियते किल । ततो दृष्टि प्रतिबन्धात्त्वद्रूपदर्शनं प्रतिबध्यत इति भावः ॥३४॥

अन्वय—अथो नाथ ! कामुकीनां मनोहृत् मनसि गुणितं त्वत्सादृश्यं कामबाधां लघयितुं द्रष्टुकामा विलिख्य यावत् प्रीत्या बहुरसं पश्यामि तावत् मुहुः उपचितैः कोष्णैः अस्रैः मे दृष्टिः किल आलुप्यते ।

अर्थ—अनन्तर हे नाथ ! कामिनियों की मनोहारी मन में चिन्तित (अभ्यस्त) तुम्हारी प्रतिकृति को कामपीड़ा को कम करने के लिए देखने की इच्छा से चित्रित कर जब प्रीतिपूर्वक बहुत आनन्द से देखती हूँ, तब तक बार बार वृद्धि को प्राप्त गरम आँसुओं से मेरी आँखें ढक जाती हैं ।

तीव्रावस्थे तपति मदने पुष्पबाणैर्मदङ्गं,
तल्पेऽनल्पं दहति च मुहुः पुष्पभेदैः प्रक्लृप्ते ।
तीव्राघाया त्वदुपगमनं स्वप्नमात्रेऽपि नाप्तं,
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः ॥३५॥

तीव्रेति ॥ **तीव्रावस्थे** । तीव्रावस्थायुक्ते । **मदने** मन्मथे । **मदङ्गं** मम शरीरम् । **पुष्पबाणैः** कुसुमशरैः । **तपति** सन्तापयति सति । **पुष्पभेदैः** कुसुमच्छेदैः । **प्रक्लृप्ते** रचिते । **तल्पे** शयनतले । **मुहुः** शश्वत् । **अनल्पं** बहुलं यथा तथा । **दहति च** प्रतपति सति । **तीव्राघाया** तीव्रः अघायो यस्याः सा तथोक्ता सती । **स्वप्नमात्रे** स्वप्ने एव स्वप्नमात्रं तस्मिन्नपि । जाग्रदवस्थायां तु न वेदमीति शेषः । **त्वदुपगमनं** तव सङ्गमम् । **नाप्तं** नागमम् । 'आप्लृ व्याप्तौ' इति धातोर्लुङि 'पुषादिद्युताद्यॢदितः' इत्यादिना अङ् । **क्रूरो** घातुकः । 'नृशंसो घातुकः क्रूरः' इत्यमरः । **कृतान्तो** दैवम् । 'कृतान्तो यमसिद्धान्तदैवाकुशलकर्मसु' इत्यमरः । तस्मिन्नपि स्वप्नमात्रेऽपि **नौ** आवयोः । 'वाम्नावौ द्वित्वे' इत्यस्मदो नावादेशः । **सङ्गमं** संयोगम् । **न सहते** न मर्षति । स्वप्नसङ्गतिरप्यावयोरसहमानं दैवं साक्षात् सङ्गतिं न सहत एवेति अपि शब्दार्थः ॥ ३५ ॥

अन्वय—तीव्रावस्थे मदने मदङ्गं पुष्पबाणैः तपति पुष्पभेदैः च प्रक्लृप्ते

तल्पे अनल्पं मुहुः दहति (सति) तीव्रापाया (अहं) स्वप्नमात्रे अपि त्वदुपगमनं न आप्तं । क्रूरः कृतान्तः नौ सङ्गमं तस्मिन् अपि न सहते ।

अर्थ—तीव्र अवस्थावाले (मर्मभेदी) कामदेव के द्वारा मेरे शरीर को पुष्पबाणों से तपाने पर और नाना प्रकार के फूलों से रचित शय्या पर बारबार अत्यधिक जलाने पर मर्मव्यथा जनक वियोग वाली मैंने स्वप्न-मात्र में भी तुम्हारे समीप में आगमन प्राप्त नहीं किया। क्रूर भाग्य हमारा स्वप्न में भी मिलन सहन नहीं करता है।

इतः पूर्वार्धपादवेष्टित पश्चार्धवेष्टितानि–

मामाकाशप्रणिहितभुजं निर्दयाश्लेषहेतो-
रुत्तिष्ठासुं त्वदुपगमनप्रत्ययात्स्वप्नजातात् ।
सख्यो दृष्ट्वा सकरुणमृदुव्याजहासीं दधानाः,
कामोन्मुग्धाः स्मरयितुमहो संश्रयन्ते विबुद्धां ॥३६॥

मामिति । **स्वप्नजातात्** स्वप्नसम्भूतात् । **त्वदुपगमनप्रत्ययात्** तवागमनविश्वासात् । **निर्दयाश्लेषहेतोः** निर्दयाश्लेषो गाढालिङ्गनं स एव हेतुस्तस्य दृढसंश्लेषार्थमित्यर्थः । 'हेतौ हेत्वर्थैः' इति षष्ठी । **आकाशप्रणिहितभुजम्** आकाशे निर्विषये प्रणिहितौ प्रसारितौ भुजौ यस्मिन्कर्मणि तत् । **उत्तिष्ठासुम्** उत्थातुमिच्छुम् । **मां** कामिनीम् । **दृष्ट्वा** प्रेक्ष्य । **सकरुणमृदुव्याजहासीं** करुणासहितं मृदु व्याजहासि हास्यम् । **दधानाः** दधतीति दधानाः । **कामोन्मुग्धाः** कामेन मूढाः । **सख्यः** वयस्याः । **विबुद्धां** प्रबुद्धवतीम् । **स्मरयितुं** स्वप्नावस्थां ज्ञापयितुम् । **संश्रयन्ते** समीपमागच्छन्ति । **अहो** आश्चर्यम् ॥ ३६ ॥

अन्वय—स्वप्नजातात् त्वदुपगमनप्रत्ययात् निर्दयाश्लेषहेतोः आकाशप्रणिहित-भुजं उत्तिष्ठासुं मां दृष्ट्वा कामोन्मुग्धाः सकरुणमृदुव्याजहासीं दधानाः सख्यः स्मरयितुं अहो मां विबुद्धां संश्रयन्ते ।

अर्थ—स्वप्न में उत्पन्न तुम्हारे समीप में आने के विश्वास से गाढ़ आलिङ्गन के लिए आकाश में हाथों को फैलाए हुए, उठने की इच्छुक मुझे देखकर अत्यधिक विमूढ़, करुणा से युक्त मृदु उपहास करने वाली सखियाँ आश्चर्य है कि स्मरण दिलाने के लिए जागी हुई मेरा आश्रय लेती हैं अर्थात् मेरे समीप में आ जाती हैं।

निद्रासङ्गादुपहितरतेर्गाढमाश्लेषमुक्ते-
र्लब्धायास्ते कथमपि मया स्वप्नसंदर्शनेषु ।

विश्लेषः स्याद्विहितरुदितैराधिजैराशुबोधैः,
कामोऽसह्यं घटयतितरां विप्रलंभावतारम् ॥३७॥

निद्रासङ्गादिति । **निद्रासङ्गात्** निद्रासम्बन्धात् । **स्वप्नसन्दर्शनेषु** सुप्तस्य विज्ञानं स्वप्नः । सुप्तस्य विज्ञाने । 'दर्शनं समये शास्त्रे दृष्टौ स्वप्नेक्षणे संवित्' इति शब्दार्णवे । स्वप्न इति संदर्शनानि विज्ञानानि तथोक्तानि । भूतवृक्षवत् सामान्य विशेषभावेन सहप्रयोगः । तेषु । **मया** कान्तया । **कथमपि** महतापि यत्नेन । **लब्धायाः** गृहीतायाः दृष्टाया इति यावत् । **उपहितरतेः** प्रवृद्धप्रीतेः । **ते** तव । **गाढं** दृढम् । **आश्लेषवृत्तेः** आलिंगनवृत्तेः । **आधिजैः** पुनः पीडाप्रभवैः । 'पुंस्याधिर्मानसीव्यथा' इत्यमरः । **विहितरुदितैः** विहितरोदनैः । **आशुबोधैः** शीघ्रबोधैः क्षणनिद्राभङ्गैरित्यर्थः । **बोधैः** प्रबोधैः जागरणैरित्यर्थः । **आशु** शीघ्रम् । **विश्लेषः** विगमनम् । **स्याद्**भवेत् । स्यादिति । **कामः** मन्मथः । **असह्यं** तीव्रम् । **विप्रलम्भावतारं** विप्रयोगावतरणम् । **घटयतितराम्** उत्कृष्टं सन्दर्भयति । आशु-प्रबोधवशात्स्वप्नजो श्लेषो दृढं न प्राप्यत इति भावः ॥ ३७ ॥

अन्वय—निद्रासंगात् स्वप्नसंदर्शनेषु कथं अपि लब्धायाः उपहितरतेः ते गाढं विश्लेषः स्यात् इति विहितरुदितैः आधिजैः कामः विप्रलम्भावतारं घटयतितराम् ।

अर्थ—नींद के सम्पर्क से स्वप्न दर्शन में बड़े कष्ट से प्राप्त, प्रेमयुक्त तुम्हारे गाढ़ आलिङ्गन व्यापार का वियोग होगा, इस कारण से किए गये रोदन से तथा मानसिक पीड़ाजन्य शीघ्र जागने से कामदेव वियोग की अनुभूति को अत्यधिक असह्य करता है।

तां तां चेष्टां रहसि निहितां मन्मथेनाऽस्मदङ्गे,
त्वत्संपर्कस्थिरपरिचयावाप्तये भाव्यमानाम् ।
पश्यन्तीनां न खलु बहुशो न स्थलीदेवतानाम्,
मुक्तास्थूलास्तरुकिसलयेष्वश्रुलेशाः पतन्ति ॥ ३८ ॥

तामिति । **रहसि** एकान्ते । **अस्मदङ्गे** अस्माकं शरीरे । **मन्मथेन** कामेन । **निहितां** स्थापिताम् कृतामित्यर्थः । **त्वत्सम्पर्कस्थिरपरिचय प्राप्तये** । तव संसर्गस्य चिराभ्यासप्राप्तये । **भाव्यमानां तां** ताम् वीप्सायां द्विः । **चेष्टां** व्यापृतिम् । **पश्यन्तीनां** साक्षात्कुर्वन्तीनाम् । **स्थलीदेवतानां** स्थलदेवतानाम् । 'जानपदकुण्डगोणस्थल...' (अकृत्रिमालिङ्गी) स्थलं स्थली' इत्यमरः । वनदेवतानामित्यर्थः । **मुक्तास्थूलाः** मौक्तिकानीव स्थूलाः **अश्रुलेशाः** बाष्पबिन्दवः । **तरुकिसलयेषु** वृक्षपल्लवेषु । आननमेलाञ्चलेन् । अश्रु-धारणसमाधिर्बध्यते । **बहुशो** भूरिशः । **न पतन्तीति न खलु** किन्तु पतन्त्येवेत्यर्थः । निश्चयेनञ्द्वयप्रयोगः । तथा च स्मृतिनिश्चयसिद्धार्थेनञ्द्वयप्रयोगः इति । 'महात्म-

गुरुदेवानामश्रुपातः क्षितौ यदि । देवभ्रंशो महादुःखं मरणं च भवेद् ध्रुवं' इति ॥ ३८ ॥

अन्वय—मन्मथेन अस्मदङ्गे रहसि निहितां त्वत्सम्पर्कं स्थिरपरिचयावाप्तये भाव्यमानां तां तां चेष्टां पश्यन्तीनां स्थली देवतानां मुक्तास्थूलाः अश्रुलेशाः तरु-किसलयेषु खलु बहुशः न पतन्ति (इति) न ।

अर्थ—काम के द्वारा हमारे शरीर में एकान्त में प्रस्थापित तथा तुम्हारे सम्पर्क से स्थिर परिचय की प्राप्ति के लिए प्रकट की गई उस उस (समस्त) चेष्टा को देखती हुई वनदेवियों की मोतियों के समान स्थूल आँसुओं की बूँदें वृक्षों के पल्लवों में कई बार नहीं गिरती हैं, ऐसा नहीं है अर्थात् गिरती ही हैं ।

भावार्थ—वृक्षों के पल्लवों में अश्रुबिन्दु के गिरने से कामुकी का मरणाभाव सूचित होता है । अश्रुओं के पृथ्वी पर गिरने से मरणसूचित होता है ।

संक्षिप्येत क्षणमिव कथं दीर्घयामा त्रियामा,
प्राणाधीशे विधिविघटिते दूरवर्तिन्यभीष्टे ।
इत्थं कामाकुलितहृदया चिन्तयन्ती भवन्तम्,
प्राणारक्षं श्वसिमि बहुशश्चक्रवाकीव तप्ता ॥३९॥

संक्षिप्येतेति । **विधिविघटिते** विधिवियोजिते । **अभीष्टे** समीहिते । **प्राणाधीशे** प्राणनायके । **दूरवर्तिनि** सति । **दीर्घयामा** दीर्घायामाः प्रहराः यस्याः सा विरहवेदनया तथा प्रतीयमानेत्यर्थः । **त्रियामा** रात्रिः । 'त्रियामा क्षणदा क्षपा' इत्यमरः । आद्यन्तयोरर्धयामयोर्दिनव्यवहारात्त्रयामास्त्रियामता । **क्षणमिव** क्षणकालपरिमाणमिव । **कथं** केन वा प्रकारेण । **संक्षिप्येत** लघुक्रियेत् । **इत्थम्** अनेन प्रकारेण । **कामाकुलितहृदया** कामेन आकुलितं भ्रान्तं हृदयं चित्तं यस्याः सा । **चक्रवाकीव** चक्रवाकवनितेव । **तप्ता** विरहदग्धा । **प्राणारक्षस्त्वम्** असुपालकम् । **भवन्तं त्वाम्** । **चिन्तयन्ती** स्मरन्ती सती । **बहुशः** बहुवारम् । **श्वसिमि** उच्छ्वासं विदधामि ॥३९॥

अन्वय—विधिविघटिते अभीष्टे प्राणाधीशे दूरवर्तिनी दीर्घयामा त्रियामा क्षणं इव कथं सङ्क्षिप्येत ? इत्थं कामाकुलितहृदया प्राणरक्षं भवन्तं चिन्तयन्ती तप्ता चक्रवाकी इव बहुशः श्वसिमि ।

अर्थ—दैव से अलग किए गए अभीष्ट प्राणनाथ के दूरदेश में स्थित होने पर लम्बे पहरों वाली रात क्षणमात्र की तरह कैसे छोटी की जाय ? इस प्रकार काम से आकुलित हृदयवाली प्राणरक्षक आपका ध्यान करती हुई विरहाग्नि से तप्त चकवी की तरह बार बार श्वाँस ले रही हूँ ।

ज्योत्स्नापातं मम विषहितुं नोतरां शक्नुवत्याः,
सर्वावस्थास्वहरपि कथं मन्दमन्दातपं स्यात् ।
आचित्तेशप्रथमपरिरम्भोदयादित्यभीक्ष्णम्,
ध्यायामीदं मदनपरतासर्वचिन्तानिदानम् ॥४०॥

ज्योत्स्नापातमिति । **आचित्तेशप्रथमपरिरम्भोदयात्** प्राणेशस्य प्रथमस्य परिरम्भस्यालिङ्गनस्योदय उद्भवस्तस्य पर्यन्तम् । 'अभिविधौ वाङ्या वादाङ्' इति पञ्चमी । 'आङीषदर्थेऽभिव्याप्तौ सीमार्थे धातुयोगजे ।' 'परिरम्भः परिष्वङ्गः संश्लेष उपगूहनम्' इत्युभयत्राप्यमरः । **ज्योत्स्नापातं** चन्द्रिकापतनम् । **विषहितुं** सोढुम । **नोतरां शक्नुवत्याः** अत्यर्थमशक्नुवन्त्याः । **मम** मे । **सर्वावस्थास्** निखिलदशासु सर्वदेत्यर्थः । **अहरपि** दिनमपि । **मन्दमन्दातपं** मन्दमन्दो मन्दप्रकारः आतपो यस्मिन् तत् । 'रीद्गुणः सदृशो वा' इति द्विरुक्तिः । 'कर्मधारयवदुत्तरेषु' इति कर्मधारयवद्भावात् सुपो लुक् । **मन्दमन्दातपम्** अत्यल्पसन्तापम् । **कथंस्यादिति** केन योपायेन भवेदिति । **अभीक्ष्णं** शश्वत् । **मदनपरतासर्वचिन्तानिदानं** मदनपरतायाः मन्मथपरतायाः सर्वाश्च ताश्चिन्ताश्च तासां निदानं प्रथमं कारणम् । 'निदानं त्वादिकारणम्' इत्यमरः । **इदमेतत्** । **ध्यायामि** मन्मथस्यावेशे स्मरामि ॥ ४० ॥

अन्वय—ज्योत्स्नापातं विषहितुं नोतरां शक्नुवन्त्याः मम अहः अपि सर्वावस्थासु मन्दमन्दातपं कथं स्यात् इति इदं मदन परता सर्वचिन्तानिदानं आचित्तेशप्रथमपरिरम्भोदयात् अभीक्ष्णं ध्यायामि ।

अर्थ—चाँदनी का प्रसार सहने में अत्यधिक असमर्थ मेरे लिए दिन भी (कामजनित) सब अवस्थाओं में मन्द-मन्द प्रकाश वाला कैसे हो, इस प्रकार इस कामवासना से जनित समस्तचित्त के उद्वेग के कारण इसको (दिन मन्द मन्द प्रकाश वाला कैसे हो इस बात को) प्राणनाथ द्वारा किए गए प्रथम आलिंगन के काल से लेकर अब तक निरन्तर सोच रही हूँ ।

कामावेशो महति विहितोत्कण्ठमाबाधमाने,
त्वय्यासक्तिं गतमनुगतप्राणमेतद्द्वयं च ।
इत्थं चेतश्चटुलनयने दुर्लभप्रार्थनं मे,
गाढोष्माभिः कृतमशरणं त्वद्वियोगव्यथाभिः ॥ ४१ ॥

कामावेश इति । **महति** अनल्पे । **कामावेशे** मन्मथस्यावेशे तदवस्थाप्रवेश इत्यर्थः । **विहितोत्कण्ठं** विहितमुत्कण्ठं यथा तथा । **आबाधमाने** आबाधत इत्याबाधमानस्तस्मिन् सति व्यथयति सति । **चटुलनयने** चञ्चलदृशि अनासक्तदृष्टा

विस्पष्ट: । त्वयि भवति । आसक्तं प्रीतिगतं प्राप्तम् । मे मम । चेतः चित्तम् । चटुलनयने त्वयि । अनुगतप्राणम् अनुगता अनुकूलतां गताः प्राप्ताः प्राणा यस्य तत् । मे चेतश्च । दुर्लभप्रार्थनं दुःप्राप्यवाचनम् अलभ्यमानमनोरथमित्यर्थः । एतद्द्वयं च एतयोर्द्वयमपि । गाढोष्माभिः अतितीव्राभिः त्वद्वियोगव्यथाभिः भवद्वियोग पीडाभिः । इत्थम् एवम् । अशरणम् अनाथम् । कृतं विहितम् । "शरणं गृहरक्षित्रोः" इत्यमरः ॥ ४१ ॥

अन्वय—महति कामावेशे विहितोत्कण्ठे आयाम्यमाने चटुलनयने त्वयि आसक्तिं गतं अनुगत प्राणं च । इत्थं एतद्द्वयं दुर्लभ प्रार्थनं मे चेतः गाढोष्माभिः त्वद्वियोग-व्यथाभिः अशरणं कृतम् ।

अर्थ—अत्यधिक काम की प्रबलता द्वारा उत्कण्ठापूर्वक काम की पीड़ा को उत्पन्न किये जाने पर मनोहर नेत्र वाले तुममें (मेरा मन) आसक्त हो गया है तथा उसमें विचारने की शक्ति क्षीण हो गई है अथवा तुम्हारे चिन्तन में लीन हो गया है। इस प्रकार इन दो याचनाओं वाला मेरा मन अत्यधिक दारुण तुम्हारे विरह के दुःखों से निराश्रय किया गया है।

तानप्राक्षं मदनविवशा युष्मदीयप्रवृत्तिम्,
प्रत्यावृत्तान् हिमवदनिलान् कातरा मत्समीपम् ।
भित्त्वा सद्यः किसलयपुटान्देवदारुद्रुमाणाम्,
ये तत्क्षीरस्रुतिसुरभयो दक्षिणेन प्रवृत्ताः ॥ ४२ ॥

तानिति ॥ ये वायवः । देवदारुद्रुमाणां देवदारुवृक्षाणाम् । किसलयपुटान् पल्लवपुटान् । सद्यः तत्क्षणमेव । भित्त्वा विभिद्य । तत्क्षीरस्रुतिसुरभयः तत्पल्लवानां क्षीरस्रुतिभि रसस्यन्दनैः सुरभयः सुगन्धाः । दक्षिणेन अवाचीनमार्गेण । प्रवृत्ताः निर्गताः । तान् मत्समीपं मम निकटदेशम् । प्रत्यावृत्तान् प्रत्यागतान् । हिमवदनिलान् हिमवत्पर्वत सम्बन्धिनो वातान् हिमवत्पर्वतः प्रस्थायिनो दक्षिणस्यमलयाचलस्य देवदारुद्रुमाणां गन्धमवाप्य पुनरागतान् वायूनित्यर्थः । मदनविवशा मन्मथाक्रान्ता । कातरा अधीरचित्ताहम् । "अधीरे कातरस्त्रस्ते भीरुभीरुकभीलुकाः इत्यमरः । युष्मदीयप्रवृत्तिं भवत्सम्बन्धिनीमवार्ताम् । "दोहदः" इति हृदयः । "वार्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्त उदन्तः स्यात्" इत्यमरः । अप्राक्षम् अपृच्छम् । "पृच्छ ज्ञीप्सायाम्" लुङ् ॥ तव कुशलोदन्तं तानपृच्छमिति भावः ॥ ४२ ॥

अन्वय—देवदारुद्रुमाणां किसलय पुटान् सद्यः भित्त्वा तत्क्षीर स्रुतिसुरभयः ये दक्षिणेन प्रवृत्ताः तान् मत्समीपं प्रत्यावृत्तान् हिमवदनिलान् मदनविवशा कातरा (अहं) युष्मदीय प्रवृत्तिं अप्राक्षम् ।

अर्थ—देवदारु के वृक्षों के कोमलपत्तों की पर्तों को तत्क्षण विदीर्ण कर उनके बहने वाले दूध से सुगन्धित जो (हिमालय की वायु) दक्षिण मार्ग से बहते हैं उन मेरे पास लौटी हुई हिमालय पर्वत की वायुओं से काम से विवश तथा अधीर मैंने आपका समाचार पूछा।

इष्टे वस्तुन्यतिपरिचितं यत्तदप्यङ्गनानाम्,
प्रीतेर्हेतुर्भवति नियतं त्वदङ्गानुरोधात् ।
आलिङ्ग्यन्ते गुणवति मया ये तुषाराद्रिवाताः,
पूर्वं स्पृष्टं यदि किल भवेदङ्गमेभिस्तवेति ॥ ४३ ॥

इष्ट इति । यत् यस्माद्धेतोः । गुणवति गुणोऽस्यास्तीति गुणवान् तस्मिन् गुणविशिष्टे । इष्टे अभिमते । वस्तुनि । अतिपरिचितम् अत्यभ्यस्तम् । तत् तदपि । इष्टवस्तुनि परिचितवस्तुन्यपि । अङ्गनानां वनितानाम् । प्रीतेः प्रेम्णः । नियतं निश्चितम् । हेतुः कारणम् । भवति । तस्माद्धेतोः । एभिः एतैः । पूर्वं प्राक् । तव ते । अङ्गं शरीरम् । स्पृष्टं भवेद्यदि संश्लिष्टं स्याच्चेत् । किलेति सम्भाव्यमेतदिति बुद्धिरित्यर्थः । "वार्तासम्भाव्ययोः किल" इत्यमरः । ते तुषाराद्रिवाताः ते हिमवदचलानिलाः । त्वदङ्गानुरोधात् तवशरीरानुवर्तनात् । "अनुरोधोऽनुवर्तनम्" इत्यमरः । तव शरीरं यथा तथेत्यर्थः । मया कान्तया । आलिङ्ग्यन्ते आश्लिष्यन्ते ॥ ४३ ॥

अन्वय—इष्टे गुणवति वस्तुनि यत् अति परिचितं तदपि अङ्गनानां यत् नियतं प्रीतेः हेतुः भवति (तत्) एभिः तव अङ्गं यदि किल पूर्वं स्पृष्टं भवेत् इति त्वदङ्गानुरोधात् ते तुषाराद्रि वाताः मया आलिङ्ग्यन्ते ।

अर्थ—कामिनियों को इष्ट गुण वाली वस्तु में जो अतिपरिचित है वह भी यतः निश्चित प्रीति का कारण होती है अतः इन्होंने तुम्हारे अंग का पहले स्पर्श किया होगा इस प्रकार तुम्हारे शरीर के प्रति अनुराग के कारण वे हिमालय की वायुयें मुझ कामिनी के द्वारा आलिङ्गित की जाती हैं।

तन्मे वीर प्रतिवचनकं देहि युक्तं वृथाशाम्,
मा कार्षीर्मां यदि च रुचितं ते तदाभाष्यमेतत् ।
नन्वात्मानं बहुविगणयन्नात्मनैवावलम्बे,
तत्कल्याणि त्वमपि नितरां मा गमः कातरत्वम् ॥ ४४ ॥

तदिति । तत् तस्मात् । वीर भो दानवीर ! 'शूरो वीरश्च विक्रान्तः' इत्यमरः । मे मम कान्तायाः । युक्तं युक्तियुक्तम् । प्रतिवचनकं प्रत्युत्तरम् । देहि देयाः । माम् । वृथाशां व्यर्थाभिलाषवतीम् । मा कार्षीः मा कृथाः । ननु भो प्रिये ।

अहम् । विगणयन् योगान्ते सत्यमेव विहरिष्यामीति मनस्यावर्तयन् । आत्मानं माम् । आत्मनैव स्वेनैव । प्रकृत्यादिभ्य उपसङ्ख्यानात्तृतीया । अवलम्बे धारयामि यथाकथंचिज्जीवामीत्यर्थः । तत् तस्मात् कारणात् । कल्याणि भो सौभाग्यवति । 'बह्वादेः' इति ङीः । अनेन सौभाग्येनाहं जीवामीत्याशयः । त्वमपि अहमिव मनस्यपि । नितराम् अत्यन्तम् भृशमपि वा । कातरत्वम् अधीरत्वम् । 'अधीरे कातरस्त्रस्ते' इत्यमरः । मा गमः मा गच्छ । गमेर्लुङ् । इत्येतद्वचः । ते तव । यदि च । रुचितं चेत् तर्हि । तदा तत्समये । भाष्यं वक्तव्यम् । एवं वक्तुमभिलाषा चेत्ब्रूहीति भावः ॥ ४४ ॥

अन्वय—तत् वीर मे युक्तं प्रतिवचनकं देहि, मां वृथाशां मा कार्षीः, यदि च ते रुचितं तदा 'ननु बहुविगणयन् आत्मानं आत्मना एव अवलम्बे, तत् कल्याणि त्वमपि नितरां कातरत्वं मा गमः । (इति) एतत् ते भाष्यम् ।

अर्थ—अतः हे वीर ! मुझे योग्य उत्तर दो, मुझे विफल आशा वाली मत करो तथा यदि तुम्हें रुचिकर हो तो 'हे प्रिये ! बहुत विचार करता हुआ अपने को आप ही सँभालता हूँ, इसलिए हे कल्याणी ! तुम भी ज्यादा अधीर मत होओ ऐसा तुम्हें कहना चाहिए ।

एवं प्रायां निकृतिमसुरः स्त्रीमयीमाशु कुर्वन्,
व्यर्थोद्योगः समजनि मुनौ प्रत्युतागात्स दुःखम् ।
कस्यैकान्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा,
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥ ४५ ॥

एवमिति । मुनौ पार्श्वनाथे । असुरः दैत्यः । एवम् । प्रायां बहुलाम् । 'प्रायो भूम्न्यन्तगमने' इत्यमरः । स्त्रीमयीं स्त्रीविकाराम् स्त्रीप्रकृतिं वा । निकृतिं शाठ्यम् । 'कुसृतिर्नि कृतिः शाठ्यम्' इत्यमरः । आशु शीघ्रम् । कुर्वन् वितन्वन् । व्यर्थोद्योगः निष्फलप्रयत्नः । समजनि समजायत । प्रत्युत किं पुनः सः दैत्यः । दुःखं व्यथाम् । अगात् अगमत् । तथाहि एकान्तं केवलम् । अत्यन्तमिति वा पाठः । अत्यन्तं नियतम् । सुखं सौख्यम् । पुरुषस्य उपनतं प्राप्तमिति प्रश्नः । एकान्ततः नियमेन । दुःखं वा दुःखमपि । कस्योपनतम् । किन्तु । दशा सुखदुःखयोरवस्था । चक्रनेमिक्रमेण चक्रस्य रथाङ्गस्य नेमिरन्तदन्तस्य क्रम् । 'चक्रं रथाङ्गं तस्यान्ते नेमिः स्त्री स्यात्प्रधीः पुमान्' इत्यमरः । तस्याः क्रमेण क्रमशः । नीचैरधस्तात् । उपरिच ऊर्ध्वमपि । गच्छति प्रवर्तते । जन्तोः सुखदुःखे पर्यावर्तेते । न ध्रुवभूते इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

अन्वय—असुरः मुनौ एवं प्रायां स्त्रीमयीं निकृतिं कुर्वन् आशुव्यर्थोद्योगः

समजनि प्रत्युत् सः दुःखं अगात् । कस्य एकान्तं सुखं उपनतं एकान्ततः दुःखं वा ? चक्रनेमिक्रमेण दशा नीचैः उपरि च गच्छति ।

अर्थ—असुर मुनि के विषय में इस प्रकार की स्त्री विषयक भर्त्सना (अपकार) करता हुआ शीघ्र विफल प्रयास वाला हो गया, किन्तु वह दुःखी हो गया । किसे लगातार सुख ही सुख अथवा दुःख ही दुःख प्राप्त हुआ है । सुख और दुःख की अवस्था पहिए की धुरी के समान क्रम से नीचे और ऊपर की ओर जाती है ।

इतः पूर्वार्धपादवेष्टितेन पश्चादर्धपादवेष्टितम्—

यस्मिन्काले समजनि मुनेः केवलज्ञानसम्प-
द्यस्मिन्दैत्यो गिरिमुदहरन्मूर्ध्नि चिक्षेप्सुरस्य ।
तत्कालं सा शरदुदभवद्वक्तु कामेतिवोच्चैः,
शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ ॥ ४६ ॥

यस्मिन्निति । यस्मिन् काले । दैत्यः असुरः । अस्य पार्श्वतीर्थनाथस्य । मूर्ध्नि मस्तके । 'मूर्धा ना मस्तकोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । चिक्षेप्सुः क्षेप्तुमिच्छुः । गिरिं पर्वतम् । उदहरत् धरति स्म । तत्काले तस्मिन् काले । मुनेः पार्श्वनाथस्य । केवलज्ञानसम्पत् कैवल्यबोधसम्पत्तिः । समजनि जायते स्म । शार्ङ्गपाणौ शार्ङ्गं पाणौ यस्य तस्मिन् विष्णौ । 'प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ' इति पाणिशब्दस्य विकल्पतः पूर्वनिपातः । भुजगशयनात् भुजगः शेषः एव शयनं तस्मात् । उत्थिते उत्तिष्ठते स्म उत्थितः तस्मिन्सति । मे मम शापान्त इति । शपनावसानमिति । सा शरत् शरदृतुः । तत्कालं शापकालम् । उच्चैः अधिकम् । वक्तुकामा वा वक्तुं कामा तथोक्ता वक्तुमिच्छन्तीव । वा शब्द इवार्थे । उदभवत् उद्बभूव । शरत्कालाविरेव हरिप्रबोधनकालः तस्मिन् शरत्कालादौ स्वामिनः केवलज्ञानं समजायतेति भावः ॥ ४६ ॥

अन्वय—यस्मिन् काले मुनेः केवलज्ञानसम्पत् समजनि, यस्मिन् दैत्यः अस्य मूर्ध्नि चिक्षेप्सुः गिरिं उदहरत् तत्काले शार्ङ्गपाणौ भुजगशयनात् उत्थिते मे शापान्तः इति उच्चैः वक्तुकामावासा शरत् उदभवत् ।

अर्थ—जिस समय मुनि की केवलज्ञान रूपी सम्पत्ति उत्पन्न हुई और जिस समय दैत्य ने इनके सिर पर पटकने की इच्छा से पहाड़ उठाया उसी समय 'विष्णु के शेष शय्या से उठने पर मेरे (शरद् ऋतु के) शाप का (प्रतिबन्ध का) अन्त होगा' इस प्रकार मानों ऊँचे स्वर से कहने की इच्छुक वह शरद् ऋतु उन्नति को प्राप्त हुई अर्थात् प्रकट हुई ।

व्याख्या—जिस समय भगवान् को केवलज्ञान हुआ उस चैत्र मास के समय में शरत्काल का प्रादुर्भाव हुआ। भगवान् पार्श्व विष्णु के समान श्यामवर्ण थे अतः यह विष्णु ही हैं, इस प्रकार लोगों को भ्रान्ति हुई। विष्णु चूँकि शरत्काल में शेष शय्या से उठते हैं अतः लोगों ने समझा कि यह कार्तिक मास है। इस प्रकार चैत्रमास में भी शरद्काल प्रकट हुआ।

ज्योत्स्नाहासं दिशि दिशि शरत्तन्वती प्रादुरासी-
द्दैत्यस्याऽस्य प्रहसितुमिवाज्ञानवृत्तिं दुरन्ताम्।
वैमल्येन स्फुटमिति दिशां रुन्धतीवोष्णकालं,
मासानन्यानागमय चतुरो लोचने मीलयित्वा ॥ ४७ ॥

ज्योत्स्नेति। शरत् शरत्कालः। दैत्यस्य कमठचरासुरस्य दुरन्तां दुष्टोऽन्तोयस्यास्ताम् दुःखफलाम्। अज्ञानवृत्तिम् अबोधवर्तनाम्। प्रहसितुमिव अपहसितुमिव। दिशिदिशि ककुभिककुभि। वीप्सायां द्विः। सर्वास्वपि दिशास्वित्यर्थः। ज्योत्स्नाहासं ज्योत्स्नैवहासस्तम्। तन्वती तनोतीति तन्वती शतृप्रत्ययः। 'नुदुक्' इति ङी। लोचने नयने। मीलयित्वा निमील्य। अन्यान् शेषान्। चतुरो मासान् मासचतुष्टयम्। गमय यापय। इति एवम्। दिशाम् आशानाम्। वैमल्येन नैर्मल्येन। उष्णकालं निदाघम्। 'निदाघ उष्णोपगम उष्ण ऊष्मागमस्तपः' इत्यमरः। स्फुटं व्यक्तम्। रुन्धतीव आवृण्वतीव। प्रादुरासीत् प्रादुर्बभूव। प्रकाशमाना बभूवेत्यर्थः। 'प्राकाश्ये प्रादुराविः स्यात्' इत्यमरः। षण्णाम् ऋतूनाम् त्रिकालत्वेनाभिननात् वर्षाकालात्मभूतशरदृतोः सकाशात् अन्यान् हिमशिशिरात्मकस्य हेमन्तस्य चतुरो मासानतीत्य वसन्तग्रीष्मात्मको निदाघकालो भविष्यतीति भावः ॥ ४७ ॥

अन्वय—अस्य दैत्यस्य दुरन्तां अज्ञानवृत्तिं प्रहसितुमिव ज्योत्स्नाहासं दिशि दिशि तन्वती दिशां वैमल्येन 'चतुरः (त्वं) मीलयित्वा लोचने अन्यान् मासान् गमय' इति उष्णकालं स्फुटं रुन्धती इव शरद् प्रादुरासीत्।

अर्थ—इस शम्बरासुर दैत्य की दुष्परिणाम युक्त ज्ञानशून्य क्रिया का मानों उपहास करने के लिए चांदनी रूप हास्य को प्रत्येक दिशा में फैलाती हुई दिशाओं की निर्मलता से चतुर (तुम उष्णकाल) आँखें मूँद कर अन्य चार मासों को बिताओ।' इस प्रकार गर्मी के समय को मानों स्पष्ट रूप से रोकती हुई शरद् ऋतु आ गई।

व्याख्या—चैत्रमास में सूर्य के उत्तरायण होने से उष्णकाल होने पर भी धरणेन्द्र के द्वारा निर्मित मण्डलाकार शरीर रूपी शय्या के ऊर्ध्वभाग में उत्थित भगवान् को शरत् ने देखा तो उसने समझा कि यह विष्णु ही

शेष शय्या से उठे हैं, अतः यह कार्तिकमास ही है, ऐसा समझकर वह गर्मी के समय से कहने लगी कि अभी तुम्हारे आने में चार माह और बाकी हैं, इन अवशिष्ट मासों को तुम आँख मूँदकर बिताओ।

जाताकम्पासननियमितः सावधिर्नागराजः,
कान्तां स्माह प्रथममधिपं पूजयावोऽद्य गत्वा।
पश्चावावां विरह गुणितं तं तमेवाभिलाषं,
निर्वेक्ष्याव: परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु ॥ ४८ ॥

जातेति। **जाताकम्पासननियमितः** जात आकम्पो यस्य तज्जाताकम्पं तच्च तदासनं च तेन नियमितः नियुक्तः। **सावधिः** अवधिज्ञानसहितः। **नागराजः** धरणेन्द्रः। **कान्तां** स्त्रीम् आह स्म उवाच। अद्य स्वामिन्! आवां त्वं चाहं चावाम्। त्यदादिरित्येक शेष समासः। **गत्वा** यात्वा। **प्रथमं** पूर्वम्। **अधिपं** सर्वज्ञम्। **पूजयावः** महयावः **पश्चाद**नन्तरम्। **परिणतशरच्चन्द्रिकासु** परिणता प्रौढा शरच्चन्द्रिका शरदिन्दुकौमुदी यासां तासु। 'चन्द्रिका कौमुदी ज्योत्स्ना' इत्यमरः। **क्षपासु** निशासु। 'त्रियामा क्षणदा क्षपा' इत्यमरः। **विरहगुणितं** विरहे गुणितम् एवमेवं करिष्याव इति मनस्यावर्त्तित मिति भावः। तंतम्। वीप्सायां द्विः। सर्वमित्यर्थः। **अभिलाषं** तर्षम्। 'कामोऽभिलाषस्तर्षश्च' इत्यमरः। एवं नियमेन। **निर्वेक्ष्यावः** भोक्ष्यावः। 'निर्वेशो भृतिभोगयोः' इत्यमरः ॥ ४८ ॥

अन्वय—जाताकम्पासननियमितः सावधिः नागराजः कान्तां आह स्म 'अद्य गत्वा प्रथमं अधिपं पूजयावः, पश्चात् परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु विरह-गुणितं तं तं एव अभिलाषं निर्वेक्ष्यावः।

अर्थ—आसन के कम्पायमान होने से प्रेरित अवधिज्ञान युक्त नागराज (धरणेन्द्र) ने (अपनी) स्त्री से कहा—आज जाकर पहले स्वामी पार्श्व जिनेन्द्र की पूजा करें, अनन्तर शरद् ऋतु की प्रौढ़ चाँदनी से युक्त रात्रियों में विरह से बढ़ी हुई समस्त अभिलाषाओं का हम दोनों भोग करें।

पूर्वपश्चार्धयोरेवर्धवेष्टितमेव—

प्रस्थानेऽस्य प्रहतपटहे दिव्ययानावकीर्णे,
कश्चित्कान्तां तदनुगजनः सस्मितं वीक्षते स्म।
भूयश्चाह त्वमसि शयने कण्ठलग्ना पुरा मे,
निद्रां गत्वा किमपि रुदती सस्वरं विप्रबुद्धा ॥ ४९ ॥

प्रस्थान इति। **प्रहतपटहे** प्रहतास्ताडिताः पटहा यस्मिन् तस्मिन्। **दिव्ययान-**

कीर्णे दिव्ययानैर्विमानैरवकीर्णे । अस्य नागराजस्य । प्रस्थाने गमने । 'प्रस्थानं गमनं गमः' इत्यमरः । पार्श्वतीर्थनाथस्य केवलज्ञानकल्याणयात्रामित्यर्थः । कश्चि-त्कोपि । तदनुगजनः तस्य अनुगच्छतीति तदनुगः स चासौ जनश्च तथोक्तः नागेन्द्रा-नुचरः । 'भृत्योथ भृतकः पत्तिः पदातिः पदगाऽनुगः' इति धनञ्जयः । कान्तां निजपत्नीम् । सस्मितं स्मितेन सहितं यथा तथा ईक्षते स्म ईक्षाञ्चक्रे । भूयश्च पुनरपि । आह ब्रवीति । पुरा पुराशब्दश्चिरातीते । 'स्यात्प्रबन्धे चिरातीते निक-टागामिके पुरा' इत्यमरः । पुरा पूर्वम् । शयने शय्यायाम् । मे मम । कण्ठलग्ना गलाश्लिष्टा । त्वं भवती । गलग्रहस्य कथमन्यगमनं न सम्भवेदित्यर्थः । निद्रां गत्वा प्राप्य । किमपि केन वा निमित्तेनेत्यर्थः । सस्वरं सशब्दम् । उच्चैरित्यर्थः । रुदती रोदनं कुर्वती । विप्रबुद्धा प्रबोधवती । असि भवसि ।।४९।।

यत्तद्वृत्तं स्मरसि सुभगे मामुपालब्धुकामा,
मन्ये त्वीषत्कुपितमिव मे दर्शयन्ती प्रपासि ।
सान्तर्हासं कथितमसकृत्पृच्छतोसि त्वया मे,
दृष्टः स्वप्ने कितव रमयन्कामपि त्वं मयेति ।। ५० ।।

यत्तदिति ।। सुभगे भो सौभाग्यवति । असकृत् बहुशः । पृच्छतः शृण्वतः । मे मम । कितव भो धूर्त । त्वं भवान् । कामपि कामपि प्रियाम् । रमयन् क्रीडयन् । मया स्वप्ने दृष्टोसि ईक्षितोऽसीति । त्वया कामिन्या । सान्तर्हासम् अन्तर्हासेन सहितम् यथा तथा । कथितं भाषितम् । यद्वृत्तं यद्वर्तनम् । माम् उपालब्धुकामा मा हन्तु-कामा । स्मरसि ध्यायसि । तु पुनः । ईषत्कुपितम् प्रणयकोपम । मे मम । दर्शयन्तीव प्रकाशयन्तीव । प्रपासि पालयसि । जाने मन्ये । इति पूर्वेणान्वयः ।। ५० ।।

अन्वय—दिव्ययानावकीर्णे अस्य प्रस्थाने प्रहतपटहे (सति) कश्चित् तदनु-गजनः कान्तां सस्मितं वीक्षते स्म, भूयः च आह—'सुभगे ! त्वं पुरा शयने मे कण्ठ-लग्ना निद्रां गत्वा किमपि सस्वरं रुदती विप्रबुद्धा असि, यत् वृत्तं तत् स्मरसि, मां उपालब्धुकामा तु मे ईषत् कुपितं इव दर्शयन्ती प्रपासि (इति) मन्ये, असकृत् पृच्छतः मे हे कितव कामपि रमयन् त्वं मया स्वप्ने दृष्टः असि । इति त्वया सान्तर्हासं कथितं ।।४९-५०।।

अर्थ—दिव्य यान से व्याप्त इस धरणेन्द्र के प्रस्थान के समय मृदंग बजने पर किसी उनके सेवक ने मुस्कराकर कान्ता को देखा पुनश्च कहा—हे सुन्दरी ! पहले शय्या पर मेरे गले से लगकर सोई हुई तुम किसी कारण से ऊँचे स्वर से रोती हुई जाग उठी हो, स्वप्न में जो घटना हुई उसका तुम्हें स्मरण है, मुझे उलाहना देने की इच्छा से मानों मेरे ऊपर कुछ कोप सा दर्शाती हुई प्राप्त हुई थी ऐसा मैं मानता हूँ । बार-बार मेरे पूछने पर

तुमने मन्द हास्य कर 'हे धूर्त ! मैंने स्वप्न में किसी स्त्री से रमण करते हुए तुमको देखा', ऐसा कहा था ।

दृष्ट्वाहीन्द्रं स्थितमधिजिनं सत्सपर्यं सजानिं,
प्रारेभेऽसौ सभयमसुरो मुक्तशैलोपयातुम् ।
रुद्धश्चैवं धरणपतिना भो भवान्माऽपयासी,
देतस्मान्मां कुशलिनमभिज्ञानदानाद्विदित्वा ॥ ५१ ॥

दृष्ट्वेति । **अधिजिनं** जिनमधिकृत्य प्रवर्तमानं तथोक्तं तस्मिन् । 'लब्धप्रय' इत्यादिनाऽव्ययीभावः । जिनेन्द्राभिमुखमित्यर्थः । स्थितं तिष्ठतिस्म स्थितस्तम् । **सत्सपर्यं** सती सपर्या यस्य तम् । 'सपर्या चार्हणा समा' **सजानिं** सह जायया वर्तत इति सजानिस्तम् । 'जायाया जानिः' इति बहुव्रीहावादेशः । **अहीन्द्रं** धरणीधरेन्द्रम् **दृष्ट्वा** प्रेक्ष्य । **असावसुरः** एष दैत्यः । **सभयं** भयसहितं यथा तथा । **मुक्तशैलः** त्यक्तपर्वतः **सन्** । तन्मूर्ध्नीन्द्रस्योपरिक्षेप्तुमुद्धृतं गिरिं मुविनिक्षिप्येत्यर्थः । **अपयातुम्** अपगन्तुम् । **प्रारेभे** उपचक्रमे । **च** पुनः । **भो भवान्** हे दैत्य त्वम् । **एतस्मात्** अस्मात् । **अभिज्ञानदानात्** अभिज्ञायत इति अभिज्ञानं लक्षणं तस्य आदानं वितरणं तस्मात् । **मां** नागेन्द्रम् । **कुशलिनं** क्षेमवन्तम् । **विदित्वा** ज्ञात्वा । **माऽपयासीत्** भवच्छद्मयोगात् मोपगच्छेत्यर्थः । **एवम्** इत्यभयदानेन । धरणपतिना धरणेशेन । **रुद्धः** व्यवस्थापितः ॥ ५१ ॥

अन्वय—सत्सपर्यं सजानिं अहीन्द्रं अधिजिनं स्थितं दृष्ट्वा मुक्तशैलः असुरः सभयं अपयातुं प्रारेभे; एतस्मात् अभिज्ञानदानात् मां कुशलिनं विदित्वा भो भवान् मा अपयासीत् [इति] एवं धरणपतिना रुद्धः च ।

अर्थ—समीचीन पूजन के द्रव्य से युक्त पत्नी सहित धरणेन्द्र को जिनेन्द्र भगवान् के सामने खड़ा हुआ देखकर पर्वत को छोड़ देनेवाले असुर ने भय सहित भागना प्रारम्भ किया। इस (आगे के श्लोक में वर्णित) पहिचान के साधनभूत वृत्तान्त के प्रतिपादन से मुझे (नागराज को) कल्याणकारी जानकर हे शम्बरासुर तुम मत भागो, इस प्रकार (अभिज्ञानदान वचन से) धरणेन्द्र के द्वारा वह रोक लिया गया।

पूर्वार्धपादवेष्टितं पश्चार्द्धार्धवेष्टितम्—

देवस्यास्य प्रियसहजकः पूर्वजन्मन्यभूस्त्वं,
स्त्रीकाम्यंस्त्वं प्रसभमवधीर्वैरकाम्यंस्तदैनम् ।
तत्ते मौढ्यात्कृतमनुचितं मर्षितं न त्वयापि,
मा कौलीनादसितनयने मय्यविश्वासिनी भूः ॥ ५२ ॥

देवस्येति । **पूर्वजन्मनि** कमठपरमरुभूतिभवे । **अस्य देवस्य** । मरुभूतिचरस्याहत्पार्श्वतीर्थनाथस्य । **त्वं** भवान् । **प्रियसहजकः** सह जायत इति सहजः स एव सहजकः प्रियश्चासौ सहजकश्च तथोक्तः । **कमठनामा प्रियभ्रातृकः** । **अभूः** अभवः । **तदा** तत्काले । **स्त्रीकाम्यन्** स्त्रीमिच्छन्नात्मन इति । **वैरकाम्यन्** सन् । **तमेनं** स्वामिनम् । **प्रसभं** सहसा । 'प्रसभस्तु बलात्कारो हठः' इत्यमरः । **अवधीः** जघनिथ । 'वध हिंसायां लुङ्' । **तत्** तत्कार्यम् । **ते** तव । **मौढ्यात्** अज्ञानात् । **अनुचितम्** अयुक्तम् । **कृतमपि** विहितमपि । **त्वया** भवता । **न मर्षितं** न क्षमितम् । निरपराधिनं न वधामीति न निश्चितमित्यर्थः । **मयि** नागेन्द्रे । **असितनयने** असिते रक्ते नयने यस्य तस्मिन् सति । **कौलीनात्** कुले भवात् कौलीनात् लोकवादात् । 'स्यात्कौलीनं । लोकवादे युद्धे पश्वहिपक्षिणाम्' इत्यमरः । **मय्यविश्वासनी भूः** प्रागनविश्वासनः इदानीमविश्वासनो मा भूरिति तथोक्तम् । अविश्वासवान्मा भूरित्यर्थः ॥५२॥

अन्वय—पूर्वजन्मनि त्वं अस्य देवस्य प्रियसहजकः अभूः । तदा स्त्रीकाम्यन् वैरकाम्यन् [त्वं] एनं तं प्रसभं अवधीः । मौढ्यात् अनुचितं तत् कृतं त्वया अपि न मर्षितम् । [अतः] असितनयने मयि कौलीनात् अविश्वासनी मा भूः ।

अर्थ—पूर्व जन्म में तुम इस देव के प्रिय भाई थे । उस समय (भाई की) स्त्री की कामना से वैर करने की इच्छा करते हुए तुमने इस पार्श्वनाथ जिनेन्द्र को जो उस समय मरुभूति था हठ से मार डाला । मूढ़ता के कारण औचित्य से रहित वसुन्धरा की अभिलाषा कर्म को भी तुमने नहीं सहा । इस अभिज्ञान के दान से लाल नेत्रवाले मुझ नागराज के प्रति (लाल नेत्र वाले नाग विश्वास योग्य नहीं हैं) इस लोकनिन्दा के कारण अविश्वासी मत होओ ।

धिक्कृत्यैनं मुहुरथ सजूकृत्य तं सोऽहिराजो,
भक्त्या भर्तुश्चरणयुगले प्राणमत्स्नेहनिघ्नः ।
स्नेहानाहुः किमपि विरहे ह्रासिनस्तेप्यभोगा-
दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशी भवन्ति ॥ ५३ ॥

धीकृत्येति । **अथ** अनन्तरे । धिक्कृत्येति पाठे । **स अहिराजः** नागेन्द्रः । **तं एनं** दैत्यम् । **मुहुः** पुनः पुनः । धिक्कृत्य तदपराधोद्भावनेन निर्भर्त्स्य । अथ तमसुरम् । **सजूकृत्य** सबन्धीकृत्य । **भक्त्या** गुणानुरागेण । **भर्तुः** अर्हत्स्वामिनः । **चरणयुगले** पादारविन्दद्वये । **स्नेहनिघ्नः** स्नेहाधीनः । 'अधीनो निघ्न आयत्तः' इत्यमरः । **प्राणमत्** प्रणति स्म । अथ स्नेहनिघ्न इत्यनेन नागेन्द्र पद्मावत्योः प्राग्भवे दया-

मानकाष्ठान्तर्गतस्य सर्पयुगलस्य पार्श्वनाथेन कृतोपकारो व्यज्यते। न च दीर्घ-कालविप्रकर्षात् पूर्वस्नेहविस्मृतिसम्भवो ...स्नेहानिति। किमपि किं वा निमित्तम्। अन्योन्य विप्रकर्षे सति। ह्रासिनः ध्वंसिनः नश्वरानित्यर्थः। स्नेहान् प्रेम्णः। आहुः ब्रुवन्ति। तत्तथा न भवतीत्यभिप्रायः। तेऽपि तेऽपि स्नेहाः। अभोगात् विरहभोगात् हेतोः। प्रसज्यप्रतिषेधे नञ्समास इष्यते। इष्टे समीहिते वस्तुनि। ये उपचितरसाः उपचितो रसः स्वादो येषां ते तथोक्ताः प्रवृद्धतृष्णास्सन्त इत्यर्थः। 'रसो गन्धरसास्वादे तिक्तादौ विषरागयोः' इति विश्वः। प्रेमराशी भवन्ति स्नेहाऽतिशयो भवति। वियोगसहिष्णुत्वमाप्नुवन्ते इत्यर्थः। स्नेहप्रेम्णो रवस्थाभेदाद्भेदः। तदुक्तम् 'आलोके नाभिलाषो रागस्नेहौ ततः प्रेम। परिस्फुरत्शृङ्गारयोगवियोगविप्रलम्भाख्य' इति। एतदेव स्फुटीकृतं रसाकरे 'प्रेमाविद्धोरन्योन्यं तच्चिन्ताभिलाषः तत्सङ्गः बुद्धिः स्यात्स्नेहः तत्प्रवणक्रियाः तद्वियोगासहं प्रेम अतीव तत्सहवर्तनं शृङ्गारः तत्समकोशसंयोगः सप्तधा क्रमः इति ॥ ५३ ॥

अन्वय—अथ एनं तं मुहुः धिक्कृत्य सजूकृत्य सः अहिराजः भर्तुः चरण-युगले स्नेहनिघ्नः भक्त्या प्राणमत्। (यत्) विरहे स्नेहान् ह्रासिनः आहु (तत्) किमपि। ते अभोगात् इष्टे वस्तुनि उपचितरसा (सन्तः)। प्रेमराशी भवन्ति।

अर्थ—अनन्तर पूर्वभव के वैरी इस शम्बरासुर को बार-बार धिक्कार कर सहायक बनाकर उस नागराज ने भगवान् पार्श्व जिनेन्द्र के दोनों चरणों में स्नेह के अधीन होकर प्रणाम किया [जो लोग] विरह में स्नेहों को नाशशील कहते हैं वह नहीं कहना चाहिए। वे (स्नेह) उपभोग न होने के कारण अभीष्ट पदार्थ में अभिलाष बढ़ने के कारण प्रेम के राशि रूप हो जाते हैं।

संक्षेपाच्च स्तुतिमुरगराट् कर्तुमारब्ध भर्तुः,
श्रेयस्सूते भवति भगवन्भक्तिरल्पाप्यनल्पम्।
श्रेयस्कामा वयमत इतो भोगिनीं नोऽनुकूला-
माश्वास्यैनां प्रथमविरहे शोकनष्टां सखीं ते ॥ ५४ ॥

संक्षेपादिति। उरगराट् नागराजः। भर्तुः तीर्थेशस्य। स्तुतिं च स्तोत्रमपि। 'स्तवः स्तोत्रं स्तुतिर्नुतिः' इत्यमरः। संक्षेपात् समासात्। कर्तुं करणाय। आरब्ध उपचक्रमे। भगवन् भो स्वामिन्। भवति त्वयि। भक्तिः गुणानुरागः। अल्पापि अल्पीयस्यपि। अनल्पं महत्। श्रेयः भद्रम्। सूते विदधाति। अतः अस्मात्कारणात्। श्रेयस्कामाः श्रेयोभिलाषिणः। वयं भाक्तिकाः। ते तव। प्रथमविरहे आद्यवि-प्रलम्भे। शोकनष्टां दुःखाक्रान्ताम्। प्रथमविरहोदग्रशोकामिति वा पाठः। प्रथम-विरहदुःखः समन्ततः शोको यस्यास्ताम्। एनां सखीम् स्वद्भक्तिं प्रियाम्।

आश्वास्य उज्जीव्य । नः अस्माकम् । अनुकूलाम् अनुरूपाम् । भोगिनीं भोगवतीं नागस्त्रीम् । प्राप्ता इति भावः ॥ ५४ ॥

अन्वय—उरगराट् सङ्क्षेपात् भर्तुः स्तुतिं च कर्तुं आरब्ध—भगवन् ! भवति अल्पा अपि भक्तिः अनल्पं श्रेयः सूते । अतः प्रथमविरहे शोकदष्टां नः अनुकूलां एनां सखीं भोगिनीं आश्वास्य ते वयं श्रेयस्कामाः (सन्तः) इतः (प्राप्ताः) ।

अर्थ—नागराज ने संक्षेप में भगवान् जिनेन्द्र की स्तुति करना आरम्भ किया—हे भगवन् ! आपके विषय में थोड़ी भी भक्ति विपुल पुण्य को उत्पन्न करती है । अतः प्राथमिक विरह में शोक से अत्यन्त पीड़ित हमारी अनुकूल इस सखी नागिन पत्नी को आश्वासन देकर वे (जिनका शरीर जल गया था) हम लोग कल्याण के अभिलाषी होकर यहाँ आये हैं ।

भावार्थ—धरणेन्द्र ने स्तुति की कि हे भगवन् ! पूर्वजन्म में कमठ के जीवधारी तापस के द्वारा जलाए जाने पर आपके द्वारा सम्बोधित होकर हम देवयोनि को प्राप्त हुए हैं । इस प्रकार थोड़ी भी भक्ति अधिक फल को देती है । हम लोगों का और भी अधिक कल्याण हो, ऐसी भावना से हम लोग पुनः आपके चरणों में नम्र होकर पूजा के लिए आये हैं । कमठ के जीवधारी तापस द्वारा जला देने पर नाग-नागिनी का पहले विरह हो गया था । अनन्तर देवगति में पुनर्मिलन हुआ । दोनों भगवान् पार्श्व की पूजा करने के लिए आए ।

तमेवार्थं स्पष्टयति—

सेवा सेवां त्वयि विदधति श्रेयसे मे दुरापं,
यन्माहात्म्यात्पदमधिगतं कान्तयाऽमा मयेदम् ।
यस्माच्चैनं तदनुचरणेनाहमुज्झन्विहारं,
तस्मादद्रेस्त्रिनयनवृषोत्खातकूटान्निवृत्तः ॥ ५५ ॥

सेति । यन्माहात्म्यात् यस्याः भक्तेः सामर्थ्यात् । कान्तयाऽमा वनितया सह । 'अमा सह समीपे च' इत्यमरः । मया फणी शेन । दुरापं दुःखेन आप्यत इति दुरापं प्राप्तुमशक्यम् । इदं पदम् एतन्नागेन्द्र पदम् । 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रि वस्तुषु' इत्यमरः । अधिगतं प्राप्तम् । यस्माच्च कारणात् । अहम् अहीशः । तदनुचरणेन तस्याः भक्तेरनुकूलाचरणेन । एनं प्रकृतम् । विहारं लीलाविहरणम् । उज्झन् त्यजन् । त्रिनयनवृषोत्खातकूटात् त्रिनयनस्य त्रिनेत्रदिगीशस्य वृषेण वृषभेन 'सुकृते वृषभे वृषः' इत्यमरः । उत्खाता अवतारिताः कूटाः शिखराणि यस्य तस्मात् । 'कूटोऽस्त्री शिखरं शृङ्गम्' इत्यमरः । तस्मादद्रेः कैलासात् । निवृत्तः व्यावृत्तो

स्मि । त्वद्भक्त्यैव प्रकृतं विहारं त्यक्त्वा निवृत्त इत्यर्थः । सैषा त्वद्भक्तिः । मे मम । श्रेयसे सुखाय । त्वयि जिनेन्द्रे । सेवां सेवनम् । विदधते बिभर्ति ॥ ५५ ॥

अन्वय—यन्माहात्म्यात् मया कान्तया समा इदं दुरापं पदं अधिगतं, यस्मात् च तदनुचरणेन अहं विहारं उज्झन् त्रिनयनधोत्खातकूटात्तस्मात् अद्रेः निवृत्तः सा एषा त्वयि सेवां विदधतः मे श्रेयसे ।

अर्थ—जिस भक्ति के प्रभाव से मुझे पत्नी के साथ यह कठिनाई से प्राप्त करने योग्य (दुर्लभ) नागेन्द्र पद प्राप्त हुआ और जिसके माहात्म्य से भक्ति के अनुकूल आचरण करने के कारण मैं विहार (क्रीड़ा के लिए भ्रमण) को छोड़कर रत्नत्रय के धारी ऋषभदेव के लिए निर्मित शिखर से युक्त मन्दिर वाले उस कैलाशपर्वत से लौटा हूँ । वह (धरणेन्द्र के पद को प्रदान करने वाली) भक्ति आपकी सेवा (भक्ति) करती हुई मेरे कल्याण के लिए हो ।

तन्मे देव श्रियमुपरिमां तन्वतीयं त्वदङ्घ्र्योर्-
भक्तिर्भूयान्निखिलसुखदा जन्मनीहाप्यमुत्र ।
कान्तासङ्गैरलमघवशाद्गृध्नुतां वर्धयद्भिः,
साभिज्ञानं प्रहितवचनैस्तत्र युक्तैर्ममापि ॥ ५६ ॥

तदिति । तत् तस्माद्धेतोः । देव भो स्वामिन् । उपरिमाम् उत्तरफलरूपाम् । श्रियं सम्पदम् । तन्वती कुर्वती । इह अस्मिन् । अमुत्रापि परत्रापि । जन्मनि भवे । निखिलसुखदा निखिलानि सुखानि ददातीति तथोक्ता । त्वदङ्घ्र्योः तव पादयोः । पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्" इत्यमरः । इयं भक्तिः गुणानुरागः । मे मम । भूयात् भवतु । अघवशात् मोहनीयाख्यपापवशात् । गृध्नुताम् अभिलाषुकत्वम् । "गृध्नुस्तु गर्धनः । लुब्धोऽभिलाषुकः" इत्यमरः । वर्धयद्भिः एधयद्भिः । साभिज्ञानं सलक्षणं यथा तथा । प्रहितवचनैः प्रहितकुशलैरिति वा पाठः । प्रहितं प्रेषितं वचनं कुशलं वा येषु तैः । तत्र तत्कार्ये । युक्तैरपि विशिष्टैरपि । कान्तासङ्गैः वनितासंसर्गैः । मम भुजगराजस्य । अलं पर्याप्तम् । अनादिकर्मविशात् पुनः कांक्षां वर्धयन्तः । कान्तासंसर्गा मा भूवन् । निखिलश्रेयस्करी त्वद्भक्तिरेव भूयादिति प्रार्थना ॥५६॥

अन्वय—तत् देव ! उपरिमां श्रियं तन्वती इयं त्वदङ्घ्र्योः भक्तिः इह जन्मनि अमुत्र अपि मे निखिलसुखदा भूयात् । युक्तैरपि कान्तासङ्गैः तत्र अघवशात् मम गृध्नुतां वर्धयद्भिः साभिज्ञानं प्रहितवचनैः अलम् ।

अर्थ—अतः हे देव ! उत्तम सम्पदा को देती हुई यह आपके चरणों की भक्ति इस जन्म और परलोक में भी मेरे लिए सब प्रकार से सुखदायी

हो। विशिष्ट होने पर भी कामिनियों के संसर्ग अपने विषय में (चरित्र मोहनीय नामक) पापकर्मों के वश मेरी अभिलाषा की वृद्धि करते हुए लक्षणों सहित प्रेषित वचनों से पर्याप्त हैं अर्थात् अनादि कर्म के वश पुनः आकाङ्क्षा को बढ़ाते हुए कान्ताओं के संसर्ग आगेन हों। समस्त प्रकार के कल्याणों को करने वाली आपकी भक्ति ही मेरे अन्दर विद्यमान हो, ऐसी आपसे प्रार्थना है।

व्याख्या—कामिनी संसर्गों से क्या लाभ है तथा कामिनी संसर्ग के विषय से सम्बद्ध और चारित्रमोहनीय नामक पापकर्म के कारण मेरी अभिलाषा को बढ़ाने वाले प्रत्यभिज्ञान सहित प्रेषित वचनों से भी क्या लाभ ? अर्थात् कोई लाभ नहीं है।

भूयो याचे सुरनुत मुने त्वामुपारूढभक्तौ,
दैत्ये चास्मिन्प्रणयमधुरां देहि दृष्टिं प्रसीद।
[1]चित्तोद्योगैरनुशयकृतैश्चास्य गात्रात्प्रपित्सु,
प्रातःकुन्दप्रसवशिथिलं जीवितं धारयेदम् ॥५७॥

भूय इति। **सुरनुत** भो देवस्तुत। **मुने** मन्यते केवलज्ञानेन लोकालोकस्वरूप-मिति मुनिः तत्सम्बोधनं हे योगीन्द्र। **त्वां** भवन्तम्। **भूयः** पुनः। **याचे** प्रार्थयामि। उपारूढभक्तौ सम्प्राप्तभजने शरणं गते इत्यर्थः। **अस्मिन् दैत्ये च** एतदसुरेऽपि। **प्रणयमधुरां** प्रीतिकोमलाम्। **दृष्टिं** दर्शनम्। **देहि** देयाः। **प्रसीद** प्रसन्नो भव। **अनुशयकृतैः** पश्चात्तापविहितैः। **चित्तोद्योगैः** चित्तोद्वेगैरिति वा पाठः। चित्तोद्वेगैः निजापराध स्मरणजनितमनोभयैः। **अस्य दैत्यस्य। गात्रात्** शरीरात्। **प्रपित्सु** प्रपतितुमिच्छु प्रपित्सु प्रयियासु। **प्रातःकुन्दप्रसवशिथिलं** प्रभातकुन्दकुसुममिव शिथिलं दुर्लभम्। **इदं जीवितम्** एतज्जीवनम्। **धारय** स्थापय। निजापराधस्मरणानुशयात् पापभीतेश्च दैत्यस्य गात्रान्निर्यज्जीवितं प्रसन्नदृष्ट्या समाश्वास्य पालयेति भावः ॥५७॥

अन्वय—भो सुरनुत मुने त्वां भूयः याचे; प्रसीद, अस्मिन् च उपारूढभक्तौ दैत्ये प्रणयमधुरां दृष्टिं देहि; अनुशयकृतैः चित्तोद्वेगैः प्रातःकुन्द प्रसवशिथिलं इदं गात्रात् प्रपित्सुजीवितं धारय।

अर्थ—हे देवताओं के द्वारा स्तुति किए गए मुनि ! तुमसे पुनः याचना करता हूँ। प्रसन्न होओ और इस बढ़ी हुई भक्ति वाले दैत्य शम्बरासुर पर दया से मधुर दृष्टि डालो, पश्चाताप से किए गए चित्त के उद्वेगों

१. चित्तोद्वेगैः।

(किए गए अपराधों की स्मृति से उत्पन्न मानसिक भयों) से प्रातःकालीन कुन्द के फूल के समान शिथिल और शरीर से गिरने के इच्छुक (मृत्यु को चाहने वाले) इस जीवन को तुम (पार्श्व) धारण कराओ (पतन से निवारण करो, बचाओ ।

स्तुत्यन्तेऽसौ व्यरचयदिवच्छत्रमुच्चैः फणालिं,
भर्तुर्भक्त्या दधदधिशिरः स्वां वितत्य प्रमोदात् ।
व्यात्तैर्वक्त्रैर्ध्रुवमिति मुनिं वक्तुकामस्तदानीं,
कच्चित्सौम्य व्यवसितमिदं बन्धुकृत्यं त्वया मे ॥५८॥

स्तुत्यन्त इति । स्तुत्यन्ते स्तोत्रावसाने । तदानीं तत्समये । असौ नागेन्द्रः । सौम्य भो मनोहराङ्ग । "सौम्यं तु सुन्दरे सोमदैवते" इत्यमरः । मे मम । त्वया भवता सह । बन्धुकृत्यं बान्धवकार्यम् । इदम् एतत् । व्यवसितम् निश्चितम् । कच्चित् । "कच्चित्कामप्रवेदने" इत्यमरः । इति एवं । व्यात्तैः विदारितैः । वक्त्रैः मुखैः । मुनिं पार्श्वनाथं प्रति । प्रमोदात् प्रहर्षात् । ध्रुवं निश्चयेन वक्तुकामः भाषितुमिच्छुस्सन् । स्वां स्वकीयाम् । फणालिं फणानामावलिम् । "स्फटायां तु फणाद्वयोः" "वीथ्यालिरावलिः पङ्क्तिः" इत्यमरः । वितत्य विस्तृत्य । भक्त्या अनुरागेण । भर्तुः तीर्थनाथस्य । अधिशिरः शिरोऽधिकृत्याधिशिरः तस्मिन् । "शब्द प्रथा" इत्यव्ययीभावः । दधत् धरन् । उच्चैः महत् । छत्रमिव आतपत्रमिव । व्यरचयत् विरराज । कमठकृतोपसर्गव्यपोहनाय नागेन्द्रः स्वविक्रियया भुजगफणालिं तन्मस्तकस्योपरि वितताननेति भावः ॥५८॥

अन्वय—सौम्य ! कच्चित् इदं मे बन्धुकृत्यं त्वया व्यवसितं इति व्यात्तैः वक्त्रैः तदानीं मुनिं ध्रुवं वक्तुकामः असौ स्तुत्यन्ते भक्त्या स्वां फणालिं उच्चैः वितत्य प्रमोदात् भर्तुः अधिशिरः दधत् छत्रं इव व्यरचयत् ।

अर्थ—हे सौम्य ! मेरे इस कार्य को करने के लिए क्या तुमने निश्चय किया है ? इस प्रकार खुले मुखों से उस समय मुनि भगवान् जिनेन्द्र से कहने के इच्छुक नागराज ने स्तुति के अन्त में भक्ति से अपने फणों की पंक्ति को अत्यधिक रूप में फैलाकार हर्ष से भगवान् पार्श्व के सिर पर धारण करते हुए मानों छत्र रच दिया ।

इतः पार्श्वेऽपिसान्येव—

देवी चास्य प्रचलदलका लोलनेत्रैर्भुजक्त्रा,
दिव्यं छत्रं व्यरचयदहो धैर्यमित्यालपन्ती ।

दैत्यस्याद्रेर्यदभिदलनं शक्तियोगेऽपि कर्त्तुं,
प्रत्यादेशान्न खलु भवतो धीरतां कल्पयामि ॥५९॥

देवीति । **प्रचलदलका** प्रचलन्तः अलकाश्चूर्णकुन्तलाः यस्याः सा तथोक्ता । **लोलनेत्रा** लोले चञ्चले नेत्रे यस्याः सा । "लोलश्चलसतृष्णयोः" इत्यमरः । **इन्दुवक्त्रा** इन्दुरिव वक्त्रं यस्याः सा इन्दुवक्त्रा । **अस्य** नागेन्द्रस्य । **देवी च** कान्ताऽपि । **यत्** यस्मात् । **दैत्यस्य** असुरस्य । **अद्रेः** पर्वतस्य । तेन पातित-स्येति भावः । **अभिदलनं** विदारणम् । **कर्त्तुं** विधानाय । **शक्तियोगेऽपि** सामर्थ्यसम्भवेऽपि । **प्रत्यादेशात्** प्रतिवचनात् । करिष्यामीति प्रतिभाषणादित्यर्थः । "उक्तिराभाषणं वाक्यमादेशो वचनं वचः" इति शब्दार्णवे । **भवतः** अनन्त शक्ति-मस्तव । **धीरतां** धीरत्वम् । **न कल्पयामि खलु** न समर्थयामि । किं तर्हि । प्रत्युक्त्याऽभावेऽपि निश्चिन्तोम्येवेति भावः । तस्माद्धेतोः **अहो धैर्यमिति** । आश्चर्यं धीरत्वमिति । **आलपन्ती** ब्रुवन्ती । **दिव्यं** दिवि भवम् । **छत्रम्** आतपवारणं **व्यरचयत्** असृजत् ॥५९॥

अन्वय—अहो धैर्यम् ! यत् दैत्यस्य अद्रेः अभिदलनं कर्त्तुं शक्तियोगे अपि प्रत्यादेशात् भवतः धीरतां न खलु कल्पयामि इति आलपन्ती प्रचलदलका लोलनेत्रा इन्दुवक्त्रा अस्य देवी च दिव्यं छत्रं व्यरचयत् ।

अर्थ—ओह ! कितना बड़ा धैर्य है ? जो कि दैत्य शम्बरासुर द्वारा उठाए हुए पर्वत के खण्ड-खण्ड करने की शक्ति होने पर भी दैत्य के पर्वत के टुकड़े करने का निराकरण करने के कारण आपके धैर्य के विषय में मन से भी नहीं सोचती हूँ । ऐसा कहती हुई चंचल केश तथा नेत्रों वाली चन्द्रमुखी इस धरणेन्द्र की देवी ने दिव्यछत्र की रचना कर दी ।

भावार्थ—भगवान् में इतनी सामर्थ्य विद्यमान थी कि वह दैत्य द्वारा अपने ऊपर फेंके गए पर्वत के खण्ड-खण्ड कर सकते थे, किन्तु भगवान् ने यह नहीं किया । धरणेन्द्र की देवी ने भगवान् इतने अधिक धैर्यवान् है, इसकी मन से भी कल्पना नहीं की थी अतः श्रद्धा से उसने भगवान् के ऊपर दिव्यछत्र की रचना कर दी ।

तच्छायायां समधिकरुचिं देवमुत्पन्नबोधं,
बद्धास्थानं शरणमकुल त्यक्तवैरः स दैत्यः ।
श्रेयोऽसभ्यं समभिलषितं वारिवाहो यथा त्वं,
निःशब्दोऽपि प्रदिशसि जलं याचितश्चातकेभ्यः ॥६०॥

तदिति । **तच्छायायां** तयोर्नागेन्द्रकरणातच्छत्रयोः छायायामनातपे । **समधिक-रुचिं** समधिकाप्रवृद्धारुचिः कान्तिर्यस्य तम् । **उत्पन्नबोधं** सञ्जातकेवलज्ञानम् ।

अनेन तदुपसर्गविमर एव नागेन्द्रपद्मावतीभ्यां फणावलिच्छत्रत्रयं विरचितमिति पुराणार्थः सूच्यते । **बद्धास्थानं** बद्धं शक्राधिष्ठेन धनदेन विरचितम् आस्थानं समवशरणं यस्य तं **देवं** पार्श्वतीर्थनाथम् । स दैत्यः कमठचरोऽसुरः । **त्यक्तवैरः** मुक्तविरोधः सन् । **शरणं** रक्षितारम् । "शरणं गृहरक्षित्रोः" इत्यमरः । **अकृत** अकरोत् । 'डुकृञ् करणे' लुङि तङ् । **वारिवाहः** मेघः । **याचितः** प्रार्थितः सन् । **निःशब्दोऽपि** निर्गर्जितोऽपि । **चातकेभ्यः** पक्षिविशेषेभ्यः । **अभिलषितं** वाञ्छितम् । **जलम्** उदकम् । **यथा** यद्वत् **प्रदिशति** तद्वदित्यर्थः **त्वं तीर्थनाथो** भवान् । **अस्मभ्यं** नः । श्रेयः अभ्युदयनिः श्रेयससम्पत्तिम् । **प्रदिशसि** प्रदाता भवसि । इह परत्र जन्मनि सुखदाता भवसीति भावः ॥६०॥

प्रत्युत्कीर्णो यदि च भगवन्भव्यलोकैकमित्रात्,
त्वत्तः श्रेयः फलमभिमतं प्राप्नुयादेव भक्तः ।
प्रत्युक्तैः किं फलति जगते कल्पवृक्षः फलानि,
प्रत्युक्तं हि प्रणयिषु सतामीप्सितार्थक्रियैव ॥६१॥

प्रत्युत्कीर्ण इति ॥ **भगवन्** भो पार्श्वनाथ । **भक्तः** भाक्तिकजनः । **त्वां प्रत्युत्कीर्णः** अभ्युदयादि सुखं मम देहीति प्रतिवाक्योत्कीर्णः । **यदि च** चेत्तर्हि **भव्यलोकैकमित्रात्** भव्यलोकानां भाक्तिकजनानाम् । एकं मुख्यं मित्रं श्रेयस्सुखं तस्मात् । "लोकस्तु भुवने जने" "एके मुख्यान्यकेवलाः" इत्युभयत्राप्यमरः । **त्वत्तः** भवत्सकाशात् । **अभिमतं** वाञ्छितम् । **श्रेयः फलं** सौख्यफलम् । **प्राप्नुयादेव** उपलभेतैवेति निश्चयः । तथाहि । **कल्पवृक्षः** सुरद्रुमः । **जगते** सुकृतिने लोकाय । **फलानि** अभीष्टवस्तूनि । **प्रत्युक्तैः** दिशामीति प्रत्युत्तरैः । **फलति किं** निष्पादयति किम् । किं तर्हि **सतां** सत्पुरुषाणाम् । **प्रणयिषु** विनयवत्सु जनेषु । **ईप्सितार्थक्रियैव** अभिमतार्थप्रदानमेव । **प्रत्युक्तं हि** प्रतिवचनं हि । **क्रिया** केवलमुत्तरमित्यर्थः । "नीचो वदति न कुरुते न वदति सुजनः करोत्येव ।" इति तात्पर्यम् ॥६१॥

अन्वय—सः त्यक्तवैरः दैत्यः तच्छायायां समधिक रुचिं उत्पन्नबोधं बद्धास्थानं देवं शरणं अकृत । हे भगवन् ! [यदि प्रत्युत्कीर्णः वारिवाहः चातकेभ्यः जलं यथा याचित (सन्) निःशब्दः अपि अस्मभ्यं समभिलषितं श्रेयः प्रदिशसि, यदि च भव्यलोकैकमित्रात् त्वत्तः भक्तः अभिमतं फलं प्राप्नुयात् एव, (तर्हि) श्रेयः । कल्पवृक्षः फलानि जगते किं प्रत्युक्तैः फलति ? प्रणयिषु ईप्सितार्थक्रिया एव हि सतां प्रत्युक्तम् ।

अर्थ—वैर को छोड़कर उस दैत्य ने फण रूप छत्रों की छाया में अधिक कान्तियुक्त, केवलज्ञान को प्रकट करने वाले, समवशरण से युक्त

भगवान् पार्श्वनाथ तीर्थंकर की शरण ली। हे भगवन् ! यदि रवीभूत अथवा विनश्वर मेघ (जिनपक्ष में केवलज्ञान से युक्त) चातकों को जैसे शब्द नहीं करके जल देता है, उसी प्रकार प्रार्थना किए जाने पर मौन को धारण किए हुए भी आप हमलोगों को अभीष्ट कल्याण प्रदान करते हो। यदि भव्य जीवों के एकमात्र मित्र आपसे भक्त इष्टफल निश्चित रूप से प्राप्त करता ही है तो श्रेयस्कर है अर्थात् यदि आप मौन होकर भी कुछ देते हैं और भक्त इष्टफल प्राप्त करता ही है तो आपका मौन श्रेयस्कर है। क्या कल्पवृक्ष संसार के लिए फलों को प्रत्युक्तियों से (शब्दों से—उत्तरों से) देते हैं ? सविनय याचकों के अभीष्ट प्रयोजन का सम्पादन करना ही सज्जनों का प्रत्युत्तर है।

भावार्थ—कल्पवृक्ष बिना कुछ बोले चुपचाप ही संसार के प्राणियों को फल देते हैं। इसी प्रकार सज्जन पुरुष बिना बोले ही अभिलषित अर्थ को देते हैं।

सह्रीकस्ते कथमपि पुरो वर्त्तितुं सङ्कुटेऽहं,
दूराद्वक्तुं निकृतिबहुलः पापकृद्वैरदग्धः।
सौजन्यस्य प्रकटय परां कोटिमात्मन्यसङ्गा-
देतत्कृत्वा प्रियमनुचितप्रार्थनादात्मनो मे ॥६२॥

सह्रीक: इति। **निकृतिबहुल:** तिरस्कारप्रचुर:। शठत्वभरितो वा। "कुसृतिर्निकृति: शाठ्यम्" इत्यमर:। **पापकृत्** पापं करोतीति तथोक्त:। दुष्कर्मा-स्रवान। "ह्रस्वस्य तक् पिति कृति" इति तगागम:। **वैरदग्ध:** वैरेण चिरानुबद्धविरोधेन दग्ध: सन्तप्त:। पापकृद्वैरदग्ध इत्येकपदं वा। पापकृच्चासौ वैरदग्धेन दग्ध:। **अहं** दैत्यपाश:। **सह्रीक:** लज्जा सहित: सन्। **दूरात्** विप्रकृष्टात्। **वक्तुं** भाषितुम्। **ते** भवतस्तव। **पुर:** अग्रत:। **वर्त्तितुं** स्थातुम्। **कथमपि** किमिव। **सङ्कुटे** उत्सुकोऽस्मि मे। **अनुचितप्रार्थनात्** अयोग्य याचनात् असङ्गात् नि:सङ्गात्। **आत्मन:** स्वस्य। **अप्रियम्** उपेक्षात्मकम्। एतत् वक्ष्यमाण-कार्यम्। **कृत्वा** निकर्य। **आत्मनि** स्वस्मिन्। **सौजन्यस्य** साधुत्वस्य। **परां कोटिम्** अत्यन्तप्रकर्षम्। "कोटी सङ्ख्याप्रकर्षयो:" इत्यमर:। **प्रकटय** प्रादुर्भावय। "उपकारिषु य: साधु: साधुत्वे तस्य को गुण:। अपकारिषु य: साधु: स साधु: सद्भिरुच्यते" इति वचनबलात्। अपकारिणि मय्युपकारं विधाय सुजनत्वं प्रकटयेति भाव: ॥ ६२॥

अन्वय—सह्रीक: निकृतिबहुल: पापकृत् वैरदग्ध: अहं ते पुर: वर्त्तितुं कथ-

अपि सङ्कुचे । वक्तुं दूरात् । आत्मनि असङ्गात् (ते) अनुचितं (मे) प्रियं एतत् मे प्रार्थनात् कृत्वा आत्मनः सौजन्यस्य परां कोटिं प्रकटय ।

अर्थ—लज्जायुक्त, अपकारबहुल, पापकारी, वैर से जले हुए हृदय वाला मैं (शम्बरासुर) आपके सामने जिस किसी प्रकार (बड़े कष्ट से) बैठने का यत्न कर रहा हूँ। (आपसे कुछ) कहना दूर रहे। अपने शरीर के प्रति निरासक्त होने के कारण आपके अयोग्य और मेरे योग्य इस कार्य को मेरी प्रार्थना के कारण करके अपने सौजन्य के उत्कृष्ट प्रकर्ष को (तुम-पार्श्व) प्रकट करो।

अत्राणं मामपघृणमतिप्रौढमायं दुरीहं,
पश्चात्तापाच्चरणपतितं सर्वसत्त्वानुकम्प ।
पापापेतं कुरु सकरुणं त्वाद्य याचे विनम्रः,
सौहार्दाद्वा विधुर इति वा मय्यनुक्रोशबुद्ध्या ॥६३॥

अत्राणमिति । **सर्वसत्त्वानुकम्प** सर्वेषु सत्त्वेषु अनुकम्पा यस्य तस्य सम्बोधनम् । "द्रव्यासुव्यवसायेषु सत्त्वमस्त्री तु जन्तुषु" इत्यमरः । **अद्य** इदानीम् । **विनम्रः** नमनशीलः सन् । "नम् कम्पज" इत्यादिना रत्यः । **त्वा** भवन्तम् । "त्वामौ द्वितीयायाः" इति त्वादेशः । **याचे** प्रार्थये । **सौहार्दात्** सुहृद्भावात् । **विधुर इति** वा विधुरं । वियुक्त इति हेतोर्वा । "विधुरस्तु प्रविश्लिष्टः ।" "इति हेतु प्रकरणे" इत्युभयत्राप्यमरः । **मयि** विषये । **अनुक्रोशबुद्ध्या** वा अनुकम्पा मत्या वा । "कृपा दयाऽनुकम्पा स्यादनुक्रोशोऽपि" इत्यमरः । **अपघृणं** दयारहितम् । "कारुण्यं करुणा घृणा" इत्यमरः । "कारुण्यं करुणा घृणा" इत्यमरः । **अतिप्रौढमायं** प्रवृद्धमायम् । **दुरीहं** दुश्चेष्टाभिप्रायम् । "इच्छा काङ्क्षा स्पृहेहा तृड् वाञ्छा लिप्सामनोरथः" इत्यमरः । **पश्चात्तापात्** अनुतापात् । प्रकृतदोषस्मरणोद्भूतचित्त सन्तापादित्यर्थः । **चरणपतितं** पादयोरानतम् । अत्राणम् अशरणम् । "त्रातं त्राणं रक्षितमवितं गोपायितं च गुप्तं च" इत्यमरः । **माम्** असुरपाशम् । **पापापेतं** दुष्कर्मरहितम् । सकरुणं करुणया सहितम् । **कुरु** विधेहि ॥६३॥

अन्वय—सर्वसत्त्वानुकम्प ! विनम्रः अहं त्वा अद्य सकरुणं याचे । सौहार्दात् वा, विधुर इति मय्यनुक्रोशबुद्ध्या वा अत्राणं अपघृणं अति प्रौढमायं दुरीहं पश्चात्तापात् चरणपतितं मां पापापेतं कुरु ।

अर्थ—हे प्राणिमात्र के प्रति दया रखने वाले ! विनम्र होकर मैं (कमठ का जीव) तुमसे आज दीनता सहित याचना करता हूँ। सौहार्द

से अथवा यह विधुर (पाप से भयभीत या दुःखाकुल) है, ऐसा विचार कर मेरे प्रति अनुकम्पा भाव रखकर अशरण, निर्दय, अत्यन्त प्रौढमाया युक्त, दुष्टाभिलाषी (एवं) पश्चाताप के कारण चरणों में गिरे हुए मुझे पाप रहित करो।

इत्थङ्कारं कमठदनुजः स्वापकारं प्रमार्जन्,
भूयः स्माह प्रकटितमहाभोगभोगीन्द्रगूढः।
लोकाह्लादी नव इव घनो देव धर्माम्बुवर्षं-
स्त्विष्टान्देशान्विचर जलद प्रावृषा सम्भृतश्रीः॥६४॥

इत्थंकारमिति। **इत्थंकारम्** इत्थमेव इत्थङ्कारम्। "वर्णात्कारः" इति स्वार्थे कारप्रत्ययः। अनेन प्रकारेण। **कमठदनुजः** कमठचरासुरः। **स्वापकारं** स्वेनकृतापकृतिम्। **प्रमार्जन्** क्षालयन्। **भूयः** पुनः। **आह स्म** ब्रवीति स्म। "ब्रुवस्तिप्रज्ञ" इत्यादिना णश्प्रत्ययः। आहादेशश्च। **देव** भो सर्वज्ञ। **जलद** हे सद्धर्मामृताम्भोद। प्रावृषा वर्षाभिः। "स्त्रियां प्रावृट् स्त्रियां भूम्नि वर्षाः" इत्यमरः। **सम्भृतश्रीः** प्राप्त शोभः। **नवः** नवीनः। **घन** इव मेघो यद्वत् तद्वत्। **प्रकटितमहाभोगभोगीन्द्रगूढः** प्रकाशितो महाभोगो नागशरीरं यस्य तथोक्तः स चासौ भोगीन्द्रश्च तेन गूढः संवृतः। **लोकाह्लादी** जगत्सन्तोषकारी। **धर्माम्बु** धर्मामृतम्। **वर्षन्** सिञ्चन्। **इष्टान्** समीहितान् **देशान्** जनपदान्। **विचर** विहर श्रीविहारोद्यतो भवेत्यर्थः अत्र भोगीन्द्रगूढत्वेन प्रावृड्जलदोपमा धर्माम्बुवर्षित्वेन जलदसम्बुद्धिश्च निरूप्यते। लोकाह्लादित्वम् इष्टदेशविहारश्च उभयत्र समानेव।

अन्वय—कमठदनुजः इत्थङ्कारं स्वापकारं प्रमार्जन् भूयः आह स्म—'देव जलद प्रावृषा सम्भृतश्रीः नवः घनः इव धर्माम्बुवर्षन् लोकाह्लादी प्रकटितमहाभोगभोगीन्द्रगूढः इष्टान् देशान् विचर।

अर्थ—कमठ के जीवधारी शम्बरासुर ने इस प्रकार अपने अपकार का प्रक्षालन करते हुए पुनः कहा—हे देव ! (सद्धर्म रूपी अमृत के लिए) मेघ (के समान) वर्षा ऋतु के कारण समृद्ध शोभा से सम्पन्न होते हुए नए मेघ के समान धर्मरूप जल की वर्षा करते हुए लोक को आह्लादित करने वाले, जिसने विस्तृत फणों के समूह का प्रकट किया है ऐसे धरणेन्द्र से शरीर को ढके हुए आप इष्ट देशों में विचरण करें।

यत्तन्मौढ्याद्बहुविलसितं न्यायमुल्लङ्घ्य वाचां,
तन्मे मिथ्या भवतु च मुने दुष्कृतं निन्दितस्य।

भक्त्या पादौ जिन विनमतः पार्श्व मे तत्प्रसादात्,
मा भूदेवं क्षणमपि सखे विद्युता विप्रयोगः ॥६५॥

यदिति । **तत्** तस्मात् कारणात् । **मुने** भो सर्वज्ञ । **मौढ्यात्** अज्ञानात् । **न्यायं** नयनमार्गम् । **उल्लङ्घ्य मे** मम । **वाचां** वचसां **यत् बहु विलसितं** बहुलं विहितम् । **तत्** निन्दित स्वं निन्दित स्वो यस्य तत् तथोक्तम् । "स्वो ज्ञातावात्मनि स्वं त्रिष्वात्मीये स्वोऽस्त्रियां धने" इत्यमरः । दुष्कृतं च पापमपि । उपलर्जित मिति शेषः । "अंहो दुरितदुष्कृतम्" इत्यमरः । **मिथ्या** असत् अभावरूपमित्यर्थः । **भवतु** अस्तु । जिन भो विजयिन् । त्रयोविंशति तीर्थंकर परमदेव । **सखे** भो मित्र । **पार्श्व** भो पार्श्वजिन । **भक्त्या** गुणानुरागेण । **पादौ** चरणाम्भो रुहे । **विनमतः** विनमतीति विनमंस्तस्य नमस्कुर्वतः नमस्यतो वा । **मे** मम । **तत्प्रसादात्** तयोः पादयोः प्रसादात् प्रसन्नत्वात् । "प्रसादस्तु प्रसन्नता" इत्यमरः । **एवम्** इत्थम् । **विद्युता** विद्योबोधस्य । विद्धाने ज्ञातरिविष्णु" इत्यमरः । "द्युत् दीप्तौ" मित्यस्तः । तया सम्यग्ज्ञानेनेत्यर्थः । **विप्रयोगः** विश्लेषः । **क्षणमपि** अल्पकालमपि । **मा भूत्** मा जनि ॥६५॥ पादवेष्टितानि समाप्तानि ॥

अन्वय—मुने जिन पार्श्व सखे ! यत् मौढ्यात् न्यायं उल्लङ्घ्य मे वाचां बहु-विलसितं भक्त्या पादौ विनमतः मे तत्प्रसादात् तत् मिथ्या भवतु, निन्दित स्वं (मे) दुष्कृतं च (मिथ्या भवतु) । एवं क्षणं अपि विद्युता विप्रयोगः मा भूत् ।

अर्थ—हे मुनि, मित्र पार्श्व जिनेन्द्र ! मूढ़ता के कारण न्याय का उल्लंघन किए हुए मैंने जो वाणी से अनेक प्रकार की चेष्टा की, अनुराग से आपके दोनों चरणों में झुके हुए मुझ शम्बरासुर की आपके दोनों चरणों के प्रसाद से वह चेष्टा मिथ्या हो । जो स्वयं गर्हित (निन्दित) है, ऐसा मेरा पापकर्म भी मिथ्या हो । इस प्रकार क्षणभर भी मेरा आत्मस्वभा-वरूप सम्यग्ज्ञान से वियोग न हो ।

इतः कतिपयानि चूलिकापद्यान्याह—

अनुनयति सतीत्थं भक्तिनम्रेण मूर्ध्ना,
कमठदनुजनाथे नागराजन्यसाक्षात् ।
ध्रुवमनुशयतप्ताद्वैरबन्धश्चिरात्तः,
स्म गलति निजचित्तात्सन्तताश्रुच्छलेन ॥६६॥

अनुनयतीति । **नागराजन्यसाक्षात्** नागानां राजानः उरगेन्द्राः तेषामपत्यानि नागराजन्याः । "जातौ राज्ञः" इति यः । "येऽनोऽद्ये" इति इत्यनोलुक् । तेषां नागकुमाराणां । **साक्षात्** प्रत्यक्षतः । **मूर्धाभिषिक्तो** राजन्यः । "साक्षात्प्रत्यक्षतु-

त्ययोः'' इत्यमरः । **कमठदनुजनाथे** कमठचरासुरनायके । **भक्तिनम्रेण** भक्त्या नमनशीलेन **इत्थम्** अनेन प्रकारेण । **अनुनयति** सति अनुनीयत्यनुनयन् तस्मिन् सति प्रणामादिविनयशीले सति । **अनुशयतप्तात्** पश्चात्तापेन सन्तप्तात् । **निज-चित्तात्** स्वहृदयात् । **चिरात्तः** चिरात्प्राप्तः । **वैरबन्धः** विरोधसम्बन्धः । **सन्तताश्रुच्छलेन** प्रवृद्धबाष्पाम्बुव्याजेन । ''पदं व्यतिकरं छलम्'' इति धनञ्जयः । **ध्रुवं** निश्चयेन **गलति स्म** च्यवति स्म ॥६६॥

अन्वय—नागराजप्रत्यक्षात् कमठदनुजनाथे भक्तिनम्रेण मूर्ध्ना इत्थं अनुनयति सति अनुशय तप्तात् निजचित्तात् चिरात्तः वैरबन्धः सन्तताश्रुच्छलेन ध्रुवं गलति स्म ।

अर्थ—सर्पाधिराज के समक्ष कमठ के जीवधारी दैत्यनाथ के भक्ति से नम्रीभूत सिर से इस प्रकार प्रार्थना करने पर पश्चाताप में सन्तप्त उसके चित्त से चिरकाल से चला आया वैरभाव निरन्तर (गिरते हुए) आँसुओं के बहाने निश्चित रूप से गल गया ।

केवलज्ञानान्तरमुद्भूतानतिशयानभिधातुमुपक्रमते—

अथ सुरभिसमीरान्दोलितैः कल्पवृक्षैः,
सममभरनिकायाः पुष्पवृष्टिं वितेनुः ।
अविरलनिपतद्भिः स्वर्विमानैर्निरुद्धा,
नवजलदविलिप्तेवैक्ष्य[1] तासौ तदाद्यौः ॥६७॥

अथेति । **अथ** अनन्तरे । **अमरनिकाया** देवसमूहाः । **सुरभिसमीरान्दोलितैः** सुरभिणा घ्राणतर्पणयुक्तेन समीरेण वायुना आन्दोलितैः कम्पितैः । **कल्पवृक्षैः** सुरद्रुमैः । **समं** साकम् । **पुष्पवृष्टिं** प्रसूनवर्षणम् । **वितेनुः** ववर्षुः । **तदा** तदवसरे । **अविरलनिपतद्भिः** अविरलं निरन्तरं निपतन्त्यवतरन्तीति तथोक्तास्तैः । **स्वर्विमानैः** स्वर्व्योमयानैः । ''स्वर्गे पुरे च लोके स्वः'' इत्यमरः । **निरुद्धा** व्याप्ता । **असौ द्यौः** । एतन्नभः । ''द्योदिवौ द्वे स्त्रियामभ्रम्'' इत्यमरः । **नवजलद विलिप्तेव** प्रत्यग्रमेघेन लेपितेव । **ऐक्ष्यत** अदृश्यत ॥६७॥

अन्वय—अथ सुरभिसमीरान्दोलितैः कल्पवृक्षैः समं निकरनिकायाः पुष्पवृष्टिं वितेनुः । तदा अविरलनिपतद्भिः स्वर्विमानैः निरुद्धा असौ द्यौः नवजलदविलिप्ता इव ऐक्ष्यत ।

अर्थ—अनन्तर सुगन्धित वायुओं के कँपाए गए कल्पवृक्षों के साथ देव समूहों ने फूलों की वर्षा की । तब निरन्तर उड़ते हुए दिव्यविमानों से रोका गया यह आकाश नये मेघ से लीला गया सा दिखाई देने लगा ।

---

१. विलिप्तेवैक्ष्यता ।

विशेष—योगिराट् पण्डिताचार्य ने अविरल निपतद्भिः का अर्थ निरन्तर उतरते हुए किया है।

सपदि जलदमुक्तैः सान्द्रगन्धाम्बुपातै-
र्मधुपगणविकीर्णैराश्वसत्क्ष्मा क्षतोष्मा।
वियति मधुरमुच्चैर्दुन्दुभीनां च नादः,
सुरकरतलगूढास्फालितानां जजृम्भे ॥ ६८ ॥

सपदीति। जलदमुक्तैः वारिवाहेण वृष्टैः। मधुपगणविकीर्णैः मधुपानां भ्रमराणां गणैः निचयैः विकीर्णैः व्याप्तैः। सान्द्रगन्धाम्बुपातैः निरन्तरैः गन्धेन युक्तानामम्बूनां पातैः सेकैः। क्षतोष्मा क्षतः ऊष्मा यस्याः सा शान्तोष्मा। क्ष्मा भूमिः। 'क्ष्मावनिर्मेदिनी मही' इत्यमरः। सपदि शीघ्रम्। आश्वसत् उदजीवत्। सस्यादिशोभावती बभूवेत्यर्थः। वियति आकाशे। सुरकरतलगूढा स्फालितानां सुरकरतलैः निर्जरपाणितलैः गूढं। गुप्तम् आस्फालितानां ताडितानाम् दुन्दुभीनां भेरीणां 'भेरी स्त्री दुन्दुभिः पुमान्।' इत्यमरः। नादश्च निनदोऽपि। मधुरं श्रुतिसुखं यथा तथा। उच्चैरधिकं। जजृम्भे जृंभते स्म ॥ ६८ ॥

अन्वय—जलदमुक्तैः मधुपगणविकीर्णैः सान्द्रगन्धाम्बुपातैः क्ष्मा सपदि आश्वसत् वियति च सुरकरतलगूढास्फालितानां दुन्दुभीनां नादः मधुरं उच्चैः जजृम्भे।

अर्थ—मेघों से छोड़े गए, फैले हुए भौंरों के समुदाय से युक्त, घने, सुगन्धित जल की वृष्टि से विनष्ट ताप वाली पृथ्वी शीघ्र ही सुखी हो गई तथा आकाश में देवताओं के हाथों से एकान्त में ताडित दुन्दुभियों का मधुर शब्द अत्यधिक रूप से बढ़ गया।

विशेष—योगिराट् पण्डिताचार्य ने आश्वसत् का अर्थ उदजीवत् किया है और इसका तात्पर्य यह बतलाया है कि पृथ्वी धान्यादि की शोभा से युक्त हो गई।

इति विदितमहर्द्धिं धर्मसाम्राज्यमिन्द्राः,
जिनभवनतिभाजो भेजिरे नाकभाजाम्।
शिथिलितवनवासाः प्राक्तनीं प्रोज्झ्य वृत्तिं,
शरणमुपययुस्तं तापसा भक्तिनम्राः ॥ ६९ ॥

इतीति। कथितोपलक्षणात् चतुस्त्रिंशदतिशयैः। विदितमहर्द्धिं विदिता प्रतीता महती ऋद्धिः सम्पदा यस्य तम्। धर्मसाम्राज्यं संसारसमुद्रे मग्नान् जन्तून् उद्धृत्य

उत्तममोक्षसुखे धरतीति स्थापयतीति धर्मस्तस्य साम्राज्यं सम्राड्भावो यस्य तम् । जिनं पार्श्वतीर्थङ्करम् । नाकभाजां नाकं स्वर्गं भजन्तीति नाकभाजस्तेषाममराणाम् इन्द्राधर्याः । अवनतिभाजः अवनतिं प्रणमनं भजन्तीति तथोक्ताः सन्तः । भेजिरे सिषेविरे । तापसाः जटिलादयः कुलिङ्गिनः । प्राक्तनीं प्राग्जाताम् । वृत्तिम् आचरणम् । प्रोज्झ्य विहाय । शिथिलितवनवासाः विश्लिष्टविपिनं निलयाः । भक्तिनम्राः भक्त्या नमनशीलाः । तं तीर्थेशिनम् । शरणं रक्षणम् । उपययुः अयन्ति स्म । जटिलादयः कुतापसाः निजकायक्लेशो निष्फलत्वं निश्चिन्वन्तः । तपोमहिम्ना प्राप्तोदयं पार्श्वं तीर्थङ्करं तत्तपोलब्धुकामाः शरणं ययुरिति भावः । तदुक्तं समन्तभद्रस्वामिभिः । 'वनौकसः स्वश्रमवन्ध्य बुद्धयः । शमोपदेशं शरणं प्रपेदिरे । समस्तविद्यातपसां प्रणायकः समग्रधीस्य कुलाम्बरांशुमान ।। ६९ ।।

अन्वय—इति विदितमहर्द्धिं धर्मसाम्राज्यं जिनं अवनतिभाजः नाकभाजां इन्द्राः भेजिरे । शिथिलितवनवासाः तापसाः प्राक्तनीं वृत्तिं प्रोज्झ्य भक्तिनम्राः (सन्तः) तं शरणं उपययुः ।

अर्थ—इस प्रकार जिनके ऐश्वर्य का सभी लोगों को ज्ञान है, जो धर्मसाम्राज्य से युक्त हैं ऐसे जिनेन्द्र भगवान् को प्रणाम करते हुए देवेन्द्रों ने सेवा की । वनवास को शिथिलकर तापस अपने (पंचाग्नितपरूप) पूर्व आचरण का परित्याग कर भक्ति से नम्र हो उनकी शरण में आ गए ।

व्याख्या—जटिलादि कुतापस मुनि शरीर को कष्ट देने वाले तप को व्यर्थ जानकर जिस तप की महिमा से जिनका उदय हुआ था ऐसे पार्श्व तीर्थंकर से उनकी तपोलब्धि की प्राप्ति के इच्छुक होकर उनकी शरण में आ गए ।

अथ भगवानाचार्यः स्वाभिप्रायप्रकाशपुरः सरं कृतिमुपसंहरन् मङ्गलाशिषमाह—

इति विरचितमेतत्काव्यमावेष्ट्य मेघं,
बहुगुणमपदोषं कालिदासस्य काव्यम् ।
मलिनितपरकाव्यं तिष्ठतादाशशाङ्कं,
भुवनमवतु देवः सर्वदाऽमोघवर्षः ।। ७० ।।

इतीति । कालिदासस्य कालिदासनाम्नः कवेः । मेघं काव्यं मेघदूताख्यप्रबन्धम् । आवेष्ट्य वेष्टयित्वा । इति एवम् । विरचितं विहितम् । बहुगुणं बहवो माधुर्यादयः गुणा यस्मिन् तत् । अपदोषम् अपगताः अलक्षणाद्यो दोषा यस्मात्तत् । एतत्काव्यं पार्श्वाभ्युदयाभिधानं काव्यम् । आशशाङ्कम् आचन्द्रावधिनित्यमित्यर्थः । मलिनित-

परकाव्यं मलिनितं कलङ्कितं परकाव्यं मेघसन्देशो यया तथा। तिष्ठतात् निवसतु। अमोघवर्षः काव्यकर्त्तुः प्रियशिष्यः कांचपुराधिपः। पक्षे अमोघं सफलं वर्षं वृष्टिः यस्य सः। देवः प्रभुः। पक्षे मेघः। 'देवो राज्ञि सुरे अम्बुदे' इति नानार्थरत्न-मालायाम्। भुवनं जगत्। सर्वदा सर्वस्मिन् काले। अवतु पातु। 'अव रक्षणे' लोट्॥ ७०॥

अन्वय—इति बहुगुणं अपदोषं मलिनितपरकाव्यं कालिदासस्य काव्यं आवेष्ट्य विरचितं एतत् (मलिनितपरकाव्यं) काव्यं आचाशाङ्कं तिष्ठतु। अमोघ-वर्षः देवः सर्वदा भुवनं अवतु।

अर्थ—इस प्रकार बहुत गुणवाले, दोषों से रहित, जिसने दूसरे काव्यों को मलिन कर दिया है ऐसे कालिदास के मेघदूत नामक काव्य को (आदि में, मध्य में अथवा अन्त में एक या दो पंक्ति से) वेष्टित कर रचा गया यह पार्श्वाभ्युदय नामक काव्य जब तक चन्द्रमा है तब तक रहे। अमोघ-वर्ष महाराज सदैव पृथ्वी की रक्षा करें।

एतत्काव्यप्रभवमेव सप्रपञ्चमाह—

श्रीवीरसेनमुनिपादपयोजभृङ्गः,
श्रीमानभूद्विनयसेनमुनिर्गरीयान्।
तच्चोदितेन जिनसेनमुनीश्वरेण,
काव्यं व्यधायि परिवेष्टितमेघदूतम्॥७१॥

इत्यमोघवर्षपरमेश्वरपरमगुरु श्रीजिनसेनाचार्यविरचितमेघदूतवेष्टितवेष्टिते पार्श्वाभ्युदये भगवत्कैवल्यवर्णनो नाम: चतुर्थः सर्गः॥ ४॥

श्रीवीरसेनेति। श्रीवीरसेनमुनिपादपयोजभृङ्गः वीरसेनश्चासौ मुनिश्च वीर-सेनमुनिः श्रियोपलक्षितस्तथोक्तः पादावेव पयोजे पादपयोजे श्रीवीरसेनमुनेः पादप-योजे तथोक्ते भृङ्ग इव भृङ्गः श्रीवीरसेनमुनिपादपयोजयोः भृङ्गस्तथोक्तः। गरीयान् गुरुतरः। श्रीमान्तपोलक्ष्मीवान्। विनयसेनमुनिः। विनयसेननामा यतिः। अभूत् बभूव। तच्चोदितेन तेन सधर्मणा विनयसेनमुनिना चोदितः प्रेरितस्तेन। जिनसेनमुनीश्वरेण मुनीनामीश्वरस्तथोक्तः जिनसेनश्चासौ जिनसेन इति वा मुनी-श्वरस्तेन। परिवेष्टितमेघदूतं परिवेष्टितम् आक्रान्तं मेघदूतं तन्नामकाव्यं येन यत्तथोक्तम्। काव्यं एतत्पार्श्वाभ्युदयसंज्ञं काव्यम्। व्यधायि अकारि॥ ७१॥

अन्वय—इत्यमोघवर्ष परमेश्वर परमगुरु श्री जिनसेनाचार्यविरचितमेघदूत वेष्टिते पार्श्वाभ्युदये तद्व्याख्यायां च सुबोधिकाख्यायां भगवत्कैवल्यवर्णनो नाम चतुर्थः सर्गः॥ ४॥

शुभम्